प्रशासनिक सिद्धांत एवं विचार

(Administrative Theory and Thought)

एम. ए. लोक प्रशासन (पूर्वार्द्ध)

M.A. Public Administration (Previous)

प्रश्न पत्र-1

Paper-1

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक–124 001

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

UNIT-I

अध्याय 1	लोक प्रशासन की अवधारणाः अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र एवं महत्त्व	5
अध्याय 2	लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन	17
अध्याय 3	लोक प्रशासनः विज्ञान या कला	24
अध्याय 4	लोक प्रशासन का विकास	30
अध्याय 5	नवीन लोक प्रशासन	34

UNIT-II

अध्याय 6	संगठन : अवधारणा तथा आधार	43
अध्याय 7	औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन	50
अध्याय 8	संगठन के सिद्धान्त	59
अध्याय 9	संगठन के शास्त्रीय एवं नवशास्त्रीय सिद्धान्त	120

UNIT-III

अध्याय 10	वैज्ञानिक प्रबन्ध	148
अध्याय 11	मानव सम्बन्ध उपागम	161
अध्याय 12	नौकरशाही उपागम	172

UNIT-IV

अध्याय 13	निर्णमन द ष्टिकोण	183
अध्याय 14	अभिप्रेरणा के सिद्धान्त	200

UNIT-V

अध्याय 15	प्रशासन पर नियन्त्रण	217
अध्याय 16	प्रत्यायोजित विधान	233
अध्याय 17	प्रशासनिक अधिनिर्णयन (न्यायाधिकरण)	240

M.A. (Previous)
Public Administration

Paper-1 **Administrative Theory and Thought**

Max. Marks : 100
Time : 3 Hours

Unit I Concept of Public Administration-Meaning, Nature, Scope and Significance; Public and Private Administration; Public Administration-Science or an Art, Evolution of Public Administration, New Public Administration.

Unit II Organizational-bases, Principles, and forms formal and informal, Classical and Neo-Classical Theory; *Contribution of Henri Fayol, Luthur Gulick and M.P. Follet*.

Unit III Scientific Management and Human Relations Theories-contribution of F.W. Taylor and Elton Mayo respectively. Bureaucratic Theory with spe. ref. to Max Weber and Karl Marx.

Unit IV Decision-Making Theory with spl. ref. to Herbert Simon. Theories of Motivation : Contribution of Herbert Maslow, Herberg and Megergor.

Unit V Controls over Public Administration-Executive, Legislative and Judicial, Delegated Legislation, Administrative Adjudication. Citizen and Administration, Responsive Administration.

UNIT-I

अध्याय-1

लोक प्रशासन की अवधारणाः अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र एवं महत्त्व

(Concept of Public Administration: Meaning, Nature, Scope and Significance)

लोक प्रशासन दो शब्दों 'लोक' और 'प्रशासन' का सम्मिश्रण है। अतः लोक प्रशासन का अर्थ जानने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इन दोनों शब्दों का अर्थ प थक-प थक रूप से समझ लें। प्रशासन अंग्रेजी भाषा के शब्द 'Administration' का हिन्दी अनुवाद है जो लैटिन भाषा के दो शब्दों 'एड + मिनिस्ट्रेर' (ad + ministrare) से मिलकर बना है। इन दो शब्दों का सामूहिक अर्थ "व्यवस्था करना या व्यक्तियों की देखभाल करना या कार्यों को व्यवस्थित ढ़ंग से करना है।" प्रशासन एक व्यापक प्रक्रिया है जो सभी सामूहिक कार्यों के बारे में, चाहे वे सार्वजनिक हों या व्यक्तिगत, सैनिक हों अथवा असैनिक, बड़े हों अथवा छोटे, सभी के सम्बन्ध में लागू होता है। यह एक सहयोगी कार्य है, जो सुनिश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। वास्तव में सहयोग की भावना प्रशासन के मूल में बसी है। क्योंकि मानव सभ्यता की बुनियाद भी सहयोग है, अतः प्रशासन या प्रशासनिक तत्व सभ्य समाज के उद्‌गम से विद्यमान रहा है। बदली हुई परिस्थितियों में इसके स्वरूप में भले ही अन्तर आया हो, लेकिन इसकी आत्मा आज भी सहयोग पर आधारित है।

प्रशासन को परिभाषित करते हुए ई० एन० ग्लैडन ने कहा है, "प्रशासन एक लम्बा तथा अलंकारयुक्त शब्द है, किन्तु इसका अर्थ सीधा-सादा है, क्योंकि इसका अर्थ 'लोगों की देखभाल करना' तथा 'पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था करना' है।" (Administration is a long and slightly pompous word, but it has an humble meaning for it means to care for or to look after people to manage affairs—Gladden, E.N. "An Introduction to Public Administration", (2nd ed.), p. 18).

एल० डी० व्हाइट के अनुसार, "किसी प्रयोजन या उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बहुत से मनुष्यों का निर्देशन, समन्वय तथा नियन्त्रण ही प्रशासन है।" (The art of administration is the direction, coordination and control of many persons to achieve some purpose or objective—White, L.D. Introduction to the Study of Public Administration, p. 2).

लूथर गुलिक के अनुसार, "प्रशासन का सम्बन्ध कार्य पूरा किए जाने और निर्धारित उद्देश्यों की परिपूर्ति से है।" (Administration has to do with getting things done, with the accomplishment of defined objectives—Gullick, L. and Urwick, L. (eds.), Papers on the Science of Public Administration, p. 191).

फिफनर एवं प्रेस्थस ने "वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय तथा भौतिक संसाधनों के संगठन और संचालन" को प्रशासन की संज्ञा दी है। (Administration is the organisation and direction of human and material resources to achieve desired needs—Pfiffner and Presthus, Public Administration, p. 3).

हर्बर्ट ए० साइमन के शब्दों में, "व्यापक अर्थ में जो समूह सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सहयोग करते हैं उनके कार्यों को प्रशासन की संज्ञा दी जा सकती है।" (In its broadest sense, administration can be defined as the activities of groups cooperating to accomplish a purpose—Simon, Smithburg and Thompson, Public Administration, p. 3.)

कुछेक विद्वानों द्वारा दी गई उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्रशासन निम्नांकित लक्षणों से युक्त होता है:

1. यह कुछ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले प्रयासों का प्रर्याय है।
2. उद्देश्यों की प्राप्ति में बहुत से व्यक्ति सहयोग करते हैं।
3. प्रशासन संगठित प्रणाली से कार्य करता है।
4. प्रशासन शब्द का प्रयोग प्रायः बड़े, विशाल तथा औपचारिक संगठनों के लिए किया जाता है।
5. प्रशासन का संगठन तथा कार्य-क्रियान्वयन उसी स्थिति में होता है जबकि सम्बन्धित अधिकारियों के पास ऐसा करने का अधिकार होता है।
6. प्रशासन के उद्देश्यों (जैसे-टीकाकरण करना, सड़क बनाना, बांध निर्माण, शिक्षा प्रदान करना, कानून व व्यवस्था का प्रबंध करना इत्यादि) तथा इसमें कार्यरत व्यक्तियों के उद्देश्यों (रोजगार प्राप्ति, सम्मान प्राप्ति, सुरक्षा प्राप्ति) में भिन्नता हो सकती है फिर भी प्रशासन के उद्देश्य, कार्मिक के उद्देश्य से टकराते नहीं अपितु समन्वय करते हैं।

दूसरी ओर 'लोक' शब्द का तात्पर्य है साधारण आदमी या जनसाधारण। 'लोक' शब्द सार्वजनिकता का द्योतक है न कि किसी विशिष्ट वर्ग का। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'लोक' शब्द जिस क्रिया के साथ जुड़ जाता है वह आम आदमी से सम्बन्धित हो जाती है न कि किसी वर्ग विशेष तक सीमित रहती है।

लोक प्रशासन

'लोक' तथा 'प्रशासन' दोनों शब्दों का अलग-अलग अर्थ जान लेने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लोक प्रशासन वह प्रशासन है जो आम लोगों से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दों में लोक प्रशासन के अन्तर्गत वे सभी क्रियाएं सम्मिलित की जाती हैं जिनका क्रियान्वयन सरकार या सरकार द्वारा प्राधिकृत किसी संस्था के द्वारा किया जाता है। सरकार द्वारा सम्पन्न क्रियाएं व्यापक, सार्वजनिक और लोक हित की होती हैं इसलिए उन्हें लोक प्रशासन की परिधि में सम्मिलित किया जाता है। यदि हम फिफनर एवं प्रेस्थस की प्रशासन की परिभाषा को आधार बनाएं तो कह सकते हैं कि जब किसी प्रयोजन या उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मानवीय तथा भौतिक संसाधनों को संगठित तथा निर्देशित करने का कार्य सरकार या सरकार द्वारा प्राधिकृत किसी निकाय के द्वारा किया जाता है तो वह लोक प्रशासन कहलाता है। लोक प्रशासन में वे सभी क्रियाएं सम्मिलित की जाती हैं, जिनका सम्बन्ध, लोक-नीति का निर्माण करने एवं उसको कार्यान्वित करने से है। लोक प्रशासन के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं की समीक्षा की जाए।

एल० डी० व्हाइट के कथनानुसार लोक प्रशासन में "वे संक्रियाएँ आ जाती हैं जिनका प्रयोजन लोक नीति को पूर्ण करना अथवा क्रियान्वित करना होता है।" (Public Administration consists of all those operations having for their purpose the fulfilment or enforcement of public policy). —White, L.D., Introduction to the Study of Public Administration, p. 1.

हार्वे वॉकर के अनुसार, "सरकार द्वारा कानून को क्रियान्वित करने वाली क्रिया ही प्रशासन है।" (The work which the government does to give effect to a law is called administration). —Walker, Harvey, Public Administration in United States, p. 5.

फिफनर के अनुसार, "प्रशासन का अभिप्राय जनता के प्रयासों में समन्वय उत्पन्न करके सरकार के कार्य को सम्पन्न करना है।" (It would seem that administration consists of getting the work of government done by coordinating the efforts of the people so that they can work together to accomplish their set tasks.) —Pfiffner, J.M. Public Administration, p. 6.

विलोबी के शब्दों में, "राजनीतिशास्त्र में प्रशासन शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में लोक प्रशासन उस कार्य का प्रतीक है जो सरकारी कार्यों के वास्तविक सम्पादन से सम्बद्ध होता है, चाहे वे कार्य सरकार की किसी भी शाखा से सम्बन्धित क्यों न हों। अपने संकुचित अर्थ में वह केवल प्रशासकीय शाखा की कार्यवाहियों की ओर संकेत करता है। लोक प्रशासन के विद्यार्थी होने के नाते हमारा सम्बन्ध इसके संकुचित अर्थ से है।" (The term administration may be employed in Political Science in two senses. In its broadest sense it denotes the work involved in the actual conduct of

governmental affairs, regardless of the particular branch of government concerned. In its narrowest sense it denotes the operations of the administrative branch only. As students of Public Administration we are concerned with the narrowest meaning of the term.)— Willoughby, W.E., Principles of Public Administration, p. 1.

प्रो० वुडरो विल्सन के शब्दों में, "लोक प्रशासन का जन्म तब होता है, जब लोक विधि को ब्योरेवार तथा व्यवस्थित रूप से लागू करने की चेष्टा की जाती है। सामान्य विधि की प्रत्येक विशेष कार्यान्विति प्रशासन की एक कला होती है?" (Detailed and systematic execution of public law, every particular application of general law is an art of administration."—Wilson, W., The Study of Public Administration, p. 41.

वाल्डो के अनुसार, "राज्य के कार्यों में प्रयुक्त की जाने वाली प्रबन्ध कला तथा उसके विज्ञान को, लोक प्रशासन कहते हैं।" (The art and science of management as applied to the affairs of the State.)—Waldo, D., The Study of Public Administration, p. 2.

लूथर ग्यूलिक के अनुसार, "लोक प्रशासन प्रशासकीय विज्ञान का वह भाग है जिसका सम्बन्ध सरकार से रहता है और इस प्रकार प्रमुखतः इसका सम्बन्ध कार्यपालिका शाखा से है जहाँ सरकार का कार्य किया जाता है, यद्यपि व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका से सम्बन्धित समस्याएँ भी स्पष्ट रूप से प्रशासकीय समस्याएँ ही हैं।" (Public Administration is that part of the science of administration which has to do with Government and this concerns itself primarily with the executive branch where the work of the Government is done.)—Gullick, L. and Urwick, L. (eds.), Papers on the Science of Public Administration, p. 191.

मार्शल ई० डिमॉक के अनुसार, "प्रशासन का सम्बन्ध सरकार के 'क्या और कैसे' से है। 'क्या' का अभिप्राय विषय में निहित ज्ञान से है अर्थात् किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित वह विशिष्ट ज्ञान जो प्रशासन को अपना कार्य करने की क्षमता प्रदान करता है। 'कैसे' का अभिप्राय प्रबन्ध करने की उस कला एवं सिद्धान्तों से है जिसके अनुसार सामूहिक योजनाओं को सफलताओं की ओर ले जाया जाता है। दोनों अंग अनिवार्य हैं और वे दोनों ही मिलकर उस समन्वय की रचना करते हैं, जिन्हें प्रशसन की संज्ञा दी गई है।"

यदि हम उपरोक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करें तो लोक प्रशासन के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार सामने आते हैं- व्यापक एवं संकुचित। व्यापक विचारधारा के अनुसार, लोक प्रशासन के अन्तर्गत सरकार की सम्पूर्ण क्रियाएं, चाहे वे विधानमण्डल, कार्यपालिका अथवा न्यायपालिका किसी से भी सम्बन्धित हों, सम्मिलित हैं। इस व्यापक विचारधारा के सर्मथक एल० डी० व्हाइट, वुडरो विलसन, फिफनर एवं मार्शल ई० डिमॉक हैं। दूसरी ओर संकुचित विचारधारा के अनुसार, लोक प्रशासन में केवल सरकार की कार्यपालिका शाखा से सम्बन्धित क्रियाएं सम्मिलित हैं। इस विचार के प्रतिपादक गुलिक, साइमन, विलोबी, फेयोल तथा आर्डवे रीड हैं।

लोक प्रशासन की प्रकृति
(Nature of Public Administration)

किसी भी विषय की प्रकृति का सही अर्थ उसकी प्रमुख विशेषताओं, लक्षणों, विषयगत स्वभाव सहित अवधारणात्मक व्याख्या से है जो उस विषय का सहज स्वरूप स्पष्ट कर सके। लोक प्रशासन की प्रकृति का तात्पर्य है कि लोक प्रशासन के अन्तर्गत सम्मिलित क्रियाओं की प्रकृति क्या है। लोक प्रशासन की प्रकृति के सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य विचार अभी तक नहीं उभर सका है तथा इसमें सम्मिलित क्रियाओं की प्रकृति कैसी हो इस बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए गए हैं। लोक प्रशासन की प्रकृति के सम्बन्ध में दो प्रमुख मान्यताएं प्रचलित हैं जिनका वर्णन नीचे दिया गया है:

1. **प्रबन्धकीय या एकीकृत द ष्टिकोण; और**
2. **विज्ञान या कला द ष्टिकोण।**

1. **प्रबन्धकीय द ष्टिकोण के सर्मथकों का मानना है कि लोक प्रशासन की प्रकृति केवल उच्च स्तरीय प्रशासकीय निर्णय लेने, नीतियों एवं कानूनों के व्यावहारिक क्रियान्वयन को सुनिश्चित करवाने, प्रशासनिक संगठन में नियंत्रण तथा व्यवस्था बनाए रखने तथा नियोजन एवं वित्तीय प्रबंधन से सम्बद्ध है अर्थात् संगठन में उत्तरदायी एवं उच्च पदों पर आसीन व्यक्ति तथा**

उनके कृत्य लोक प्रशासन की प्रकृति तथा क्षेत्र को स्पष्ट करते हैं। लूथर गुलिक, साइमन, स्मिथबर्ग तथा थॉम्पसन ने लोक प्रशासन के प्रबन्धात्मक द ष्टिकोण का समर्थन किया व लूथर गुलिक के अनुसार, "प्रशासन का दायित्व कार्य करवाना है; निर्धारित उद्देश्यों को पूरा करवाना। अर्थात् इसके अनुसार जो व्यक्ति नियम-निर्माण प्रक्रिया (Decision-making Process) तथा प्रबन्धकीय विभाग (Managerial Department) से जुड़े हों, उन्हें ही प्रबन्धकीय द ष्टिकोण के अन्तर्गत रखा गया है।"

इसी प्रकार साइमन, स्मिथबर्ग तथा थॉम्पसन ने अपनी पुस्तक Public Administration में लिखा है:

'प्रशासन' शब्द अपने संकुचित अर्थ में आचरण के उन आदर्शों को प्रगट करने के लिए प्रयोग किया जाता है, जो अनेक प्रकार के सहयोगी समूहों में समान रूप से पाये जाते हैं; और जो न तो उस लक्ष्य विशेष पर ही आधारित हैं जिसकी प्राप्ति के लिए वे सहयोग कर रहे हैं, और न उन विशेष औद्योगिक रीतियों पर ही अवलम्बित हैं जो उन लक्ष्यों के हेतु प्रयोग की जाती है।

दूसरी ओर एकीकृत द ष्टिकोण के समर्थक यह मानते हैं कि लोक प्रशासन में केवल उच्च स्तरीय अधिकारी, उनकी प्रबन्धकीय प्रणालियों तथा प्रबन्धन ही सम्मिलित नहीं है बल्कि संगठन में कार्यरत सभी कार्मिक (क्लर्क, चपरासी, सफाई कर्मचारी इत्यादि सहित) संयुक्त रूप से प्रशासन को संचालित करते हैं। अर्थात् प्रत्येक संगठन में लगे हुए बड़े से लेकर छोटे से छोटे पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों के कार्यों को प्रशासन का अभिन्न अंग माना जाएगा। दूसरें शब्दों में, हम कह सकते हैं कि एकीकृत द ष्टिकोण के अनुसार, लोक प्रशासन निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सम्पादित की जाने वाली क्रियाओं का समग्र योग है। एकीकृत द ष्टिकोण के प्रमुख समर्थक फिफनर, एफ० एम० मार्क्स और एल० डी० व्हाइट हैं।

एल० डी० व्हाइट ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि, "लोक प्रशासन उन सभी कृत्यों से मिलकर बना है जिनका प्रयोजन लोक-नीति को पूरा करना या उसे लागू करना होता है।"

फिफनर ने इस व्यापक द ष्टिकोण को अपनाते हुए कहा है कि "लोक प्रशासन का अर्थ है सरकार का काम करना, फिर चाहे वह कार्य स्वास्थ्य प्रयोगशाला में एक्स-रे मशीन को संचालित करने का हो, अथवा टकसाल में सिक्के ढालने का। .....प्रशासन से तात्पर्य है लोगों के प्रयत्नों में समन्वय स्थापित करके कार्य को सम्पन्न करना जिससे वे परस्पर मिलकर कार्य कर सके अथवा अपने निश्चित कार्य को पूरा कर सकें।"

लोक प्रशासन की प्रकृति के सम्बन्ध में यद्यपि उपरोक्त दोनों ही द ष्टिकोण त्रुटिपूर्ण हैं तथापि एकीकृत द ष्टिकोण अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है क्योंकि वास्तव में लोक प्रशासन की प्रकृति जन सेवा से अधिक सम्बद्ध है। इसके अलावा प्रबन्धकीय द ष्टिकोण लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में भेद करने में भी असमर्थ है। प्रबन्धकीय गतिविधियाँ तो किसी भी संगठन में सहजता से दिखाई दे जाती है किन्तु लोक प्रशासन में सरकार द्वारा प्रदत्त विविध प्रकार की जन-कल्याणकारी सामाजिक सेवाएं, नियोजित आर्थिक विकास, शांति एवं व्यवस्था, राष्ट्र की सुरक्षा, जन-शिकायत निराकरण तथा मानवीय गरिमा की स्थापना इत्यादि सम्मिलित हैं जो मुख्यतः अधीनस्थ कार्मिकों द्वारा निष्पादित होती हैं। आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्यों में औपचारिक आधार पर होने वाला लोक कल्याण ही लोक प्रशासन की प्रकृति है।

2. तथ्यों पर आधारित क्रमबद्ध ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट या विशेष ज्ञान तथा यह मानव की बौद्धिक क्षमताओं का उत्कृष्ट प्रमाण है। एल० एल० बनार्ड ने विज्ञान को छः प्रमुख प्रक्रियाओं के रूप में परिभाषित करते हुए कहा है कि-"परीक्षण, सत्यापन, परिभाषा, वर्गीकरण, संगठन तथा उन्मुखीकरण जिसमें पूर्वानुमान एवं प्रयोग भी सम्मिलित हैं, विज्ञान है।" इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त ज्ञान, प्रामाणिक माना जाता है एवं तथ्यों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है, वह विज्ञान है।

लोक प्रशासन के क्षेत्र में विद्वानों का एक वर्ग लोक प्रशासन को एक विज्ञान मानता है। इस मत के प्रबल समर्थक विलोबी, लूथर गुलिक, लिन्डल उरवीक, वुडरो विलसन, चार्ल्स ए० बेयर्ड इत्यादि हैं। इन विद्वानों के अनुसार लोक प्रशासन के क्षेत्र में कुछेक ऐसे सिद्धान्तों का विकास हो चुका है जो सार्वभौम्य हैं, तथा सभी परिस्थितियों में लागू होने योग्य हैं। उन सिद्धान्तों को लागू करके हम किसी भी प्रशासन से वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकते हैं। विलोबी के अनुसार, "प्रशासन में भी विज्ञान के विशिष्ट लक्षणों के अनुरूप कुछ मूलभूत सिद्धान्त हैं।" इसी प्रकार चार्ल्स ए० बेयर्ड का मानना है कि "लोक प्रशासन में ऐसे नियमों और स्वयं सिद्ध सूत्रों का विकास हो गया है जिनके बारे में अनुभव के आधार पर यह पता चलता है कि उन्हें निश्चित व्यवहार में लागू किया जा सकता है और उनसे लगभग भविष्यवाणी भी की जा सकती है।"

शब्दकोष के अनुसार, "कला, ज्ञान और अभ्यास के जरिए किसी कार्य को करने की दक्षता या मानवीय कार्यक्षमता है।" कला में सौन्दर्य तथा उपादेयता का बोध होता है। प्रशिक्षण, अभ्यास तथा समुचित मार्गदर्शन से सभी कलाएं निखरती हैं। ग्लैडन के अनुसार, "कला मानव की योग्यता से सम्बन्धित ऐसा ज्ञान है जिसमें सिद्धान्त की अपेक्षा अभ्यास पर अत्यधिक बल दिया जाता है।"

विद्वानों के दूसरे वर्ग के अनुसार लोक प्रशासन एक कला है। ऑर्डवे रीड व ग्लैडन इस विचार के प्रबल समर्थक हैं। ऑर्डवे रीड के शब्दों में "प्रशासन एक सुंदर कला है।" इन विचारकों का मानना है कि क्रियात्मक रूप में लोक प्रशासन एक कला है। और अकबर, नैपोलियन, समुद्रगुप्त, अशोक इत्यादि प्रशासकों ने यह सिद्ध कर दिया है, क्योंकि बिना किसी प्रशासनिक ज्ञान या प्रशिक्षण के ये सभी बहुत अच्छे प्रशासक सिद्ध हुए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि लोक प्रशासन व्यक्तिगत गुण या नैसर्गिक प्रतिभा द्वारा प्रभावित होता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रशासन एक कला है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि लोक प्रशासन विज्ञान और कला दोनों ही है। सैद्धान्तिक तथा विषयक द ष्टि से यह विज्ञान के अधिक निकट है जबकि व्यावहारिक रूप में यह कला के गुण अपने में समाए हुए हैं।

लोक प्रशासन का क्षेत्र
(Scope of Public Administration)

एक अध्ययन विषय के क्षेत्र का अभिप्राय है कि उस विषय के अधिकार क्षेत्र में कौन-कौन से कार्य या क्रियाएं सम्मिलित की जाती हैं। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि लोक प्रशासन का क्षेत्र राज्य तथा सरकार के क्षेत्र के समरूप है किन्तु यदि हम सूक्ष्म रूप से विचार करें तो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लोक प्रशासन का क्षेत्र अभी पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाया है क्योंकि कुछ मूलभूत प्रश्नों का सर्वमान्य हल खोजा जा रहा है। फिर भी इस अध्ययन विषय के क्षेत्र को समझने में निम्नांकित द ष्टिकोण लाभदायक हो सकते हैं:

1. संकुचित द ष्टिकोण
2. व्यापक द ष्टिकोण
3. पोस्डकोर्ब द ष्टिकोण (Posd Corb View)
4. पाठ्य-विषयवस्तु सम्बन्धी द ष्टिकोण
5. लोक नीति सम्बन्धी द ष्टिकोण
6. मनोसामाजिक द ष्टिकोण
7. लोक एवं निजी प्रशासन द्विविभाजन द ष्टिकोण

उपरोक्त सभी द ष्टिकोणों का विस्त त वर्णन नीचे दिया गया है:

संकुचित द ष्टिकोण

संकुचित विचार (Narrow view) के मानने वालों के अनुसार लोक प्रशासन का सम्बन्ध शासन की केवल कार्यपालिका शाखा (Executive Branch) से है। साइमन ने कहा है कि लोक प्रशासन से अभिप्राय उन क्रियाओं से है जो केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारों की कार्यपालिका शाखाओं द्वारा सम्पादित की जाती हैं। लूथर गुलिक द्वारा प्रस्तुत "पोस्डकॉर्ब" विचार को भी इसी संकुचित दायरे में रखा जा सकता है।

व्यापक द ष्टिकोण

व्यापक द ष्टिकोण के समर्थक यह मानते हैं कि लोक प्रशासन के अन्तर्गत सरकार के तीनों अंगों-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका-द्वारा सम्पादित कार्य शामिल हैं। इनके अनुसार लोक प्रशासन के क्षेत्र में वे सभी क्रियाकलाप सम्मिलित हैं जिनका प्रयोजन लोक-नीति को पूरा करना या उसे क्रियान्वित करना होता है। विलोबी, मार्क्स और एल० डी० ह्राइट इस विचार के समर्थक हैं। मार्क्स के शब्दों में, "अपने व्यापकतम क्षेत्र में लोक प्रशासन के अन्तर्गत सार्वजनिक नीति से सम्बन्धित समस्त क्रियाएँ आती हैं।"

पोस्डकोर्ब द ष्टिकोण

लोक प्रशासन के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में POSDCORB विचार **लूथर गुलिक** (Luther Gullick) की देन है। "POSDCORB" शब्द अंग्रेजी के सात शब्दों के प्रथम अक्षरों को मिलाकर बनाया गया है। ये शब्द निम्न प्रकार हैं:

P – Planning	=	योजना बनाना
O – Organising	=	संगठन बनाना
S – Staffing	=	कर्मचारियों की व्यवस्था करना
D – Directing	=	निर्देशन प्रदान करना
CO – Co-ordinating	=	समन्वय करना
R – Reporting	=	प्रतिवेदन देना
B – Budgeting	=	बजट तैयार करना

इन शब्दों का कुछ विस्त त अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि POSDCORB द्वारा निष्पादित कार्य मोटे तौर पर मुख्य कार्यपालिका द्वारा निष्पादित कार्य से काफी मिलता-जुलता है।

1. **योजना बनाना (Planning):** बिना योजना के लक्ष्य प्राप्त करना कठिन हो जाता है। इच्छित कार्यों की रूपरेखा तैयार करना और निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रीतियों एवं नीतियों का निर्धारण इसके अन्तर्गत किया जाता है।
2. **संगठन बनाना (Organising):** प्रशासकीय ढाँचे को इस प्रकार संगठित किया जाय कि कार्यों का विभाजन उचित ढंग से हो सके। प्रशासकीय चार्ट, संगठन के सिद्धान्त एवं कार्यों का बँटवारा इन तीनों के बीच सन्तुलन बनाये रखना संगठन का एक प्रमुख कार्य है।
3. **कर्मचारियों की व्यवस्था करना (Staffing):** कर्मचारियों के माध्यम से ही लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। कर्मचारियों की भर्ती, चयन, प्रशिक्षण, पदोन्नति, एवं कार्य करने की अनुकूल दशाओं का निर्माण करना इसके अन्तर्गत शामिल है।
4. **निर्देशन प्रदान करना (Directing):** लोक प्रशासन का कार्य प्रशासन सम्बन्धी कार्यों का विश्लेषण करके निर्णय लेना और निर्णय के अनुसार कर्मचारियों को निर्देश देना है। उचित निर्देशन के अभाव में प्रशासन अपने लक्ष्यों से भटक जायेगा।
5. **समन्वय स्थापित करना (Co-ordinating):** प्रशासकीय कार्यों के सम्पादन में समन्वय एक आवश्यक तत्व है। कार्यों का विभाजन कर उचित कार्य उचित व्यक्ति को देना और उसमें तालमेल बैठाना या समन्वय करना एक बहुत बड़ी समस्या है। समन्वय के द्वारा कार्यों के दोहराव को भी रोका जाता है।
6. **प्रतिवेदन देना (Reporting):** इसका अर्थ है प्रशासकीय कार्यों की प्रगति से सम्बन्धित सूचनाएँ उन लोगों को प्रदान करना जिनके प्रति संगठन उत्तरदायी है। प्रशासन की उपलब्धियों, कमियों तथा समस्याओं के निरीक्षण के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देकर ही हम प्रशासन को उत्तरदायी बना सकते हैं।
7. **बजट तैयार करना (Budgeting):** प्रशासन के लिए वित्त ही प्राण है। बिना समुचित वित्त की व्यवस्था के लोक प्रशासन शिथिल हो जायेगा। आय-व्यय का लेखा-जोखा तैयार करना, वित्तीय योजनाओं का निर्माण करना, करारोपण, व्यय करना और अंकेक्षण के माध्यम से नियन्त्रण रखना इसके अन्तर्गत शामिल हैं।

POSDCORB की उपर्युक्त क्रियाएँ लोक प्रशासन के सभी संगठनों में पायी जाती हैं। प्रशासन के किसी भी क्षेत्र में ये प्रशासनिक क्रियाएँ समान रूप से काम में आती हैं। ये प्रबन्ध सम्बन्धी सामान्य समस्याएँ हैं जो प्रत्येक अभिकरण में पायी जाती हैं। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि मोटे रूप से लोक प्रशासन के कार्यक्षेत्र को ही POSDCORD के सूत्र में पिरोया गया है।

यद्यपि पोस्डकार्ब द ष्टिकोण लोक प्रशासन के क्षेत्र को समझने में काफी सहायक है किन्तु यह द ष्टिकोण अधूरा है और इसी कारण अनेक विद्वानों ने इसकी कटु आलोचना की है। इन आलोचकों में लेविस मेरियम प्रमुख है। मेरियम ने इस द ष्टिकोण की आलोचना अपनी पुस्तक 'Public Service and Special Training' में की है। मेरियम के अनुसार:

यह सिद्धान्त अत्यन्त स्वेच्छाचारी, काल्पनिक एवं संकुचित है जिसमें प्रशासन के वास्तविक तत्वों को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इस सूत्र में पाठ्य-विषय के ज्ञान (Knowledge of Subject-matter) के तत्व को गौण रखा है। लेविस मेरियम ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है-"कैंची के दो फलकों के समान लोक प्रशासन दो फलकों वाला औजार है। उस औजार का एक फलक है "पोस्डकॉर्ब" के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों का ज्ञान और दूसरा फलक है उस पाठ्य-विषय का ज्ञान, जिसमें ये तकनीक लागू की जाती है। उस औजार को असरदार बनाने के लिए यह जरूरी है कि उसके दोनों ही फलक ठीक हों।"

लूथर गुलिक का पोस्टकोर्ब अपने विचार को तकनीकों तक सीमित कर और विषय-ज्ञान की उपेक्षा कर स्वयं को अधूरा बना देता है। किसी भी अभिकरण के प्रभावपूर्ण, तर्कसंगत और बुद्धिमतापूर्ण प्रशासन के लिए विषय-वस्तु सम्बन्धी गहन ज्ञान आवश्यक है।

लूथर गुलिक के "पोस्डकॉर्ब" विचार पर एक बड़ा आक्षेप यह भी है कि इसमें मानवीय तत्वों की उपेक्षा की गई है। लोक प्रशासन के अन्तर्गत कार्यरत व्यक्तियों की मनोदशाओं, उनकी आदतों, स्वास्थ्य, उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा महत्त्वाकांक्षाओं इत्यादि का भी प्रभाव उत्पादन तथा संगठन पर पड़ता है। "पोस्डकॉर्ब" विचारधारा में मानवीय सम्बन्धों (Human Relations) को कोई स्थान नहीं दिया गया है। हॉथोर्न (Hothorn) प्रयोगकर्त्ता जो प्रशासन के क्षेत्र में मानवीय सम्बन्धों के द ष्टिकोण के समर्थक हैं, वे भी इस सिद्धान्त के कट्टर विरोधी हैं। हॉथोर्न प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि मानवीय सम्बन्धों और उत्पादनकर्त्ता के कार्य करने की दशाओं पर भी उत्पादन निर्भर करता है।

लूथर गुलिक के पोस्डकॉर्ब विचार की आलोचनाओं को ध्यान में रखते हुए कई विचारकों ने लोक प्रशासन के पाठ्य-विषय वस्तु सम्बन्धी क्षेत्र का वर्णन किया है। इनमें हारवे वाकर (Harvey Walker) व फेयोल (Henry Fayal) प्रमुख हैं। वाकर ने विषय-वस्तु सम्बन्धी ज्ञान को प्रायोगिक लोक प्रशासन का नाम दिया है और इसे 10 भागों में बाँटा है-राजनैतिक, वैधानिक, वित्तीय, प्रतिरक्षा, शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक, विदेशी, साम्राज्य सम्बन्धी तथा स्थानीय प्रशासन। इन कार्यों के अन्तर्गत आने वाली प्रमुख क्रियाएं निम्नलिखित हैं:

1. प्रशासन के राजनीतिक कार्यों में आते हैं-कार्यकारिणी-विधानमण्डल सम्बन्ध, मन्त्रिमण्डल या मन्त्रि-परिषद की राजनीतिक प्रशासनिक क्रियाएँ, मन्त्री तथा स्थायी अधिकारियों के सम्बन्ध।
2. प्रशासन के वैधानिक कार्यों में सम्मिलित है प्रत्यायुक्त विधायन (Delegated Legislation) तथा विधान-मण्डल में विधेयक को पेश करने तथा पारित करने सम्बन्धी प्रारम्भिक कार्य जो प्रशासनिक अधिकारियों एवं विभागों द्वारा किये जाते हैं।
3. वित्तीय कार्यों में बजट को तैयार करने से लेकर उसको लागू करना, लेखाविधि, अंकेक्षण, खजाने का प्रबन्ध आदि समूचा वित्तीय प्रशासन सम्मिलित है।
4. प्रतिरक्षा कार्य के अन्तर्गत सैनिकों से सम्बन्धित कार्य आता है।
5. शैक्षिक कार्य में अपने विशाल अर्थ में शैक्षिक प्रशासन आता है।
6. सामाजिक प्रशासन में खाद्य, भवन-निर्माण, सामाजिक सुरक्षा, रोजगार आदि से सम्बन्धित विभागों की क्रियाएँ सम्मिलित हैं।
7. आर्थिक प्रशासन का सम्बन्ध एक सम द्ध तथा स्थिर अर्थव्यवस्था की स्थापना से है। जैसे-कृषि और उद्योगों की सुरक्षा तथा विकास, विदेशी व्यापार तथा वाणिज्य को प्रोत्साहन देना, उपभोक्ता के हित में उद्योगों का नियमन आदि।
8. विदेशी प्रशासन में हैं विदेशी मामलों का प्रबन्ध, कूटनीति, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों या अभिकरणों का प्रशासन आदि।
9. साम्राज्य प्रशासन में वे समस्याएँ तथा तकनीकें आती हैं जो एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे लोगों अथवा राष्ट्र पर शासन करने से उत्पन्न होती हैं।
10. स्थानीय प्रशासन का सम्बन्ध स्थानीय सरकारों की क्रियाओं से होता है।

यद्यपि वाकर द्वारा लोक प्रशासन का पाठ्य वस्तु सम्बन्धी वर्गीकरण हमें लोक प्रशासन के क्षेत्र को समझने में काफी सहायता करता है किन्तु फिर भी यह एक ओर सम्पूर्ण नहीं है दूसरी ओर अतिराव या दोहराव से ग्रस्त है।

फयोल ने पाठ्य वस्तु सम्बन्धी ज्ञान को केवल छः भागों में बाँटा है जो कि निम्नांकित हैं: तकनीकी, व्यावसायिक, सुरक्षा, लेखा, वित्तीय और प्रशासकीय। किन्तु पाठ्य वस्तु सम्बन्धी यह विभाजन भी अपूर्ण है। क्योंकि इसमें कई महत्त्वपूर्ण विषय, जिनका

लोक प्रशासन निर्वाह करता है, छोड़ दिए गये हैं। उदाहरणार्थ, विदेश, सामाजिक सुरक्षा, लोक नीति इत्यादि। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि लोक प्रशासन के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख विषय सम्मिलित किए जाते हैं-संगठन, लक्ष्य, नीति, नियोजन, निर्णय, सेवीवर्ग प्रशासन, बजट व वित्त, समन्वय, पर्यवेक्षण, नियन्त्रण, लोक सम्बन्धी, मानवीय सम्बम्धी ग ह नीति, विदेश नीति, सामाजिक सुरक्षा, लोक कल्याणकारी योजनाएं एवं उनका कार्यान्वयन, संचार व्यवस्था आदि।

लोक नीति सम्बन्धी द ष्टिकोण

यद्यपि व्हाईट द्वारा दी गई परिभाषा के अन्तर्गत लोक प्रशासन, लोक नीतियों (Public Policies) के क्रियान्वयन से सम्बन्धित माना जाता रहा है, किन्तु विगत कुछ दशकों से यह कहा जा रहा है कि लोक प्रशासन केवल सरकारी नीतियों के व्यावहारिक क्रियान्वयन के लिए ही उत्तरदायी नहीं है बल्कि नीति के निर्माण में भी इसकी अहम भूमिका है। सामान्यतः यही माना जाता है कि लोक नीति का निर्माण सर्वोच्च राजनीतिक कार्यपालिका तथा विधायिका करती है तथा लोक प्रशासन के अधिकारी एवं संस्थाएँ राजनीतिज्ञों द्वारा निर्मित लोक नीति को लागू करते हैं। किन्तु लोक प्रशासन की नीति विज्ञान मानने वाले यह तर्क देते हैं कि वर्तमान परिस्थितियों में लोक नीति वैसी ही निर्मित होती है जैसा कि प्रारूप प्रशासनिक अधिकारी तैयार करके देते हैं या तथ्य तथा आँकड़े उपलब्ध करवाकर अपनी भूमिका निभाते हैं। दूसरा तर्क यह दिया जा रहा है कि लोक नीति तो एक स्थूल विचार है जबकि इस नीति का क्रियान्वयन वास्तव में वैसा ही होता है जैसे कि कार्यक्रम तथा योजनाएँ प्रशासन बनाता है। लोक प्रशासन में भी अधिकांश स्तरों पर नीतियाँ तैयार होती हैं। वैसे भी नीति विज्ञानी यह मानते हैं कि राजनीति विज्ञान तथा लोक प्रशासन का क्षेत्र मिलता-जुलता है इनके मध्य दूरी या विभाजक रेखा खींचना हितकर नहीं है। येझिकल ड्रोर तथा मर्सन इसी द ष्टिकोण के समर्थक हैं।

मनोसामाजिक द ष्टिकोण

फ्रेड रिग्ज, फैरेल हैडी एवं स्टॉक्स तथा रॉबर्ट डहाल इत्यादि प्रगतिशील विद्वान् यह मानते हैं कि लोक प्रशासन निर्वात (शून्य) में कार्य नहीं करता है बल्कि यह तो सम्पूर्ण मानव समाज का अनिवार्य अंग है, अतः लोक प्रशासन का क्षेत्र केवल कुछ प्रबंधकीय तकनीकें नहीं बल्कि मानव समाज की सभ्यता, संस्कृति, मूल्य, परिस्थितियाँ, अर्थव्यवस्था तथा मानव-व्यवहार इत्यादि भी इसके अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित हैं।

तुलनात्मक लोक प्रशासन तथा सिद्धान्त निर्माण को एक-दूसरे का पर्याय मानने का कारण यही है कि ऐसा लोक प्रशासन को एक सैद्धान्तिक विषय के रूप में स्थापित करने के लिए यह नितांत आवश्यक है। रॉबर्ट डहाल का मानना है-"जब तक लोक प्रशासन का अध्ययन तुलनात्मक नहीं बनाया जाता, तब तक लोक प्रशासन को विज्ञान मानने का दावा खोखला ही बना रहेगा।" इस प्रकार यह द ष्टिकोण, पारिस्थितिकीय उपागम का समर्थक है जो न केवल सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक कारकों से लोक प्रशासन के अध्ययनों में सम्मिलित करता है बल्कि अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ अन्तरविषयी द ष्टिकोण पर भी बल प्रदान करता है। वास्तव में, लोक प्रशासन के क्षेत्र में सभी सामाजिक विज्ञानों का क्षेत्र तो सम्मिलित नहीं किया जा सकता है बल्कि लोक प्रशासन के अध्ययनों में कुछ सामाजिक पक्षों को समाहित करना एक सीमा तक अनिवार्य-सा है।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन द्विविभाजन द ष्टिकोण

लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में कुछ आधारभूत समानताएँ भी हैं तो कुछ स्पष्ट अंतर भी हैं। हेनरी फेयोल, मेरी पारकर फॉलेट तथा उरविक लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में भेद (पार्थक्य) नहीं स्वीकारते हैं। फेयोल के अनुसार-"प्रशासन का जो अर्थ मैंने बताया है, वह प्रशासनिक विज्ञान के क्षेत्र को बहुत विस्त त बना देता है।" अर्थात् लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन की कार्यप्रणाली, नियम तथा क्षेत्र एक समान हैं लेकिन बरसों से यह माना जाता रहा है कि लाभ, उद्देश्य, व्यापकता, दायित्व तथा लोकहित के आधारों पर लोक एवं निजी प्रशासन में व्यापक अंतर विद्यमान है। निस्संदेह एक बनिए की दुकान तथा सरकारी कार्यालय एक समान नहीं हो सकते हैं लेकिन लोक उपक्रमों के माध्यम से सरकार ने भी उन्हीं क्रियाओं को अपना लिया है जो एक निजी कम्पनी अपनाती है। दूसरी ओर, किसी भी देश की अर्थव्यवस्था, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा सामाजिक विकास के दायित्व सरकार उठाती है, अतः सरकार कुछ कानून तथा नीतियों को इस प्रकार की बना देती है कि वे सरकारी संगठनों तथा निजी संगठनों पर एक समान लागू होती हैं। बढ़ते वैश्वीकरण, निजीकरण, उदारीकरण तथा सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति ने लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के अन्तर को कम किया है। लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के इसी द्विविभाजन ने इसके क्षेत्र का रेखांकन अस्पष्ट बनाया हुआ है।

निष्कर्षः लोक प्रशासन एक बहुत अधिक अर्न्तविषयी (interdisciplinary) विषय है जो कि न केवल अन्य सामाजिक विज्ञानों से ज्ञान अर्जित कर अपने अन्दर समेट रहा है बल्कि यह अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिए भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों का सहारा भी ले रहा है। इसके साथ ही यह गत्यात्मक एवं विकासशील (Dynamic and Growing) विषय है। इन सभी कारणों से इस विषय के क्षेत्र को सही-सही निर्धारित कर पाना काफी कठिन हो गया है। किन्तु हमें यह आशा एवं पूर्ण विश्वास है कि अस्तित्व के संकट से गुजर रहे लोक प्रशासन को शीघ्र ही स्पष्ट क्षेत्र तथा सिद्धान्तों का सहारा मिलेगा क्योंकि लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन इस विषय को सबल प्रदान करेंगे और निर्णायक सिद्ध होंगे।

लोक प्रशासन का महत्त्व
(Significance of Public Administration)

लोक प्रशासन सभ्य समाज की सर्वोच्च प्राथमिक आवश्यकता है। लोक प्रशासन केवल सभ्य जीवन का संरक्षक ही नहीं बल्कि यह सामाजिक विकास, सामाजिक न्याय और सुधार-संशोधनों का प्रमुख साधन भी है। यह व्यक्ति के जन्म के पूर्व से लेकर म त्यु के बाद तक के जीवन (from cradle to grave) के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी सेवाएं अर्पित करता है। यह "आधुनिक सभ्यता का हृदय" (Heart of Modern Civilization) है। लोक प्रशासन पुलिस राज्य (Laissez Faire State) से निकलकर न सिर्फ कल्याणकारी राज्य (Welfare State) और प्रशासकीय राज्य (Administrative State) के पड़ाव तक पहुंच चुका है अपितु नागरिकों के जीवन को समस्या रहित बनाने के लिए प्रयत्नशील है। लोक प्रशासन न केवल लोकतान्त्रिक राज्यों में अपितु पूंजीवादी, साम्यवादी, विकसित, विकासशील, अविकसित, यहाँ तक कि तानाशाही व्यवस्थाओं में भी अति महत्त्वपूर्ण बन गया है क्योंकि इन सभी राज्यों की सरकारें अपनी नीतियों और योजनाओं का कार्यान्वयन स्थायी सरकार (लोक प्रशासन) के द्वारा ही करती हैं। लोक प्रशासन के महत्त्व को दर्शाते हुए प्रो० डनहम ने लिखा है कि "यदि हमारी सभ्यता विफल हुई तो उसके लिए प्रशासन की असफलता प्रमुख रूप से उत्तरदायी होगी। इसी प्रकार चार्ल्स ए० बेयर्ड ने भी लोक प्रशासन के महत्त्व के बारे में लिखा हैः

"प्रशासन के विषय से अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य कोई विषय नहीं होता। सभ्य शासन तथा मेरे विचार से स्वयं सभ्यता का भविष्य भी, हमारी इस क्षमता पर निर्भर करता है कि हम एक सभ्य समाज के कार्यों की पूर्ति के लिए एक कुशल प्रशासकीय दर्शन, विज्ञान और व्यवहार का विकास कर सकें।

लोक प्रशासन के महत्त्व को निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जा सकता हैः

1. **राज्य का व्यावहारिक तथा विशिष्ट भागः** राजनीति विज्ञानियों के अनुसार राज्य के चार मूलभूत तत्त्वों (निश्चित भू-भाग, जनसंख्या, सम्प्रभुता तथा शासन) में शासन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। शासन अर्थात् सरकार के कार्यों तथा दायित्वों को मूर्त्तरूप प्रदान करने में लोक प्रशासन एक अनिवार्य तथा विशिष्ट आवश्यकता है। सुप्रसिद्ध विचारक अरस्तु के अनुसार-"राज्य, जीवन के लिए अस्तित्व में आया तथा अच्छे जीवन के लिए उसका अस्तित्व बना हुआ है।" दरअसल आधुनिक युग में 'राज्य' को एक बुराई के रूप में नहीं बल्कि मानव कल्याण तथा विकास के लिए एक अनिवार्यता रूप में देखा जाता है। वर्तमान विश्व के प्रत्येक राष्ट्र में, चाहे वहाँ कैसा भी शासन हो, राज्य का कर्त्तव्य जनकल्याण ही है। अनादिकाल से ही राज्य की इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रशासन ही एकमात्र माध्यम रहा है। यद्यपि राजशाही व्यवस्थाओं में प्रशासन का स्वरूप आज की भाँति उत्तरदायी तथा विकासपरक नहीं था तथापि प्रशासन, राज्य की व्यावहारिक अभिव्यक्ति अवश्य था। राज्य के लिए कार्य करते-करते अथवा जन सेवाएँ सुलभ कराते-कराते कतिपय ऐसे प्रशासनिक सिद्धान्त, नियम तथा प्रक्रियाएँ विकसित हो गई, जो आज राज्य के प्राणतत्त्व सिद्ध हो रही हैं। राज्य के कार्यों की पूर्ति के लिए कारगर हथियार होने के कारण ही प्रशासन तथा राज्य समानार्थी हो गए हैं। व हद् स्तरीय तथा जटिल कार्य केवल सरकार ही कर सकती है। ऐसा माना जाता है कि भारत में जनगणना कार्य, विश्व की सबसे बड़ी प्रशासनिक प्रक्रिया है।
2. **जन कल्याण का माध्यमः** आधुनिक विश्व में राज्य का स्वरूप न्यूनाधिक मात्रा में लोकतांत्रिक तथा जन कल्याणकारी है। आज अहस्तक्षेपवादी राज्य (Laissez Faire State) की अवधारणा दम तोड़ चुकी है। वर्तमान समाजों की अधिसंख्य मानवीय आवश्यकताएँ राज्य के अभिकर्त्ता अर्थात् लोक प्रशासन द्वारा पूरी की जाती हैं। व्हाईट के अनुसार-"कभी ऐसा भी समय था जब जनता सरकारी (राजा के) अधिकारियों से दमन के अतिरिक्त और कोई अपेक्षा नहीं करती थी।

कालान्तर में आम जनता ने यह सोचा कि उसे स्वतंत्र तथा भाग्य के भरोसे छोड़ दिया जाए, किन्तु आज का समाज, प्रशासन से सुरक्षा तथा विभिन्न प्रकार की सेवाओं की आशा करता है।" भारत का संविधान भी नीति-निदेशक तत्त्वों के माध्यम से समाज के दीन-हीन तथा निर्योग्यताग्रस्त व्यक्तियों के लिए राज्य द्वारा विशेष प्रयासों तथा कल्याण कार्यक्रमों के निर्देश लोक प्रशासन को देता है। चिकित्सा, स्वास्थ्य, परिवार कल्याण, शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, जन संचार, परिवहन, ऊर्जा, सामाजिक सुरक्षा, कृषि, उद्योग, कुटीर उद्योग, पशुपालन, सिंचाई, डाक तथा आवास इत्यादि समस्त मूलभूत मानवीय सामाजिक सेवाओं का संचालन प्रशासन के माध्यम से ही सम्भव है। इसी कारण आज का राज्य प्रशासकीय राज्य भी कहलाता है।

3. **रक्षा, अखण्डता तथा शांति व्यवस्थाः** राजशाही शासन व्यवस्थाओं में राजा का मुख्य ध्येय अपने राज्य की सीमाओं में निरन्तर विस्तार करने का रहता था जो वर्तमान सन्दर्भों में दम तोड़ चुका है। आज का राज्य विस्तारवादी होने के स्थान पर जन कल्याणकारी है। लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि राज्य, अपनी सीमाओं की रक्षा नहीं करता है। परमाणु हथियारों के विकास, प्रायोजित आतंकवाद के विस्तार तथा परिवर्तित होते राजनयिक एवं कूटनीतिक सम्बन्धों ने विदेश नीति तथा रक्षा नीति के समक्ष नित्य कई चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं। यद्यपि युद्ध के समय सीमाओं तथा राष्ट्र की रक्षा करना 'सैनिक प्रशासन' का दायित्व है किन्तु शांति काल में सीमाओं की चौकसी तथा राष्ट्र की आंतरिक अखण्डता, शांति व्यवस्था, साम्प्रदायिक सौहार्द्र तथा समरसता बनाए रखने का दायित्व लोक प्रशासन का है। **हरमन फाइनर** के शब्दों में-"कुशल प्रशासन, सरकार का एकमात्र सशक्त सहारा है। इसकी अनुपस्थिति में राज्य क्षत-विक्षत हो जाएगा।" न्याय, पुलिस, सशस्त्र बल, हथियार निर्माण, अन्तरिक्ष, परमाणु ऊर्जा, बहुमूल्य खनिज, वैदेशिक-सम्बन्ध तथा गुप्तचर इत्यादि गतिविधियाँ ऐसी हैं जो किसी भी राष्ट्र की बाहरी एवं भीतरी सुरक्षा को स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। ऐसी गतिविधियाँ या विषय जानबूझकर लोक प्रशासन के अधीन रखे जाते हैं। इस सम्बन्ध में **जेम्स एल० पैरी** ने कहा है-"सरकार को ऐसे कार्य सौंपे गए हैं, जिन्हें या तो बाजार पूरे करने में असमर्थ हैं या जो निजी क्षेत्र के लिए उपयुक्त नहीं समझे गए हैं।"

4. **लोकतंत्र का वाहक एवं रक्षकः** प्रजातंत्र की अवधारणा सैद्धान्तिक रूप से चाहे कितनी ही सशक्त तथा प्रभावी दिखाई देती हो लेकिन प्रजातंत्र की स्थापना तथा विस्तार केवल तब ही सम्भव है जबकि लोक प्रशासन इस दिशा में सार्थक पहल करे। आम व्यक्ति तक शासकीय कार्यों की सूचना पहुँचाना, नागरिक तथा मानव अधिकारों की क्रियान्विति करना, निष्पक्ष चुनाव करवाना, जन शिकायतों का निस्तारण करना, राजनीतिक चेतना में व द्धि करना तथा विकास कार्यों में जन सहभागिता सुनिश्चित कराने के क्रम में लोक प्रशासन की भूमिका सर्वविदित है। **फाइनर** के अनुसार-"किसी भी देश का संविधान चाहे कितना ही अच्छा हो और वहाँ के मंत्रिगण भी सुयोग्य हों किन्तु बिना कुशल प्रशासकों के उस देश का शासन सफल सिद्ध नहीं हो सकता है।" लोकतांत्रिक मूल्यों में केवल निष्पक्ष चुनाव तथा जनता की सहभागिता ही सम्मिलित नहीं है बल्कि समानता, न्याय तथा वितरण के मूलभूत सिद्धान्तों सहित प्रशासनिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण भी प्रमुख है। भारत में 1989 से 1999 तक हुए पाँच आम चुनावों के समय पश्चिमी देशों द्वारा प्रायः यह आशंका व्यक्त की गई थी कि दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र अर्थात् भारत शीघ्र ही विखण्डित हो जाएगा, किन्तु लोकतंत्र में जनास्था तथा प्रशासनिक सुद ढ़ता के कारण यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। वस्तुतः लोक प्रशासन केवल लोकतंत्र का संवाहक ही नहीं बल्कि उसका सजग प्रहरी भी है। **ड्वाईट वाल्डो** लोक प्रशासन को सांस्कृतिक सम्मिश्रण का भाग मानते हुए लोकतंत्र तथा समाज में इसकी महत्ती भूमिका स्वीकारते हैं।

5. **सामाजिक परिवर्तन का माध्यमः** आधुनिक समाजों विशेषतः विकासशील समाजों की परम्परागत जीवन शैली, अंधविश्वास, रूढ़ियों तथा कुरीतियों में सुनियोजित परिवर्तन लाना एक सामाजिक आवश्यकता है। सुनियोजित सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा, राजनीतिक चेतना, आर्थिक विकास, संविधान, कानून, मीडिया, दबाव समूह तथा स्वयंसेवी संगठनों सहित प्रशासन भी एक यंत्र माना जाता है। लोक प्रशासन न केवल सामाजिक परिवर्तन का हथियार है बल्कि सामाजिक नियंत्रण का भी माध्यम है। **मैक आइवर एवं पेज** के अनुसार-"सामाजिक नियंत्रण का अभिप्राय उस ढंग से है जिसके द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एकता तथा स्थायित्व बना रह सके और जिसमें 'व्यवस्था' परिवर्तनशील संतुलन के रूप में समग्र रहती हुई क्रियाशील रहती है।" भारत में गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, बालश्रम, शोषण, महिला अत्याचार, अपराध, बाल अपराध सहित दहेज, विधवा विवाह, छूआछूत, सती प्रथा, पर्दा प्रथा, म त्युभोज, बाल विवाह, नशाखोरी, बलात्कार तथा निरक्षरता जैसी सामाजिक समस्याएँ विद्यमान हैं। इन सामाजिक समस्याओं तथा कुरीतियों का समाधान केवल सरकार द्वारा निर्मित सामाजिक नीतियों, सामाजिक नियोजन तथा सामाजिक विधानों के द्वारा ही

हो सकता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर अद्यतन भारत सरकार एवं राज्य सरकारों के अधीन कार्यरत प्रशासनिक संस्थानों का मुख्य लक्ष्य सामाजिक-आर्थिक विकास सहित आम व्यक्ति का जीवन स्तर ऊँचा उठाना ही रहा है। निस्संदेह, सामाजिक परिवर्तन एक विशिष्ट आयाम है। इस सम्बन्ध में प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का मानना था-"लोक प्रशासन सभ्य जीवन का रक्षक मात्र ही नहीं बल्कि सामाजिक न्याय तथा सामाजिक परिवर्तन का महान् साधन है।" ऐसा इसलिए सम्भव है कि लोक प्रशासन "जनमत निर्माण" का सशक्त माध्यम है।

6. **सभ्यता, संस्कृति तथा कला का संरक्षकः** लोक प्रशासन की प्रकृति, विषय-वस्तु तथा क्षेत्र को आधार बनाकर इसके महान् विद्वान् **एल० डी० व्हाईट** कहते हैं-"लोक प्रशासन आधुनिक शासन व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु है।" दरअसल लोक प्रशासन, शासन व्यवस्थाओं का ही केन्द्र बिन्दु नहीं बल्कि हम सभी की आशाओं तथा अपेक्षाओं का भी हृदयस्थल है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा संचार क्रान्ति के वर्तमान युग में सभ्यता का जो नया स्वरूप सामने आ रहा है उसका मुख्य प्रणेता लोक प्रशासन ही है। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र की सांस्कृतिक विविधता तथा विरासत का संरक्षण, एक अनिवार्य प्रशासनिक कृत्य बन चुका है। चित्रकला, साहित्य, वास्तुकला, संगीत से लेकर लोक जीवन से जुड़े सभी सांस्कृतिक पक्षों का संरक्षण तथा संवर्द्धन राज्य का दायित्व है। यद्यपि आदिकाल से ही कला एवं संस्कृति को राजाओं का संरक्षण मिलता रहा है तथापि वर्तमान भौतिक युग में जहाँ सांस्कृतिक परिवर्तन की दर अत्यधिक है, राज्य के दायित्व पूर्व की तुलना में कहीं अधिक एवं गम्भीर हो गए हैं। सांस्कृतिक अतिक्रमण, आक्रमण तथा पतन की ओर अग्रसर गौरवशाली मूल्यों के संरक्षण में निस्संदेह लोक प्रशासन ही सशक्त भूमिका निर्वाहित कर सकता है। **सर जोसिया स्टाम्प** कहते हैं, "प्रशासनिक कर्मचारी, समाज को प्रेरणा देने के सबसे बड़े स्त्रोत हैं।"

7. **विकास प्रशासन का पर्यायः** आज का लोक प्रशासन 'विकास प्रशासन' का पर्याय माना जाता है क्योंकि वर्तमान में प्रशासन का कार्य, मात्र राजस्व एकत्रण तथा शांति-व्यवस्था बनाए रखना (नियामकीय कृत्य) ही वहीं बल्कि विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करना है। यही कारण है कि लोक प्रशासन की प्रकृति परम्परागत रूप से कठोर होने के बजाय अब लक्ष्योन्मुखी, परिणामोन्मुखी, ग्राहकोन्मुखी तथा परिवर्तनोन्मुखी हो चुकी है। बीसवीं सदी के मध्य में उपनिवेशवाद से मुक्त हुए एशियाई, लेटिन अमेरिकी तथा अफ्रीकी देशों में तात्कालिक आवश्यकता "विकास के लक्ष्य" प्राप्त करना थी। विकास प्रशासन-अवधारणा के जनक **एडवर्ड वाइडनर** के अनुसार विकास प्रशासन की वर्तमान मान्यताएँ प्रशासन को प्रगतिशील राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक लक्ष्यों की ओर मार्गदर्शन प्रदान करती हैं ताकि जनता के कल्याण, विकास तथा सुरक्षा के लक्ष्य प्राप्त किए जा सकें। विकास के क्षेत्र उतने ही विस्त त तथा बहुआयामी हैं जितने कि राज्य के कर्त्तव्य तथा शासन के विषय हैं। समाजवादी शासन व्यवस्थाओं में सम्पूर्ण विकास प्रशासन के प्रयासों पर निर्भर करता है, वहीं पूँजीवादी देशों में भी विकास की मूलभूत नीतियाँ, लोक प्रशासन ही तैयार करता है। विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए लोक प्रशासन के कार्मिकों तथा विशेषज्ञों द्वारा अनेक प्रकार की लोक नीतियाँ निर्मित तथा क्रियान्वित की जाती हैं। आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में पूँजीवाद को कई बार 'प्रबंधवाद' भी कह दिया जाता है क्योंकि सम्पूर्ण समाज आधुनिक प्रबंधकीय क्रांति के दौर से गुजर रहा है।

8. **विधि एवं न्यायः** वस्तुतः लोक प्रशासन का प्रमुख कार्य कानून एवं नीति निर्माण में विधायिका को परामर्श प्रदान करना तथा विधायिका द्वारा स्वीकृत कानूनों एवं नीतियों को व्यावहारिक रूप में लागू करना है। लोक प्रशासन के जनक **वुडरो विल्सन** ने कानून के विस्त त एवं व्यवस्थित प्रयोग का दूसरा नाम लोक प्रशासन बताया था। आधुनिक राज्यों में मुख्यतः विधि का शासन (Rule of Law) प्रवर्तित है, अर्थात् कानून सर्वोपरि है। कानून या विधि से बढ़कर कोई नहीं है। लोक प्रशासन का यह कर्त्तव्य है कि वह संविधान, कानूनों, नियमों, नीतियों तथा निर्धारित मापदण्डों के अनुसार भेदभावरहित ढंग से समस्त राजकीय क्रियाएँ संचालित करवाये। यदि निर्धारित कानून तथा विधि का उल्लंघन होता हो तो पीड़ित पक्ष को न्याय दिलवाने तथा दोषी व्यक्ति को दण्डित कराने का दायित्व भी लोक प्रशासन का है। यद्यपि न्यायपालिका को कानूनों की व्याख्या का अधिकार दिया गया है किन्तु न्यायपालिका को आवश्यक सहायता पुलिस ही उपलब्ध करवा सकती है तथा न्यायपालिका के निर्णयों की क्रियान्विति प्रशासनिक तंत्र ही करता है। विधि के शासन के मुख्य प्रवर्तक लॉर्ड **ए० वी० डायसी** की द ष्टि में मानव व्यवहार को नियंत्रित करने तथा सामाजिक एकता सुनिश्चित करने के लिए सुव्यवस्थित तथा न्याय संगत प्रशासनिक तंत्र का होना नितांत आवश्यक है। **लॉर्ड ब्राइस** के शब्दों में-"कानून का सम्मान तभी होता है जबकि यह निर्दोष व्यक्तियों की रक्षा के लिए ढाल बन जाता है और प्रत्येक नागरिक के निजी अधिकारों का निष्पक्ष संरक्षण करता है। यदि अंधेरे में न्याय का दीपक बुझ जाए तो उस गहन अंधकार का अनुमान लगाना कठिन है।"

9. **औद्योगिक एवं आर्थिक विकासः** मानव जीवन में आवश्यक भौतिक वस्तुओं तथा प्रमुख तकनीकी संसाधनों की सुलभता सुनिश्चित करने के लिए आधुनिक राज्यों द्वारा अनेक प्रकार की औद्योगिक नीतियाँ तथा आर्थिक कार्यक्रम निर्मित किए जाते हैं। आर्थिक तथा उत्पादन के साधनों का समुचित वितरण एवं विनिमय करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाए। इसी कारण लगभग सभी राष्ट्रों में प्रमुख आर्थिक उपक्रमों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है। प्रत्येक देश, उपलब्ध प्राकृतिक, भौगोलिक, तकनीकी, वित्तीय तथा मानवीय संसाधनों के अनुरूप उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों का विकास करता है ताकि आर्थिक न्याय की स्थापना सहित राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को सुद ढ़ किया जा सके। **मार्शल ई० डिमॉक** के अनुसार-"लोक प्रशासन प्रत्येक नागरिक के लिए महत्त्व का विषय है क्योंकि वह प्रशासन से कुछ निश्चित सेवाएँ प्राप्त करता है तथा सरकार को कर (Tax) देता है।" सरकार द्वारा एकत्र किया जाने वाला राजस्व ही अंततः विकास कार्यों तथा सामाजिक सेवाओं का आधार बनता है। किसी भी राष्ट्र के सम्मुख प्रमुख चुनौती वित्तीय संसाधनों में व द्धि तथा जनकल्याण की ही होती है। राष्ट्र के समस्त प्रकार के संसाधनों के सदुपयोग को सुनिश्चित करने, व्यापार संतुलन को बनाए रखने, राष्ट्रीय आय में व द्धि करने, जीवन स्तर को उच्च बनाने, विश्व के साथ प्रतिस्पर्धा करने, वाणिज्यिक एवं व्यापारिक गतिविधियाँ नियंत्रित करने तथा विधि ग्राह्य मुद्रा संचालन के क्रम में लोक प्रशासन की उपादेयता स्वयंसिद्ध है।

10. **आजीविका का माध्यमः** "राज्य सर्वश्रेष्ठ नियोक्ता है।" इस कथन को चरितार्थ करते हुए अधिसंख्य देशों में कार्यशील जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा राजकीय सेवाओं में नियोजित है। भारत में 2 करोड़ से भी अधिक व्यक्ति केन्द्र तथा राज्य सरकारों के अधीन प्रशासनिक संगठनों में रोजगार प्राप्त हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यशील जनसंख्या का 18 प्रतिशत, फ्रांस में 33 प्रतिशत तथा स्वीडन में 38 प्रतिशत हिस्सा राजकीय सेवाओं में कार्यरत है। इससे सिद्ध होता है कि लोक प्रशासन केवल जनकल्याण तथा विकास के कार्यक्रम ही संचालित नहीं करता है बल्कि विशाल जनसंख्या को रोजगार उपलब्ध कराने का भी श्रेष्ठ स्थल है। लोक प्रशासन में कार्य करने वाले लोक सेवकों की प्रत्येक युग में सदैव ही एक विशिष्ट छवि रही है। **आर्डवे टीड** के शब्दों में-"लोक प्रशासन एक नैतिक कार्य है और प्रशासक इसके नैतिक अभिकर्ता है।"

सारांशतः लोक प्रशासन सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, शैक्षिक, व्यक्तिगत तथा सामुदायिक पक्षों को प्रभावित करने वाला विषय बन चुका है। इस सम्बन्ध में **पंडित नेहरू** ने भारतीय लोक प्रशासन संस्थान की उद्घाटन बैठक (29 मार्च, 1954) में प्रशासकों को सम्बोधित करते हुए कहा था-"प्रशासन अन्य बहुत से पक्षों की भांति अन्तिम विश्लेषण की द ष्टि में एक मानवीय समस्या है। इसमें मनुष्यों से व्यवहार करना पड़ता है न कि आँकड़ों की सूची से। प्रशासक अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के बारे में अव्यावहारिक द ष्टि से सोच सकता है और उनके सम्बन्ध में ऐसे निर्णय कर सकता है जो दिखने में न्यायपूर्ण लगें, किन्तु उनमें मानवीय तत्त्व भुला दिया गया हो। आप चाहें किसी भी विभाग में कार्य करते हों, सदैव ही मानवीय समस्याओं से सम्बद्ध रहते हैं। यदि इस तथ्य को भूलते हैं तो वास्तविकता से दूर भागते हैं। प्रशासन का उद्देश्य कुछ प्राप्त करना है न कि प्रक्रिया के कुछ विशेष नियमों का अनुगमन करते हुए नरगिस के पौधे के समान पूर्ण सन्तोष करके शीश महल में बैठे आनन्द का जीवन व्यतीत करना। मानव समाज और उसका कल्याण ही तो प्रशासन की कसौटी है।"

लोक प्रशासन की उपयोगिता के क्रम में यह भी माना जाता है कि यह विषय क्रियाशील नागरिकता को महत्त्व देता है अर्थात् लोकतंत्र में नागरिकों को सरकार के बारे में पूर्ण जानकारी (सरकार क्या है, कैसे कार्य करती है) होनी चाहिए। यह जानकारी लोक प्रशासन उपलब्ध करवाता है। चूंकि सामाजिक जीवन में सरकार की भूमिका बढ़ रही है अतः लोक प्रशासन का महत्त्व भी एक बौद्धिक विषय के रूप में निरन्तर बढ़ रहा है।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि लोक प्रशासन नागरिकों के जीवन को बहुत गहरे से प्रभावित करता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि लोक प्रशासन के बिना आधुनिक सभ्य समाज की कल्पना करना कठिन है। इसी कारण **एल० डी० व्हाइट** ने लिखा है कि "आज लोक प्रशासन इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है कि इसे आधुनिक शासन-व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु कहा जाता है।" इसी प्रकार **हरमन फाइनर,** ने लिखा है कि, "किसी भी देश का संविधान चाहे कितना भी अच्छा हो, उसके मन्त्रीगण भी योग्य हों, परन्तु बिना दक्ष प्रशासकों के उस देश का शासन सफल नहीं हो सकता।" उन्होंने आगे कहा है कि "कुशल प्रशासन सरकार का एकमात्र अवलम्ब है जिसकी अनुपस्थिति में राज्य क्षत-विक्षत हो जाएगा।" अतः निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय में लोक प्रशासन व्यावहारिक रूप से हमारे समस्त जीवन और कार्यों पर आच्छादित हो चुका है तथा हमारी सभ्यता का मूलाधार बन गया है।

अध्याय-2
लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन
(Public & Private Administration)

प्रशासन एक व्यापक एवं विस्त त शब्द है जिसका अर्थ है 'वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय तथा भौतिक संसाधनों का संगठन और संचालन'। यह कार्य (मानवीय और भौतिक संसाधनों को संगठित और संचालित करना) किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के द्वारा भी सम्पन्न किया जा सकता है और किसी सरकारी संस्था या सरकार द्वारा प्राधिकृत किसी संस्था (बोर्ड, कॉरपोरेशन इत्यादि) द्वारा भी किया जा सकता है। पहली अवस्था में इसे निजी प्रशासन की संज्ञा दी जाती है जबकि दूसरी अवस्था में इसे लोक प्रशासन के नाम से पुकारा जाता है। कुछ विद्वान इन दोनों (लोक प्रशासन और निजी प्रशासन) को प थक्-प थक मानते हैं जबकि कुछ अन्य इन दोनों में कोई भेद नहीं करते हैं। जो विचारक लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में विभेद करते हैं उनमें पॉल एच० एपलबी, सर जोसिया स्टाम्प, हरबर्ट साइमन, पीटर ड्रकर तथा फैलिक्स ए० निग्रो प्रमुख हैं। दूसरी ओर हेनरी फेयाल, मैरी पारकर फोलेट, मूने एवं रैली, लूथर गुलिक, आर० शैल्टन तथा एल० डरविक आदि विद्वान मानते हैं कि लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में कोई भेद नहीं है।

लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में समानताएँ

हेनरी फेयाल, एम० पी० फोलेट (M.P. Follet) और एल० उरविक (L. Urwick) का कहना है कि किसी भी प्रशासन में भेद करना व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि सभी प्रकार के प्रशासन एक से होते हैं और उसके मौलिक लक्षण एक जैसे रहते हैं। **फेयाल** के शब्दों में, "प्रशासन के अन्तर्गत केवल लोक प्रशासन का ही नहीं, अपितु प्रत्येक आकार तथा प्रकार एवं प्रत्येक नाम अथवा उद्देश्य से संचालित संस्थाओं के प्रशासन का भी समावेश होता है। समस्त संस्थाओं में नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय तथा नियंत्रण की आवश्यकता होती है, एवं सफलतापूर्वक कार्य संचालन के लिए सबको एक से ही सामान्य सिद्धान्तों का पालन करना होता है। हमारे सामने बहुत से प्रशासकीय विज्ञान नहीं हैं, केवल एक ही प्रशासकीय विज्ञान है, उसे हम लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत, दोनों पर समान रूप से लागू कर सकते हैं।"

एल० उर्विक (L. Urwick) कहते हैं-"गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह सोचना कठिन होता है कि एक जीव-रसायन (Biochemistry) बैंकर्स का है, एक शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology) अध्यापकों का है, या एक मनोचिकित्सा विज्ञान (Psychopathology) राजनीतिज्ञों का है। किसी विशेष प्रकार के संस्थान के उद्देश्य के अनुसार प्रबन्धकीय अथवा प्रशासनिक अध्ययन का उपविभाजन करना अधिकतर विद्वानों की द ष्टि से गलत होगा।" लोक प्रशासन के कर्मचारी आज निजी प्रशासन में और निजी प्रशासन के कर्मचारी लोक प्रशासन में सफलतापूर्वक कार्य करते हैं। भारत में लोक-सेवा से अवकाश-प्राप्त कर्मचारी प्रायः औद्योगिक एवं व्यापारिक संस्थानों में स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

विभिन्न विचारकों के द्वारा लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में समानताओं के सन्दर्भ में जो तर्क दिए गए हैं उनके आधार पर हम इनके मध्य समानताओं को निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट कर सकते हैं:

1. **अनुसन्धान एवं नवीन तकनीक (Research and New Techniques):** नयी सम्भावनाओं के लिए अनुसन्धान करना एवं नयी तकनीक को अपनाना लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन दोनों ही के लिए आवश्यक है। अन्वेषण दोनों ही प्रकार के प्रशासन के लिए आवश्यक है और उसका स्वरूप भी दोनों में एक ही प्रकार का है। दोनों ही प्रशासन नयी खोजों द्वारा नवीन सिद्धान्तों, विधाओं, उपकरणों आदि के आविष्कार में संलग्न रहते हैं। लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन दोनों

ही के विभागों में दक्ष कर्मचारी विभिन्न प्रयोगशालाओं में शोध-कार्यों (Research Works) में व्यस्त रहते हैं ताकि नयी सम्भावनाओं का पता लगाकर उन्हें अपनाया जा सकें।

2. **प्रशासन की समान तकनीक (Same Techniques of Administration):** लोक प्रशासन एवं व्यक्तिगत प्रशासन में एक ही प्रकार की तकनीकों का उपयोग किया जाता है। फाइल रखना, उन पर टिप्पणी लिखना, लेखा-जोखा रखना, अंकेक्षण करवाना या इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं की प्रकृति जैसी निजी प्रशासन में होती है वैसी ही लोक प्रशासन में होती है। दोनों ही प्रशासनों के लिए वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) का सिद्धान्त समान रूप से हितकर है। प्रशासकीय अधिकारी महाविद्यालय, हैदराबार में निजी उद्योगों, सरकारी उद्योगों और शासकीय विभागों में कार्यरत कर्मचारियों को एक ही तरह की ट्रेनिंग दी जाती है। इस व्यवस्था के तहत यही तर्क दिया जाता है कि जो बातें लोक प्रशासन में सफलता दिला सकती हैं वे ही बातें निजी प्रशासन में भी सफलता दिला सकती हैं।

3. **जन-सम्पर्क एवं उत्तरदायित्व (Public Relations and Responsibility):** लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन दोनों में ही लोक-सम्पर्क का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक प्रशासन में जन-सम्पर्क के महत्त्व को बहुत पहले ही समझ लिया गया था और अब सार्वजनिक क्षेत्र में भी इसके महत्त्व को पहचाना जाने लगा है। उपभोक्ता की सम्प्रभुता व्यक्तिगत प्रशासन का मूल मन्त्र है। विभिन्न व्यवसायों में प्रतिद्वन्द्विता इतनी अधिक बढ़ गई है कि निजी क्षेत्र की कम्पनियाँ कई प्रकार के प्रलोभन देकर आम जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने लगी हैं। अतः दोनों ही प्रशासनों में जन-सम्पर्क एवं उत्तरदायित्व की उपयोगिता निर्विवाद रूप से उपयोगी है।

4. **संगठन का महत्त्व (Importance of Organisation):** सभी प्रकार के प्रशासनों के लिए संगठन शरीर-तुल्य है। मानवीय एवं भौतिक (Human and Physical) साधनों का उचित संगठन करके ही लोक प्रशासन और निजी प्रशासन अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं। प्रशासन चाहे लोक-हित की भावना से ओत-प्रोत हो, चाहे उसमें व्यक्तिगत लाभ का द ष्टिकोण हो, एक अच्छे संगठन के बिना वह अपने उद्देश्य को नहीं प्राप्त कर सकता है। संगठन के सम्बन्ध में दोनों ही प्रशासनों में एक ही तरह के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। निस्सन्देह संगठन ही वह शरीर है जिसके विभिन्न अंगों द्वारा भिन्न-भिन्न कार्य लिए जाते हैं।

5. **अधिकारियों का उत्तरदायित्व (Responsibility of Officials):** अधिकारियों के उत्तरदायित्व की द ष्टि से भी लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन समान हैं। लोक प्रशासन के अधिकारी जहाँ जनता के प्रति उत्तरदायी हैं वहाँ निजी प्रशासन के अधिकारी अपने उपभोक्ताओं (Customers) के प्रति उत्तरदायी हैं। उत्तरदायित्व का सिद्धान्त दोनों ही में समान रूप से लागू होता है। प्राप्त साधनों का अधिकतम उपयोग करके अपने लक्ष्य को प्राप्त करना दोनों ही प्रशासनों का मुख्य ध्येय है। कभी-कभी ऐसा होता है कि सरकार निजी क्षेत्र के कारखानों, बैंक अथवा अन्य संस्थानों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) करती है। ऐसी परिस्थितियों में निजी क्षेत्र के सभी अधिकारी और कर्मचारी लोक-सेवा में आ जाते हैं और वे सफलतापूर्वक अपने कार्यों का सम्पादन करते हैं।

6. **विकास एवं प्रगति का सिद्धान्त (Theory of Development and Progress):** विकास एवं प्रगति का सिद्धान्त लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन दोनों ही के लिए लागू होता है। लोक प्रशासन हो या निजी प्रशासन, दोनों का ही लक्ष्य संगठन एवं कुशल प्रबन्ध द्वारा प्रगति तथा विकास करना है। विकास एवं प्रगति न हो तो कोई भी प्रशासन म तप्रायः और शिथिल माना जायेगा। क्योंकि प्रशासन की सफलता का मापदण्ड उसका विकास एवं प्रगति ही है। निजी प्रशासन में अगर विकास नहीं हो तो कम्पनी आर्थिक लाभ नहीं कमा सकती और उसे बन्द कर देना पड़ता है।

7. **निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करना (Implementation of Fixed Policies):** प्रत्येक प्रशासन की अपनी एक निर्धारित नीति होती है और उस निर्धारित नीति पर योजनाबद्ध ढंग (planned way) से अमल किया जाता है। जिस प्रकार लोक प्रशासन का उद्देश्य लोक-नीति को कार्यान्वित करना है, उसी प्रकार निजी प्रशासन का उद्देश्य निजी नीति का कार्यान्वयन करना है। नीति के निर्माण में भी दोनों का अपने-अपने क्षेत्र में योगदान रहता है। कभी-कभी तो दोनों के बीच विभाजन रेखा खींचना कठिन हो जाता है। सरकार द्वारा भी बहुत से ऐसे कार्य किये जाते हैं जो एक छोटे से वर्ग के कल्याण के लिए होते हैं। उसी प्रकार निजी प्रशासन द्वारा भी सार्वजनिक कल्याण के बहुत से काम किये जाते हैं।

8. **प्रशासन के समान सिद्धान्त (Same Theory of Administration):** जो भी मान्य प्रशासनिक सिद्धान्त है वह दोनों के लिए ही लागू होता है। आदेश की एकता (Unity of Command) का सूत्र जितना निजी प्रशासन के लिए उपयोगी है

उतना ही लोक प्रशासन के लिए भी उपयोगी है। **लूथर गुलिक** के 'POSDCORB' सिद्धान्त की मान्यता लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन दोनों के लिए ही समान रूप से लागू होती है। योजना, संगठन, समन्वय, निर्देशन, वित्त और कर्मचारियों की आवश्यकता दोनों ही प्रशासनों को होती है। एक बड़े संस्थान का प्रशासन चाहे वह निजी क्षेत्र में हो या सार्वजनिक क्षेत्र में हो, ऊपर से देखने पर साधारणतः एक समान ही दिखायी पड़ता है।

लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में भेद या अन्तर

लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के मध्य उपरोक्त समानताओं का अर्थ यह नहीं है कि दोनों में कोई भेद नहीं पाया जाता है। दोनों के मध्य अनेकों विचारकों ने अनेकों असमानताएं उजागर की हैं। हरबर्ट साइमन ने दोनों के बीच निम्नांकित भेद बताए हैं:

1. लोक प्रशासन का स्वरूप नौकरशाहीनुमा होता है जबकि निजी प्रशासन का स्वरूप व्यापारिक होता है।
2. लोक प्रशासन राजनीतिक वातावरण के अधिक (पूर्णतया) समीप है जबकि निजी प्रशासन अराजनीतिक होता है।
3. लोक प्रशासन में अकर्मण्यता, कामचोरी तथा लालफीताशाही की व्याधियाँ हैं जबकि निजी प्रशासन सामान्यतः इन व्याधियों से मुक्त है।

पीटर एफ० ड्रकर की मान्यता है कि "लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में अन्तर है। यह अन्तर उद्देश्यों, मूल्यों तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों का है।" उनके अनुसार, सरकारी संगठनों में "निष्पादन तथा परिणाम" निजी संगठनों से भिन्न होता है तथा इसी अनुसरण में "निष्पादन का प्रबन्धन (Managing for Performance)" भिन्न-भिन्न होता है।

सर जोसिया स्टाम्प ने दोनों के मध्य चार आधारों पर असमानताएँ दर्शाई हैं:

1. लोक प्रशासन में अधिकांशतः एकरूपता पायी जाती है जबकि निजी प्रशासन में विभिन्नताएँ व्याप्त रहती हैं।
2. लोक प्रशासन में बाह्य वित्तीय नियंत्रण (विधायिका द्वारा) पाया जाता है जबकि निजी प्रशासन में आन्तरिक वित्तीय नियंत्रण रहता है, अर्थात् वित्त और प्रशासन में प थकता नहीं रहती है।
3. लोक प्रशासन, जनता के प्रति जवाबदेह होता है लेकिन निजी प्रशासन में प्रायः ऐसा नहीं होता है।
4. लोक प्रशासन का मुख्य ध्येय जनकल्याण तथा सामुदायिक सेवाएँ देना है लाभ कमाना नहीं; जबकि निजी प्रशासन लाभोन्मुखी होता है।

एक अन्य विद्वान पॉल एच० एपलबी ने निम्नांकित तीन आधारों पर दोनों को भिन्न माना है:

1. **व्यापकता, प्रभाव तथा महत्ता:** एपलबी के अनुसार संगठित सरकार किसी-न-किसी रूप में समाज में विद्यमान तथा गतिशील सभी क्षेत्रों को अपने में समेट लेती है। शासन के कार्य तथा नीतियाँ अत्यंत जटिल होती हैं, अतः इन्हें पूर्णतया समझने के लिए न -विज्ञानी, इतिहासकार, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, राजनीतिशास्त्रवेत्ता, कृषक, श्रमिक, व्यापारी, उद्योगपति, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा साहूकार इत्यादि व्यक्तियों की बुद्धिमत्ता की आवश्यकता पड़ती है। लोक प्रशासन का क्षेत्र एवं प्रभाव व्यापक है क्योंकि समाज में इसका महत्त्व भी अधिक है जबकि निजी प्रशासन छोटा तथा कम महत्त्वपूर्ण है।
2. **सार्वजनिक जवाबदेयता:** इस सम्बन्ध में एपलबी कहते हैं कि लोक प्रशासन ही जनता की आशाओं का केन्द्र बिन्दु है क्योंकि जनहित की ओर ध्यान देना लोक प्रशासन का ध्येय है। लोक प्रशासन के प्रत्येक कृत्य की विधायिका में गूँज सुनाई देती है। लोक प्रशासन तो उस शीशमहल के समान है जिसमें कार्य करने वाले सदैव जनता की नजरों में रहते हैं। पदसोपान, कानून, प्रक्रिया तथा संविधान के द्वारा प्रत्येक लोक सेवक को जनता के प्रति जवाबदेह बनाया जाता है अथवा सरकार जवाबदेह होती है। लेकिन निजी प्रशासन में जनता के प्रति उत्तरदायित्वों का बोझ प्रायः नहीं होता है।
3. **राजनीतिक स्वरूप:** एपलबी का तर्क है कि प्रशासन ही राजनीति है क्योंकि लोकहित सर्वोपरि है। प्रशासनिक संगठन ही लोकतंत्र की लोकप्रिय राजनीतिक प्रक्रियाओं को पूरा करते हैं। सभी सरकारी संगठन केवल प्रशासनिक इकाइयाँ मात्र नहीं बल्कि राजनीतिक जीवाणु हैं और उनका ऐसा होना आवश्यक भी है क्योंकि लोक प्रशासन के सर्वोच्च पदाधिकारी (कार्यपालिका) राजनीतिज्ञ ही होते हैं। निजी प्रशासन का स्वरूप अराजनीतिक होता है।

किन्तु लोक प्रशासन और निजी प्रशासन के मध्य अन्तर को इन विद्वानों के उपरोक्त विचारों से पूर्णरूपेण समझना कठिन है। दोनों के मध्य अन्तर को निम्न बिन्दुओं की सहायता से परिभाषित किया जा सकता है:

1. **क्षेत्र एवं प्रभाव:** लोक प्रशासन का क्षेत्र एवं प्रभाव तुलनात्मक रूप से व्यापक तथा अधिक प्रभावशाली होता है क्योंकि लोक प्रशासन सरकार का कार्यकारी अंग है। वर्तमान में राज्यों से जितने कार्यों की अपेक्षा की जाती है वे सभी लोक प्रशासन द्वारा सम्पादित होते हैं। किसी निश्चित भू-भाग पर शासन करने वाली सरकार का कार्य क्षेत्र निश्चित रूप से उसके अधीन कार्यरत किसी भी निजी संस्था से निस्संदेह ही व्यापक होगा। भारत सरकार द्वारा 1986 में प्रकाशित राजकीय कार्य बंटवारा नियमावली के अनुसार, भारत सरकार 2000 से भी अधिक प्रकार के कार्य सम्पादित करती है, जबकि भारतवर्ष में निजी प्रशासन के बड़े-से-बड़े घराने भी सौ प्रकार के कार्य कर पाने में स्वयं को अक्षम पाते हैं।

2. **उद्देश्य:** लोक प्रशासन का मूल लक्ष्य जन सेवा तथा सामुदायिक कल्याण ही है। स्वाभाविक रूप से निजी प्रशासन का मुख्य ध्येय लाभार्जन ही बना रहता है। इस सम्बन्ध में **फैलिक्स ए० निग्रो** कहते हैं-"लोक प्रशासन का वास्तविक हृदय जनता की वह मूल सेवा है जो उसके द्वारा की जाती है जैसे-पुलिस, अग्निशमन, सार्वजनिक निर्माण, शिक्षा, मनोरंजन, स्वच्छता, सामाजिक सुरक्षा, कृषि विज्ञान तथा राष्ट्रीय सुरक्षा इत्यादि। यही कारण है कि लोक प्रशासन का क्षेत्र इतना विस्त त है। इन सेवाओं में से प्रत्येक सेवा विभिन्न आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होती है जो स्वयं आधुनिक समाज में व्यक्तियों पर अत्यधिक प्रभाव डालती रहती है।" वस्तुतः लोक कल्याणकारी राज्यों में सभी का कल्याण और कुछ विशिष्ट स्थितियों में जन संतुष्टि ही लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य होता है जबकि व्यापारिक प्रतिष्ठान, लाभ कमाने के लिए बनते हैं तथा घाटे की स्थिति में बन्द भी हो जाते हैं।

3. **आधिकारिक प्रकृति:** किसी भी देश में चाहे कैसी भी शासन व्यवस्था प्रवर्तित हो, कतिपय कार्य या विषय ऐसे होते हैं जिन पर केवल सरकार का एकाधिकार (Monopoly) रहता है और रहना भी चाहिए अर्थात् निजी प्रशासन के अधिकार या कार्यक्षेत्र उतने ही होते हैं जितना कि संविधान तथा शासन निर्धारित करता है। अमूल्य धातुओं, जैसे-सोना, चाँदी, हीरा, पुखराज, अमूल्य प्राकृतिक संसाधन जैसे-पेट्रोलियम पदार्थ या कस्तूरी म ग, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा विदेश नीति के मामले, मुद्रा, हथियार तथा गोलाबारूद और परमाणु एवं अंतरिक्ष से सम्बन्धित क्षेत्र केवल सरकार के या लोक प्रशासन के हाथों में होते हैं।

4. **राजनीतिक स्वरूप:** लोक प्रशासन का स्वरूप राजनीतिक होता है क्योंकि वह शासक दल की नीतियों को क्रियान्वित करने वाला व्यावहारिक तंत्र होता है जबकि निजी प्रशासन गैर राजनीतिक स्वरूप लिए होता है। एपलबी इस द ष्टिकोण के प्रबल समर्थक हैं कि लोक प्रशासन, वास्तव में राजनीतिक इच्छा शक्तियों का व्यावहारिक विस्तार है। किसी-न-किसी रूप में लोक प्रशासन, सदैव लोकतंत्र तथा राजनीतिक आदर्शों की रक्षा में जुटा रहता है। यद्यपि निजी प्रशासन भी राजनीतिक स्वरूप धारण कर सकता है, किन्तु निजी प्रशासन का सम्बन्ध सम्बन्धित मंत्री, विधान मंडल, विपक्ष तथा सार्वजनिक नीतियों से उस प्रकार प्रगाढ़ एवं कानूनी रूप लिए नहीं होता जैसा लोक प्रशासन का होता है।

5. **सांगठनिक आकार:** लोक कल्याणकारी तथा प्रजातांत्रिक राज्यों में प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण का दायित्व राज्य के कंधों पर होता है। चाहे वह अमेरिकी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था हो या चीनी समाजवादी अर्थव्यवस्था हो, प्रत्येक दशा में लोक प्रशासन के दायित्व विविध तथा गम्भीर होते हैं। ऐसी स्थिति में लोक प्रशासन से सम्बन्धित प्रशासनिक संस्थाएँ तथा संगठन बड़े तथा जटिल प्रकृति के होते हैं जबकि निजी प्रशासन के संगठन तुलनात्मक रूप से छोटे एवं सरल प्रकृति के होते हैं। उदाहरणस्वरूप भारतीय रेलवे में 16 लाख कार्मिक कार्यरत हैं। निजी प्रशासन के लिए यह सरल कार्य नहीं है। सरकारी संगठनों का विशाल आकार भी कई प्रकार की कानूनी जटिलताओं तथा प्रक्रियात्मक उलझनों को जन्म देता है।

6. **कानूनी स्थिति:** सरकारी कानूनों का क्रियान्वयन करने वाला तंत्र ही लोक प्रशासन है। लोक प्रशासन को संविधान, विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों, कार्यपालिका द्वारा निर्मित नियमों-निर्देशों तथा न्यायपालिका के निर्णयानुसार कार्य करना होता है जबकि निजी प्रशासन कतिपय बिन्दुओं को छोड़कर अधिकांश समय अपने कार्यकरण में पूर्ण स्वतंत्र होता है। सरकारी तंत्र की कठोरता का मुख्य कारण भी कानून, नियम तथा प्रक्रियाओं की पेचीदगियाँ हैं जबकि निजी प्रशासन अपने नियमों को सरलता से परिवर्तित कर लेता है। लोक प्रशासन की कानूनी स्थिति जनता के प्रति उत्तरदायित्वों से जुड़ी है अतः इसकी बाध्यताएँ भी अधिक हैं।

7. **उत्तरदायित्वः** उत्तरदायित्व (Responsibility) तथा जवाबदेयता (Accountability) में किंचित् अन्तर है। जवाबदेयता, कानूनी रूप में उत्तरदायित्व का बोध कराती है। लोक प्रशासन, प्रजातांत्रिक परिवेश में जनता के प्रति उत्तरदायी या जवाबदेह होता है जबकि निजी प्रशासन अपने कार्यों के क्रम में अधिकांशतः जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। हाँ, निजी प्रशासन अपने उन ग्राहकों अथवा उपभोक्ताओं के प्रति अवश्य उत्तरदायी होता है जो उसका उत्पादन खरीदते हैं या सेवाएँ लेते हैं लेकिन निजी प्रशासन की जवाबदेयता की प्रकृति लोक प्रशासन की भाँति गम्भीर एवं व्यापक कदापि नहीं होती है। **रिचर्ड वार्नर** के शब्दों में-"व्यापार में समरूपता के लिए अधिक चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। निजी प्रशासन, जन-विरोध का तूफान खड़ा किए बिना, 'जनसाधारण से धन वसूल करके' जनता की विभिन्न आवश्यकताओं तथा उद्देश्यों को सरलता से पूर्ण कर सकता है किन्तु लोक प्रशासन, धनिकों के लाभ के लिए एक कानून तथा निर्धनों के लिए दूसरा कानून बना देता है तो विरोध का तूफान उठ सकता है।" वस्तुतः लोक प्रशासन को समानता का व्यवहार करना पड़ता है जबकि निजी प्रशासन भेदभाव भी कर लेता है।

8. **कार्यकरणः** वस्तुतः लोक प्रशासन तथा नौकरशाही एक-दूसरे के पर्याय बन चुके हैं क्योंकि नौकरशाही के समस्त दोष यथा-कठोरता, निरंकुशता, लालफीताशाही, अहंकार तथा अकर्मण्यता इत्यादि लोक प्रशासन में दिखाई देते हैं जबकि निजी प्रशासन लचीलेपन, स्वतंत्रता, म दु व्यवहार तथा कार्यशीलता का परिचायक होता है। निजी प्रशासन में सम्पूर्ण तंत्र की कसौटी 'मुनाफा' होता है जबकि लोक प्रशासन में कार्यकरण या कुशलता की कोई एक कसौटी नहीं बनायी जा सकती है। लोक प्रशासन का कार्यकरण विधायिका में चर्चा का विषय बन जाता है जबकि निजी प्रशासन का नहीं।

9. **कुशलताः** लोक प्रशासन में संगठन बड़े होते हैं, प्रक्रियाएँ जटिल होती हैं तथा नियंत्रण प्रक्रिया प्रायः शिथिल होती है अतः इसमें अकार्यकुशलता का वर्चस्व हो जाता है जबकि निजी प्रशासन कुशलता एवं शीघ्रता के लिए प्रसिद्ध है। यदि निजी प्रशासन में कुशलता न हो तो उसकी इकाइयों का अस्तित्व भी समाप्त हो सकता है जबकि लोक प्रशासन में अकार्यकुशलता वर्षों तक सहन की जाती है। वास्तव में जनता तथा कानून के प्रति लोक प्रशासन की जवाबदेयता ने भी इसके कार्यकरण को प्रभावित किया है क्योंकि कुशलता बढ़ाने के लिए कई बार नियमों से परे भी हटना पड़ सकता है जबकि लोक प्रशासन इसकी अनुमति नहीं देता है।

10. **कार्यों का महत्त्वः** लोक प्रशासन का कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक तथा गम्भीर है जिसमें रक्षा उत्पादन, मुद्रा, परमाणु, अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी से लेकर बहुमूल्य खनिज उत्पादन जैसे गम्भीर विषय भी सम्मिलित हैं तो पशुपालन, कृषि विज्ञान तथा सामुदायिक स्वच्छता जैसे सामान्य विषय भी हैं। इन कार्यों में केवल जनहित ही महत्त्वपूर्ण है जबकि निजी प्रशासन वही कार्य हाथ में लेता है जिसमें लाभ मिल सकता हो। लोक प्रशासन द्वारा प्रत्येक कार्य, उसकी बाध्यता अथवा राज्य के कर्त्तव्य हैं जबकि निजी प्रशासन किसी भी कार्य को अपनी इच्छा से चुनता है। निजी प्रशासन में मौखिक आदेशों को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है जबकि लोक प्रशासन में लिखित आदेशों को वरीयता दी जाती है।

11. **पारदर्शिताः** यद्यपि लोक प्रशासन के बहुत से कृत्य (जैसे निर्णयन) गोपनीय भी होते हैं तथापि इसके अधिसंख्य कार्य जनता के सामने रहते हैं। निजी प्रशासन के कार्य एवं निर्णय सभी, बन्द कमरों में जनता की निगाह से दूर रहते हैं। इस सम्बन्ध में एपलबी कहते हैं-"लोक प्रशासन, अपनी सार्वजनिक प्रकृति के कारण, निजी प्रशासन से इस मायने में भिन्न है कि लोक प्रशासन के कार्यकरण को सार्वजनिक जाँच-पड़ताल तथा आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। लोक सेवकों को अपने जीवन, व्यक्तित्व तथा आचरण की द ष्टि से मीडिया तथा सार्वजनिक हितों से निरन्तर जूझना पड़ता है। सार्वजनिक हितों का लोक प्रशासन में सर्वाधिक ध्यान रखा जाता है जबकि निजी प्रशासन को इन हितों की उनके संगठन एवं उद्देश्य से बाहर कभी चिन्ता नहीं होती।" **नागरिक अधिकार पत्र** (Citizens Charter) तथा सूचना का अधिकार (Right to Information) तथा उपभोक्ता संरक्षण कानून के कारण प्रशासनिक पारदर्शिता में निरन्तर व द्धि हो रही है। लोक प्रशासन में भेदभाव करना सहज नहीं है जबकि निजी प्रशासन की यह प्रव त्ति है।

12. **वित्तीय प्रशासनः** लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन दोनों में ही 'वित्त' का समान महत्त्व है किन्तु लोक प्रशासन में वित्त तथा प्रशासन अलग-अलग हैं तथा बाहरी नियंत्रण का प्रभाव अधिक रहता है। कार्यपालिका चाहकर भी नये कर नहीं लगा सकती है क्योंकि विधायिका द्वारा पारित बजट ही लोक प्रशासन की लक्ष्मण रेखा होता है। दूसरी ओर निजी प्रशासन में वित्त तथा प्रशासन एक आन्तरिक संगठन में एकाकार होते हैं। वहाँ बाहरी नियंत्रण का अभाव पाया जाता है। लोक प्रशासन का संचालन सार्वजनिक वित्त से होता है जबकि निजी प्रशासन में अधिकांशतः निजी वित्त लगा होता है।

13. **संविधान का प्रभाव:** किसी भी देश का लोक प्रशासन वैसा ही होता है जैसा कि संविधान कहता है। संविधान में वर्णित आदर्शों, मौलिक अधिकारों, नीति निदेशक तत्त्वों तथा अन्य प्रावधानों के अनुरूप लोक प्रशासन को अपना कार्य संचालन करना होता है जबकि निजी प्रशासन संवैधानिक आदर्शों से प्रेरित नहीं होता है बल्कि निजी हितों के अनुसार संचालित होता है। भारत के संविधान में वर्णित समानता, स्वतन्त्रता तथा न्याय के सिद्धान्तों सहित पिछड़े वर्गों के कल्याण के दायित्व लोक प्रशासन ही वहन करता है। समाज कल्याण से सम्बन्धित गतिविधियाँ लोक प्रशासन के पुनीत कर्त्तव्य हैं जबकि निजी प्रशासन इस क्रम में स्वतंत्रता प्राप्त होता है।

14. **दबाव:** लोक प्रशासन में, विशेषतः सरकार के उच्च स्तरों पर अनेक प्रकार के दबाव सदैव बने रहते हैं। नाना प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, स्थानीय तथा प्रान्तीय दबावों के मध्य प्रशासकों को निर्णय करने पड़ते हैं। स्वतंत्र प्रेस, राजनीतिक दल, दबाव समूह, कानूनी प्रावधान, मानवीय हित, सरकार की लोकप्रियता तथा संगठन के उद्देश्य इत्यादि ऐसे दबाव हैं जो शीघ्र निर्णय में बाधा बनते हैं जबकि निजी प्रशासन निर्णय करने में स्वतंत्र होता है क्योंकि दबाव तथा जटिलताएँ प्रायः नहीं होती हैं।

15. **स्थायित्व (संगठन):** लोक प्रशासन तथा शासन का साथ चोली-दामन जैसा है। सरकारों का स्वरूप परिवर्तित हो सकता है किन्तु लोक प्रशासन प्रत्येक स्थिति में बना रहता है। जहाँ तक प्रशासनिक संगठनों के स्थायित्व का प्रश्न है, लोक प्रशासन से सम्बन्धित संगठन अधिक स्थायी होते हैं क्योंकि वे मुनाफे के उद्देश्य से नहीं बनाये जाते हैं। निजी प्रशासन से सम्बन्धित संगठन या इकाइयाँ अधिक समय तक हानि नहीं उठा सकते हैं। निरन्तर घाटा देने वाले उपक्रम शीघ्र ही बन्द हो जाते हैं। इसी प्रकार लोक प्रशासन के संगठन अधिक जटिल होते हैं। इसी कारण उनमें परस्पर समन्वय भी कठिन रहता है। बहुत से कार्य एकाधिक विभागों या संगठनों के सहयोग बिना निष्पादित नहीं हो सकते हैं जबकि निजी प्रशासन में संक्षिप्तता, प थकता तथा स्वायत्तता पाई जाती है।

16. **कार्यों का चयन:** सरकारी प्रशासन में कार्यों का चयन राजनीति से प्रेरित होता है क्योंकि चुनावों में किए गए वायदों के अनुसार सत्तारुढ़ दल नीतियाँ एवं कार्यक्रम तय करता है जबकि निजी प्रशासन में कार्यों का चयन जनमत के निर्धारण के लिए नहीं बल्कि निजी हितों यथा मुनाफे के आधार पर कार्यों का चयन किया जाता है।

17. **आजीविका सुरक्षा:** "राज्य, सर्वश्रेष्ठ नियोक्ता है।" यह अवधारणा लोक सेवकों को आजीविका (नौकरी) की सुरक्षा प्रदान करती है। सामान्यतः लोक प्रशासन में कार्यरत कार्मिक, निजी प्रशासन में नियुक्त कर्मचारियों की तुलना में अधिक सुरक्षित अनुभव करते हैं। लोक सेवकों को संवैधानिक सुरक्षा तथा राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप के अन्तर्गत कई प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं जबकि निजी प्रशासन में मालिकों की इच्छा सर्वोपरि रहती है।

18. **परिवर्तनशीलता:** निजी प्रशासन को प्रतिस्पर्द्धा का नित्य सामना करना पड़ता है अतः निजी प्रशासन में अवसरानुकूल परिवर्तन संशोधन तथा विकास शीघ्रता से करना पड़ता है जबकि लोक प्रशासन में परिवर्तन बहुत शनैः-शनैः हो पाते हैं। नवाचार तथा अनुसन्धानों के अनुरूप परिवर्तन, निजी प्रशासन की विशेषता है जबकि लोक प्रशासन यथास्थिति या जड़ता पसन्द होता है।

19. **जन सम्पर्क:** लोक एवं निजी, दोनों ही प्रशासनों में जन सम्पर्क का समान महत्त्व है लेकिन लोक प्रशासन द्वारा किया जाने वाला जन सम्पर्क एवं प्रचार मर्यादित, नैतिकतापूर्ण तथा कानून के दायरे में होता है। जबकि निजी प्रशासन, प्रतिद्वंद्वी से जूझने के लिए बहुधा अनैतिक साधनों का प्रयोग करने में नहीं हिचकिचाता है। विज्ञापनों का प्रयोग जितना निजी प्रशासन करता है उतना लोक प्रशासन कदापि नहीं करता है। लोक प्रशासन के विज्ञापन प्रायः कल्याणकारी, सुरक्षात्मक एवं जन चेतनात्मक सन्देश लिए होते हैं जबकि निजी प्रशासन ग्राहक की भावनाओं से सौदा करने वाला प्रचार करता है।

20. **राष्ट्र निर्माण:** लोक प्रशासन का यह दायित्व है कि वह राष्ट्र निर्माण के लिए समस्त प्रयास करे तथा सभ्यता एवं संस्कृति को जीवंत बनाये रखे जबकि निजी प्रशासन के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। राष्ट्र, समाज, संस्कृति, मूल्य, सुरक्षा, नैतिकता तथा मानवता के समस्त दायित्व लोक प्रशासन के कन्धों पर है। संकट के समय सभी लोक प्रशासन की ओर आशा भरी नजरों से देखते हैं। निजी प्रशासन राष्ट्र निर्माण में सहयोग तो दे सकता है किन्तु स्वार्थपूर्ति एवं मुनाफे के बाद।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच भेद समाप्त हो रहा है

विभिन्न विद्वानों के द्वारा रखे गए विचारों को जानने और दोनों के मध्य समानताओं और असमानताओं के बिंदुओं को पढ़ने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दोनों के बीच अन्तर केवल प्रकार एवं मात्रा का है।

आज व्यक्तिगत प्रशासन में भी कार्यक्षेत्र बढ़ जाने के कारण लालफीताशाही (Red-tappism) की प्रव त्ति आ गई है। उधर लोक प्रशासन में भी (बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारण) योग्यता को नियुक्ति का आधार मानने पर अधिक बल दिया जा रहा है और कठिन प्रतियोगिता परीक्षा (Tough Competitive Examination) पास करने के बाद ही योग्यतम व्यक्ति को एक अदना सा पद मिल पाता है। फलतः लोक प्रशासन की गुणवत्ता और कार्यकुशलता में विकास हुआ है। वर्तमान समय में यह कहना तर्कसंगत नहीं कि व्यक्तिगत प्रशासन में आर्थिक हितों की प्रधानता है। आज के युग में कोई भी प्रशासन तब तक सफलता की आशा नहीं कर सकता जब तक कि उसमें लोक-कल्याण की भावना को स्थान न दिया जाये।

नियन्त्रण आज दोनों ही प्रशासनों पर स्थापित हो चुका है। आधुनिक युग में निजी क्षेत्र के व्यवसायों पर भी कानूनी बन्धन लगे हैं, और प्रत्येक व्यवसाय यदि वह लोक-हित के विरुद्ध है तो कानूनी तरीकों से रोका जा सकता है। जल-प्रदूषण (Water Pollution), वायु-प्रदूषण (Air Pollution) एवं ध्वनि-प्रदूषण (Sound Pollution) को रोकने के लिए जो कानून बनाये गए हैं तथा जो तकनीक निर्धारित की गई है, वह आज लोक प्रशासन और निजी प्रशासन दोनों के लिए समान रूप से लागू की जाती है।

कर्मचारियों और अधिकारियों के काम करने की आकर्षक सेवा-शर्तें (Service Conditions) निजी क्षेत्र में भी लागू की गयी हैं तथा उन्हें पेंशन, भविष्य निधि (Provident Fund), बीमा (Insurance) तथा आवास की सुविधा आकर्षक ढंग से प्रदान की गयी है। इससे लोक-सेवा की तरह निजी सेवा में भी सुरक्षा (Service Security) की भावना का विकास हुआ है। आज सार्वजनिक प्रशासन और व्यक्तिगत प्रशासन दोनों ही सामाजिक कल्याण के लक्ष्य का दावा करते हैं। निजी क्षेत्रों में चलायी जाने वाली लोक-कल्याणकारी सेवाएँ लोक प्रशासन की लोक सेवाओं की अपेक्षा जनता का ज्यादा विश्वास अर्जित कर रही हैं। आज लोक प्रशासन के संगठन का स्वरूप औद्योगिक होता जा रहा है तथा उन बातों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है जो निजी प्रशासन में कार्यकुशलता और अल्पव्ययता लाती हैं। दूसरी तरफ, निजी प्रशासन में भी लोक प्रशासन के समान व्यापकता, जन-सम्पर्क, नियुक्ति के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन एवं जन-कल्याण की योजनाओं को स्थान दिया जाने लगा है। आज की स्थिति तो यह है कि दोनों एक-दूसरे के निकट आ रहे हैं तथा दोनों एक-दूसरे के गुणों को अपना रहे हैं। और इनके बीच ऐसा कुछ नहीं रह गया है जिसे किसी स्पष्ट विभाजक रेखा द्वारा एक-दूसरे से अलग किया जा सके।

वस्तुतः दोनों प्रशासन में कोई विशेष अन्तर नहीं है और दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहां एक ओर लोक प्रशासन समाज सेवा, जन-कल्याण तथा राष्ट्रीय विकास में भूमिका निभाते हैं वहीं दूसरी ओर निजी प्रशासन पर भी अनेक कानूनी बाध्यताएं हैं। सार्वजनिक उपक्रमों के माध्यम से सरकार भी मुनाफा कमाना चाहती है और यही कारण है कि रुग्ण सार्वजनिक उपक्रम (Sick Public Undertakings) बन्द किये जा रहे हैं। पब्लिक च्वाइस के सिद्धान्त (Theory of Public Choice), लोक प्रबन्ध (Public Management) तथा गुड गर्वनेंस (Good Governance) की आधुनिक अवधारणाओं ने लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के मध्य अन्तर को और भी न्यून कर दिया है।

अध्याय-3
लोक प्रशासनः विज्ञान या कला
(Public Administration: Science or Art)

लोक प्रशासन का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। प्रथम अर्थ में, लोक प्रशासन का प्रशासकीय मामलों के संचालन की विधि अथवा प्रक्रिया के रूप में प्रयोग किया जाता है। दूसरे, यह बौद्धिक अन्वेषण या अध्ययन का क्षेत्र भी माना जाता है जिसमें प्रशासनिक तन्त्र के सिद्धान्तों तथा नियमों का अध्ययन-अध्यापन और अनुसंधान कार्य होता है। अपने प्रथम रूप में लोक प्रशासन एक प्रक्रिया है तथा दूसरे रूप में अध्ययन का विषय। एक प्रक्रिया के रूप में लोक प्रशासन निश्चित ही कला है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या प्रशासकीय मामलों के अध्ययन के विषय के रूप में लोक प्रशासन को विज्ञान की संज्ञा दी जाती है?

विज्ञान क्या है?

प्रशासकीय मामलों के अध्ययन के विषय के रूप में लोक प्रशासन विज्ञान है अथवा नहीं इस बात पर विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि विज्ञान क्या है? तथ्यों पर आधारित क्रमबद्ध ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। विज्ञान अर्थात् विशिष्ट या विशेष ज्ञान मानव की बौद्धिक क्षमताओं का उत्कृष्ट प्रमाण है। विज्ञान में 'क्या है' और उसके निश्चित परिणाम 'क्या हैं' के आदर्श के अनुकूल होने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। यह ऐसे सही ज्ञान अथवा सिद्धान्तों का समग्र रूप है जो निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत प्रत्येक सम्बद्ध तथ्य की व्याख्या कर सकते हैं। यह व्याख्या इतनी अधिक समरूप होती है कि इसके आधार पर भावी घटनाओं के विषय में सहज रूप से भविष्यवाणी की जा सकती है। ए० डब्ल्यू० ग्रीन के अनुसार, "विज्ञान, अनुसंधान की पद्धति है।" कार्ल पियरसन के शब्दों में "तथ्यों का वर्गीकरण, इनके क्रमों की स्वीकारोक्ति एवं सापेक्षिक महत्त्व को जानना ही विज्ञान का कार्य है। विज्ञान का केन्द्र बिन्दु उसकी पद्धति होती है न कि अध्ययन सामग्री।"

मैगनस पाइक के शब्दों में "विज्ञान, चिन्तन की एक शैली है किन्तु यह केवल तकनीक के आधार पर अग्रसर होता है।"

जॉर्ज सेंटायना ने लिखा है कि "विज्ञान, विकसित ज्ञान, समन्वित लक्ष्य तथा सुसंगत एवं सुनिश्चित सहज बुद्धि के सिवाय और कुछ भी नहीं है।"

एल० एल० बर्नार्ड ने विज्ञान को छः प्रमुख प्रक्रियाओं के रूप में परिभाषित करते हुए कहा है कि "परीक्षण, सत्यापन, परिभाषा, वर्गीकरण, संगठन तथा उन्मुखीकरण, जिसमें पूर्वानुमान एवं प्रयोग भी सम्मिलित हैं, विज्ञान है।"

अनेकों विद्वानों द्वारा दी गई उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि किसी भी विषय का विज्ञान होने के लिए उसमें निम्न प्रमुख बातों का पाया जाना आवश्यक हैः

1. **परीक्षण** (Observation)
2. **वर्गीकरण** (Classification)
3. **सारणीकरण** (Tabulation)
4. **अनुसंधान** (Investigation)
5. **प्राक्कल्पना** (Hypotheses)
6. **सह-सम्बन्ध** (Coorelation)

7. **यर्थाथता** (Exactress)
8. **पूर्वानुमान** (Predictions)
9. **सही निष्कर्ष** (Exact Conclusions)

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या लोक प्रशासन में उपरोक्त लक्षण पाए जाते हैं? क्या लोक प्रशासन विज्ञान की इन कसौटियों पर खरा उतरता है? इस सम्बन्ध में लोक प्रशासन के क्षेत्र में विचारकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विचारक जैसे कि विलोबी, लूथर गुलिक, एल० उरविक, चार्ल्स ए० बेयर्ड, वूडरो विलसन इत्यादि मानते हैं कि लोक प्रशासन में वे सभी तत्त्व पाए जाते हैं जो इसे एक विज्ञान का दर्जा दे सकते हैं जबकि कुछ अन्य विचारकों जैसे कि हरमन फाइनर, टेलर, फिफनर, रिग्ज आदि का मत है कि लोक प्रशासन में इन तत्वों का सर्वथा अभाव है और इसलिए लोक प्रशासन को विज्ञान नहीं माना जा सकता। किसी भी निर्णय पर पहुंचने से पहले इन विद्वानों द्वारा अपने-अपने पक्ष में दिए गए तर्कों का अध्ययन करना आवश्यक है।

लोक प्रशासन के विज्ञान होने के पक्ष में तर्क

वे विद्वान जो लोक प्रशासन को विज्ञान मानते हैं, अपने पक्ष में निम्नांकित तर्क देते हैं:

1. **क्रमबद्ध अध्ययन (Systematic Study):** लोक प्रशासन एक ऐसा सामाजिक शास्त्र है जिसका क्रमबद्ध ढंग से अध्ययन किया जाता है। जैसा कि हम जानते हैं कि क्रमबद्ध अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है। लोक प्रशासन का अध्ययन क्रमबद्ध ढंग से किये जाने के कारण लोक प्रशासन एक विज्ञान है।
2. **वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग (Use of Scientific Methods):** लोक प्रशासन के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। विज्ञान की भाँति इसमें तथ्यों और आँकड़ों का अध्ययन किया जाता है, विश्लेषण किया जाता है और कुछ निश्चित परिणामों पर पहुँचा जाता है। अन्त में पूर्ण अध्ययन करने के बाद सामान्य नियमों का निर्माण किया जाता है। यदि किसी विषय का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धतियों के आधार पर किया जाता है तो उसे विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है। इस आधार पर लोक प्रशासन एक विज्ञान है।
3. **पूर्वानुमान की सम्भावना (Probability of Predictability): चार्ल्स ए० बेयर्ड** (Charles A.Beard) का कथन है कि "लोक प्रशासन में भी घटनाओं का अध्ययन करने पर कुशल प्रशासक यह अनुमान लगा सकते हैं कि इन घटनाओं के क्या-क्या परिणाम होंगे। अपने इस अनुमान से प्रशासक घटनाओं के प्रभाव से अपने को बचा सकते हैं।" अगर परिस्थितियाँ एक जैसी हों, और पूर्व में प्रशासन द्वारा उठाये गये कठोर कदमों के अच्छे परिणाम सामने आये हैं, तो यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि आगे भी अच्छे परिणाम आएँगे। इस द ष्टिकोण से भी लोक प्रशासन का विज्ञान के रूप में दावा बनता है।
4. **आधारभूत सिद्धान्तों का संकलन (Contents of Basic Theories):** विज्ञान में आधारभूत सिद्धान्तों का होना आवश्यक है। लोक प्रशासन में भी कई ऐसे आधारभूत सिद्धान्त विकसित हुए हैं जो सर्वमान्य हैं। लोक प्रशासन के लिए लिखे गये विभिन्न ग्रन्थों और लेखों में इन सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। ये सिद्धान्त हैं आदेश की एकता (Unity of Command), नियन्त्रण के क्षेत्र, आन्तरिक निरीक्षण इत्यादि। टेलर तथा फेयोल (Tylor and Fayol) के वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त (Scientific Management) इत्यादि ने भी लोक प्रशासन की वैज्ञानिकता को मजबूत बनाया है।
5. **एक विशेष तकनीक की आवश्यकता (Need for a Special Technique):** प्रत्येक वैज्ञानिक के लिए सम्बन्धित विषय के विशेष तकनीक सम्बन्धित ज्ञान का होना आवश्यक है। प्रशासक को भी अपने कार्यों के कुशलतापूर्वक संचालन के लिए एक विशेष प्रकार की तकनीक को अपनाने की आवश्यकता पड़ती है। लोक प्रशासन उस विशेष तकनीक का ज्ञान देता है जिसे प्रशासक प्रयोग में लाता है। अतः लोक प्रशासन में प्रशासकीय तकनीक से सम्बन्धित उपायों का वर्णन किया जाता है।
6. **शोध और नये प्रयोग (New Experiments and Research):** जिस तरह सामान्य विज्ञान में नये-नये प्रयोग और शोध किये जाते हैं ताकि नयी सम्भावनाओं का पता लगाया जा सके, उसी प्रकार लोक प्रशासन के क्षेत्र में भी नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं। प्रशासनिक तकनीक से सम्बन्धित विषयों पर शोध (Research) करके नयी सम्भावनाओं का पता लगाया जा रहा है।

प्रो० चार्ल्स ए० बेयर्ड (Charles Beard) का विचार है कि "लोक प्रशासन में ऐसे नियमों और स्वयंसिद्ध सूत्रों का विकास हो गया है जिनके बारे में अनुभव के आधार पर यह पता चलता है कि उन्हें निश्चित व्यवहार में लागू किया जा सकता है और उनसे लगभग भविष्यवाणी भी की जा सकती है।"

लोक प्रशासन के विज्ञान न होने के पक्ष में तर्क

या

लोक प्रशासन के विज्ञान होने के विपक्ष में तर्क

वे विचारक जो लोक प्रशासन के विज्ञान होने के दावे को खोखला बताते हैं, अपने पक्ष में अनेक तर्क देते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख का विवरण आगे दिया गया है:

1. **एकरूपता का प्रभाव (Lack of Uniformity):** विज्ञान के सिद्धान्त प्रमाणित एवं सर्वव्यापी होते हैं। वैज्ञानिक प्रयोगों और तथ्यों के परिणाम भी एकसमान होते हैं। लेकिन लोक प्रशासन से सम्बन्धित सिद्धान्तों में एकरूपता नहीं पाई जाती है। प्रत्येक प्रशासक अपनी बुद्धि के अनुसार सिद्धान्तों का और कानूनों का अर्थ लगाता है। एक प्रशासक सफल राजनीतिक व्यवस्था के लिए संसदीय पद्धति को उचित मानता है, तो दूसरा प्रशासक अध्याक्षात्मक प्रणाली को। लोक प्रशासन का सम्बन्ध मानव-व्यवहार (Human Behaviour) से है और मानव-व्यवहार में एकरूपता नहीं पाई जाती है। लोक प्रशासन में सिद्धान्तों की एकरूपता के अभाव में लोक प्रशासन को विज्ञान का दर्जा नहीं दिया जा सकता है।

2. **सिद्धान्तों की अनिश्चितता (Uncertainty of Principles):** लोक प्रशासन के सिद्धान्तों में अनिश्चितता पाई जाती है। लोक प्रशासन के सिद्धान्त स्थायी नहीं होते हैं क्योंकि उन पर घटना के ढंग, स्थान विशेष एवं परिस्थितियों का विशेष प्रभाव पड़ता है, वे परिस्थितियों के अनुसार बदल जाते हैं। लोक प्रशासन के सिद्धान्त भौतिक विज्ञान एवं रसायन शास्त्र की तरह अटल नहीं होते हैं। अतः लोक प्रशासन विज्ञान होने की इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। लोक प्रशासन में कोई भी ऐसा निश्चित सिद्धान्त नहीं है जिसके विरुद्ध में, या संशोधन में कोई दूसरा सिद्धान्त न हो, या जिससे सभी विद्वान सहमत हों।

3. **पर्यवेक्षण तथा परीक्षण का अभाव (Lack of Supervision and Examination):** लोक प्रशासन में ऐसी कोई प्रयोगशाला नहीं है जिसमें बैठकर पर्यवेक्षण और तथ्यों का परीक्षण (Examination of Facts) किया जा सके। इसकी अपनी कोई प्रयोगशाला नहीं जिसमें बैठकर प्रशासक अपनी समस्याओं के सन्दर्भ में प्रयोग कर सकें। पर्यवेक्षण और परीक्षण दोनों ही विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त माने जाते हैं। लोक प्रशासन इस शर्त को पूरा नहीं करता है, अतः लोक प्रशासन विज्ञान नहीं है।

4. **मानवीय व्यवहार का प्रभाव (Impact of Human Behaviour):** एक वैज्ञानिक के लिए निश्चित सिद्धान्त, उपकरण, फार्मूला और परीक्षण इत्यादि ही उसके प्रयोग की सफलता के लिए आवश्यक माने जाते हैं। लेकिन लोक प्रशासन की सफलता मानव-व्यवहारों पर निर्भर करती है। मानवीय व्यवहार अनिश्चित होते हैं। उनमें आदतों, भावनाओं, सन्देह, भय तथा अरुचि के कारण कई प्रकार से अनिश्चितता की सम्भावना बनी रहती है। विज्ञान में इस प्रकार का सन्देह नहीं बना रहता है, क्योंकि वैज्ञानिकों को अपने सिद्धान्तों और परिणामों के प्रति द ढ़ आस्था होती है। मानव-व्यवहार स्वभावतः परिवर्तनशील रहता है। अतः मानव-व्यवहार की अनिश्चितता के कारण भी लोक प्रशासन को विज्ञान नहीं माना जाता है।

5. **लोक प्रशासन आदर्शात्मक है (Public Administration is Idealistic):** लोक प्रशासन की अवधारणा आदर्शात्मक है। इसमें नैतिक मूल्यों, भावनाओं, मानवीय व्यवहारों एवं आदर्शों को स्थान प्राप्त होता है। प्रशासन लोक-हित की पूर्ति के लिए होता है। इसमें जो लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं उसमें नैतिकता और आदर्श का पुट रहता है। भौतिक विज्ञान में नैतिक मूल्यों और आदर्शों को कोई स्थान प्राप्त नहीं होता है। अतः वह विषय जो नैतिकता, भावनात्मकता और आदर्श से ओत-प्रोत हो, वह कभी भी विज्ञान नहीं हो सकता है।

6. **पूर्ण पूर्व-कथनीयता का अभाव (Lack of Full Predictability):** लोक प्रशासन में कोई भी निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। अगर भविष्यवाणी की भी जाती है, तो उसके पूर्णतः सत्य होने का दावा नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोक प्रशासन मनुष्य की प्रशासकीय समस्याओं का अध्ययन करता है। मनुष्य के स्वभाव में और उसकी क्रियाओं में

एकरूपता नहीं पाई जाती है अतः मानवीय क्रियाओं से सम्बद्ध होने के कारण लोक प्रशासन के नियम पूर्णतया विश्वसनीय नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के प्रयोगों में परिणामों के बारे में भविष्यवाणी या पूर्वकथन दिया जाता है, उसी प्रकार प्रशासन में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है।

लोक प्रशासनः विज्ञान नहीं अपितु सामाजिक विज्ञान

लोक प्रशासन के विज्ञान होने के पक्ष तथा विपक्ष में दिए गए तर्कों की जाँच करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लोक प्रशासन में विज्ञान की तरह यर्थाथता, पूर्णता, निश्चितता, सत्यता, पर्यवेक्षण और परीक्षण का अभाव है। वास्तविकता तो यह कि लोक प्रशासन अन्य सामाजिक विज्ञानों जैसे कि समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र इत्यादि की तरह कभी भी एक विज्ञान नहीं हो सकते हैं क्योंकि प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन सामग्री सर्वदा भिन्न है। जहां प्राकृतिक विज्ञान प्रकृति के नियमों का अध्ययन करती हैं वहीं सामाजिक विज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन करती हैं। एक ओर जहां प्रकृति के नियमों में कारक और कारण (cause and effect) का प्रत्यक्ष सम्बन्ध पाया जाता है और इस कारण अनुसंधान पर आधारित भविष्यवाणी करना सम्भव हो जाता है वहीं मानव व्यवहार के सम्बन्ध में कोई भी भविष्यवाणी निश्चित तौर पर करना असम्भव है। ऐसी अवस्था में प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों को एक ही कसौटी पर रखते हुए उन दोनों को विज्ञान की संज्ञा देना न केवल अपरिहार्य है अपितु त्रुटिपूर्ण भी है।

प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान में अन्तर

	प्राकृतिक विज्ञान		सामाजिक विज्ञान
1.	प्राकृतिक विज्ञानों की विषय वस्तु भौतिक पदार्थ हैं।	1.	सामाजिक विज्ञानों की विषय-वस्तु, व्यक्ति तथा समाज है।
2.	इनमें भौतिक नियम पाये जाते हैं।	2.	इनमें सामाजिक नियम पाये जाते हैं।
3.	इनमें भौतिक तत्त्वों में भौतिक सम्बन्ध पाये जाते हैं।	3.	इनमें समाज के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध पाये जाते हैं।
4.	भौतिक पदार्थों को विश्लेषण के माध्यम से प थक् किया जा सकता है।	4.	सामाजिक तत्त्वों या मूल्यों को सहजता से अलग नहीं किया जा सकता है।
5.	प्राकृतिक विज्ञानों में अधिक यथार्थवाद होता है।	5.	सामाजिक विज्ञानों में कम यथार्थवाद होता है।
6.	प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन पूर्ण तटस्थता या निष्पक्षता से किये जा सकते हैं।	6.	सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में पक्षपात तथा व्यक्तिगत मूल्य प्रभाव दिखाते हैं।
7.	प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों के आधार पर भविष्यवाणी की जा सकती है।	7.	सामाजिक विज्ञानों में भविष्यवाणी करना प्रायः कठिन रहता है।
8.	इनकी अध्ययन वस्तु मूर्त्त होती है।	8.	इनकी अध्ययन वस्तु अमूर्त्त होती है।
9.	इन विज्ञानों के नियमों का प्रयोगशाला में परीक्षण किया जा सकता है।	9.	इन विज्ञानों की न तो सुव्यवस्थित प्रयोगशाला है, न उपकरण हैं और न ही परीक्षण कार्य सरल है।
10.	प्राकृतिक विज्ञानों के नियम एवं सिद्धान्त स्थिर, सार्वभौमिक तथा परीक्षण योग्य होते हैं।	10.	सामाजिक विज्ञानों के सिद्धान्त एवं नियम अस्थिर, कम सार्वभौमिक तथा परीक्षण के लिए पर्याप्त नहीं होते हैं।

वास्तविक समस्या हमारे द ष्टिकोण में है। हम किसी भी विज्ञान को समाजशास्त्रों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं एवं उसे अधिक सम्मान व प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। इसी कारण अधिकतर, समाजशास्त्रियों में अपने-अपने विषय को विज्ञान सिद्ध करने की होड़ लगी हुई है। तथा लोक प्रशासन के क्षेत्र में भी विचारक एवं विद्वान इससे अछूते नहीं हैं। ऐसा करते समय हम यह भूल जाते हैं कि लोक प्रशासन सहित सभी समाजशास्त्रों का अध्ययन विषय मानव है जिसे प्रकृति ने आचरण एवं व्यवहार करने के लिए एक मस्तिष्क दिया है।

सत्य तो यह है कि यदि मानव में यह विशेषता न होती तो मानव यन्त्र मात्र बनकर रह जाता, और यह मानव-जीवन के लिए एक अभिशाप होता। यह गर्व का विषय है कि मानव चिन्तन करता है, उसके अपने संकल्प होते हैं, और इन संकल्पों के निर्देश पर वह कार्य करता है। कोई दो व्यक्ति चाहे वे सहोदर ही हों, द ष्टिकोणों, अनुभूतियों, अनुभवों एवं प्रक्रियाओं में पूर्णतः समान नहीं होते। यहाँ तक देखा गया है कि एक ही व्यक्ति समान स्थितियों में एक-सा ही प्रत्युत्तर नहीं देता। सत्य तो यह है कि

दो समरूप स्थितियाँ होती ही नहीं हैं। अतः मानव-व्यवहार का अध्ययन करने वाले विषय निश्चय ही अधिक जटिल होते हैं, तथा उनका दर्जा किसी प्रकार भी प्राकृतिक विज्ञान से नीचा नहीं है। अतः समाजशास्त्री को अपने विषय को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। किसी विषय के सम्बन्ध में इस प्रकार का अविवेकी दावा उस विषय की अवैज्ञानिकता का ही प्रमाण है। लोक प्रशासन के पूर्ववर्ती विचारकों ने इस कथन के महत्त्व को पूरी तरह नहीं समझा था। अतः वे लोक प्रशासन को उसके शैशवकाल में ही विज्ञान की प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए आतुर हो उठे थे।

अतः निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि लोक प्रशासन सहित कोई भी सामाजिक विज्ञान (समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि) प्राकृतिक विज्ञानों (भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, जीव विज्ञान इत्यादि) की शैली में विज्ञान नहीं है। किन्तु निश्चय ही लोक प्रशासन एक प्रमुख एवं उभरता हुआ सामाजिक विज्ञान है। तुलनात्मक लोक प्रशासन तथा सिद्धान्त निर्माण की बढ़ती प्रव त्तियों ने इस विषय को प्रामाणिकता प्रदान की है।

लोक प्रशासनः एक कला के रूप में

कला का तात्पर्य इस ढंग से है जिससे कोई कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। किसी ज्ञान को प्राप्त कर उसे व्यवहार में लाना या उसे क्रियात्मक रूप देना ही कला है। **डॉ० एम० पी० शर्मा** के अनुसार, "कला का अपना कौशल होता है और वह व्यवस्थित ढंग से व्यवहार में अपनायी जाती है। वह व्यक्ति को कुछ तो ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा के रूप में प्राप्त होती है, कुछ ग्रहण करने की चेष्टा की जाती है और कुछ उसकी विशेष तकनीकों में दक्षता प्राप्त करने से सीखी जाती है।" जब किसी विषय के ज्ञान को विशिष्ट परिस्थिति में लागू किया जाता है तो उसे कला का नाम दिया जाता है। **ग्लैडन** ने कहा है-"कला मानव की योग्यता से सम्बन्धित ऐसा ज्ञान है जिसमें सिद्धान्त की अपेक्षा अभ्यास पर अत्यधिक बल दिया जाता है।" **ऑर्डवे टीड** (Ordway Tead) ने तो इसे "ललित कला माना है।" **ऑर्डवे टीड** ने आगे कहा है कि "यदि मिट्टी या रंगों से बनी कृति कलाकृति है; यदि स्वरों के आपसी संगुफन के उतार-चढ़ाव का नाम संगीत है, यदि शब्दों और भावों का संचय साहित्य है; और यदि ये सभी ललित कलाएँ हैं तो हमें उस श्रम को ललित कला कहने का पूरा-पूरा अधिकार है जो एक उद्देश्य के हेतु व्यक्तियों और समूहों के संगठित सम्बन्धों को एक-दूसरे के निकट लाता है। मिश्रित रूप से यह एक उच्चकोटि की कला है।"

सामाजिक विज्ञानों के कला पक्ष को स्पष्ट करते समय प्रायः निम्नांकित लक्षणों या विशेषताओं को वर्णित किया जाता है-

1. सामान्यतः कला एक व्यक्तिगत गुण या नैसर्गिक प्रतिभा की पर्याय होती है। कलाकार जन्मजात होता है जो अपनी प्रतिभा के बलबूते उत्कृष्टता की नई सीढ़ियाँ चढ़ता है। इसलिए कहा जाता है कि लोक प्रशासन के कानूनों, नियमों तथा प्रक्रियाओं से कहीं अधिक इनका क्रियान्वयन करवाने वाला अधिकारी महत्त्वपूर्ण है। जिनको प्रशासन संचालन की कला आती है वे विपरीत परिस्थितियों में भी श्रेष्ठ सिद्ध हो जाते हैं।
2. कला का दूसरा गुण **"सत्यं, शिवं, सुन्दरम्"** की अभिव्यक्ति है। लोक प्रशासन विश्व का यथार्थ एवं प्रत्यक्ष सत्य है अतः यह 'सत्य' को प्रमाणित करता है। आज का लोक प्रशासन, लोक कल्याणकारी राज्य के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयासरत है, अतः यह 'शिव' को सिद्ध करता है। लोक प्रशासन की अपनी विशिष्ट तकनीक तथा कार्यशैली है जो 'सुन्दरम्' की अभिव्यक्ति है। यह प्रश्न भी प्रायः उठता है कि कला, कला के लिए है या समाज के लिए। अर्थात् लोक प्रशासन, लोक प्रशासन के लिए ही है या आम जनता के लिए? निस्संदेह हम कह सकते हैं कि आज का लोक प्रशासन स्वयं के लिए कम तथा समाज के लिए अधिक है जो यथार्थोन्मुख आदर्शवाद पर टिका है।
3. प्रत्येक कला में स जनात्मक क्षमता होती है। स जन या निर्माण के द्वारा कला की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए कहा जाता है कि अभिव्यक्ति की कद्र है सुषुप्त की नहीं। प्रत्येक कलाकार अपनी कला का प्रत्यक्ष प्रदर्शन कर सन्तोष प्राप्त करता है तथा उस कला में कुछ-न-कुछ अभिनव प्रयोग भी करता है। इसी से कला सम द्ध एवं जीवंत बनती है। जिस प्रकार कलाकार अपनी कलाकृति या स जन को देखकर संतुष्टि पाता है उसी प्रकार प्रशासक व्यवहार में श्रेष्ठ प्रशासनिक संचालन (नियमों, कानूनों का) देखकर अभिभूत होता है।
4. कला में सिद्धान्त तथा व्यवहार के अन्तरसम्बन्धों का बोध होता है। कला, अमूर्त्त में मूर्त्त की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार लोक प्रशासन भी अमूर्त्त प्रशासनिक सिद्धान्तों तथा व्यवहारों की सामाजिक दुनिया के बीच पाई जाने वाली स्थिति का अध्ययन है। लोक प्रशासन, सिद्धान्तों को व्यवहार में लागू करता है तथा व्यवहार से सिद्धान्त निर्मित करता है। मानव व्यवहार का समाज रूपी प्रयोगशाला में परीक्षण किया जाता है। तार्किक आधार पर विकसित हुए सिद्धान्त, प्रशासन संचालन की कला में उत्कृष्टता प्रदान करते हैं।
5. पाँचवी विशेषता यह है कि प्रत्येक कला की अभिव्यक्ति का कोई माध्यम या साधन अवश्य होता है। चित्र रंगों के माध्यम

से, संगीत स्वरों से तथा साहित्य शब्दों एवं भावों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। प्रशासन को यदि एक कला माने तो इसकी अभिव्यक्ति के तीन मुख्य माध्यम हैं-

(i) संगठन स्वयं एक अभिव्यक्ति है;

(ii) संगठन के उद्देश्यों के रूप में; और

(iii) सामाजिक पर्यावरण या परिवेश के रूप में।

जिस प्रकार लोक प्रशासन के विज्ञान होने या न होने के सम्बन्ध में विवाद खड़े किये जाते हैं और लोक प्रशासन विज्ञान की कसौटियों का सामना नहीं कर पाता, उस तरह की स्थिति लोक प्रशासन के कला होने के सन्दर्भ में नहीं है। लोक प्रशासन को कला सिद्ध करने वालों का पक्ष काफी मजबूत है। कतिपय आवाज इसके कला न होने के सन्दर्भ में उठी थी किन्तु वे कोई ऐसा तर्क नहीं दे पाये जिससे लोक प्रशासन को कला नहीं माना जाय। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि "प्रशासन एक ऐसा कौशल है जिसमें एक विशेष द ष्टिकोण, विशेष ज्ञान, विशेष रुचि तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है; और जब उपर्युक्त सब कारण मौजूद हों तो कोई ऐसा कारण नहीं जिसके आधार पर लोक प्रशासन को कला नहीं माना जाय।"

अध्याय-4
लोक प्रशासन का विकास
(Evolution of Public Administration)

लोक प्रशासन एक अध्ययन विषय होने के साथ-साथ एक प्रक्रिया भी है। प्रक्रिया के रूप में लोक प्रशासन की उत्पत्ति उसी समय हो गई थी जब मनुष्य ने सामूहिक रूप में सभ्य जीवन जीना आरम्भ किया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि एक प्रक्रिया के रूप में लोक प्रशासन का प्रादुर्भाव 'राज्य' की स्थापना के साथ हुआ। जिस प्रकार राज्य का विकास होता गया लोक प्रशासन का भी विकास होता गया। जिस प्रकार राज्य की प्रकृति, कार्य क्षेत्र, तथा दायित्व परिवर्तित हुए, उसी के अनुरूप लोक प्रशासन भी परिवर्तित होता गया।

इसके विपरीत एक अध्ययन विषय के रूप में लोक प्रशासन की यात्रा मात्र लगभग 100 वर्ष पुरानी है। लोक प्रशासन का एक अध्ययन विषय के रूप में आरम्भ सन् 1887 में हुआ। एक अध्ययन विषय के रूप में लोक प्रशासन अनेकों पड़ावों से होकर गुजरा है। इस छोटे से काल में कभी तो यह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया जबकि कभी ऐसे गंभीर संकट के दौर से गुजरा जबकि इसके एक स्वतन्त्र अध्ययन विषय के रूप में ही प्रश्न चिन्ह लगाए गए।

यद्यपि लोक प्रशासन विषय की शुरुआत् सन् 1887 से मानी जाती है तथापि इस विषय का नामकरण तथा इससे सम्बन्धित सैद्धान्तिक प्रयास कुछ पहले शुरू हो चुके थे। भारतीय सन्दर्भों में देखें तो मौर्य काल में **कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र,** लोक प्रशासन का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। लेकिन कौटिल्य ने अपनी कृति 'अर्थशास्त्र' में केवल आर्थिक व्यवस्था, राजस्व तथा प्रशासनिक सिद्धान्तों की ही चर्चा नहीं की है बल्कि यह ग्रन्थ राज्य व्यवस्था को केन्द्र बिन्दु मानते हुए समस्त राजकीय आयामों की व्यवस्था करता है। इसी प्रकार चीनी दार्शनिक कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं में भी प्रशासनिक सिद्धान्त वर्णित हैं। 17वीं सदी में यूरोप में राजा के निजी कार्यों तथा सार्वजनिक कार्यों को प थक् मानते हुए लोक प्रशासन (अर्थात् राजा के सार्वजनिक कार्य) शब्द का प्रचलन शुरू हुआ। **मैकियावली** का ग्रंथ "प्रिंस" भी सरकार तथा प्रशासन के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है। **अरस्तु** का "पॉलिटिक्स", **प्लेटो** का "रिपब्लिक", **जॉन लॉक** का "ट्रीटीज ऑन सिविल गवर्नमेन्ट" तथा **थॉमस हॉब्स** का "लेवियाथन" भी राज्य की विस्त त व्याख्या करते हैं। महाभारत (शान्तिपर्व), शुक्रनीतिसार तथा अन्य कई प्राचीन ग्रन्थ भी प्रशासनिक समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं, किन्तु इनमें कहीं भी विधिवत् लोक प्रशासन की व्याख्या नहीं है।

18वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रकाशित विश्वकोष **फेडरेलिस्ट** के क्रमांक 72 में **हेमिल्टन** ने लोक प्रशासन के स्थूल अर्थ तथा क्षेत्र को स्पष्ट करने का प्रयास किया था। सन् 1812 में फ्रांस में प्रथम बार **चार्ल्स बीन बौनिन** ने **'Principles d' Administration Publique'** (लोक प्रशासन के सिद्धान्त) नामक शोध प्रबंध लिखा था लेकिन इस अनुसंधान ग्रन्थ को लोक प्रशासन की मान्य पुस्तक के रूप में स्वीकृति नहीं मिली। वस्तुतः लोक प्रशासन का कार्यकरण, राजनीति से सम्बद्ध होने के कारण लोक प्रशासन से सम्बन्धित प थक् विषय-सिद्धान्तों तथा ग्रन्थों का वर्षों तक अभाव बना रहा।

एक स्वतन्त्र अध्ययन विषय के रूप में लोक प्रशासन की यात्रा को निम्नलिखित पाँच चरणों में विभाजित कर सकते हैं:

1. प्रथम चरण (1887-1926) : लोक प्रशासन का जन्म तथा राजनीति-प्रशासन द्विविभाजन
2. द्वितीय चरण (1927-1937) : सिद्धान्तों का स्वर्णकाल
3. त तीय काल (1938-1947) : आलोचनाएँ और चुनौतियाँ
4. चतुर्थ काल (1948-1970) : स्वरूप की संकटावस्था
5. पंचम काल (1971-...) : अन्तर्विषयी तथा परिपक्वता

इन पाँचों चरणों का क्रमबद्ध विस्त त वर्णन आगे प्रस्तुत किया गया हैः

1. **प्रथम चरण (1887-1926): लोक प्रशासन का जन्म तथा राजनीति-प्रशासन द्विविभाजनः** लोक प्रशासन की शैक्षिक यात्रा की शुरुआत सन् 1887 से मानी जाती है। इस वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रिन्सटन विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के प्राध्यापक **वुडरो विल्सन** ने "पॉलिटिकल साइंस क्वार्टरला" नामक शैक्षिक पत्रिका में **'The Study of Administration'** (प्रशासन का अध्ययन) नामक लेख लिखा। वुडरो विल्सन सन् 1910 में न्यूजर्सी के गवर्नर तथा सन् 1912-1920 तक अमेरिका के राष्ट्रपति भी रहे। विल्सन ने अपने लेख में 'प्रशासन को विज्ञान' मानते हुए इसके विविध पक्षों की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की। इस लेख में लोक प्रशासन के जन्मदाता वुडरो विल्सन ने राजनीति तथा प्रशासन का **पार्थक्य** या द्विविभाजन (Dichotomy) करते हुए लिखा "एक संविधान की रचना करना सरल है किन्तु इसे चलाना बहुत कठिन है।" उन्होंने 'चलाने' (प्रशासन) के क्षेत्र पर अध्ययन पर बल दिया। राजनीतिज्ञों द्वारा निर्मित संविधान, कानून तथा नीतियों का संचालन, प्रशासन करता है अतः इसके सिद्धान्तों तथा कार्यकरण का प थक् अध्ययन होना चाहिए, यह विल्सन की मूल मान्यता थी। वुडरो विल्सन के इस लेख ने शैक्षिक जगत् में उत्साह का संचार किया क्योंकि 'लूट प्रणली' को समाप्त कर योग्यता आधारित भर्ती के लिए बना 'पेण्डलटन अधिनियम, 1883 उस समय काफी चर्चित था तथा बुद्धिजीवी वर्ग यह मान रहा था कि प्रशासनिक सच्चरित्रता तथा कुशलता की स्थापना के लिए प्रशासन में राजनीति का हस्तक्षेप कम होना चाहिए। इसी कारण प्रो० वाल्डो ने वुडरो विल्सन को "शास्त्र के रूप में" "लोक प्रशासन का जन्मदाता" कहा है। अमेरिकी लोक प्रशासन का जनक फ्रेंक जे० गुडनाऊ को माना जाता है।

   सन् 1900 में कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्राध्यापक **फ्रेंक जे० गुडनाऊ** ने **'Politics and Administration'** (राजनीति तथा प्रशासन) नामक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने वुडरो विल्सन की भाँति प्रशासन एवं राजनीति का द्विविभाजन करते हुए तर्क दिया कि राजनीति, राज्य-इच्छा को प्रतिपादित करती है जबकि प्रशासन इस इच्छा या नीतियों के क्रियान्वयन से सम्बन्धित है। प्रशासनिक कुशलता तथा राजनीतिक सुधारों के उस काल में (संयुक्त राज्य अमेरिका) स्वाभाविक रूप से लोक प्रशासन के अध्ययन तथा अनुसंधान की ओर रुचि जाग त हुई। शीघ्र ही अमेरिकी विश्वविद्यालयों के राजनीति विज्ञान विभागों में लोक प्रशासन एक लोकप्रिय अध्ययन क्षेत्र बन गया। इसी बीच 1914 में 'अमेरिकी राजनीति विज्ञान संघ' द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट में इस बात पर बल दिया गया कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक लक्ष्य यह भी है कि सरकार में कार्य करने हेतु दक्ष व्यक्तियों की पूर्ति की जाए।

   सन् 1926 में लोक प्रशासन विषय की प्रथम पाठ्यपुस्तक (Text Book) प्रकाशित हुई। **'Introduction to the Study of Public Administration'** (लोक प्रशासन के अध्ययन की प्रवेशिका) नामक यह पुस्तक **एल० डी० व्हाईट** द्वारा लिखी गई थी जिसमें लोक प्रशासन को सार्वजनिक नीतियों को क्रियान्वित करने वाली व्यवस्था बताया जो आधुनिक शासन व्यवस्थाओं का केन्द्र बिन्दु है। व्हाईट ने भी विल्सन तथा गुडनाऊ की भाँति राजनीति एवं प्रशासन को प थक्-प थक् करार दिया। उनकी द ष्टि में लोक प्रशासन का कार्य राजनीतिज्ञों द्वारा निर्मित नीतियों को क्रियान्वित करना तथा दक्षता को प्राप्त करना है। लोक प्रशासन विषय का प्रथम चरण इसके जन्म तथा राजनीति-प्रशासन द्विविभाजन के लिए जाना जाता है। इसी समय "टेलरवाद" का प्रसार हुआ।

2. **द्वितीय चरण (1927-1937): सिद्धान्तों का स्वर्णकालः** लोक प्रशासन को एक प थक् वैज्ञानिक विषय के रूप में स्थापित करने के लिए मान्य सिद्धान्तों की आवश्यकता थी। द्वितीय चरण के 10 वर्षों में लोक प्रशासन को यह सब प्राप्त भी हुआ। लोक प्रशासन के स्वर्ण युग के नाम से प्रसिद्ध इस काल में सन् 1927 में **डब्ल्यू० एफ० विलोबी** की पुस्तक **'Principles of Public Administration'** (लोक प्रशासन के सिद्धान्त) प्रकाशित हुई। लोक प्रशासन को विज्ञान मानने वाले विलोबी इस बात पर बहुत बल देते थे कि प्रशासन के भी सिद्धान्त तथा नियम हैं जिन्हें भली प्रकार से क्रियान्वित करके लोक प्रशासन में सुधार लाया जा सकता है। सन् 1939 में **मूने एवं रैली** की **'Principles of Organisation'** (संगठन के सिद्धान्त) पुस्तक प्रकाशित हुई। यह पुस्तक 1930 में **'Onward Industry'** के नाम से प्रकाशित हुई थी। **हेनरी फेयाल** की सन् 1916 में फ्रेंच में लिखी गई तथा 1929 में अंग्रेजी में अनूदित **'Industrial and General Management'** (औद्योगिक एवं सामान्य प्रबंध) तथा 1929 में **मेरी पार्कर फॉलेट** की **'Creative Experience'** (स जनात्मक अनुभव) प्रकाशित हुई।

सन् 1937 में **लूथर गुलिक** तथा **एल० उरविक** ने एक ग्रंथ सम्पादित किया, जिसका नाम था-**'Papers on Science of Administration'** (प्रशासन-विज्ञान पर लेख)। **लूथर गुलिक** द्वारा प्रदत्त 'पोस्टकोर्ब द ष्टिकोण' प्रशासनिक कृत्यों की व्याख्या का आधार बन गया। लोक प्रशासन ने सम्बन्धित सिद्धान्तों की व्याख्या तथा साहित्य निर्माण के लिए यह काल यादि किया जाता है।

3. **त तीय चरण (1938-1947): आलोचनाएँ और चुनौतियाँ:** प्रशासन से सम्बन्धित सिद्धान्तों को, लोकप्रियता के बावजूद गम्भीर चुनौतियों तथा आलोचनाओं का शिकार होना पड़ेगा, यह अनुमान किसी को न था। सन् 1938 में **चेस्टर इरविंग बर्नार्ड** की पुस्तक **'The Functions of Executive'** (कार्यपालिका के कार्य) प्रकाशित हुई। इसे किसी भी कार्यरत अनुभवी प्रशासनिक अधिकारी द्वारा प्रबंध एवं संगठन पर लिखी गई सर्वाधिक विचारोत्तेजक पुस्तक माना जाता है लेकिन बर्नार्ड ने एक अनुभवी प्रशासक होते हुए भी इस पुस्तक में किसी प्रशासनिक सिद्धान्त का वर्णन नहीं किया। स्वाभाविक है इससे लोक प्रशासन के विद्वानों एवं अध्येताओं को निराशा हुई। लोक प्रशासन को सबसे बड़ी चुनौती **हरबर्ट साइमन** के 1946 में प्रकाशित एक लेख द्वारा मिली। इस लेख में उन्होंने लोक प्रशासन के सिद्धान्तों का उपहास करते हुए उन्हें किंवदंतियों (Proverbs) की संज्ञा दी। साइमन के अनुसार प्रत्येक प्रशासनिक सिद्धान्त को सरलता से काटा जा सकता है। उदाहरण के लिए 'आदेश की एकता', 'कार्य विभाजन' तथा 'नियंत्रण का क्षेत्र' इत्यादि सिद्धान्त संदिग्ध एवं कोरे मुहावरे हैं। साइमन ने प्रत्येक मुहावरे के विरोधी मुहावरे को प्रस्तुत कर एकबारगी लोक प्रशासन के विद्वानों को स्तब्ध कर दिया। **साइमन** के अनुसार-"ये सिद्धान्त मनुष्यों के रहने लायक मकान निर्मित करने की अपेक्षा क्रम में लगी छोटी-छोटी गुमटियों की श्रं खला ही दिखाई देते हैं।" सन् 1947 ने **हरबर्ट साइमन** ने अपनी सर्वाधिक चर्चित पुस्तक **'Administrative Behaviour: A Study of Decision-Making Process in Administrative Organization'** (प्रशासनिक व्यवहारः प्रशासनिक संगठन में निर्णय प्रक्रिया का एक अध्ययन) लिखी। निर्णय प्रक्रिया के विश्लेषण पर साइमन के योगदान को देखते हुए उन्हें सन् 1978 में नोबेल पुरस्कार भी प्रदान किया गया।

   सन् 1947 में **रॉबर्ट डहाल** द्वारा लिखित विचारोत्तेजक लेख में यह सिद्ध किया गया कि लोक प्रशासन विज्ञान नहीं है तथा सिद्धान्तों की खोज में यह विषय तीन प्रमुख बाधाओं का सामना कर रहा है। प्रथमतः विज्ञान, मूल्य निरपेक्ष होता है जबकि लोक प्रशासन में मूल्यों का बाहुल्य है। द्वितीयतः, मानव व्यवहार की जटिलताएँ तथा विभिन्नताएँ बाधक बनती हैं। त तीयतः, सामाजिक ढाँचा तथा परिवेश, जिसमें लोक प्रशासन कार्य करता है, स्वयं एक बाधा है। **रॉबर्ट डहाल** के इस लेख एवं विचार से लोक प्रशासन को स्वतंत्र विज्ञान मानने के प्रयासों को ठेस लगी।

   इसी समय (1946-47) जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर के साहित्य का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ तथा सत्ता, नौकरशाही तथा आदर्श प्रारूप के सम्बन्ध में वेबर के विचारों ने शैक्षिक जगत् में उथल-पुथल मचा दी। लेकिन लोक प्रशासन विषय के समक्ष उपस्थित चुनौतियाँ बढ़ती ही चली गईं। होथोर्न प्रयोगों के पश्चात् लोकप्रिय हुई मानव-सम्बन्ध विचारधारा ने भी लोक प्रशासन के परम्परागत द ष्टिकोण को ध्वस्त कर नई चुनौती पैदा कर दी।

4. **चतुर्थ चरण (1948-1970): स्वरूप की संकटावस्थाः** लोक प्रशासन का यह चरण स्वरूप की संकटावस्था (Crisis of Identity) के नाम से इसलिए जाना जाता है कि इस चरण में लोक प्रशासन विषय का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था अर्थात् इस विषय के सम्मुख उपस्थित चुनौतियाँ तथा नित्य प्रति हो रही आलोचनाओं की बौछारें तीव्र थी जबकि बचाव पक्ष सुद ढ़ न था। लोक प्रशासन की शास्त्रीय या परम्परागत विचारधारा अविश्वसनीय सिद्ध हो रही थी। इसी चरण में **तुलनात्मक लोक प्रशासन** तथा **विकास प्रशासन** की अवधारणाएँ पल्लवित हुईं। संकट के इस चरण में कुछ विद्वान् लोक प्रशासन से पुनः राजनीति विज्ञान की ओर आ गए क्योंकि लोक प्रशासन विषय का उद्गम, राजनीति विज्ञान से प थक् होकर ही हुआ था। शनैः-शनैः राजनीति विज्ञान में लोक प्रशासन की उपादेयता कम हो गई तथा लोक प्रशासन को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए नये विकल्पों की खोज करनी पड़ी। इस चरण में लोक प्रशासन तथा व्यापार प्रबंध विषयों ने मिलकर **प्रशासनिक विज्ञान** (Administration Science) की ओर कदम बढ़ाये। ऐसी मान्यता विकसित हुई कि प्रशासन तो प्रशासन है, चाहे वह सरकारी कार्यालयों में चलाया जाए या निजी फैक्ट्री से सम्बन्धित कार्यकलाप संचालित करे। स्पष्ट है इस मान्यता को अंगीकार करते समय लोक प्रशासन को अपना निजी स्वरूप त्यागना पड़ा। इसी चरण में 'एडमिनिस्ट्रेटिव साइन्स क्वार्टरली' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसी चरण में नवीन लोक प्रशासन की विचारधारा पनपने लगी। **फ्रेड रिग्ज** के प्रतिमानों ने लोक प्रशासन को सम्बल प्रदान किया।

5. **पंचम चरण (1971-....): अन्तर्विषयी तथा परिपक्वता कालः** चतुर्थ कारण ने लोक प्रशासन को हिला दिया था। यह एक वरदान ही सिद्ध हुआ। चुनौतियों से मनुष्य महान् होता है; शास्त्र भी ऊँचे उठते हैं। यही लोक प्रशासन में हुआ। इसकी सर्वांगीण उन्नति हुई। अनेक शास्त्रों के विज्ञान लोक प्रशासन के क्षेत्र में आये तथा इसकी सेवा करने लगे। अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, ऐंथ्रोपोलोजी आदि शास्त्रों के विज्ञान इस विषय में रुचि लेने लगे। राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी तो सदैव से ही लोक प्रशासन में रुचि लेते रहे हैं। इन सबके प्रयत्नों के फलस्वरूप लोक प्रशासन 'अन्तर्विषयी' अर्थात् 'Inter-disciplinary' बन गया।

समाजशास्त्रों में यदि कोई विषय सबसे अधिक अन्तर्विषयी है तो वह लोक प्रशासन ही है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन (Comparative Public Administration) तथा विकास प्रशासन (Development Administration) का प्रादुर्भाव भी न भुलायी जाने वाली घटनाएँ हैं। अभी तक लोक प्रशासन में पश्चिमी देशों का ही अध्ययन होता रहा है। लोक प्रशासन संस्कृतिबद्ध (Culture-bound) तो है ही। अतः यह आवश्यक था कि लोक प्रशासन में शोध-कार्य अफ्रीका तथा एशिया के देशों में हो, जहाँ की संस्कृति दूसरी व भिन्न है। लोक प्रशासन एक संस्कृति के घेरे से निकल कर अन्य संस्कृतियों की ओर भी चला आया है। अतः यह विषय और भी अलंकृत हो उठा है।

अध्याय-5
नवीन लोक प्रशासन
(New Public Administration)

एक अध्ययन विषय के रूप में लोक प्रशासन अनेकों चरणों से होकर गुजरा है। अपने लगभग एक सदी के संक्षिप्त जीवन काल में यह विषय अनेक उतार-चढ़ाव देख चुका है। पिछली सदी के दूसरे दशक के अन्त से तीसरे दशक के अन्त तक जहाँ यह विषय काफी लोकप्रिय रहा वहीं दूसरी ओर 1950-1970 की अवधि के दौरान यह एक अध्ययन विषय के रूप में अपनी स्वतंत्र पहचान बनाए रखने के गंभीर संकट के दौर से गुजरा। इस अस्थिरता एवं अव्यवस्था के काल में लोक प्रशासन के क्षेत्र में एक नई धारणा का सूत्रपात हुआ जिसे नवीन लोक प्रशासन की संज्ञा दी गई। संयुक्त राज्य अमेरिका में पनपी एवं प्रचारित हुई नवीन लोक प्रशासन की धारणा सर्वथा नई नहीं है अपितु यह परम्परागत प्रशासनिक सिद्धांतों तथा युवा पीढ़ी के अध्येताओं की मान्यता का समन्वित स्वरूप है। यह विचारधारा वियतनाम युद्ध तथा वाटरगेट काण्ड के पश्चात् अमेरिका में इस माँग के साथ लोकप्रिय हुई कि लोक प्रशासन को जन-समस्याओं के समाधान के क्रम में ठोस एवं व्यावहारिक भूमिका निर्वाहित करनी चाहिए। विश्व परिद श्य पर प्रभुत्व प्राप्त अमेरिका की आन्तरिक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों जब सामाजिक तनाव एवं असंतोष से परिपूर्ण होने लगी तो यह बहस शुरू हुई कि सरकारी नीतियाँ तथा प्रशासन किस सीमा तक जनसाधारण के प्रति चिन्ताशील है? परिवर्तित होते सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, तकनीकी तथा मानवीय पक्षों का सामना करने हेतु राजनैतिक तथा प्रशासकीय क्षमताओं में व द्धि करना आवश्यक हो गया था, अतः नए आयामों एवं समाधानों को ढूँढ़ने की प्रक्रिया का आरंभ हुआ। नवीन लोक प्रशासन, जिसका सूत्रपात 1968 की मिनोब्रुक कॉन्फ्रेंस से माना जाता है, इसी प्रक्रिया की एक कड़ी थी।

यद्यपि नवीन लोक प्रशासन की धारणा का उदय 1968 के मिनोब्रुक सम्मेलन से माना जाता है तथापि यह सम्मेलन एक प्रक्रिया की एक कड़ी मात्र थी। इस प्रक्रिया का सूत्रपात 1968 से पहले हो चुका था तथा उसके बाद भी इस दिशा में कई महत्त्वपूर्ण प्रयास हुए। नवीन लोक प्रशासन के उदय और विकास में जो घटनाएं 'मील के पत्थर' मानी जाती है। वे निम्नलिखित हैं:

1. सार्वजनिक सेवाओं सम्बन्धी उच्च शिक्षा पर हनी प्रतिवेदन, 1967
2. लोक प्रशासन के सिद्धान्त एवं व्यवहार सम्बन्धी सम्मेलन, 1967
3. मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1968
4. फ्रैंक मैरिनी, ड्वाईट वाल्डो तथा अन्य विद्वानों द्वारा सम्पादित पुस्तकें तथा लेख

उपरोक्त सभी घटनाएं नवीन लोक प्रशासन के उदय और विकास से गहनतम रूप से जुड़ी है। अतः इनका विवरण नीचे दिया गया है:-

सार्वजनिक सेवाओं सम्बन्धी उच्च शिक्षा पर हनी प्रतिवेदन (1967)

लोक प्रशासन की अमेरिकी सोसाइटी से सम्बद्ध एक संस्था ने 1966 ई. में सिराक्रुज विश्वविद्यालय के जॉन सी. हनी से संयुक्त राज्य अमेरिका के विश्वविद्यालयों में लोक प्रशासन के स्वतंत्र विषय के रूप में अध्ययन की सम्भावनाओं सम्बन्धी अध्ययन करने का आग्रह किया। 1967 ई. में हनी ने अपना प्रतिवेदन दिया। इस प्रतिवेदन की प्रधान विशेषता यह है कि उसमें लोक प्रशासन की वास्तविक स्थिति को उजागर किया गया। प्रतिवेदन में लोक प्रशासन के क्षेत्र को विस्त त एवं व्यापक बनाने पर बल दिया गया और सम्पूर्ण शासकीय प्रक्रिया - कार्यपालक, व्यवस्थापन एवं न्यायिक-तक उसे विस्त त कर दिया। प्रतिवेदन में क्षेत्र को

व्यापक बनाने से उत्पन्न सम्बन्धित चार समस्याओं का भी उल्लेख किया गया एवं उनके समाधान के लिए उपाय बताये गये। समस्याएँ निम्नलिखित हैं:

1. पर्याप्त धन का अभाव अर्थात् एक स्वतंत्र विषय के रूप में विश्वविद्यालयों में लोक प्रशासन के पठन-पाठन के शोध एवं संकाय की व्यवस्था हेतु धन का अभाव।
2. विषय या अनुशासन के सम्बन्ध में बौद्धिक विभेद अर्थात् लोक प्रशासन एक विषय/अनुशासन है या एक विज्ञान या एक व्यवसाय है?
3. संस्थागत कमजोरी अर्थात् लोक प्रशासन के विभागों में व्याप्त अपूर्णता।
4. लोक प्रशासन के विद्वानों एवं सेवारत प्रशासकों में अंतराल।

हनी प्रतिवेदन में इन समस्याओं के निवारणर्थ निम्नलिखित सुझाव या सिफारिशें की गई।

1. प्रतिवेदन में लोक-सेवा शिक्षा सम्बन्धी राष्ट्रीय आयोग की स्थापना पर बल दिया गया। शासन के लिए आवश्यक शिक्षित मानव-शक्ति (व्यक्तियों) विषयक उपलब्धि कराना इस आयोग का दायित्व निर्धारित किया गया।
2. स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले छात्रों के लिए छात्रव त्तियों की व्यापक व्यवस्था होनी चाहिए। प्रारंभ में 2,500 छात्रव त्तियाँ उन छात्रों को दी जानी चाहिए जो लोक-सेवा को जीविका के रूप में अपनाने के लिए तैयार हों।
3. लोक-सेवा को जीविकोपार्जन के रूप में अपनाने वाले स्नातक एवं परास्नातक छात्रों या प्रत्याशियों के लिए संघीय, राज्य एवं स्थानीय शासन के स्तरों पर प्रशिक्षण कार्यक्रम चालू किया जाना चाहिए।
4. लोक प्रशासन और सार्वजनिक मामलों सम्बन्धी विद्यालयों एवं कार्यक्रमों में शिक्षक बनने वाले व्यक्तियों के लिए विशेष छात्रव त्ति योजना जारी की जानी चाहिए।
5. विश्वविद्यालयों में सार्वजनिक मामलों के शिक्षण-कार्य में संलग्न अध्यापकों को शासन-कार्य का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने के अवसर प्रदान किये जाने चाहिए।
6. सार्वजनिक मामलों विषयक शिक्षण एवं शोध पाठ्यक्रम तथा कार्यक्रम हेतु विश्वविद्यालयों को अनुदान दिया जाना चाहिए।
7. शासकीय एवं सार्वजनिक मामलों सम्बन्धी शोधकार्य में रत व्यक्तियों को आर्थिक एवं अन्य सहायता दी जानी चाहिए।
8. लोक प्रशासन एवं सार्वजनिक मामलों के विद्यालयों एवं कार्यक्रमों को संघीय, राज्यस्तरीय एवं स्थानीय शासनों तथा वैयक्तिक संस्थानों द्वारा उदारतापूर्वक सहायता दी जानी चाहिए।
9. नवीन लोक प्रशासन कार्यक्रम के लिए नवीन परामर्शदात्री सेवा प्रारंभ की जानी चाहिए। लोक प्रशासन एवं सार्वजनिक सेवा संस्थानों के स्नातकों को नवीन सूचनाएँ प्राप्त हो सकने के लिए व्यवस्था की जाय।
10. लोक सेवा सम्बन्धी प्रशिक्षण एवं शिक्षा की द ष्टि से विश्वविद्यालयों की समीक्षा की जानी चाहिए जिससे यह पता चल सके कि विभिन्न संस्थाएँ किस प्रकार सेवा, शिक्षा एवं अन्य दायित्वों की व्यवस्था करती है और किस प्रकार नवीन विकास किया जाता है तथा कौन-कौन सी कमियाँ या दोष हैं।
11. द्वितीय मुख्य शोध विषयक प्रस्ताव व्यवसायों, व्यावसायिक शिक्षा एवं लोक सेवाओं के अध्ययन से सम्बन्धित था।

संयुक्त राज्य अमेरिका में **हनी प्रतिवेदन** पर मिश्रित प्रतिक्रिया हुई थी। जहाँ एक तरफ इसका स्वागत किया गया वहाँ दूसरी तरफ इस प्रतिवेदन को लेकर तीव्र विवाद उत्पन्न हो गया। प्रतिवेदन में जो मुद्दे उठाये गये थे, वे महत्त्वपूर्ण थे; परंतु जो मुद्दे नहीं उठाये गये थे वे इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उदाहरणार्थ, इस प्रतिवेदन में लोक प्रशासन की भूमिका विशेषकर विभाजित एवं उथल-पुथल से युक्त समाज के संबंध में कुछ नहीं कहा गया था। क्या लोक प्रशासन का समकालीन सामाजिक समस्याओं से कोई संबंध नहीं है? इस प्रतिवेदन ने अनेक विद्वानों को समाज में लोक प्रशासन की भूमिका के संबंध में गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार इस प्रतिवेदन ने सामाजिक समस्याओं को पूरी तरह समाधान न कर पाने पर वाद-विवाद के लिए प्रेरक तत्त्व के रूप में कार्य किया।

लोक प्रशासन के सिद्धान्त एवं व्यवहार सम्बन्धी सम्मेलन (1967)

लोक प्रशासन में शीघ्रातिशीघ्र विकास और संश्लेषण की आवश्यकता को अनुभव करने पर अमेरिकी राजनीतिशास्त्र परिषद् एवं समाजशास्त्र परिषद ने दिसम्बर 1967 ई. में एक सम्मेलन आयोजित किया। इसमें विचारणीय विषय था-'लोक प्रशासन सिद्धान्त एवं व्यवहार-उसका क्षेत्र, उद्देश्य एवं अध्ययन पद्धति।' जेम्स सी. चार्ल्स वर्थ ने सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। सम्मेलन में भाग लेने वाले विद्वानों की भावनाओं को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था कि "इस सभा में भाग लेने वालों द्वारा इस भावना की अभिव्यक्ति हुई है कि लोक प्रशासन के संबंध में द ढ़ एवं संक्षिप्त उपागम को अपनाना चाहिए और उन्होंने व्यापक दार्शनिक संदर्भ में लोक प्रशासन के महत्त्व का आकलन करने पर बल दिया। इस पर भी विचार किया कि क्या लोक प्रशासन केवल मानसिक सिद्धि है या शासन का व्यावहारिक यन्त्र है।

इस सम्मेलन में विद्वानों ने उपर्युक्त मुद्दों के संदर्भ में विभिन्न मत व्यक्त किये थे। कुछ ने उसे विशुद्ध बौद्धिक चिंतन का विषय माना, तो दूसरों ने उसे केवल एक कार्य या व्यवसाय माना। कुछ ने लोक प्रशासन की सार्वजनिक हित में परिभाषा या व्याख्या की। दूसरों ने उसका संबंध केवल प्रशासन से माना। स्पष्ट है कि लोक प्रशासन की कोई सर्वस्वीक त परिभाषा नहीं दी जा सकी लेकिन इस सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी विद्वान निम्नलिखित बातों पर एकमत थेः

1. लोक प्रशासन के क्षेत्र को स्पष्ट करना उसकी परिभाषा करने के समान ही कठिन है।
2. लोक प्रशासन के विभिन्न अभिकरण नीतियों का निर्माण करते हैं अतः नीति-निर्माण एवं लोक प्रशासन का विभाजन गलत है।
3. एक विषय या अनुशासन के रूप में अमेरिकी लोक प्रशासन का संबंध केवल अमेरिका में ही लोक प्रशासन से होना चाहिए।
4. नौकरशाही संबंधी अध्ययन प्रकार्यात्मक एवं संरचनात्मक दोनों ही तरह से किया जाना चाहिए।
5. लोक प्रशासन एवं वाणिज्य प्रशासन का प्रशिक्षण एक-सा नहीं होना चाहिए क्योंकि दोनों में केवल महत्त्वहीन बातों की ही समानता पाई जाती है।
6. लोक प्रशासन को व्यवसाय के रूप में राजनीति विज्ञान के अनुशासन एवं व्यवसाय से प थक होना चाहिए।
7. लोक प्रशासन में आदर्शात्मक प्रशासन सिद्धान्त एवं वर्णनात्मक/विश्लेषणात्मक सिद्धान्त दोनों ही अव्यवस्था की स्थिति में है।
8. संगठनात्मक सत्ता सम्बन्धी पिरामिड के आकार या पद-सोपानीय धारणा अब उचित नहीं है। प्रशासकों को काम करने वाले व्यक्तियों को सहयोगी मानना चाहिए, ने कि केवल अपना अधीनस्थ। स्मरणीय है कि प्रशासक कार्यपालिका एवं अधीनस्थों के मध्य में होता है। प्रशासकीय अधिकारी अपने अधीनस्थों से अधिक प्रभावित होता है।
9. लोक प्रशासन में प्रबन्ध पटुता का स्थान नीति एवं राजनीति सम्बन्धी बातें लेती जा रही है। स्मरणीय है कि कम्प्यूटर से उपलब्ध सूचना केवल इसलिए ठीक या श्रेष्ठ नहीं मानी जानी चाहिए कि कम्प्यूटर से प्राप्त हुई है। पी.पी.बी.एस. (P.P.B.S.) ही राजनीतिक प्रश्नों के विश्वस्त उत्तर देता है। किसी विषय पर निर्णय लेते समय मात्रात्मक एवं मूल्य-विश्लेषण का निर्णय के संदर्भ में प्रभावित करने वाले तत्त्वों में प्रमुख स्थान नहीं होता है।
10. भावी प्रशासकों को व्यावसायिक विद्यालयों में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। लोक प्रशासन के पाठ्यक्रम में केवल प्रशासकीय संगठन एवं पद्धति पर ही बल नहीं दिया जाना चाहिए अपितु मनोवैज्ञानिक, वित्तीय, समाजशास्त्रीय एवं मानव शरीर रचना से सम्बन्धित पहलुओं को भी लोक प्रशासन के पाठ्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिए।
11. समाज से सम्बन्धित समस्याओं का लोक प्रशासन कोई उत्तर नहीं दे सका है। अनेक नवीन समस्याओं, यथा व हद सैनिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों, दंगों, श्रम-संघों एवं हड़तालों, सार्वजनिक विद्यालयों सम्बन्धी विवादों, झुग्गी-झोपड़ियों,विज्ञान एवं विकासशील देशों सम्बन्धी प्रश्नों के बारे में लोक प्रशासन मौन है।
12. लोक प्रशासन एक अनुशासन/विषय तो है परंतु उसके अध्ययन के लिए समकालीन समाजशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित सभी अध्ययन पद्धतियों का उपभोग नहीं किया जा सकता। लोक प्रशासन का कुछ भाग तो ऐसा है जिसके संबंध में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग संभव है लेकिन अन्य भाग के संदर्भ में वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का उपभोग संभव नहीं है। स्मरणीय

है कि लोक प्रशासन का यह भाग काफी महत्त्वपूर्ण है। **चार्ल्सवर्थ** के शब्दों में, "हम लोक प्रशासन का क्षेत्र काफी सीमित कर दें तो हम वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग कर सकते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि विषय के अति महत्त्वपूर्ण भाग के सम्बन्ध में क्या उसे लागू किया जा सकता है? हम कुछ अंशों के सम्बन्ध में ही वैज्ञानिक हो सकते हैं। स्मरणीय है कि लोक प्रशासन का तो मूल्यों एवं प्रस्तावों से संबंध है जिन्हें कभी वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त विचारों में से कुछ का मिन्नाब्रुक सम्मेलन में पूरा समर्थन किया गया। इसलिए यह फिलाडेलफिया सम्मेलन मिन्नाब्रुक सम्मेलन का पूर्वगामी एवं पथ-प्रदर्शक सम्मेलन माना जाता है।

मिन्नोब्रुक सम्मेलन (1968)

मिन्नोब्रुक सम्मेलन (The Minnowbrook Conference) के जन्म के लिए दो तत्त्व प्रधानतः उत्तरदायी हैं-

1. 1960 ई. का दशक उथल-पुथल का था। अगणित सामाजिक समस्याएँ थी लेकिन लोक प्रशासन द्वारा इन समस्याओं को सुलझाना तो दूर की बात थी, उसे उनका ज्ञान तक नहीं था। 1968 ई. में प्रकाशित वाल्डो (Waldo) के एक लेख 'क्रान्तिकाल में लोक प्रशासन' में जो '**लोक प्रशासन रिव्यू**' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, इस समस्या पर प्रकाश डाला गया था।
2. लोक प्रशासन के युवा पीढ़ी के विद्वानों की बात सुनना भी आवश्यक हो गया था क्योकि पुराने एवं युवा विद्वानों में पीढ़ी का अन्तराल तीव्रता से अवगत हो रहा था। फिलाडेलफिया सम्मेलन में भाग लेने वाले विद्वान औसतन 35 वर्ष से अधिक आयु के थे। उनमें अधिकांश तो 51 से 69 वर्ष के थे। लेकिन मिन्नोब्रुक सम्मेलन में भाग लेने वाले अपेक्षाक त कम आयु के अर्थात् युवा थे। यह लोक प्रशासन की युवा पीढ़ी का सम्मेलन था। इस सम्मेलन के परिणामों ने नवीन लोक प्रशासन को जन्म दिया।

मैथ्यू क्रेनसन (Mathew Cranson) ने निम्नलिखित शब्दों में इस सम्मेलन के निर्णयों को संक्षेप में व्यक्त किया हैः

सम्मेलन के निर्णयों के दो शीर्षकों में संक्षिप्त और सार रूप में व्यक्त कर सकते हैं-

1 इस सम्पूर्ण वाद-विवाद की प ष्ठभूमि में क्या कोई सामान्य विचार हैं, तथा

2. क्या विचार नवीन हैं?

प्रथम, मैं यह अनुभव करता हूँ कि कुछ सामान्य बातें हैं। प्रायः सभी गोष्ठियों का यह निष्कर्ष है कि लोक प्रशासन के आदेशात्मक पहलू पर बल दिया जाना चाहिए। दूसरी से सम्बन्धित एक प्रश्न यह है कि समाज में प्रशासन की क्या भूमिका होनी चाहिए? क्या उसे पूरी तरह मूल्य निरपेक्ष होना चाहिए या किसी नीति या विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए? इसी से सम्बन्धित एक प्रश्न और है। यदि प्रशासक किसी विचार या मूल्यों से प्रतिबद्ध है तो वह क्या करता है या करेगा? इसका उत्तर कुछ व्यक्ति यह देते हैं कि लोक प्रशासन को सामाजिक परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में कार्य करना चाहिए। एक अन्य प्रश्न इसके प्रत्युत्तर में उठता है कि परिवर्तन की अवस्था में संगठन को किन बातों या तत्वों के प्रति संवेदनशील होना चाहिए; उदाहरणार्थ-वातावरण। क्या वातावरण के प्रति संवेदनशील होना चाहिए? कुछ का मत है कि वातावरण के प्रति अधिक संवेदनशीलता के साथ प्रशासन में वातावरण के परिणामों को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। प्रश्न यह है कि इन सब बातों के संबंध में मतैक्य है या नहीं? यदि मतैक्य है तो सहज रूप में यह प्रश्न उठता है कि क्या वे सर्वथा नवीन है?

नवीन लोक प्रशासन की प्रधान विशेषता यह है कि यह सामाजिक समस्याओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील है। इसके मुख्य तत्त्व हैं-संदर्भ (relevance), सदाचरण (morals), नीतिशास्त्र एवं मूल्य (ethics and values), नवीनता या मौलिकता (innovation), सम्बन्धित व्यक्तियों की चिन्ता, सामाजिक एकता (social equality) आदि। नवीन लोक प्रशासन के पक्षधर लोक प्रशासन की वर्तमान अवस्था से संतुष्ट नहीं है। वे उथल-पुथल के काल में लोक प्रशासन से यह अपेक्षा करते हैं कि वह सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक हो। यही नहीं, नवीन लोक प्रशासन के पक्षधर मूल्यहीन या मूल्य निरपेक्ष (values free and value neutral) शोध प्रयासों के त्यागने पर जोर देते हैं तथा सामाजिक न्याय के अनुरूप उपागम को अपनाने के समर्थक हैं। सामाजिक न्याय से तात्पर्य यह है कि लोक प्रशासकों को समाज के निर्धन एवं पद-दलित वर्ग का समर्थन करना चाहिए। इसका अर्थ है कि लोक प्रशासकों को परिवर्तन के सक्रिय अभिकर्ता के रूप में कार्य करना चाहिए। उन्हें यथास्थिति बनाये रखने में सहयोग नहीं

देना चाहिए। शीघ्र परिवर्तन वातावरण के अनुरूप संगठन के नवीन रूपों का विकास किया जाना चाहिए। नवीन लोक प्रशासन में जनता के कल्याण एवं कार्यक्रम के प्रति निष्ठा पर विशेष बल दिया गया है।

मिन्नोब्रुक सम्मेलन को यह गौरव प्राप्त है कि उसके द्वारा लोक प्रशासन का व्यवस्थित व्याकरण प्रस्तुत किया गया है तथा लोक प्रशासन की वर्तमान में शोचनीय अवस्था पर सरल एवं स्पष्ट शब्दों में प्रकाश डाला गया है। इस सम्मेलन द्वारा ही लोक प्रशासन को नवीन छिद्र प्रदान की गई है और समाज की समस्याओं के प्रति उसे जागरूक बनाया गया है। लोक प्रशासन ने इस सम्मेलन के बाद ही सुधारवादी प्रव ित्त को अंगीकार किया है।

फ्रेंक मेरिनी, ड्वाइट वाल्डो तथा अन्य विद्वानों द्वारा प्रकाशित पुस्तकें तथा लेख

प्रतिवेदनों तथा सम्मेलनों के अतिरिक्त कुछ पुस्तकों एवं लेखों के प्रकाशन का भी नवीन लोक प्रशासन के विकास में विशेष योगदान रहा। इन पुस्तकों और लेखों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है:-

1. यह माना जाता है कि सन् 1967 में प्रकाशित **एफ.सी. मोशर** की सम्पादित क ति **"Governmental Reorganisation: Cases and Commentaries"** में प्रकाशित क्षमताओं एवं उत्तरदायित्वों को सुद ढ़ करने के उद्देश्य से प्रशासनिक पुनर्गठन तथा सुधार की साझी समस्या को उठाया गया था जो नवीन लोक प्रशासन की विचारधारा का आरंभिक वैचारिक प्रयास था।
2. सन् 1971 में फ्रेंक मेरिनी द्वारा सम्पादित पुस्तक **"Towards a New Public Administration : Minnowbrook Perspective"** (एक नवीन लोक प्रशासन की ओर : मिन्नोब्रुक परिप्रेक्ष्य) प्रकाशित हुई जो नवीन लोक प्रशासन पर प्रथम पुस्तक मानी जाती है।
3. सन् 1971 में ही ड्वाइट वाल्डो द्वारा सम्पादित पुस्तक **"Public Administration in a Time of Turbulence"** (उथल-पुथल के काल में लोक प्रशासन) प्रकाशित हुई जो नवीन लोक प्रशासन की विचारधारा को आगे बढ़ाती है।
4. सन् 1980 में एच. जॉर्ज फ्रेडरिक्सन की पुस्तक **"Public Administration Development as a Discipline"** में भी नवीन लोक प्रशासन सहित इस विषय के विविध विचारणीय पक्षों पर सामग्री प्रस्तुत की गई है।
5. सन् 1980 में ड्वाइट वाल्डो की एक नई क ति **"Enterprise of Public Administration"** सामने आई जिसमें उन्होंने लोक प्रशासन के तीन परिप्रेक्ष्यों यथा-नागरिकोन्मुख नौकरशाही, प्रतिनिधि नौकरशाही तथा जनप्रतिनिधित्व पर बल देते हुए कहा है कि यदि इन सार्वजनिक परिप्रेक्ष्यों को लोक प्रशासन में सही प्रकार से लागू किया जा सके तो लोक प्रशासन अधिक लोकतांत्रिक स्वरूप ग्रहण कर सकेगा।

इसके अतिरिक्त विन्सेन्ट ऑस्ट्राम तथा पीटर सेवेज के लेख भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए।

नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएँ

(Characteristics of New Public Administration)

नवीन लोक प्रशासन की विचारधारा पूर्णतया नवीन या क्रांतिकारी नहीं है बल्कि यह समयानुकूल तथा जनोन्मुख द ष्टि से युक्त और परम्परागत लोक प्रशासन में परिवर्धन की विचारधारा है। यह लोक प्रशासन की पुनर्व्याख्या की पर्याप्त है जिसकी मूलभूत विशेषताएँ निम्नांकित हैं-

1. यह राजनीति तथा प्रशासन के मध्य द्विविभाजन को स्वीकार नहीं करती है बल्कि नवीन लोक प्रशासन के समर्थक मानते हैं कि राजनीति तथा लोक प्रशासन को प थक्-प थक् रूप में देखने पर दोनों ही अपूर्ण रह जाते हैं क्योंकि आज का नीति विज्ञान बहुत व्यापक तथा गहन है। **पॉल एच. एपलबी** मानते हैं कि राजनीति तथा प्रशासन को अलग-अलग बिन्दु मानने पर लोक प्रशासन की सर्वस्वीकार्यता तो कम होगी ही साथ ही साथ लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा भी ध्वस्त हो जाएगी। अतः इन दोनों के मध्य विभाजन अव्यावहारिक, अप्रासंगिक तथा अवास्तविक है। इसी प्रकार **रॉबर्ट टी. गोलम्ब्यूस्की** कहते हैं-"प्रशासन महत्त्वपूर्ण कार्यों में राजनीति को परिवर्तित कर सकता है न कि राजनीति प्रशासन को।" अतः लोक प्रशासन तथा राजनीति में द्विविभाजन नहीं होना चाहिए जबकि लोक प्रशासन की परम्परागत विचारधारा दोनों के मध्य विभाजन करती थी।

2. नवीन लोक प्रशासन की मान्यता पूर्णतया मानवीय द ष्टिकोण की समर्थक है जबकि परम्परागत लोक प्रशासन में मनुष्य को "आर्थिक जीव" के रूप में मानते हुए उत्पादन का यंत्र स्वीकारा गया था। नवीन लोक प्रशासन में मानवीय सम्बन्धों, संवेदनाओं तथा समस्याओं को महत्त्वपूर्ण माना गया है तथा लोक प्रशासन को कार्योन्मुख होने के बजाय मानवोन्मुख बनाने पर बल दिया जा रहा है।
3. यह विचारधारा लोक प्रशासन के मूल्य निरपेक्ष द ष्टिकोण को भी नकारती है तथा मूल्यों से परिपूर्ण प्रशासन का समर्थन करती है तथा मूल्यहीन शोधों को भी नकारती है। नवीन लोक प्रशासन के समर्थक चाहते हैं कि सामाजिक न्याय तथा समानता के अनुरूप उपागम अपनाये जाएँ ताकि लोक प्रशासन, समाज के निर्धन तथा दलित वर्ग का उत्थान कर सके। इसी मान्यता के द्वारा लोक प्रशासन, सामाजिक परिवर्तन का अभिकर्ता बन सकता है।
4. नवीन लोक प्रशासन के समर्थक इसे एक प्रगतिशील विज्ञान बनाना चाहते हैं ताकि शीघ्र परिवर्तित वातावरण के अनुरूप यह अपने आपको ढाल सके। द ढ़ता तथा यथास्थितिवाद का विरोध करते हुए नवीनता तथा लोचशीलता पर बल देना इसकी विशेषता है। इस विचारधारा में जनता के कल्याण तथा कार्यक्रमों के प्रति निष्ठा पर बल दिया जाता है।
5. यह ग्राहक केन्द्रित प्रशासन अर्थात् उस व्यक्ति की भावनाओं तथा आवश्यकताओं को केन्द्र बिन्दु मानने पर जोर देता है जिसके लिए लोक सेवाएँ संचालित की जा रही है। निग्रो एवं निग्रो के अनुसार, "सार्वजनिक सेवाओं का अधिकाधिक प्रभावशाली तथा मानवीय वितरण उसी स्थिति में सार्थक सिद्ध हो सकता है जबकि ग्राहक केन्द्रित प्रशासन के साथ, लोक प्रशासन में नौकरशाही को दूर किया जाए।"
6. नवीन लोक प्रशासन के समर्थक परम्परागत मूल्य दक्षता, मितव्ययता तथा उत्पादकता के स्थान पर सामाजिक कार्य कुशलता तथा प्रभावशीलता पर बल देते हैं। अब यह प्रश्न उठाया जाने लगा है कि लोक प्रशासन में कोरी मितव्ययता किस काम की? समाजशास्त्री उसी सरकार को श्रेष्ठ मानते हैं जो सामाजिक संवेदनाओं को समझती हो, जन समस्याओं तथा आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील हो तथा मानववाद की पोषक हो। इसीलिए घाटे का बजट बनाकर भी आम जनता के लिए लोक प्रशासन सामुदायिक सेवाएँ संचालित करता है।
7. नवीन लोक प्रशासन विकेन्द्रीकरण तथा प्रत्यायोजन का समर्थक है ताकि जनकल्याण से सम्बन्धित कार्य योजनाएँ एवं कार्यक्रम शीघ्र एवं प्रभावी ढंग से क्रियान्वित हो सके। नवीन लोक प्रशासन जन सहभागिता का समर्थन करते हुए नौकरशाही के उत्तरदायित्वों एवं प्रतिबद्धता को भी रेखांकित करता है। यह लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया तथा गैर नौकरशाही परिस्थितियों का भी यह समर्थन करता है।

एलन कैम्पबेल के अनुसार, "नवीन लोक प्रशासन के समर्थकों द्वारा जो विषय बड़े जोर-शोर के साथ विश्व के सामने लाए गए थे, वे वास्तव में नए नहीं थे किन्तु यह सत्य है कि इन्हें नवीन लोक प्रशासन के प्रतिपादकों द्वारा अधिक बल तथा सामाजिक परिवर्तन के प्रति शक्तिशाली प्रतिबद्धता के साथ उठाया गया था।" निर्णय निर्माण में जन प्रतिनिधित्व, सामाजिक समानता का आदर्श मूल्य एवं जनसाधारण की सेवा के प्रति उन्मुखता सम्बन्धी मानवीय द ष्टिकोण पर अधिक बल दिया जाना इस बात का द्योतक है कि लोक प्रशासन के सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों में पुनः उन्मुखीकरण की आवश्यकता है।

नवीन लोक प्रशासन के तत्त्व (Elements of New Public Administration)

वस्तुतः नवीन लोक प्रशासन, सामाजिक समस्याओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील है। पुरातन लोक प्रशासन के सिद्धान्त मुख्यतः मूल्य निरपेक्षता, दक्षता, निष्पक्षता तथा कार्यकुशलता से सम्बन्धित थे जबकि नवीन लोक प्रशासन के निम्नांकित तत्त्व माने जाते हैं-

- सन्दर्भ का महत्त्व
- सदाचरण
- नीतिशास्त्र एवं मूल्य
- मौलिकता तथा नवाचार
- सेवित व्यक्तियों की चिन्ता
- सामाजिक समानता
- उत्तरदायित्व
- सामाजिक सापेक्षता

- नमनीय तटस्थता
- प्रतिबद्धता

बीसवीं सदी के नब्बे के दशक में नवीन लोक प्रशासन में कई प्रकार के अभिनव प्रयोग किए जा चुके हैं तथा एक नया प्रतिमान सामने आया हैं। प्रसिद्ध भारतीय प्रशासनिक विचारक **मोहित भट्टाचार्य** मानते हैं कि इस प्रतिमान को **प्रबंधीकरण, नव लोक प्रबंध, बाजार आयातित लोक प्रशासन या उद्यमकर्ता** शासन का नाम दिया जा सकता है। आज प्रशासन में तीन ई (E) को अधिक बल दिया जा रहा है-

1. दक्षता (Efficiency)
2. मितव्ययता (Economy)
3. प्रभावशीलता (Effectiveness)

पीटर ड्रकर के अनुसार दक्षता या कार्य क्षमता से तात्पर्य संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति में संसाधनों के न्यूनतम उपयोग से है। दक्षता या कार्यकुशलता, कार्य को सही ढंग से करने (Doing Things Right) से सम्बन्धित है जबकि प्रभावशीलता, सही कार्यों को करने से सम्बन्धित (Doing the Right Things) है जिसमें उचित उद्देश्यों की प्राप्ति सुनिश्चित की जाती है।

डेविड ऑसबोर्न तथा टीड गेबलर की कति **"Reinventing Government : How the Enterpreneurial Spirit is Transforming the Public Sector"** में दस सूत्रीय कार्यक्रम सुझाया गया है तथा वर्तमान सरकार से **"उद्यमकर्ता शासन"** (Entrepreneurial Government) का रूप धारण करने की अपेक्षा की गई है। इस शासन में अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण, नियोजन, कल्याणकारी बजट, बाजार संरचना पर जोर तथा स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की अपेक्षा की जाती है। नवीन लोक प्रशासन में परम्परागत बजट के स्थान पर कार्यक्रम, नियोजन, बजट व्यवस्था (P.P.B.S.) या निष्पादन बजटिंग को वरीयता दी जाती है।

नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्य (Goals of New Public Administration)

नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्य अत्यधिक समाजोन्मुखी तथा चिन्ताओं से परिपूर्ण दिखाई देते हैं। ये हैं-

1. **प्रासंगिकता:** परम्परागत लोक प्रशासन सदैव से ही कार्यकुशलता तथा मितव्ययता पर बल देता रहा है जबकि समकालीन मुद्दों या विषयों पर बहुत कम ध्यान देता है। मिन्नोब्रुक सम्मेलन में लोक प्रशासन के ज्ञान तथा व्यवहार पर किंचित् महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये गए थे-
   i. हमें किन प्रश्नों का अध्ययन करना चाहिए और कैसे करना चाहिए तथा विषय में चुनाव का निर्णय करने के लिए हम किन मानदण्डों का प्रयोग करते हैं?
   ii. हमारे लिए हमारे प्रश्नों और प्राथमिकताओं को कौन निर्धारित या परिभाषित करता है?
   iii. लोक प्रशासन में ज्ञान, सामाजिक एवं नैतिक निहितार्थो के विषय में हम किस सीमा तक जागरूक हैं?
   iv. सामाजिक एवं राजनीति विज्ञान के रूप में लोक प्रशासन के क्या उपयोग हैं?
   v. क्या लोक प्रशासन वर्तमान में ऐसा ज्ञान पैदा करता है जो समाज की कुछ निश्चित संस्थाओं (सामान्यतः प्रभुत्वशाली) के लिए उपयोगी हो, दूसरों के लिए नहीं?

   इस प्रकार के प्रश्नों ने लोक प्रशासन की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रासंगिकता सहित व्यावहारिकता को भी महत्त्वपूर्ण बनाने में सहायता की है।
2. **मूल्य:** नवीन लोक प्रशासन स्पष्ट रूप से आदर्शात्मक (Normative) है। यह पूर्व में लोक प्रशासन के मूल्यों को छुपाने तथा प्रक्रियात्मक तटस्थता को अस्वीकार करते हुए समाज के दलित, दमित तथा सुविधाहीन वर्ग के प्रति झुकाव को महत्त्व देता है। निग्रो एवं निग्रो के अनुसार, "जब से नवीन लोक प्रशासन का उदय हुआ है, मूल्यों और नैतिकता के प्रश्न लोक प्रशासन के मुख्य विषय रहे हैं।"
3. **सामाजिक समानता:** नवीन लोक प्रशासन के प्रणेता सामाजिक समता के सिद्धान्त पर बल देते हैं। इस संबंध में **फ्रेडरिक्सन** वकालत करते हुए कहते हैं-"वह लोक प्रशासन जो परिवर्तन लाने में असफल है, जो अल्पसंख्यकों के अभावों

को दूर करने का प्रयास करता है, संभवतः उसका प्रयोग अंततः उन्हीं अल्पसंख्यकों को सुविधाओं से वंचित करनें के लिए किया जाएगा।" अतः लोक प्रशासन को जनोन्मुखी ही होना चाहिए।

4. **परिवर्तनः** सामाजिक विकास, कल्याण तथा समता के लिए आवश्यक है कि लोक प्रशासन परिवर्तनों को बढ़ावा दे। केवल शक्तिशाली हित समूहों का दबाव समूहों के अधीन लोक प्रशासन को कार्य नहीं करना चाहिए बल्कि इसे तो सम्पूर्ण सामाजिक-आर्थिक तंत्र में परिवर्तन का अगुवा बनना चाहिए।

रॉबर्ट टी. गोलम्ब्यूसकी ने नवीन लोक प्रशासन के तीन **विरोधी लक्ष्य** (Anti Goals) बताये हैं-

i. नवीन लोक प्रशासन का साहित्य Anti Positivist है अर्थात् यह मूल्य निरपेक्ष लोक प्रशासन, तार्किकता तथा नीति से विहीन लोक प्रशासन की परिभाषा को नहीं स्वीकारता है।

ii. यह तकनीक-विरोधी है अर्थात् भावनात्मक-स जनात्मक मानवता का बलिदान नहीं चाहता है।

iii. यह न्यूनधिक मात्रा में नौकरशाही तथा पदसोपान का विरोधी है।

नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए **"4 D"** (चार 'डी') महत्त्वपूर्ण मानी जाती है-

- **विकेन्द्रीकरण** (Decentralization)
- **प्रत्यायोजन** (Delegation)
- **लोकतांत्रिकरण** (Democratization)
- **विनौकरशाहीकरण** (Debureaucratization)

नवीन लोक प्रशासन, परम्परागत लोक प्रशासन की अपेक्षा जातिगत कम और सार्वजनिक अधिक; वर्णनात्मक कम और आदेशात्मक अधिक; संस्थानोन्मुख कम और जनोन्मुख अधिक तथा तटस्थ कम और आदर्शात्मक अधिक होना चाहिए, साथ ही इसका द ष्टिकोण भी वैज्ञानिक हो।

फ्रेडरिक्सन ने नवीन लोक प्रशासन की विशेषताओं में परिवर्तन तथा प्रशासनिक अनुक्रियाशीलता, तर्कसंगति, प्रबंधक-कर्मचारी सम्बन्धों, संरचनाओं में गतिशीलता तथा लोक प्रशासन विषय में शिक्षा विविधता को समाहित करते हुए सामाजिक समता तथा प्रशासनिक मूल्यों को मूल संकल्पना स्वीकार किया है। विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में द ष्टव्य कतिपय प्रव त्तियों ने कुछ नई दिशाएँ भी तय की है। इनमें सार्वजनिक नीतियों का प्रशासनिक कार्यों में सामाजिक समता का पुट, स्थानीय प्रशासन तथा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का प्रसार, प्रशासनिक उत्तरदायित्व तथा राजनीतिक निर्देशन, प्रशासनिक कार्यों की जटिलता तथा कुशलता में व द्धि तथा कार्मिक संघों का सशक्तिकरण प्रमुख है। परिस्थिति एवं आवश्यकतावश आज का लोक प्रशासन तुलनात्मक होता जा रहा है।

एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि नवीन लोक प्रशासन किस सीमा तक नवीन है? कैम्पबेल का मानना है कि नवीन लोक प्रशासन की भिन्नता केवल परिभाषा के कारण ही है। सहज रूप में यह कहा जा सकता है कि नवीन लोक प्रशासन का विषय मौलिक अध्ययन की अपेक्षा पनुर्व्याख्या पर अधिक बल देता है। यह वास्तव में समाज के प्रति अधिक संवेदनशील है। **रॉबर्ट टी. गोलम्ब्यूस्की** का विचार है कि नवीन लोक प्रशासन शब्दों में क्रांतिवाद का उद्घोष करता है, किंतु वास्तव में यह परम्परागत सिद्धान्तों तथा पद्धतियों की वही यथास्थिति है। वस्तुतः यह आलोचना सहजता से किसी को भी स्वीकार्य नहीं है। संक्षेप में, नवीन लोक प्रशासन, सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों क्षेत्रों में व्यापक, प्रक ति में वर्णनात्मक के साथ आदर्शात्मक तथा विषयवस्तु में बहुविषयी होने के साथ-साथ तुलनात्मक भी है।

द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन (1988)
(Second Minnowbrook Conference, 1988)

द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन, प्रथम सम्मेलन के ठीक बीस वर्ष पश्चात् सितम्बर, 1988 में आयोजित हुआ। यह सम्मेलन अपने पूर्ववर्ती सम्मेलन से कई मायनों में भिन्न था, जैसे कि इसकी विषयवस्तु, सहभागीगण, चिन्तन तथा समसामयिक परिस्थितियाँ। **फ्रेडरिक्सन** के शब्दों में-"द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन लोक प्रशासन के बदलते युगों (सन्दर्भों) की तुलना करने तथा अन्तर करने के लिए आयोजित हुआ था।"

यद्यपि द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन में कई नए विषयों पर चर्चा हुई थी तथापि इस सम्मेलन में भी पूर्ववर्ती सम्मेलन के चर्चा के विषय, जैसे-सामाजिक समानता, मानवीय सम्बन्ध, जवाबदेयता, लोकतंत्र, प्रशासनिक नेत त्व तथा मूल्य सापेक्ष प्रशासन इत्यादि विषय छाए रहे। दोनों ही सम्मेलनों में एक विषय के रूप में लोक प्रशासन की स्थापना तथा विकास पर खुलकर चर्चा हुई।

प्रथम एवं द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलनों में अन्तर

प्रथम मिन्नोब्रुक सम्मेलन (1968)	**द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन** (1988)
1. इस सम्मेलन के अधिसंख्य सहभागी युवा राजनीतिविज्ञानी थे।	1. इस सम्मेलन का अकादमिक दायरा विस्त त था जिसमें विधि विज्ञानी, अर्थशास्त्री, नीति एवं नियोजन विश्लेषक तथा नगरीय अध्ययनकर्ता इत्यादि भी सम्मिलित थे।
2. यह सम्मेलन अमेरिकी सामाजिक-आर्थिक उथल-पुथल के दौरान आयोजित हुआ था।	2. यह सम्मेलन विश्वव्यापी आर्थिक सुधारों के दौरान आयोजित हुआ।
3. इस सम्मेलन की वैचारिक प ष्ठभूमि क्रांतिकारी, अधीर, टकरावयुक्त तथा अति उत्साह से भरपूर थी।	3. इस सम्मेलन की वैचारिक प ष्ठभूमि सुविचारित, धैर्ययुक्त, परिपक्व, व्यावहारिक तथा व्यापक सोच से युक्त थी।
4. इसमें प्रासंगिकता, मूल्यों, सामाजिक समता तथा परिवर्तन पर बल दिया गया था।	4. इसमें संवैधानिक तथा कानूनी परिप्रेक्ष्य में नेत त्व, प्रौद्योगिकी,नीति तथा आर्थिक परिवेश पर जोर दिया गया था।
5. यह सम्मेलन व्यवहारवादियों की सहभागिता से वंचित रखा गया था।	5. यह सम्मेलन लोक प्रशासन में सामाजिक तथा व्यावहारिक विज्ञानों के योगदान को प्रोत्साहित करता है।
6. इस सम्मेलन के आयोजन के समय सामाजिक वातावरण, सरकार का आलोचक था जो यह चाहता था कि सरकार प्रमुख सामाजिक मुद्दों पर तत्काल तथा पहल करके कार्यवाही करे।	6. इस सम्मेलन के दिनों में सरकार तथा राज्य की घटती भूमिका तथा निजीकरण, उदारीकरण, वैश्वीकरण के विचार सामने आ चुके थे जो सरकार से सीमित किन्तु प्रभावी भूमिका चाहते थे।

दरअसल प्रथम तथा द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलनों के मध्य दो दशकों का अंतर था। एक प्रकार से यह समय की करवट का भी अन्तर था। बीसवीं सदी के मध्य उठे प्रश्नों का स्वरूप, सदी के अंत आते-आते परिवर्तित हो गया। लेकिन प्रथम मिन्नोब्रुक सम्मेलन ने द्वितीय सम्मेलन के लिए आधार का कार्य किया तथा वैश्वीकरण, निजीकरण, नवलोक प्रबंध, राज्य बनाम बाजार तथा अन्य प्रश्नों ने द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन को प्रभावित किया। द्वितीय सम्मेलन में पूर्ववर्ती सम्मेलन की कमियाँ नहीं दोहराई गई तथा इसमें लोक प्रशासन का अनुशासन, अधिक अन्तर्विषयी होकर उभरा।

UNIT-II

अध्याय-6
संगठन : अवधारणा तथा आधार

मानव अपने हितों की पूर्ति के लिए व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्तर पर प्रयास करता है। जब वह सामूहिक स्तर पर कोई भी प्रयास करता है तब उसके प्रयासों और प्रक्रियाओं को "संगठन" के नाम से संबोधित किया जाता है; संगठनात्मक प्रयास सामाजिक तथा प्रशासनिक दोनों ही स्तरों पर किए जाते हैं। किन्तु संगठन, चाहे सामाजिक हो या प्रशासनिक, किसी विशेष उद्देश्य या प्रयोजन की प्राप्ति के लिए किया जाता है; उदाहरणार्थ, भारत के विभाजन के कारण उत्पन्न हुई शरणार्थी-समस्या को हल करने के लिए केन्द्र तथा राज्यों में पुर्नवास विभागों की स्थापना की गई; भारत-पाक तथा भारत-चीन युद्धों के दौरान खाद्य सामग्री की समस्या से निपटने के लिए राशनिंग और कन्ट्रोल की आवश्यकता उत्पन्न होने पर खाद्य विभागों की स्थापना की गई। अतः आवश्यकताओं के अनुरूप नए संगठन बनाए जाते हैं।

जिस प्रकार आवश्यकता पड़ने पर नए संगठनों का निर्माण किया जाता है उसी प्रकार उन संगठनों के द्वारा अपने उद्देश्य पूरे किए जाने पर या उनकी आवश्यकता न रहने पर उन्हें समाप्त भी कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, हाल ही में हरियाणा सरकार ने अपना एक संगठन नलकूप निगम (Haryana State Small Irrigation and Tubewell Corporation) अपनी आवश्यकता खो देने पर बन्द कर दिया गया।

संगठन क्या है?

'संक्षिप्त ऑक्सफोर्ड शब्दकोश' में 'टु ऑर्गेनाइज' (To Organise) शब्द का अर्थ "तैयार करना अथवा चालू अवस्था में रखना" है। सामान्यतः 'संगठन' को तीन विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है :-

(1) प्रशासकीय संरचना का नमूना तैयार करना;

(2) सरंचना का नमूना तैयार करना तथा उसका निर्माण करना; और

(3) स्वयं संरचना।

प्रो० अवस्थी एंव प्रो० महेश्वरी ने 'संगठन' शब्द का इन तीनों विभिन्न रूपों में प्रयोग होने पर निम्नलिखित क्रमशः तीन उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट किया है :-

(1) राम में संगठन करने की योग्यता है।

(2) राम अपने यूनिट के निर्माण में व्यस्त है।

(3) भारत सरकार का ढाँचा।

एल० उरविक ने लोक प्रशासन में संगठन शब्द का संकीर्ण अर्थ लेते हुए इसे केवल प्रशासनिक संरचना के रूपांकन तक ही सीमित रखा है। उरविक मोटर कार की उपमा देते हुए कहते हैं कि कार का रूपांकन, उसका निर्माण तथा स्वयं कार, ये तीन भिन्न अवस्थाएँ हैं। वे मानते हैं कि जिस प्रकार रूपांकन का अर्थ निर्माण नहीं है, और निर्माण या रूपांकन में से किसी का भी अर्थ कार नहीं है। उसी प्रकार संगठन शब्द का प्रयोग संगठन के निर्माण करने अथवा अन्ततः निर्मित स्वयं प्रशासनिक ढाँचे के लिए किया जाना उचित नहीं होगा अतः संगठन शब्द का अर्थ केवल (प्रशासनिक) मशीन का रूपांकन ही लगाया जाना चाहिए। वे संगठन की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि "यह निश्चित करना कि अमुक ध्येय या उद्देश्य की पूर्ति के लिए कौन-कौन सी क्रियाएँ अनिवार्य हैं और उनको समूहों में विभक्त करना, ताकि वे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सौंपी जा सके, संगठन कहलाता है।"

उरविक सहित अधिकांश परम्परावादी प्रशासनिक विचारक, संगठन में संरचना पर बल देते हैं जबकि वास्तव में संगठन मानवीय तत्त्वों पर निर्भर है। यदि संगठन में मानवीय तत्त्व सम्मिलित ही न हों तो वह कब तक संगठन बना रह सकता है। अतः संगठन में कार्य करनेवाले व्यक्ति और जिन लोगों के लाभार्थ वह संगठन बनाया गया है, ही वास्तव में संगठन में सर्वोपरि हैं।

संगठन की परिभाषाएँ

संगठन को विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग तरीके से परिभाषित किया है। कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएँ नीचे दी जा रही है:-

"किसी सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मानव-सहयोग का नाम ही संगठन है।"**—मूने एवं रैली**

"परस्पर व्यवहार करनेवाले लोगों के वर्ग का नाम संगठन है।"**—हरबर्ट साइमन**

"संगठन, किसी उद्यम में लगे हुए मनुष्यों के बीच सम्बन्धों का ऐसा स्वरूप है जिससे कि उद्यम के कार्यों की पूर्ति हो सके।"**—ई. एन. ग्लेडन**

"व्यक्तियों के निश्चित समूह द्वारा लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किए जानेवाले कार्यों को ही संगठन कहते हैं।"**—मैक्फॉरलैण्ड**

"संगठन का अर्थ है किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक क्रियाओं का निर्धारण और उन्हें ऐसे वर्ग में क्रमबद्ध करना जो विभिन्न व्यक्तियों को सौंपी जा सकें।"**—एल. उरविक**

"संगठन, मूलतः व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो नेता के निर्देशन में सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सहयोग करते हैं।"
—आर.सी. डेविस

"व्यापक द ष्टि से संगठन उस कला को कहते हैं जिसके द्वारा किसी उद्योग में मानव, मशीन तथा सामग्री को नियोजित करने के लिए आवश्यक सिद्धान्त प्रयुक्त किए जाते हैं।"**—विलियम आर. स्प्रीगल**

"संगठन, सत्ता का औपचारिक ढाँचा है जिसके द्वारा किसी निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्यों को विभाजित और निर्धारित किया जाता है तथा उनमें समन्वय स्थापित किया जाता है।"**—लूथर गुलिक**

"दो या अधिक व्यक्तियों की सचेत समन्वित गतिविधियों की व्यवस्था ही संगठन है।"**—चेस्टर इरविंग बर्नार्ड**

"किसी वांछित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक तत्त्वों, जैसे-मनुष्यों, पदार्थों, उपकरणों, सामग्री, कार्यस्थल तथा अन्य वस्तुओं का ऐसा संयोजन 'संगठन' कहलाता है जिसमें इन तत्त्वों को व्यवस्थित तथा प्रभावशाली ढंग से समन्वित किया जाता है।"**—विलियम शुल्ज**

"किसी कार्य में संलग्न व्यक्तियों तथा समूहों के प्रयत्नों तथा क्षमताओं का सम्बन्ध ही संगठन है, जिसमें कम से कम संघर्ष से वांछित उद्देश्य की प्राप्ति हो सके और जिनके लिए वह कार्य किया जा रहा है तथा जो उस उद्यम में सम्मिलित हैं उन्हें उसमें अधिकतम संतोष प्राप्त हो सके।"**—जे.एम. गॉस**

"संगठन, अंशतः मानव का मानव से, क त्य का क त्य से तथा विभाग का विभाग से सम्बन्ध है ताकि व्यवस्थित श्रम विभाजन किया जा सके। "**—पिफनर**

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि संगठन एक मानवीय समूह है। किन्तु किसी भी मानवीय समूह को हम संगठन नहीं कह सकते। केवल उसी मानवीय समूह को संगठन कहा जा सकता है जो एक निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इकट्ठे हुए हैं। दूसरे, संगठन में मानवीय तत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इसके साथ ही भौतिक संसाधनों का भी संगठन में काफी महत्त्व है तथा जब तक इन्हें एकीक त नहीं किया जाएगा, संगठन अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल नहीं हो सकता।

संगठन में संरचना तथा मानवीय तत्त्वों को एकीक त रूप में देखते हुए **डिमॉक, डिमॉक** तथा **कोइंग** लिखते हैं-"एक दूसरे पर निर्भर सभी भागों या अंगों को उचित क्रम देकर एक एकीक त तथा सम्पूर्ण इकाई का निर्माण करना ही संगठन है ताकि किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अधिकार, समन्वय तथा नियंत्रण का प्रयोग किया जा सके। एक दूसरे पर निर्भर भागों में मनुष्य भी सम्मिलित हैं, अतः उन्हें भी अभिप्रेरित एवं गतिशील बनाए रखना आवश्यक है। संगठन, वास्तव में संरचना तथा मानवीय पक्ष दोनों से युक्त है, अतः केवल संरचना को संगठन मानना युक्तिसंगत नहीं है।" **ग्लेडन** ने संगठन को एक जीवन्त तथा परिवर्तनशील अवयव माना है। उनके अनुसार, कोई भी संगठन जिसका परिवर्तन रुक गया है, वह म तप्रायः है।

स्पष्ट है संगठन, मानवीय आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पन्न होते हैं, अतः परिवर्तित परिस्थितियों में संगठन को भी परिवर्तित हो जाना चाहिए।

संगठन के आधार

संगठन विभिन्न व्यक्तियों के बीच कार्य को बाँटने की एक रीति है। अतः प्रश्न यह उठता है कि इन कार्यों को किस प्रकार बाँटा जाना चाहिए तथा किस आधार पर संगठन का निर्माण किया जाना चाहिए। वास्तव में बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि संगठन का निर्माण, दर्जी के कार्य के समान हैं जो कपड़े से कोट बनाते समय "काटो और सिलाई कर दो" की रीति अपनाता है; इसी प्रकार संगठन बनाते हैं। संगठन निर्माण तथा संचालन के क्रम में पहले कार्य का विभाजन किया जाता है और फिर उन विभाजित कार्यों को समन्वित किया जाता है। संगठन निर्माण अर्थात कार्य विभाजन के लिए लूथर गुलिक ने चार आधार बताए हैं जिन्हें "विभागीयकरण के सिद्धान्त" के नाम से जाना जाता है। इन्हें कुछ विद्वान संगठन के चार प्रमुख तत्त्व भी मानते हैं। ये आधार निम्नलिखित हैं :

(1) **उद्देश्य** (Purposes)

(2) **प्रक्रिया** (Process)

(3) **सवित व्यक्ति** (Person)

(4) **स्थान** (Place)

लूथर गुलिक द्वारा प्रतिपादिन विभागीयकरण का सिद्धान्त ' 4P सिद्धान्त' के नाम से भी विख्यात है, क्योंकि इन चारों आधारों का अंग्रेजी में प्रारम्भ अंग्रेजी वर्णमाला के एक ही अक्षर 'P' से होता है। इन चारों आधारों के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क एवं उनमें से प्रत्येक का विस्त त विवरण नीचे दिया जा रहा हैः

1. कार्य या प्रयोजन (Purpose)

प्रयोजन अथवा कार्य को विभागीय संगठन के सबसे महत्त्वपूर्ण आधार के रूप में जाना जाता है। जब किए जानेवाले कार्यों के आधार पर किसी विभाग का संगठन किया जाता है तो इसे कार्यात्मक आधार (Functional Basis) पर व्यवस्थित संगठन कहा जाता है। शिक्षा, प्रतिरक्षा, सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य, रेल यातायात इत्यादि विभागों का गठन कार्यों के आधार पर ही किया जाता है। उद्देश्य अपने आप में एक व्यापक शब्द हैं। उद्देश्यों को पुनः छोटे-छोटे कार्यों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक कार्य के लिए पुनः एक-एक उपविभाग बना दिया जाता है, जैस - शिक्षा विभाग में वयस्क शिक्षा, सामान्य शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा, उच्चतर शिक्षा जैसे उपविभाग बने हुए हैं। इसी तरह प्रतिरक्षा विभाग में स्थल-सेना, वायु-सेना एवं जल-सेना। प्रयोजन के आधार पर गठिन विभाग अधिक लोकप्रिय साबित हुए हैं।

प्रयोजन के आधार के पक्ष में तर्क :

(क) विभाग के कर्मचारियों में विशेषज्ञता विकसित होती है, क्योंकि एक ही प्रकार के कार्य उन्हें हमेशा करने पड़ते हैं जिससे अनुभव, विश्वास ओर विशेषज्ञता तीनों ही विकसित होती हैं।

(ख) उद्देश्य की प्राप्ति का पूरा उत्तरदायित्व सम्बन्धित विभाग का होता है। जनता इस बात का आसानी से पता लगा लेती है कि यदि कहीं लापरवाही बरती गई है तो इसके लिए किस विभाग को उत्तरदायी माना जाय, अर्थात् उत्तरदायित्व का निर्धारण आसान होता है।

(ग) प्रयोजन पर आधारित विभाग अच्छी सेवा करता है, क्योंकि इस विभाग को यह पता रहता है कि अमुक कार्य को पूरा करने का उत्तरदायित्व उसी पर है।

(घ) इस प्रकार के संगठन में कार्य करनेवाले व्यक्तियों के कार्य और लक्ष्य समान होते हैं, इसलिए उनके बीच समन्वय आसानी से स्थापित किया जा सकता है तथा कार्यों के दुहराव को रोका जा सकता है।

प्रयोजन के आधार के विपक्ष में तर्कः

(क) प्रयोजन अथवा कार्य अपने आप में अस्पष्ट क्षेत्र की तरफ इंगित करता है। इसकी व्याख्या संकुचित अथवा व्यापक दोनों

रूपों में की जा सकती है। कार्यात्मक सिद्धान्त कार्य की अस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है, जिसके अनुसार यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किन-किन कार्यों को किस-किस विभाग से समबन्धित माना जाय।

(ख) इस प्रकार के संगठन में कुछ कार्यों का दुहराव (Duplication) हो जाता है, जैसे—प्रतिरक्षा विभाग में भी सैनिकों को शिक्षा दी जाती है, भवन-निर्माण कराया जाता है और यह कार्य शिक्षा-विभाग और लोक-निर्माण विभाग भी सम्पन्न करता है।

(ग) इस प्रकार के संगठन श्रम-विभाजन तथा कार्य-विशेषीकरण के विरुद्ध होते हैं।

(घ) कार्य के आधार पर गठित विभाग साम्राज्यवादी प्रव त्ति को जन्म देते हैं। एक प्रकार के जितने भी कार्य हैं, उन सब पर नियन्त्रण एक ही विभाग का रहता है। ऐसी स्थिति में हर विभाग एक-दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है और अपना प थक् मजबूत अस्तित्व स्थापित करने का प्रयास करता है।

2. प्रक्रिया (Process)

प्रक्रिया वह तकनीकी कुशलता है जिसका उपयोग किसी विशेषीक त कार्य को सम्पन्न करने में किया जाता है। प्रक्रिया से तात्पर्य यहाँ विशिष्ट योग्यता से है। प्रक्रिया के अन्तर्गत उन्हीं कार्यों को रखा जाता है जिन कार्यों के सम्पादन के लिए एक विशेष प्रकार की योग्यता और कुशलता का होना आवश्यक है, जैसे—चिकित्सा-सेवा, लेखा-सेवा, यान्त्रिकी सेवा इत्यादि। प्रक्रिया के आधार पर केन्द्रीय सरकार के बहुत कम विभाग ही गठित होते हैं। विधि मन्त्रालय प्रक्रिया के आधार पर ही गठित विभाग हैं। **लूथर गुलिक** के मतानुसार, इस प्रकार के संगठनों में समान योग्यता अथवा तकनीक को काम में लाने वाले या एक ही व्यवसाय के सदस्यों को संयुक्त कर एक विभाग बना दिया जाता है।

प्रक्रिया के आधार के पक्ष में तर्क :

(क) प्रक्रिया के आधार पर गठित विभाग के व्यक्तियों में विशिष्टता या विशेष योग्यता आ जाती है क्योंकि उनमें कार्यरत लोग एक ही प्रकार का कार्य लगातार करते रहते हैं। लगातार एक ही प्रकार का कार्य करते रहने से उनमें एक विशेष योग्यता आ जाती है।

(ख) इसके अन्तर्गत तकनीकी व्यक्ति एक ही विशेषज्ञ के अधीन कार्य करते हैं अतः उनमें समन्वय आसानी से स्थापित किया जा सकता है।

(ग) प्रक्रिया के आधार पर गठित विभागों में अपव्यय कम होता है तथा बजट-निर्माण में सुविधा होती है। अतः इससे अर्थिक बचत होती है।

(घ) प्रक्रिया के आधार पर गठित विभाग की सबसे बड़ी विशेषता है श्रम-विभाजन का होना। यदि सभी तकनीकी विशेषज्ञों को एक ही साथ कार्य करने का अवसर प्राप्त होगा तो वे अपने क्षेत्र में प्रगति करेंगे और एक साथ मिलकर शोध और आविष्कार करेंगे।

प्रक्रिया के आधार पर विपक्ष में तर्क :

(क) प्रक्रिया के आधार पर गठित विभागों में समन्वय की समस्या गम्भीर हो जाती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत गठित विभाग अपने को ज्यादा आत्मनिर्भर समझते हैं और दूसरे विभाग के साथ ठीक से समन्वय नहीं कर पाते हैं। **लूथर गुलिक** के अनुसार, "एक प्रक्रिया की असफलता का प्रभाव सम्पूर्ण उद्यम पर पड़ता है और एक प्रक्रिया सम्भाग में समन्वय स्थापित न किए जाने के फलस्वरूप सम्पूर्ण कार्य की साधना नष्ट हो जाती है।"

(ख) विशेषज्ञों की एक खास मनोव त्ति यह होती है कि वे स्वयं के कार्य को बहुत महत्त्व देते हैं तथा संकुचित द ष्टिकोण अपनाकर अपने को आवश्यकता से अधिक काबिल समझते हैं। विशिष्ट ज्ञान के कारण उनमें एक प्रकार का अहंकार आ जाता है जो संगठन के लिए अनुचित है।

(ग) अनेक विचारकों का यह मानना है कि इस प्रकार के गठित विभागों के व्यक्तियों में विशिष्ट ज्ञान और तकनीकी योग्यता तो रहती है परन्तु उनमें प्रशासकीय क्षमता का अभाव पाया जाता है जिसके चलते विभाग के प्रशासन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है।

(घ) प्रक्रिया के आधार पर गठित विभाग के सदस्य "कानूनची" अधिक होते हैं। वे लोक-हित की समस्याओं की उपेक्षा करते हैं तथा भाँति-भाँति की तकनीकी और कानूनी अड़चनें प्रस्तुत करते हैं।

(ङ) इस पद्धति में न तो जन-सम्पर्क ही उचित ढंग से हो पाता है और न ही जन-निचन्त्रण रहता है।

3. सेवित, ग्राहक अथवा व्यक्ति (Clientele or Person)

ग्राहक का अर्थ वह व्यक्ति-समूह है जिसके लिए कार्य किया जाता है अथवा जिसको लाभ पहुँचाया जाता है। जब किसी विभाग का गठन समाज के किसी वर्ग की समस्या के विशेष समाधान के लिए किया जाता है तो यह कहा जाता है कि ऐसे विभाग का आधार सेवा किए जानेवाले ग्राहक या व्यक्ति हैं, अर्थात् संगठन के निर्माण का आधार वे लोग भी हैं जिनकी सेवा या सहायता करनी है। भारत में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों की समस्या के लिए 'जनजाति कल्याण विभाग' तथा विभिन्न देशों से आए हुए शरणार्थियों के राहत एवं पुनर्वास के लिए 'राहत एवं पुनर्वास विभाग' की स्थापना की गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका में 'रेड इण्डियन' लोगों की समस्याओं एवं कल्याण के लिए 'ऑफिस ऑफ इण्डियन अफेयर्स' (Office of Indian Affairs) तथा व द्ध अनुभवी लोगों की देखभाल के लिए 'वेटरन्स एडमिनिस्ट्रेशन' (Veterans Administration) की स्थापना की गई है। ऐसे विभागों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि ये प्रभावित लोगों की समस्या एवं विकास के लिए गहराई से केन्द्रित अध्ययन करके सिर्फ उन्हीं के कल्याण के बारे में सोचते हैं।

सेवित लोगों के आधार के पक्ष में तर्क :

(क) सेवित व्यक्ति के आधार पर गठित विभागों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि उसमें उत्तरदायित्व का निर्धारण आसान होता है। सम्बन्धित व्यक्ति को आसानी से पता लग जाता है कि किस कार्य के लिए किस विभाग के पास जाना है और इसकी सफलता या असफलता के लिए कौन उत्तरदायी होगा।

(ख) आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक द ष्टि से पिछड़े हुए लोगों के लिए इस प्रकार के विभाग वरदान सिद्ध होते हैं क्योंकि इनके लिए एक ऐसे विभाग के निर्माण की आवश्यकता होती है जो सिर्फ इनके ही विषय में सोचे-समझे अथवा कार्य करें।

(ग) इस आधार पर गठित विभागों में सेवित वर्ग एवं प्रशासन में प्रत्यक्ष सम्बन्धों की स्थापना होती है और वे एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझ पाते हैं।

(घ) इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की सेवाओं का कार्य एक ही विभाग द्वारा सम्पादित होता है जिसमें प्रभावित लोगों को अनेक विभागों के बदले सिर्फ एक विभाग से सम्पर्क करना पड़ता है।

(ङ) इसमें सेविवर्ग को अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान करने का अवसर मिलता है तथा उनका द ष्टिकोण व्यापक होता है, जो प्रशासन की द ष्टि से आवश्यक है।

सेवित लोगों के आधार के विपक्ष में तर्क :

(क) हाल्डेन समिति की राय थी कि व्यक्ति के आधार पर गठित विभागों से "बौने प्रशासन" (Lilliputian Administration) की प्रव त्ति उत्पन्न हो जाती है। विभागों का संगठन इस आधार पर करने से अनेक छोटे-छोटे विभागों की भरमार हो जाएगी और समाज के अनेक वर्गों के लिए विभागों के गठन की माँग होगी।

(ख) इस सिद्धान्त के आधार पर गठित विभाग अनेक तरह के बहुउद्देशीय कार्यों का सम्पादन करते हैं। इसके कारण विभिन्न विभागों के बीच अधिकतर-क्षेत्र सम्बन्धी विवाद उत्पन्न हो जाता है तथा कार्यों का दुहराव होने लगता है।

(ग) इस प्रकार के गठित विभागों के कर्मचारियों में विशेषज्ञता (Specialisation) नहीं आ पाती है। वे सभी विषयों के जानकार तो बन जाते हैं पर किसी विषय के विशेषज्ञ नहीं बन पाते हैं।

(घ) सेवित लोगों के आधार पर गठित विभागों पर 'दबाव समूह' एवं 'हित समूह' (Pressure Groups and Interest Groups) का दबदबा अधिक होता है। विभाग का संचालन करनेवाले अधिकारी इन गुटों की बातों को महत्त्व दिए बिना प्रशासन नहीं कर पाते। फलतः इनके दबाव में आकर अनुचित कार्य भी कर डालते हैं।

(ङ) इस आधार पर गठित विभाग समाज में ईर्ष्या और द्वेष की भावना फैलाते हैं क्योंकि कुछ वर्गों के लिए ही यह विशेष व्यवस्था की जाती है।

4. स्थान या क्षेत्र (Place or Area)

स्थान, प्रदेश या क्षेत्र को भी आधार मानकर कुछ संगठनों का निर्माण किया जाता है। यदि कोई क्षेत्र अविकसित है तथा यह आभास होता है कि विकास की सामान्य योजना से इस क्षेत्र का न्यायोचित विकास नहीं हो पाएगा, तो उस क्षेत्र-विशेष को विकसित करने के लिए इस प्रकार के संगठनों का निर्माण किया जाता है। प्रायः देखा जाता है कि सरकार एक ही स्थान से सभी कार्य नहीं कर सकती। इसके लिए विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता पड़ती है। विकेन्द्रीकरण क्षेत्रीय आधार पर किया जाता है, यथा—काँग्रेस (ई) की सरकार के द्वारा दार्जिलिंग क्षेत्र के गोरखा लोगों के लिए गोरखा पर्वतीय विकास परिषद् (Gorkha Hill Development Council) की स्थापना, दामोदर घाटी योजना, दण्डकारण्य योजना, इत्यादि। भारत के विदेश मन्त्रालय तथा रेलवे विभाग के गठन में इस पद्धति को प्राथमिकता दी गई है। विदेश विभाग में अफ्रीका, दक्षिण-पूर्वी एशिया, अमेरिका, मध्य-पूर्व, सुदूर-पूर्व तथा पड़ोसी देशों से सम्बन्ध के संचालन के क्षेत्र के आधार पर उप-विभागों का गठन किया गया है। रेलवे विभाग ने भी उत्तर रेलवे, दक्षिण रेलवे, पूर्व रेलवे, पश्चिम रेलवे, उत्तर-पूर्व इत्यादि नौ क्षेत्रों में विभिन्न क्षेत्रों के आधार पर अपने क्षेत्रों का गठन किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी अनेक प्रशासकीय अनुभागों का गठन क्षेत्र के आधार पर किया गया है।

क्षेत्र के आधार के पक्ष में तर्क :

(क) इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा लाभ यह है कि प्रशासन के सामने किसी क्षेत्र-विशेष की समस्त समस्याओं का चित्र उपस्थित हो जाता है और इससे समस्याओं के समाधान में सहूलियत होती है।

(ख) क्षेत्रीय आधार पर गठित संगठन में समय की बचत होती है और कर्मचारियों में कार्यकुशलता आती है। विभाग का मुख्यालय उसी क्षेत्र में होता है फलतः आदेश देने और उसका पालन करवाने में सुविधा होती है।

(ग) व्यापक ओर विस्त त आधारवाले मन्त्रालयों के लिए तो यह वरदान होता है क्योंकि क्षेत्रों के आधार पर विकेन्द्रीकरण करके प्रशासन को चुस्त-दुरुस्त बनाया जा सकता है, जैसे—रेल विभाग का संगठन।

(घ) अविकसित तथा अल्पविकसित प्रदेशों और क्षेत्रों के विकास के लिए ऐसे संगठन काफी लाभप्रद होते हैं क्योंकि अन्य आधारों पर संगठन स्थापित किए जाने से उस क्षेत्र कर महत्त्व गौण हो जाता है।

(ङ) इस प्रकार के संगठनों का सम्बन्ध किसी विशेष क्षेत्र में होने के कारण योजनाओं के निर्माण और योजनाओं के कार्यान्वयन दोनों में ही सुविधा होती है, क्योंकि समतल क्षेत्र में सड़क बनानेवाली योजना से हम पहाड़ी क्षेत्र और मरुभूमि वाले प्रदेश के सड़कों का निर्माण नहीं कर सकते। अतः यह लाभप्रद है।

क्षेत्र के आधार के विपक्ष तर्क :

(क) क्षेत्रीय आधार पर गठित विभाग क्षेत्रीयता (Regionalism) जैसी संकीर्णता की भावना को जन्म देते हैं, जो राष्ट्रीय एकता के लिए घातक है।

(ख) क्षेत्रीय आधार पर गठित विभाग राष्ट्रीय नीतियों से मेल नहीं खाते हैं क्योंकि इनके लिए अलग से नीति-निर्माण और योजना-निर्माण किया जाता है।

(ग) हर क्षेत्र में कुछ प्रभावी गुट (Pressure Groups) होते हैं जो क्षेत्रीय संगठनों पर आसानी से हावी होकर अपने प्रभाव का दुरुपयोग करने लगते हैं।

(घ) इस प्रकार से गठित विभागों में विशेषीकरण नहीं हो पाता कयोंकि इसके अन्तर्गत काम करनेवाले प्रशासकीय अधिकारी व कर्मचारी क्षेत्र से जुड़ी तमाम समस्याओं का निष्पादन करते हैं।

(ङ) क्षेत्रीय आधार पर विभागों के गठन से प्रशासन में अकुशलता आती है, क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों की अपनी अलग-अलग समस्याएँ होती हैं और स्थानीयता की भावना से ज्यादा ग्रसित रहती हैं जो प्रभावी गुट के बहकावे में आकर अनुचित माँगों को भी मनवाने का प्रयास करती हैं। अतः यह प्रव त्ति सेवि वर्ग तथा सेवित वर्ग दोनों के लिए घातक है।

	प्रयोजन	प्रक्रिया	सेवित वर्ग या व्यक्ति	क्षेत्र या स्थान
1.	शिक्षा विभाग	1. विधि विभाग	1. राहत एवं पुनर्वास विभाग	1. रेलवे विभाग के क्षेत्रीय आधार पर गठित संगठन
2.	प्रतिरक्षा	2. वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग	2. अनुसूचित जाति एवं जनजाति कल्याण विभाग	2. डाक-तार विभाग के क्षेत्रीय आधार पर गठित संगठन
3.	स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण विभाग	3. विज्ञान एवं तकनीकी विभाग	3. अल्पसंख्यक विभाग	3. विदेश विभाग के क्षेत्रों के आधार पर गठित उपविभाग
4.	पर्यावरण विभाग	4. इस्पात एवं खान विभाग आवास निर्माण विभाग	4. युवा-कल्याण विभाग इत्यादि	4. गोरखा हिल डेवलपमेण्ट कौंसिल
5.	रेलवे विभाग	5. इत्यादि		5. दामोदर वैली कारपोरेशन (D.V.C.)
6.	संचार विभाग			6. दण्डकारण्य योजना इत्यादि।
7.	विदेश विभाग इत्यादि			

मूल्यांकन—उपर्युक्त चारों आधारों के पक्ष और विपक्ष में तर्क दिए गए हैं। सभी में कुछ-न-कुछ गुण अवश्य हैं, और अवगुण भी सभी में मौजूद हैं। इनमें कोई भी आधार ऐसा प्रतीत नहीं होता जिसे गुणों के आधार पर सभी संगठनों के लिए पूर्णरूप से अपना लिया जाय, अथवा अवगुणों के आधार पर सभी प्रकार के संगठनों के लिए अनुपयुक्त मान लिया जाय। आमतौर पर देखा जाता है कि कोई भी संगठन इनमें से सिर्फ एक आधार पर ही आश्रित नहीं रहता है बल्कि एक से अधिक आधारों को अपनाता है। **हेमन थियो** (Haimann Theo) ने अपनी पुस्तक *Professional Management* में कहा है कि "क्योंकि विभागीय संगठन के प्रत्येक आधार के कुछ गुण-दोष हैं इसलिए प्रबन्धक को एक प्रकार के संगठन के गुण से दूसरे प्रकार के संगठन के अवगुण को सन्तुलित कर देना चाहिए। इसलिए व्यवहार में अधिकांश संगठन मिश्रित आधारों पर गठित होते हैं।"

किसी एक आधार पर अगर विभागीय संगठन का निर्माण किया जाता है तो अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे—प्रयोजन के आधार पर स्वास्थ्य-विभाग का गठन किया जाता है। जन-स्वास्थ्य पर नियन्त्रण के लिए यह सफाई कराता है, डी.डी. टी. का छिड़काव कराता है, स्वच्छ जल की व्यवस्था कराता है, टीकाकरण तथा विभिन्न रोगों से बचाव के लिए सुइयाँ और दवाइयाँ देता है। लेकिन इन कार्यों का संचालन तभी सफल होगा जब उस क्षेत्र की जनता शिक्षित और जागरूक हो। अगर उस क्षेत्र के स्कूल में स्वास्थ्य-शिक्षा को प्रोत्साहन नहीं मिलता है तो स्वास्थ्य विभाग की योजनाएँ असफल हो जाती हैं। दूसरी तरह वहाँ क्षेत्र और पिछड़े वर्ग के व्यक्ति के नाते भी अगर संगठन का निर्माण किया जाता है तो पुनः वे भी उन कार्यों में हस्तक्षेप करेंगे और समन्वय मुश्किल हो जाएगा। प्रभावी गुट हावी होकर इसमें और अधिक अव्यवस्था फैलाएँगे। अतः किसी एक आधार को ही अपनाना सम्भव नहीं है।

संयुक्त राज्य अमेरिका की काँग्रेस की एक समिति को परामर्श देते हुए वहाँ के ब्रुकिंग इन्स्टीट्यूट (Brooking Institute) ने कहा था—"किसी भी एक तत्त्व को संगठन का निर्णायक आधार नहीं माना जा सकता। एक तत्त्व से निर्णय करने में हम एक स्थान पर सहायता ले सकते हैं और दूसरे तत्त्व से दूसरे स्थान पर। हर स्थिति में हमें एक तत्त्व को प्रधान तत्व के रूप में चुन लेना चाहिए। हमें उन विकल्पों की भी व्यवस्था करनी चाहिए जब संगठन के चारों तत्त्व किसी संगठन की स्थापना में अनुपयुक्त साबित हों।"

अनेक संगठन ऐसे हैं जिनकी मूल स्थापना किसी एक आधार पर ही होती है परन्तु उसके विस्तार में दूसरे आधार और कभी-कभी तीसरे आधार को अपना लिया जाता है। उदाहरण के लिए, प्रयोजन के आधार पर रेलवे विभाग का गठन किया गया है। लेकिन इसके विस्तार में क्षेत्रीय आधार को अपनाया गया है, जैसे—पूर्व रेलवे, पश्चिम रेलवे, उत्तर-पूर्व रेलवे इत्यादि। इसी विभाग में सेवित वर्ग को आधार मानकर अनुसूचित जाति और जनजातियों की नियुक्ति और प्रशिक्षण के लिए विशेष योजना के तहत अलग से एक उपविभाग का गठन किया गया है, अर्थात् आवश्यकता के अनुरूप तीनों आधारों को अपनाया गया है। अन्ततः, यह कहा जा सकता है कि **"एक विभाग की स्थापना में कार्य की प्रकृति, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार ऐसे मिश्रित गुणों को अपनाना चाहिए जिनके तत्त्व एक से अधिक आधारों में उपस्थित हों।"**

अध्याय-7
औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन

संगठनों का मानव जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है। ऐसा इसलिए है कि मानव अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वतः (अकेले) नहीं कर सकता; बहुत-सी जरूरतों को पूरा करने के लिए उसे अन्य लोगों पर निर्भर होना पड़ता है और इसी कारण मनुष्य अनेकों संगठनों का सदस्य बनता है और आवश्यकता पड़ने पर नए संगठन भी बनाता है। वास्तव में मनुष्य जन्म से म त्यु तक अनेकों संगठनों से जुड़ा रहता है। सर्वप्रथम, मनुष्य 'परिवार' नामक सामाजिक संगठन के सम्पर्क में आता है, जो संगठन का सरलतम रूप है। तत्पश्चात् मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप अनेकों छोटे-बड़े, सरल-जटिल, सामाजिक, प्रशासनिक संगठनों के सम्पर्क में आता है। सामान्यतः संगठनों को हम दो प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं—औपचारिक संगठन तथा अनौपचारिक संगठन। औपचारिक संगठन परम्परावादी अथवा मन्गवादी द ष्टिकोण का प्रतीक है जबकि अनौपचारिक संगठन मानवतावादी अथवा सामाजिक-मनोवैज्ञानिक द ष्टिकोण का।

औपचारिक संगठन

औपचारिक संगठन वह है जो व्यवस्थित ढंग से नियोजित तथा रूपांकित किया गया हो और जिसे प्राधिकारी सत्ता द्वारा मान्यता दी गई हो। यह वह संगठन है जिसका विवरण संगठन-चार्ट और नियमावली में दिया रहता है तथा जो पर्यवेक्षक के बाहर से दिखाई देता है। इस प्रकार के संगठन में पहले से ही निश्चित सिद्धान्तों और उपलब्ध मानव तत्त्व के आधार पर योजना बना ली जाती है तथा उसके बारे में नियम निरूपित हो जाते हैं जिनमें सुगमता से परिवर्तन नहीं होते। संगठन के विभिन्न सदस्यों के व्यवहार में समन्वय स्थापित किया जाता है और यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि एक सदस्य को क्या करना है तथा उसकी शक्तियाँ क्या-क्या हैं।

औपचारिक संगठन में कार्यों का विभाजन करने तथा सत्ता में सम्बन्ध स्थापित करने के अतिरिक्त प्रक्रिया एवं संचार की रूपरेखा भी स्थापित की जाती है। इसके नियमों द्वारा यह स्पष्ट रूप से बता दिया जाता है कि कौन किसे नियुक्त करेगा, कौन किसे निर्देश देगा कौन किस कार्य के लिए किसके प्रति उत्तरदायी होगा, कौन-सा निर्णय लेने की शक्ति किस प्राधिकारी की होगी इत्यादि। औपचारिक संगठन यह मान कर चलता है कि इन नियमों के आधार पर संगठन की प्रक ति को किसी भी समय तथा किसी भी सन्दर्भ में समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक के संगठनात्मक ढाँचे (औपचारिक) को निम्न सरलतम रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं :-

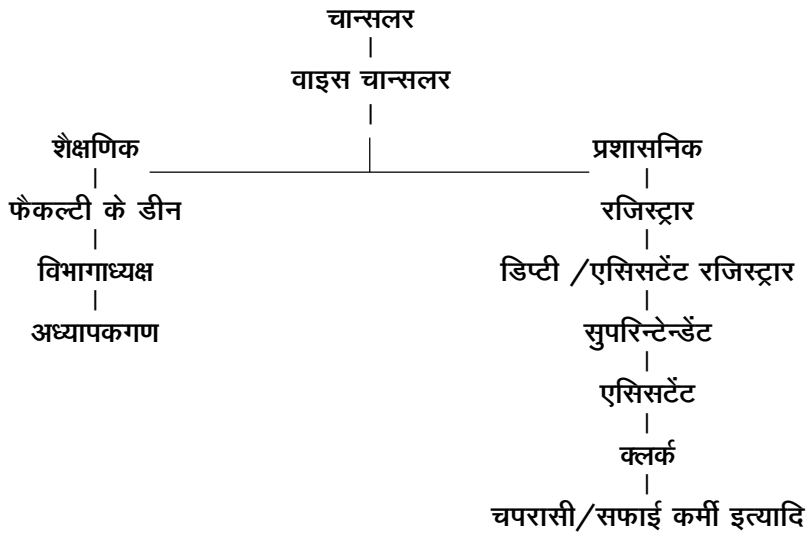

औपचारिक संगठन की परिभाषा

औपचारिक संगठन को परिभाषित करते हुए **लुई एलन** लिखते हैं-"यह वह संगठन है जिसमें हर व्यक्ति के लिए निश्चित कार्यों की ऐसी व्यवस्था होती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार, कार्य तथा जवाबदेयता स्पष्ट होती है। यह सारी व्यवस्था ऐसी होती है कि इसमें कार्यरत सभी व्यक्ति अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सभी से प्रभावी ढंग से मिलकर कार्य करते हैं।"

हरबर्ट साइमन के अनुसार—"औपचारिक संगठन में अमूर्त तथा बहुत कुछ स्थायी नियमों का समावेश होता है जो प्रत्येक सदस्य के व्यवहार को प्रभावित करता है।"

रोथलिसबर्जर एवं डिकसन के शब्दों में—"औपचारिक संगठन से आशय मानवीय अन्तरसम्बन्धों के उस ढंग से है जिसकी व्याख्या प्रणालियों, नियमों, नीतियों तथा अर्थव्यवस्था के सम्बन्धों द्वारा की जाती है।"

औपचारिक संगठन की विशेषताएँ

औपचारिक संगठनों की विशेषताओं को इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

(1) कानूनी स्तर

औपचारिक संगठनों की प्रमुख विशेषता यह है कि इन्हें कानूनी मान्यता प्राप्त होती है। विधायिका द्वारा पारित अधिनियमों तथा सरकार द्वारा बनाए गए कानूनों के अन्तर्गत सरकारी संगठनों का निर्माण होता है। भारतीय रेलवे, राजस्थान राज्य पथ परिवहन निगम, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान तथा भारतीय लोक प्रशासन संस्थान इत्यादि औपचारिक संगठन किसी-न-किसी कानून के अन्तर्गत निर्मित किए गए हैं। स्पष्ट है जो कानून संगठन बनाने की अनुमति देता है वह संगठन को कुछ अधिकार भी प्रदान करता है। औपचारिक संगठनों में कार्यरत कार्मिक को अपने कार्य निष्पादन हेतु कानूनी अधिकार प्राप्त होते हैं। सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है।

(2) कार्य का विभाजन

प्रत्येक संगठन, किसी-न-किसी लक्ष्य या उद्देश्य की प्राप्ति हेतु निर्मित किया जाता है। उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कुछ कार्य निर्धारित किए जाते हैं और औपचारिक संगठनों की यह विशेषता है कि संगठन में कार्यरत प्रत्येक कार्मिक को उसकी योग्यता या पद के अनुसार कार्य दिया जाता है। कार्य को पदसोपानात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक स्तर पर प्रत्येक कार्मिक तक स्पष्टतः विभाजित एवं वितरित किया जाता है। सभी कार्मिक मिलजुल कर कार्य निष्पादित करते हैं, किन्तु सम्बन्ध अव्यक्तिगत ही बने रहते हैं। इस सम्बन्ध में **एल. डी. व्हाईट** कहते हैं—"संगठन, कर्मचारियों की ऐसी व्यवस्था है जिसमें ठोस उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सबको अलग-अलग कार्य एवं दायित्व सौंपे जाते हैं।"

(3) ढाँचे की प्रधानता

औपचारिक संगठनों में डिजाइन तथा ढाँचे की प्रधानता मिलती है। **उरविक** के अनुसार ढाँचे का अभाव असंगति, क्रूरता, बर्बादी तथा अकर्मण्यता का प्रतीक है। अतः औपचारिक संगठनों में स्पष्ट ढाँचे के अर्न्तगत, कार्यरत सभी व्यक्तियों की प्रस्थिति तथा भूमिका निश्चित रहती है तथा इसमें सूचनाओं के आदान-प्रदान की व्यवस्था तथा सदस्यों के मध्य सम्बन्धों का पता चल जाता है। इसके ढाँचे को सूचीबद्ध किया जा सकता है।

(4) स्थायित्व

यह औपचारिक संगठनों की प्रमुख विशेषता है। औपचारिक संगठन प्रायः अधिक स्थायी होते हैं। यद्यपि परिस्थितियों के अनुसार यह संगठन अपना ढाँचा तथा उद्देश्य बदल भी लेते हैं, किन्तु सामान्यतः इनका निर्माण या गठन दीर्घावधि के लिए किया जाता है। औपचारिक संगठन स्थायित्व के साथ-साथ समयानुसार विकसित भी होते जाते हैं। इनका आकार भी प्रायः बड़ा तथा बहुआयामी कार्यक्षेत्र होता है।

(5) नियम एवं व्यवस्थाएँ

सुस्पष्ट एवं सुविचारित नियमों, प्रक्रियाओं तथा व्यवस्थाओं के अनुसार कार्य करना औपचारिक संगठन की पहचान है। इस प्रकार के संगठनों में कार्यरत व्यक्ति (कार्मिक) अपनी पसंद या नापसंद के अनुसार कार्य नहीं करते हैं बल्कि निर्धारित ढाँचे,

नियमों तथा व्यवस्थाओं में आबद्ध होकर कार्य निष्पादित करते हैं। इन संगठनों के नियमों तथा व्यवस्थाओं को स्पष्टतः वर्णित भी किया जा सकता है।

(6) चेतनापूर्वक निर्माण एवं स्वीक ति

औपचारिक संगठनों का निर्माण प्रायः जानबूझकर, चेतनापूर्वक तथा सोच-समझ कर किया जाता है। इस प्रकार के संगठनों को सम्बन्धित प्राधिकारी से मान्यता या स्वीक ति प्राप्त होती है। यद्यपि इस प्रकार के संगठनों का निर्माण सोच-समझ कर किया जाता है, किन्तु इन संगठनों में भावनात्मक पक्ष पर ध्यान नहीं दिया जाता है बल्कि कार्य तथा अव्यक्तिगत स्थिति प्रमुख रहती है।

चेस्टर बर्नार्ड के अनुसार, किसी भी संगठन की विद्यमानता के लिए तीन पूर्व शर्तें हैं। प्रथमतः किसी सामान्य उद्देश्य के लिए व्यक्ति कार्य करें; दूसरा, व्यक्ति सहयोग या योगदान के इच्छुक हों तथा तीसरा उनके मध्य संचार हो।

औपचारिक संगठन प्रायः सरकार द्वारा निर्मित होते हैं। इस क्रम में **एफ.एम. मार्क्स** कहते हैं—"संगठन, एक ऐसा ढाँचा है जिसका विकास सरकार के प्रमुख और उसके प्रशासनिक सहायकों को सौंपे गए कार्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है।" औपचारिक संगठनों का एक निश्चित स्वरूप होता है तथा निर्णय लेने के विभिन्न स्पष्ट स्तर होते हैं।

किसी बड़े संगठनों के अधीन कई छोटे संगठन भी हो सकते हैं। इन्हें छाता संगठन (Umbrella Organization) कहा जाता है। संयुक्त राष्ट्र एक छाता संगठन है जिसके अधीन WHO, UNICEF, ILO, UNESCO इत्यादि छोटे संगठन कार्यरत हैं।

लाभ (Advantages)

औपचारिक संगठनों के लाभ या गुण इस प्रकार हैं—

(1) इनके माध्यम से दूरगामी, जटिल तथा बहुआयामी लक्ष्य सरलता से प्राप्त किए जा सकते हैं।

(2) प्रत्येक कार्मिक के अधिकार, दायित्व तथा सीमाएँ निश्चित होने से समन्वय प्रक्रिया सरल बन जाती है।

(3) अव्यक्तिगत तथा तटस्थ सम्बन्ध पक्षपात और द्वेष को समाप्त कर देते हैं।

(4) संगठन के कार्यों की गति प्रायः तेज रहती है क्योंकि सत्ता के स्तर, निर्णय के स्तर तथा दायित्वों का निर्धारण स्पष्ट रहता है।

(5) किसी भी कार्य में रुकावट आने या असफल रहने पर सरलता से जवाबदेयता निश्चित की जा सकती है।

(6) मशीन, मनुष्य, सामग्री, वित्त तथा तकनीक सहित अन्य सभी संसाधनों का समुचित उपयोग सुनिश्चित किया जा सकता है।

(7) संगठनात्मक कुशलता, प्रभावशीलता तथा उपादेयता का स्तर उच्च बना रहता है।

(8) कानूनी आधार, स्पष्ट कार्य तथा स्थायित्व के कारण प्रायः निश्चितता बनी रहती है।

(9) औपचारिक नियमों तथा व्यवस्थाओं में विशिष्टता या विशेषज्ञता को महत्त्व दिया जात है जो तर्कसंगत आधार पर निर्धारित की जाती है।

हानियाँ (Disadvantages)

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है औपचारिक संगठन में 'औपचारिकताएँ' अधिक रहती हैं, जिसके कारण संगठन में निम्नांकित हानियाँ या दोष दिखाई देते हैं—

(1) औपचारिक संगठन में मानवीय महत्त्व को भुला दिया जाता है अथवा मानव को निर्जीव संरचना का ही एक भाग मान कर चलते हैं। इसके कारण इन संगठनों में मानवीय संवेदनाएँ दम तोड़ देती हैं।

(2) इन संगठनों में मशीनी स्वभाव अपनाने के कारण पहल क्षमता, प्रेरणाओं तथा नवाचारों का दम घुटता है।

(3) ऐसे संगठनों में नौकरशाही के दोष पनपते हैं जिनमें लालफीताशाही, पद-अहंकार तथा कानूनी अड़ंगेबाजी प्रमुख हैं।

(4) औपचारिक संरचना तथा नियम-व्यवस्था, शीघ्र एवं अनौपचारिक संचार प्रणाली में बाधा उत्पन्न करती है।

(5) निर्धारित नियम, अधिकार, दायित्व तथा कार्य की व्यवस्था के कारण बहुधा विवादास्पद स्थितियों में कोई भी कार्मिक झुकने को तैयार नहीं होता है, अतः संघर्ष बढ़ता है।

(6) बहुधा अधिकार तथा सत्ता का व्यक्तिगत हितों एवं सम्बन्धों के आधार पर दुरुपयोग भी किया जाता है।

(7) इन संगठनों के कार्मिक नियम, व्यवस्था तथा प्रक्रिया के इतने आदी हो जाते हैं कि वे मानवीय संवेदनाओं, भावनाओं तथा तात्कालिक समस्याओं के समाधान के प्रयासों को भूल जाते हैं।

(8) औपचारिक संगठनों में प्रायः द ढ़ता, जड़ता तथा कठोरता का समावेश हो जाता है जो परिवर्तन के प्रति विशिष्ट प्रतिरोध करता है।

(9) विशेषज्ञता या विशिष्टता के कारण कार्मिकों का द ष्टिकोण संकुचित हो जाता है।

(10) इन संगठनों में उच्च, मध्य तथा निम्नस्तरीय कार्मिकों के सम्बन्ध तनावपूर्ण तथा असहयोगी बने रहते हैं।

अनौपचारिक संगठन (Informal Organization)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः वह प्रशासनिक समुदाय में रहते हुए अथवा किसी औपचारिक संगठन में कार्य करते हुए अपनी इच्छा, शौक एवं हितों के अनुरूप कुछ छोटे, अस्थायी तथा संतुष्टिदायक संगठन बना लेता है। अनौपचारिक संगठनों के नाम से विख्यात इन संगठनों को प्रायः औपचारिक संगठन की **परछाई** (Shadow) **या प्रतिबिम्ब** भी कहा जाता है क्योंकि औपचारिक संगठन में उसी प्रकार के अनौपचारिक संगठन अवश्य पाए जाते हैं जिस प्रकार का औपचारिक संगठन होता है। अनौपचारिक संगठनों की कोई कानूनी मान्यता नहीं होती है लेकिन यह संगठन औपचारिक संगठन के पूरक माने जाते हैं। **चेस्टर बर्नार्ड** के अनुसार, अनौपचारिक संगठन व्यक्तिगत सम्पर्कों, परस्पर क्रियाओं तथा लोगों के सामूहिक संघों का समूह होता है। इन संगठनों में व्यक्तिगत तथा मानवीय भावनाएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं।

किसी भी औपचारिक संगठन में कार्यरत व्यक्ति अपनी अपनी रुचियों, इच्छाओं, समस्याओं, जिज्ञासाओं तथा भावनाओं के अनुरूप एक समूह बना लेते हैं, जैसे—दोपहर में एक स्थान पर बैठकर खाना खाने वाले कार्मिक, सायंकाल एक स्थान पर खेलने वाले कार्मिक, एक ही बस में या ट्रेन में यात्रा करने वाले साथी, एक ही कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थी, एक जैसी कला, कौशल या गुणों से युक्त व्यक्ति या एक ही कक्ष में बैठने वाले कर्मचारी अपना एक अनौपचारिक संगठन निर्मित कर लेते हैं जो उनकी सामूहिक भावनाओं तथा परस्पर सम्बन्धों का पर्याय होता है। स्पष्ट है इस प्रकार के अनौपचारिक संगठन किसी ढाँचे, कानून या नियम पर आधारित नहीं होते हैं बल्कि परिस्थितिवश बने मानव-सम्बन्धों पर आधारित होते हैं।

अनौपचारिक संगठन को परिभाषित करते हुए **कीथ डेविस** कहते हैं—"यह व्यक्तिगत एवं सामाजिक सम्बन्धों का ऐसा जाल है जिसे स्थापित करने के लिए किसी औपचारिक संगठन की आवश्यकता नहीं पड़ती है।"

जोसेफ एल.मैसी के शब्दों में—"अनौपचारिक संगठन मानवीय अन्तर क्रियाओं का वह समूह है जो लम्बे समय तक साथ रहने के कारण स्वाभाविक रूप में उत्पन्न हो जाता है।"

अर्ल पी. स्ट्रांग के अनुसार—"अनौपचारिक संगठन वह सामाजिक ढाँचा है जिसका निर्माण व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है।"

अनौपचारिक संगठन का निर्माण क्यों? (Why to Form Informal Organization ?)

अब प्रश्न यह उठता है कि किसी भी औपचारिक संगठन में रहते हुए कार्मिकों को अनौपचारिक संगठन के निर्माण की आवश्यकता क्यों अनुभव होती है? इसके कतिपय प्रमुख कारण यह हैं—

(1) **हिक्स एवं गुलेट** ने अनौपचारिक संगठनों के निर्माण के सम्बन्ध में व्यापक शोध करके यह पता लगाया है कि व्यक्ति अपनी सामाजिक आवयश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु अनौपचारिक संगठनों का निर्माण करते हैं। रिश्ते-नाते, अपनातत्त्व, स्नेह, मधुरता तथा साहचर्य की आवश्यकता सभी को होती है, अतः अकेलेपन से बचने एवं आत्मसंतुष्टि हेतु अनौपचारिक संगठन बना लिए जाते हैं।

(2) **चेस्टर बर्नार्ड** के अनुसार व्यक्ति को सामाजिक सम्बन्धों में व्यक्तिगत सुख मिलता है। इसे एकता, सामाजिक अखण्डता या सामाजिक सुरक्षा कहते हैं। अनौपचारिक संगठन में व्यक्ति अपनी प्रकट एवं छुपी हुई दोनों ही प्रकार की क्षमताओं को अधिक सामने लाता है।

(3) औपचारिक संगठन में कार्य करते हुए सभी व्यक्ति तनाव, निराशा तथा थकान के शिकार हो जाते हैं अतः अनौपचारिक संगठन के माध्यम से व्यक्ति खुशी, आशा, स्फूर्ति, दया तथा अपनत्व चाहते हैं। यही वह जगह है जहाँ व्यक्ति अपनी कुंठा तथा आक्रोश को खुलकर व्यक्त करता है तथा सहयोगियों से सहानुभूति एवं सहायता पाता है। वस्तुतः आराम, सुख तथा मनोरंजन के दो पल इन्हीं संगठनों में मिलते है।

(4) प्रायः अनौपचारिक संगठनों के माध्यम से कार्मिक या व्यक्ति को अपने औपचारिक संगठन के दायित्वों या कार्यों में भी सहायता मिलती है। जैसे विद्यार्थी अपने मित्र मंडली से नोट्स लेते हैं या कर्मचारी अपने समूह के सदस्यों से तकनीकी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं।

(5) अनौपचारिक संगठनों में व्यक्ति को अपनी रचनात्मक प्रतिभा या कला-कौशल की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। यह संगठन प्रतिभाओं का गला नहीं घोंटते बल्कि बढ़ावा ही देते हैं।

(6) प्रत्येक संगठन के अपने कुछ मूल्य तथा आदर्श होते हैं जिनकी रक्षा करना सदस्यों को अच्छा लगता है। औपचारिक संगठन में मूल्यों एवं आदर्शों की रक्षा कर पाना कई बार सम्भव ही नहीं होता है, अतः व्यक्ति अनौपचारिक संगठन की शरण लेता है।

(7) जिज्ञासा, प्रत्येक मनुष्य की स्वाभाविक मनोव त्ति है। प्रत्येक सदस्य यह जानना चाहता है कि उसके औपचारिक संगठन में क्या कुछ घटित हो रहा है या भविष्य में होने वाला है। अनौपचारिक संगठन के माध्यम से इस प्रकार की सूचनाएँ सहजता से तथा विश्वसनीय ढंग से सदस्यों को प्राप्त हो जाती हैं।

(8) वर्तमान भागम-भाग तथा आपा-धापी के भौतिक युग में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को असुरक्षित महसूस करता है, अतः अनोपचारिक संगठनों के माध्यम से वह सुरक्षा एवं समर्थन पाता है।

विशेषताएँ (Characteristics)

अनौपचारिक संगठनों के लक्षण तथा विशेषताएँ, औपचारिक संगठन से भिन्न होती हैं, जैसे–

(1) स्वतः निर्माण

अनौपचारिक संगठनों का निर्माण स्वतः हो जाता है अर्थात् इन संगठनों के सदस्य आपस में मिलते-जुलते एक समूह बना लेते हैं। औपचारिक संगठन की भाँति चेतनापूर्वक तथा विधिवत् प्रयास नहीं किया जाता है। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि कुछ व्यक्तियों के मन में समूह बनाने की इच्छा रही हो, किन्तु निर्माण का तरीका औपचारिक संगठन से भिन्न होता है। इसका निर्माण मानवीय, सांस्क तिक, सामाजिक तथा कल्याणकारी आधारों पर होता है तथा प्रायः अस्थायी प्रक ति रहती है।

(2) समान मान्यताएँ

अनौपचारिक संगठनों की मान्यताएँ समाजवादी प्रक ति की होती हैं। इन संगठनों के सदस्यों के सोचने-समझने का तरीका एक-सा रहता है। लगातार सम्पर्क तथा परस्पर सम्बन्धों के कारण समानता आ जाती है। इन संगठनों की मान्यताएँ सभी सदस्य सहजता में स्वीकारते हैं, अतः उसका प्रसार होता रहता है।

(3) अनौपचरिक नियम

अनौपचारिक संगठनों का कोई कानूनी आधार नहीं होता है और न ही औपचारिक संगठनों की भाँति नियम, प्रक्रिया एवं व्यवस्था निश्चित की जाती है फिर भी प्रत्येक अनौपचारिक संगठन की अपनी एक मान्यता तथा कार्यप्रणाली होती है। यदि कोई सदस्य उसका उल्लंघन करता है तो उसे अन्य साथियों का सामाजिक एवं नैतिक दबाव सहना पड़ता है। आवश्यकतानुसार नियम बदल लिए जाते हैं। किसी प्रकार का ढाँचा या संरचना नहीं होती है।

(4) नेत त्व की विशिष्ट शैली

इन संगठनों के सदस्य अपने समूह के नेता को पर्याप्त सम्मान देते हैं क्योंकि वह (नेता) परिस्थिति की देन होता है तथा परिस्थिति के अनुसार ही नेत त्व एवं उसकी अवधि निर्धारित होती है। इन संगठनों के सदस्य अपने नेता में उसके गुणों एवं विश्वास के कारण आस्था रखते हैं जबकि औपचारिक संगठन के सदस्य अपने नेता का सम्मान उसके पद तथा अधिकारों के कारण करते हैं।

(5) सामूहिकता

अनौपचारिक संगठनों में सहकारिता, एकता सामूहिकता का नियम पाया जाता है। इन संगठनों में अनावश्यक कानूनी उलझनें नहीं बल्कि समयानुसार एवं आवश्यकतानुसार विधियाँ, आदर्श तथा मापदण्ड निर्धारित किए जाते हैं। पदसोपान तथा अधिकार-दायित्व की व्यवस्था नहीं होती है बल्कि सभी सदस्य मिलकर कार्य सम्पादित करते हैं।

अनौपचारिक संगठन, प्रबंध के प्रत्येक स्तर पर पाए जाते हैं अतः सम्पूर्ण औपचारिक संगठन का क्षेत्रीय भाग भी कह दिया जाता है। लिंग, भाषा, धर्म, जाति, शिक्षा, आयु, सम्प्रदाय, बोली, नस्ल, निवास स्थान तथा रुचियों के अतिरिक्त प्रायः औपचारिक संगठन में पद स्थिति के आधार पर भी अनौपचारिक संगठन बनते हैं।

लाभ (Advantages)

औपचारिक संगठनों में व्याप्त दोषों की पूर्ति, पूरी तरह तो यह संगठन नहीं कर पाते हैं लेकिन पूरक के रूप में कुछ लाभ अवश्य पहुँचाते हैं, जैसे–

(1) अनौपचारिक संगठन मनोरंजन, विचार-विमर्श तथा तनावमुक्ति के साधन हैं।

(2) कार्मिकों की सुरक्षा, अपनत्व, संतुष्टि, प्रेम तथा साहचर्य की स्वाभाविक मानवीय आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं।

(3) अनौपचारिक विधि से संचार कार्य हो जाता है।

(4) औपचारिक संगठन में कार्य के दौरान हुए विवादों तथा संघर्षों का समाधान आपसी सामंजस्य से हो जाता है।

(5) औपचारिक संगठन के कार्य में सहायता मिलती है क्योंकि सदस्य परस्पर चर्चा करके अनुभवी सहकर्मी के विचारों से अनौपचारिक लाभ उठा लेते हैं।

(6) स्वाभाविक रूप में इन संगठनों में सहयोग, समन्वय तथा त्याग की भावना व्याप्त रहती है, अतः कार्मिकों का 'संगठनात्मक समाजीकरण' होता है।

(7) यह संगठन सांस्क तिक मूल्यों, आदर्शों, परम्पराओं तथा विरासत की रक्षा करते हैं।

(8) औपचारिक संगठन में कार्यरत कठोरता, जटिलता तथा नियमबद्धता में आपसी सम्बन्धों के माध्यम से सहजता लाते हैं।

(9) औपचारिक संगठन में कार्यरत कार्मिक को संकट या आपातकालीन स्थिति में सम्बल प्रदान करते हैं।

हानियाँ (Disadvantages)

अनौपचारिक संगठन भी बहुत-सी कमियों या दोषों से ग्रस्त हैं। इन संगठनों में कुछ हानियाँ इस प्रकार हैं–

(1) अनौपचारिक संगठनों में सूचना का आदान-प्रदान बहुत शीघ्रता से होता है। यह प्रक्रिया रचनात्मक होते हुए भी कभी-कभी गलत, अधूरी या भ्रामक सूचनाओं के आधार पर अफवाहों को जन्म देती है जो औपचारिक संगठन के लिए घातक भी हो सकती है।

(2) अनौपचारिक संगठन किन्हीं मूल्यों तथा मान्यताओं के प्रसार हेतु गठिन किये जाते हैं। बहुधा से संगठन सुधारात्मक प्रक्रियाओं या परिवर्तन का विराध कर औपचारिक संगठन में जड़ता को बढ़ावा देते हैं।

(3) इन संगठनों में सदस्यों के व्यवहार के क्रम में कुछ प्रतिमान या नियम थोपे जाते हैं जिन्हें कुछ सदस्य दबावपूर्वक सहन करते हैं।

(4) यह संगठन अस्थायी तथा अल्पायु होते हैं, अतः कुछ अनौपचारिक संगठन अच्छे प्रभावी होते हुए भी पूर्ण योगदान नहीं दे पाते हैं।

(5) कई बार किसी विषय पर औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठनों में मतभेद हो जाने पर अनावश्यक रूप से कार्मिकों के मध्य मनमुटाव बढ़ जाता है।

(6) भारत में जाति, भाषा, लिंग, आयु, रुचियों तथा दुराग्रह के आधार पर बने कुछ अनौपचारिक संगठन कई बार विनाशकारी भी सिद्ध हुए हैं।

(7) अनौपचारिक संगठन कई बार अपने सदस्यों को कुछ विशिष्ट निर्देश या दबाव देते हैं। जैसे श्रमिकों को उत्पादन में गिरावट लाने को कहना। टेलर ने इसे व्यवस्थागत बंधन का नाम दिया है। स्पष्ट है इस प्रकार के दबाव के हित में नहीं होते हैं।

औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों में अन्तर

अन्तरों का उल्लेख करते हुए एल.डी. ह्वाइट ने कहा है कि अनौपचारिक संगठन अधिक उग्र होता है तथा सामाजिक एवं आर्थिक अन्तर, जाति या भाषा का अन्तर, शिक्षा का स्तर, वैयक्तिक रुचियाँ एवं अरुचियाँ उस संगठन का प्रभाव डालती हैं और एक प्रकार से वह इन सबका प्रतिबिम्ब होता है। यह रिवाजों पर आधारित होता है, यह न तो लिखित होता है, न निर्मित और न ही इसमें स्वच्छ रेखाचित्रों की आवश्यकता होती हैं औपचारिक संगठन विवेकशील तथा अवैयक्तिक बनना चाहता है जबकि अनौपचारिक संगठन भावना-प्रधान एवम् व्यक्तिगत बनना चाहता है। दोनों एक दूसरे को प्रायः समेट लेते हैं व एक दूसरे से संयुक्त भी हो सकते हैं और दूर-दूर भी। मेंसफील्ड तथा मार्क्स का विचार है कि औपचारिक संगठन एक नियोजित संगठन होता है जबकि अनौपचारिक संगठन एक प्राक तिक विकास है। औपचारिक संगठनों के बीच मुख्य अन्तर सत्ता एवं प्रभाव का होता है। सत्ता का अर्थ दूसरों के व्यवहार को संचालित करने के लिए आज्ञा देने की वैधानिक शक्ति से है और प्रभाव का अर्थ मनुष्य की उस सामर्थ्य से है जिसके अनुसार संगठन के दूसरे व्यक्ति भी चीजों को उसी रूप में देखने लगते हैं तथा उसी के अनुसार वे कार्य करते और करना चाहते हैं।

साइमन का विचार है कि अनौपचारिक संगठन से तात्पर्य उस संगठन से है जिसमें अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध पाए जाते हैं तथा वे इसके निर्णयों को प्रभावित करते हैं। ये सम्बन्ध संगठन की औपचारिक योजना के बाहर हैं और उस योजना से मेल नहीं खाते। प्रत्येक संगठन के नए सदस्यों को अपने साथियों के साथ उनके व्यावहारिक संगठन के सदस्य बनने के पूर्व ही साइमन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि कोई भी औपचारिक संगठन उस समय तक प्रभावशाली रूप से कार्य नहीं कर सकता जब तक कि उसे एक अनौपचारिक संगठन का सहयोग प्राप्त न हो। कारण यह है कि औपचारिक संगठन उन सभी बातों का विस्तार से वर्णन नहीं कर सकता जो अनौपचारिक रूप से करनी होती हैं। फिर भी यदि अनौपचारिक संगठन प्रभावपूर्ण रूप से कार्य करना चाहता है तो उसे अनौपचारिक सम्बन्धों को सीमित करना होगा। उसे संगठन में राजनीति के विकास को रोकना होगा। प्रभाव एवं सत्ता के लिए होने वाले संघर्ष पर रोक लगानी होगी यदि वह संघर्ष संगठन के सुचारू रूप से संचालन में बाधक हो। औपचारिक संगठन को यह चाहिए कि वह अनौपचारिक सम्बन्धों के विकास की दिशा रचनात्मकता ही ओर मोड़ दे। इसके द्वारा संगठन के कार्य के दोहराव को रोका जा सकता है।

अनौपचारिक सम्बन्ध संचार-साधन के रूप में बहुत लाभदायक कार्य करते हैं। यह तो एक मानी हुई बात है कि अनौपचारिक सम्बन्ध बढ़ेगें, संगठन में इनके विकास पर रोक नहीं लगाई जा सकती। इस स्थिति में विकल्प यही रह जाता है कि इस विकास का संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयोग किया जाए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एक अनौपचारिक संगठन के औपचारिक संगठन अनुरूप भी हो सकता है तथा प्रतिकूल भी। हम एक आदर्श संगठन उसे कहेंगे जिसमें औपचारिक एवं अनौपचारिक रूप से रखाएँ परस्पर मेल खाती हैं। हमारे सामने मुख्य समस्या यही है कि इस आधार पर संगठन में जो दुहराव पाया जाता है वह न रहे और उसमें एकता आ जाए। डिमाक का कहना है कि वर्तमान संतति के सामने यह एक चुनौती है कि वह संगठन का एक ऐसा सिद्धान्त निरूपित करें जिसमें एकता स्थापित हो जबकि इस समय दो संगठन स्थित हैं।

इस प्रकार संगठन के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त एवं विचारधाराएँ हैं। इन सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं के सन्दर्भ में हमें संगठन के स्वरूप एवं उत्तरदायित्वों को पहचानना होगा। किसी भी संगठन को किस आधार पर संगठित किया जाए, उसे कैसा बनाया

जाए तथा कौन-सा मॉडल उसके लिए ठीक रहेगा, आदि बातों का निर्णय हम तभी कर पाते हैं जब संगठन के विभिन्न विचारों से हम स्वयं को परिचित रखें।

औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों में अन्तर

	आधार	औपचारिक संगठन	अनौपचारिक संगठन
1.	निर्माण	चेतनापूर्वक प्राधिक त अधिकारियों द्वारा	स्वतः मानवीय सम्बन्धों द्वारा
2.	आकार	प्रायः बड़ा	प्रायः छोटा
3.	उद्देश्य	विशद् लक्ष्यों तथा जटिल कार्यों की पूर्ति हेतु	सदस्यों की सामान्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु
4.	स्थायित्व	दीर्घकालीन या स्थायी	अल्पायु या अस्थायी
5.	प्रमुखता	संरचना या ढाँचे पर बल	व्यक्तिगत एवं मानवीय भावनाओं पर बल
6.	नियम, कानून	लिखित, कठोर, स्पष्ट	अलिखित, सरल तथा आवश्यकतानुसार
7.	आपसी समझ	सभी सदस्यों की अपनी-अपनी राय एवं कार्यप्रणाली	सभी सदस्यों की सोच में समानता तथा सहकारिता
8.	नेत त्व	पद, अधिकार तथा औपचारिकता से युक्त	योग्यता, आस्था तथा परिस्थिति से युक्त
9.	अस्तित्व	कानूनी प्रक ति	गैर कानूनी तथा पूर्णतया सामाजिक
10.	मानवीय तत्त्व	उपेक्षित	पूर्णतः सुरक्षित तथा प्रोत्साहित
11.	सदस्यता	औपचारिक तथा इच्छाविहीन (मजबूरी)	पूर्णतः स्वैच्छिक
12.	सम्बन्ध	अव्यक्तिगत तथा अपनत्वविहीन	व्यक्तिगत तथा अपनत्व से परिपूर्ण
13.	सत्ता का प्रवाह	ऊपर से नीचे (अधोगामी)	नीचे से ऊपर (उर्ध्वगामी) या समतल

औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों में अन्तरसम्बन्ध (Interrelation between Formal and Informal Organizations)

औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन एक ही स्थान पर एक साथ प्रवर्तित हो सकते हैं। वैसे भी अनौपचारिक संगठनों को, औपचारिक संगठनों के पूरक के रूप में देखा जाता है। अनौपचारिक संगठनों की उत्पत्ति औपचारिक संगठनों में होती है तथा औपचारिक संगठन की प्रक ति, उद्देश्य, आकार, कार्यकुशलता, नेत त्व, कार्मिकों की योग्यता तथा प ष्ठभूमि सहित अन्य कई कारक अनौपचारिक संगठनों के निर्माण एवं कार्यकरण को प्रभावित करते हैं। **चेस्टर बर्नार्ड** के अनुसार—"व्यक्ति किसी संगठन में कार्य करने को इसलिए तैयार हो जाता है क्योंकि सेवाएँ देने के बदले उसे कुछ लाभ प्राप्त होने की आशा रहती है।" यद्यपि संचार, समन्वय, निर्णय तथा पर्यवेक्षण को अनौपचारिक संगठन सरल बना देते हैं किन्तु अफवाहों, परिवर्तन के प्रति विरोध, संकीर्णताओं तथा राजनीतिक दावपेचों के रूप में अनौपचारिक संगठन विध्वंसकारी भूमिका भी निभाते हैं। कोई भी प्रबंधक, अनौपचारिक संगठनों के निर्माण को रोक नहीं सकता है क्योंकि यह मानवीय प्रक ति, संवेदनाओं तथा आवश्कताओं के विरुद्ध तो है ही, साथ ही साथ ऐसा करना सरल भी नहीं है। यदि अनौपचारिक संगठन न हो तो औपचारिक संगठन से कार्मिक में उपजी थकान, कुंठा, निराशा, तथा आपातकालीन संकट का समाधान कैसे होगा? घर-परिवार से दूर रहने वाले कार्मिकों के लिए अनौपचारिक संगठन 'परिवार' या मित्र मंडली का कार्य करते हैं।

यदि औपचारिक संगठन, समाज को सुव्यवस्थित ढाँचा प्रदान करते हैं तो अनौपचारिक संगठन उन्हें स्फूर्त तथा प्राणवान् बनाते हैं। किसी भी औपचारिक ढाँचे को भलीभाँति समझने के लिए उसमें कार्यरत व्यक्तियों, उनकी भूमिकाओं तथा सम्बन्धों को जानना आवश्यक है। स्पष्ट है यह अनौपचारिक संगठन के माध्यम से सम्भव है। व्यावहारिक द ष्टि से देखा जाए तो किसी

भी प्रबंधक को आन्तरिक तथा प्रतिक्रियात्मक सूचनाएँ अनौपचारिक संगठनों या अनौपचारिक सम्बन्धों के माध्यम से ही प्राप्त होती हैं, अतः किसी भी औपचारिक संगठन की सफलता, कार्यकुशलता तथा प्रभावशीलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका, अनौपचारिक संगठनों के साथ अच्छा तालमेल हो। **चेस्टर बर्नार्ड** के अनुसार—"अनौपचारिक संगठन कोई बुराई नहीं है वरन् एक आवश्यकता है। यदि इस प्रकार के संगठन बने हुए न हों तो इन्हें बनाना पड़ता है।" यद्यपि अनौपचारिक संगठन सत्ता तथा अधिकारों के संघर्ष से दूर रहते हैं लेकिन यह मानव की स्वाभाविक प्रव त्ति है कि वह समूह में एकत्र होते ही प्राप्तियों की ओर सोचने लगता है। अनौपचारिक संगठनों में उपजने वाली महत्त्वाकांक्षा तथा राजनीति, नित्य नये विवादों को जन्म देती है। इसलिए आवश्यक है कि औपचारिक संगठन, अनौपचारिक संगठनों को समुचित मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन दें। इसीलिए **डिमॉक** वर्तमान पीढ़ी को चुनौती देते हुए कहते हैं कि उन्हें एक ऐसे सिद्धान्त का निरूपण करना पड़ेगा जिसमें इन दोनों प्रकार के संगठनों की एकता परिलक्षित हो सके।[3]

अध्याय-8
संगठन के सिद्धान्त

एक अध्ययन विषय के रूप में लोक प्रशासन के विकास के दूसरे चरण (जिसे 'सिद्धातों के स्वर्णिम काल' के रूप में भी सम्बोधित किया जाता है) में लोक प्रशासन के विद्धानों और विचारकों के द्वारा संगठन के अनेक सिद्धान्त विकसित किए गए। इन सिद्धान्तों का विकास अमेरिकी प ष्ठभूमि में हुआ। इनकी उपयोगिता को किसी दूसरे देश के प्रशासन के सन्दर्भ में जाँचें बिना यह घोषित कर दिया गया कि ये सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं। यह भी दावा किया गया कि किसी भी संगठन में इन सिद्धान्तों को लागू करके हम वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति सुनिश्चित कर सकते हैं। संगठन के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले प्रमुख विचारक लूथर गुलिक, लिण्डल उरविक, जेम्स मून तथा रैल, हेनरी फेयोल, फ्रेडरिक विन्सलों टेलर, विलोबी इत्यादि प्रमुख थे।

किन्तु जल्द ही इन सिद्धान्तों की कटु आलोचना होने लगी। इन सिद्धान्तों की सबसे अधिक आलोचना इनमें मानवीय तत्त्व को नकारने के कारण हुई। इन सिद्धान्तों ने संगठन में कार्य करने वाले लोगों को "मशीनी पुर्जा" बना दिया। एल्टन मेयो, रॉथलिसबर्गर और उनकी टीम ने हॉथोर्न प्रयोगों के माध्यम से यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी संगठन की सफलता के लिए मानवीय तत्त्व, न कि संगठन के सिद्धान्त, महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कुछ विचारकों ने तो संगठन के सिद्धान्त होने पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया। प्रशासनिक संगठनों के सिद्धान्तों का उपहास करते हुए **हरबर्ट साइमन** कहते हैं—"प्रशासन के सिद्धान्त, जो आज हैं, उनमें दुर्भाग्यवश कहावतों का दोष पाया जाता है। लगभग प्रत्येक सिद्धान्त के लिए हमें समान रूप से स्वीकार्य विराधी सिद्धान्त मिल सकता है। ऐसे दो विरोधी सिद्धान्त, एकदम विरोधी संगठन सम्बन्धित अनुशंसाएँ करते हैं। किसी भी सिद्धान्त में यह कहीं भी संकेत नहीं मिलता कि कौन सा सिद्धान्त प्रयोग की द ष्टि से उपयुक्त हैं।"

वस्तुतः लोक प्रशासन एक प्राक तिक विज्ञान नहीं है जिसमें प्रमाणित हो सकने वाले ठोस सिद्धान्त एवं नियम प्रतिपादित किए जा सकें। चूँकि लोक प्रशासन मानवीय संगठनों तथा प्रक्रियाओं से युक्त एवं सम्बद्ध विज्ञान है, अतः सिद्धान्त एवं व्यवहार में हमेशा समानता नहीं रह पाती है। लेकिन इस बात से हम इन्कार नहीं कर सकते कि प्रशासनिक संगठनों के अपने कुछ सिद्धान्त हैं जो विश्वभर में प्रचलित हैं।

व्हाईट के अनुसार, "इन सिद्धान्तों द्वारा आचरण के वे कार्य-नियम सुझाये गये हैं जो विस्त त अनुभव के कारण मान्य से हो गए हैं।" फेयोल इन सिद्धान्तों को "प्रमाणित होने के कारण विश्वसनीय" मानते हैं। अलग-अलग विद्धानों ने संगठन के अनेकों सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। इनमें से जो अधिक प्रचलित हैं उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

पदसोपान
(Hierarchy)

अंग्रेजी शब्द "हायरार्की" का अर्थ है—"सत्ता या प्रस्थिति की श्रेणियों की निम्नतम से उच्चतम तक एक व्यवस्था।" हिन्दी में पदसोपान अर्थात् पदों के सोपान (सीढ़ी या क्रम) का आशय संगठन की उस रचना से है जिसमें छोटे-बड़े पदों को क्रमशः व्यवस्थित ढंग से संयोजित करके नियंत्रण तथा कमान की एक श ंखला बनाई जाती है। चूँकि प्रशासनिक संगठनों में उच्चतम पद से निम्नतम पदों की ओर आते-आते कार्मिकों की संख्या बढ़ती चली जाती है, अतः पदसोपान व्यवस्था "पिरामिड" की भाँति दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में पदसोपान किसी अधीनस्थ पर उच्च अधिकारी का नियंत्रण या सत्ता है। **मूने** की द ष्टि में पदसोपान विश्वव्यापी प्रघटना (Phenomena) है।

प्रशासनिक संगठनों में किया जाने वाला कार्य-विभाजन, पद वर्गीकरण, निर्णय एवं नियंत्रण की व्यवस्था तथा अनुशासन की स्थापना पदसोपान से सम्बन्धित है। पदसोपान के द्वारा संगठन में कार्यरत विभिन्न व्यक्तियों तथा स्तरों को परस्पर व्यवस्थित ढंग से जोड़ा जाता है। इसी के द्वारा उत्तरदायित्व की पंक्ति निश्चित होती है। उच्च एवं निम्न अधिकारी की पदस्थिति तय

होती है। पदसोपान व्यवस्था में सभी आदेश क्रमशः ऊपर से नीचे, एक-एक सोपान से उतरते हुए आते हैं तथा नीचे से ऊपर जाते समय पुनः एक-एक सीढ़ी चढ़ते हैं अर्थात् पदसोपान व्यवस्था में बीच में, किसी सीढ़ी या पद या स्तर को लांघा नहीं जाता है। पदसोपान की इस **क्रमिक प्रक्रिया** को **"उचित माध्यम से"** (Through Proper Channel) की विधि भी कहा जाता है।

अर्थ (Meaning)

पदसोपान को परिभाषित करते हुए एल.डी. व्हाईट कहते हैं—"पदसोपान, ऊपर से नीचे तक उत्तरदायित्वों के कई स्तरों के कारण उत्पन्न वरिष्ठ-अधीनस्थ का वह सम्बन्ध है, जो सभी जगह लागू होता है।"

अर्ल लैथम के अनुसार—"पदसोपान, उच्च तथा निम्न पदों की ऐसी सुनियोजित व्यवस्था है जो ऊपर से नीचे तक फैली हुई है। इस व्यवस्था में सर्वोच्च अधिकारी अपने पद पर विराजमान रहते हुए पैनी द ष्टि से, सबसे निम्नतम पदधारक कार्मिकों के दिलों को टटोल सकता है तथा उनकी गतिविधियों को अपने आदेशानुसार जैसा चाहे ढाल सकता है। इस प्रकार पदसोपान में संगठन की गतिविधियों को मार्गदर्शन तथा उन पर नियंत्रण रखने हेतु सभी इकाइयों को संयुक्त करके एक बड़ी इकाई बना दिया जाता है।"

जे. डी. मिलेट के अनुसार—"पदसोपान, एक ऐसी पद्धति है जिसमें विभिन्न व्यक्तियों (कार्मिकों) के प्रयासों को आपस में जोड़ दिया जाता है।"

मूने एवं रैली ने पदसोपान व्यवस्था को **सीढ़ीनुमा प्रक्रिया या सिद्धान्त** (Scalar Process) नाम दिया है तथा **हेनरी फेयोल** ने इसे सोपानात्मक श ंखला (Scalar Chain) कहा है। उनके अनुसार जहाँ कहीं भी उच्च तथा अधीनस्थ के सम्बन्धों से बना संगठन होगा, वहीं पर यह सीढ़ीनुमा प्रक्रिया भी अवश्य होगी। किसी भी संगठन में कार्यों तथा उत्तरदायित्वों का वितरण आड़ी (क्षैतिजिक) और खड़ी (ऊर्ध्वाधर) दोनों दिशाओं में होता है। संगठन में ऊर्ध्वाधर (Vertical) विभाजन में शीर्ष पद, मध्यम पद तथा निम्न पदों की स्थिति होती है। जब संगठन में नए-नए पद एवं स्तर जोड़े जाते हैं तो यह ऊर्ध्वाधर व द्धि होती है जबकि क्षैतिजिक (Horizontal) विभाजन में पदसोपान के स्तरों में व द्धि किए बिना ही नए-नए कार्य या स्थान जोड़ दिए जाते हैं।

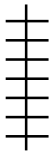

ऊर्ध्वाधर विभाजन

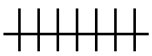

क्षैतिजिक विभाजन

वस्तुतः पदसोपान व्यवस्था कार्मिकों के वेतन, उत्तरदायित्व, योग्यता तथा प्रस्थिति में असमानता होने के कारण बनानी पड़ती है। एक समान योग्यता, कार्य एवं प्रस्थिति के पद एक स्तर पर होते हैं। **पॉल एव. एपलबी** की द ष्टि में "संसाधनों के विभाजन, कार्मिकों के चयन तथा कार्य-विभाजन, कार्यों के संचालन, समीक्षा तथा सुधार के क्रम में पदसोपान एक साधन है।"

विशेषताएँ (Characteristics)

पदसोपान की निम्नांकित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

(1) इस पद्धति में समस्त प्रशासनिक क्रियाकलापों को इकाइयों तथा उपइकाइयों में विभाजित कर दिया जाता है।

(2) इन इकाइयों की स्थापना एक के नीचे एक की जाती है जिससे पिरामिड जैसा आकार बन जाता है।

(3) इसमें विभिन्न स्तरों को अधिकार सौंपे जाते हैं।

(4) पदसोपान पर आधारित संगठन "उचित माध्यम से" सिद्धान्त का पालन करता हैं सभी आदेश तथा सूचनाएँ उचित माध्यम से होकर गुजरती हैं तथ बीच के किसी भी स्तर को अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

(5) इसमें व्यक्ति केवल अपने से निकटतम वरिष्ठ अधिकारी से आदेश लेता है किसी अन्य अधिकारी से नहीं, अतः 'आदेश की एकता' का सिद्धान्त भी लागू होता है।

(6) इसमें अधिकार तथा उत्तरदायित्व के मध्य समुचित तालमेल रखा जाता है, क्योंकि बिना उत्तरदायित्वों के अधिकार, खतरनाक हो जाते हैं तथा बिना अधिकार के उत्तरदायित्व, अर्थहीन हो जाते हैं।

वस्तुतः पदसोपान व्यवस्था, नेत त्व, सत्ता के वितरण (प्रत्यायोजन) तथा कार्यों के विभाजन पर आधारित होती है। यह व्यवस्था दो उद्देश्यों को पूरा करती है–

(i) कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त करने के उद्देश्य से कार्य का विभाजन,

(ii) विशषज्ञों के कार्य तथा व्यवहार को एक संयुक्त प्रयास में जोड़ना।

पदसोपान के प्रकार

जे.एम. पिफनर तथा **एफ.एम. शेरवुड** ने चार प्रकार की पदसोपान प्रणालियाँ वर्णित की हैं–

1. कार्य आधारित पदसोपान–इस प्रणाली में प्रत्येक कार्मिक का स्थान उसके द्वारा किए जा रहे या उसे प्रदत्त किए गए कार्यों के आधार पर निश्चित होता है। कार्मिक जिस प्रकार का कार्य करता है उसी के अनुरूप उसे अधिकार एवं उत्तरदायित्व प्रदान किए जाते हैं। स्वाभाविक रूप से अधिक अधिकारों से युक्त व्यक्ति, उच्च पद पर तथा तुलनात्मक रूप से कम अधिकार प्राप्त व्यक्ति, पदसोपान में निम्न पद पर होता है।

2. रैंक (प्रस्थिति) आधारित पदसोपान–इस प्रणाली में कर्मिकों की स्थिति उनके कार्य तथा उत्तरदायित्वों के आधार पर न होकर, पद के आधार पर होती है। सेना में प्रचलित यह प्रणाली पद प्रतिष्ठा को महत्त्वपूर्ण मानती है। सेना का एक कर्नल चाहे, मोर्चे पर आदेश दे या सेना मुख्यालय में फाइलें निपटाये, वह कर्नल ही रहेगा।

3. कौशल आधारित पदसोपान–पदसोपान की इस पद्धति में कार्मिक की योग्यता तथा दक्षता पर बल दिया जाता है। किसी कारखाने में कार्यरत इंजीनियर या अस्पताल में डॉक्टर उच्च कौशल युक्त होते हैं जिनकी सहायतार्थ अनेक सहायक विशेषज्ञ एवं तकनीकी कार्मिक कार्य करते हैं। उच्च विशेषज्ञता प्राप्त कार्मिक, उच्च पद पर रहता है।

4. वेतन आधारित पदसोपान–जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है अधिकतम वेतन पाने वाला अधिकारी संगठन के शीर्ष पर तथा कम वेतन पाने वाले कार्मिक क्रमशः नीचे के पदों पर होते हैं।

वस्तुतः प्रशासनिक संगठनों में पदसोपान किसी एक प्रणाली पर आधारित न होकर सभी प्रणालियों या कुछ प्रणालियों के समन्वय पर आधारित होता है।

पदसोपान : एक उदाहरण (पुलिस प्रशासन)

पुलिस महानिदेशक (1)
↕
पुलिस महानिरीक्षक (3)
↕
पुलिस उपमहानिरीक्षक (8)
↕
पुलिस अधीक्षक (40)
↕
अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक/सहायक पुलिस अधीक्षक (40)
↕
उप पुलिस अधीक्षक (80)
↕
निरीक्षक (500)

↕

उपनिरीक्षक (1000)

↕

सहायक उपनिरीक्षक (3000)

↕

मुख्य आरक्षी (15000)

↕

आरक्षी (60000)

(नोट : कोष्ठक में दी गई संख्या केवल एक उदाहरण है)

सैद्धान्तिक चित्र

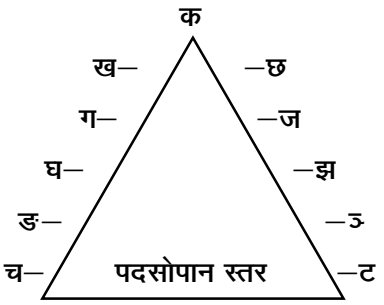

यहाँ दिए गए पिरामिडनुमा चित्र के अनुसार यह एक संगठन है जिसका शीर्ष या प्रमुख अधिकारी "क" है। "ख", "क" का अधीनस्थ है। "ग", "ख" का निकटतम अधीनस्थ है तथा साथ ही वह "क" का भी अधीनस्थ है। इस प्रकार "घ", "ग" का तथा "ङ", "घ" का, तथा "च", "ङ" का अधीनस्थ है। इसी प्रकार दूसरी ओर की स्थिति है। "क" का निकटतम अधीनस्थ "छ" है तथा "छ" का "ज"। अर्थात् "ख" और "छ" समस्तरीय पद हैं। अब यदि "क" को कोई आदेश "च" को भेजना है तो उसे क्रमशः "ख", "ग", "घ" तथा "ङ" नामक पदों या सीढ़ियों से उतरना होगा तथा "ङ" को कोई सूचना "क" तक पहुँचती हो तो उसे क्रमशः "ङ", "घ", "ग" तथा "ख" को सूचित करते हुए जाना होगा। यही "उचित माध्यम से" की व्यवस्था है।

यदि "च" को "ट" से सम्पर्क करना है तो वह सीधे सम्पर्क नहीं कर सकता है। उसे क्रमशः "ङ", "घ", "ग", "ख" तथा "क" तक ऊपर जाना होगा तथा "क" से "छ", "ज", "झ" तथा " ा" नामक स्तरों से नीचे उतरना होगा। इस प्रकार "च" से कोई पत्र "ट" तक जाने तथा वापस "च" तक आने में 20 स्तरों से गुजरता है।

पदसोपान के लाभ (Advantages of Hierarchy)

(1) प्रत्येक बड़े संगठन में आदेश की एकता रहनी आवश्यक है जिसे केवल **पदसोपान** व्यवस्था के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

(2) पदसोपान को संगठनात्मक समन्वय, एकजुटता तथा अनुशासन का आधार माना जाता है क्योंकि इसमें संगठन की विभिन्न इकाइयाँ परस्पर जुड़कर एक संयुक्त ढाँचे का निर्माण करती हैं।

(3) यह व्यवस्था, संगठन में नीचे से ऊपर तथा ऊपर से नीचे के सम्पर्क या संचार माध्यम स्पष्ट करती है। इससे प्रत्येक कार्मिक को यह स्पष्ट रहता है कि उसका सम्बन्ध किससे है।

(4) इसमें, संगठन के प्रत्येक स्तर और पद पर उत्तरदायित्वों का निर्धारण करना सुविधाजनक हो जाता है। प्रत्येक कार्मिक को संगठन में अपनी स्थिति तथा उत्तरदायित्वों का ज्ञान हो जाता है तथा उसे यह भी पता रहता है कि वह किसके प्रति उत्तरदायी है।

(5) पदसोपान व्यवस्था के कारण, उच्चाधिकारियों के कार्य का बोझ हल्का हो जाता है तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण हो जाता है। इससे उच्चाधिकारी के नीचे कई अधीनस्थ स्तर स्थापित हो जाते हैं। प्रत्येक अधीनस्थ, अपने स्तर पर निर्धारित प्रकरणों में निर्णय लेने का अधिकारी हो जाता है।

(6) अधीनस्थों को उच्चाधिकारी द्वारा अधिकार एवं कार्य सौंपे जाने से वे स्वयं को संगठन में महत्त्वपूर्ण समझते हैं तथा अपनत्व की भावना व्याप्त होती है।

(7) पदसोपान सिद्धान्त में "उचित माध्यम से" की प्रक्रिया का कठोरता से पालन किया जाता है जिससे छोटे रास्तों से या किसी को लांघकर कार्य करने की गलत परम्परा विकसित नहीं हो पाती है।

(8) कुछ विद्वान् मानते हैं कि "उचित माध्यम से" नियम का पालन करने से फाइलों के निस्तारण की प्रक्रिया आसान हो जाती है क्योंकि पदसोपान व्यवस्था में यह तुरन्त पता किया जा सकता है कि अमुक फाइल इस समय कहाँ है।

(9) पदसोपान व्यवस्था से "प्रशासनिक नेत त्व" का विकास होता है।

(10) यह व्यवस्था "प्रत्यायोजन" को आसान एवं स्पष्ट करती है। इसी तरह "पदोन्नति" में भी पदसोपान सिद्धान्त सीधा लाभ प्रदान करता है।

पदसोपान से हानियाँ/दोष

वास्तव में लोक प्रशासन तथा नौकरशाही की धूमिल होती छवि तथा कठोर कार्यप्रणाली की जड़ पदसोपान व्यवस्था में छुपी हुई है। पदसोपान सिद्धान्त जितना लाभप्रद दिखाई देता है उतने ही इसमें दोष भी व्याप्त हैं। जैसे–

(1) पदसोपान पद्धति में अधिकांश आदेश ऊपर से नीचे की ओर चलते हैं। इसमें निम्न स्तर पर कार्यरत कार्मिकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने से वरिष्ठ अधिकारियों के आदेशों का ज्यों का त्यों पालन करें। इस कारण निम्न स्तरों पर संगठन के उद्देश्यों तथा कार्य के प्रति रुचि तथा तत्परता नहीं रह पाती है।

(2) इससे प्रशासनिक संगठनों में लचीलापन नहीं रह पाता है क्योंकि हर कार्य सोपानबद्ध ढंग से सम्पादित होता है। स्वाभाविक है इसमें संगठन के व्यक्तियों में आपसी सम्बन्धों का जीवन्त ढंग से विकास नहीं हो पाता है।

(3) पदसोपान व्यवस्था की सफलता या असफलता, मुख्यतः संगठन के मुखिया की इच्छा या अनिच्छा पर निर्भर करती हैं यदि मुखिया अनौपचारिक सम्बन्धों के आधार पर संगठन में स्फूर्ति का संचार कर सके तो ही सफलता मिल पाती है।

(4) "उचित माध्यम से" विधि का पालन करने से, कार्य सम्पादन में अनावश्यक देरी होती है। पूर्व प ष्ठ पर वर्णित पिरामिड के अनुसार "च" को "ट" तक सूचना भेजने तथा प्रत्युत्तर पाने में 20 सीढ़ियाँ चढ़नी-उतरनी पड़ती हैं। ऐसा माना जाता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान द्वारा **पर्ल हार्बर** पर किए गए आक्रमण (1941) का बचाव अमेरिकी सेनाएँ इसलिए नहीं कर पायी थी कि अमेरिकी कमांडर ने 'उचित माध्यम से' विधि को प्राथमिकता दी थी।

(5) पदसोपान व्यवस्था में फाइल एक-एक सोपान तय करती है लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि सभी स्तरों पर कार्यरत कार्मिक योग्य, कुशल, त्वरित तथा संवेदनशील हों। इसी कारण "भोलाराम का जीव" बीच रास्ते में कहीं अटक जाता है अर्थात् लालफीताशाही (Redtapism) पनपती है।

(6) इस सिद्धान्त को संगठन में अपनाने से रूढ़िवादिता, कठोरता, नियमबद्धता तथा पहल न करने की भावनाएँ जन्म लेती हैं अर्थात् तुरंत महत्त्व के मामले भी शीघ्र नहीं निपटाए जाते हैं। भारत में तो स्थिति यह हो गई है कि सरकारी फाइलों पर "शीघ्र", "अतिशीघ्र" की पर्चियाँ लगानी पड़ती हैं।

(7) यह व्यवस्था संगठन के कार्मिकों में उच्च-निम्न का भेद उत्पन्न करती है जिससे असहयोग एवं अलगाववादी प्रव त्तियाँ जन्म लेती हैं।

समाधान (Solution)

पदसोपान की कमियों या दोषों से मुक्ति पाने के लिए सरल तरीके यह हैं—

1. **स्तर लांघकर**—पदसोपान व्यवस्था में क्रमशः एक-एक सीढ़ी या स्तर पर आने-जाने का नियम है। चित्र के अनुसार यदि "च" को "घ" से काम है तो वह "ङ" को लांघ कर सीधे ही "घ" से चर्चा कर सकता है लेकिन ऐसा करना तब ही उपयुक्त है जबकि बीच के स्तर अर्थात् "ङ" को विश्वास में ले लिया जाए। "च" तथा "घ" के वार्तालाप की जानकारी भी "ङ" को दी जानी चाहिए। भारत तथा ब्रिटेन में कुछ राजनेताओं ने यह प्रयोग सफलतापूर्वक किया भी है।

2. **सेतु बाँधकर**—जब संगठन में दो समस्तरीय पदधारक कार्मिकों को परस्पर संवाद स्थापित करना हो तो निर्धारित प्रक्रिया को अपनाए बिना सीधे ही आपस में चर्चा कर लें। अर्थात् यदि "च" को "ट" से कार्य हेतु सम्पर्क करना हो तो वह "ङ"..... . "क" तथा " ा" तक जाए बिना सीधे ही "ट" से सम्पर्क कर लें। यह सेतु (पुल) बाँधना कहलाता है। इसमें यह आवश्यक है कि "ङ" तथा " ा" को कोई आपत्ति न हो।

हेनरी फेयोल ने इसे गेंगप्लांक (Gangplank) नाम दिया है। गेंगप्लांक का शब्दकोषीय अर्थ है—"नाव के अन्दर या बाहर चलने के लिए लकड़ी का उठाऊ तख्ता।"

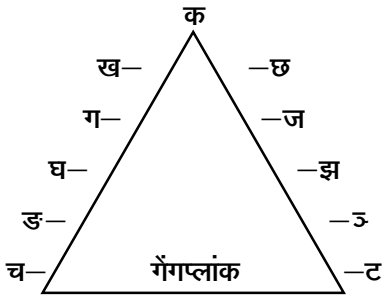

फेयोल के अनुसार संगठन में एक संभाग के अधिकारी को दूसरे संभाग के समस्तरीय अधिकारी से कार्य पड़ता हो तो गेंगप्लाक विधि का सहारा ले लेना चाहिए लेकिन फेयोल अनुभव करते हैं कि यह निजी संगठनों में तो सरलता से हो सकता है किन्तु सरकारी संगठनों में जहाँ सत्ता के सूत्र अस्पष्ट होते हैं, में कम उपयोगी हो सकता हैं इस प्रकार पदसोपान का सिद्धान्त संगठन में नितान्त आवश्यक है लेकिन इसमें व्याप्त दोषों का निवारण करना भी प्रमुख अधिकारी की जिम्मेदारी है। **मूने** के शब्दों में—"प्रत्येक संगठन में यह सीढ़ीनुमा (पदसोपान) श ंखला उसी प्रकार आवश्यक है जेसे कि घर में गन्दे पानी के निकास के लिए नाली जरूरी है लेकिन कोई भी इन्सान इस नाली को घर समझ कर इसके अन्दर नहीं रहता है, उसी प्रकार सीढ़ीनुमा श ंखला को संचार का एकमात्र साधन नहीं मानना चाहिए।" इसी प्रकार **निग्रो** मानते हैं कि "संगठन की औपचारिक संरचना तथा नियम ही प्रमुख नहीं हैं बल्कि अनौपचारिक संगठन तथा सम्बन्ध भी महत्त्वपूर्ण होते हैं।" अतः अनौपचारिक विधियाँ तथा सम्बन्धों से भी पदसोपान के दोष दूर किए जा सकते हैं। तकनीकी परियोजनाओं में "पंखाक ति संगठन" भी बनाए जाते हैं जहाँ एक कार्मिक कई अलग-अलग इकाइयों या पर्यवेक्षकों से जुड़ा होता है एवं उत्तरदायी भी होता है। इसलिए पदसोपान व्यवस्था को भी कठोरता से व्यवहार में नहीं उतारना चाहिए।

नियन्त्रण का क्षेत्र

किसी भी संगठन में कार्यकुशलता का स्तर बनाए रखने तथा कार्यरत व्यक्तियों के कार्यकरण एवं व्यवहार को संतुलित बनाए रखने के लिए नियंत्रण की आवश्यकता होती है। नियंत्रण का कार्य, उच्चाधिकारियों का मुख्य दायित्व है। नियंत्रण-व्यवस्था का उद्देश्य यह देखना होता है कि संगठन की प्रत्येक इकाई में कार्यरत कार्मिक दिए गए आदेशो, निर्देशों तथा नियमों के अनुरूप कार्य कर रहे हैं अथवा नहीं। नियंत्रण का क्षेत्र, उस क्षमता या परिधि को प्रदर्शित करता है जो कि किसी नियंत्रणकर्त्ता अधिकारी में होती है अर्थात् एक अधिकारी एक समय में, कितने अधीनस्थों को सफलतापूर्वक नियंत्रित कर सकता हैं। नियंत्रण का क्षेत्र प्रायः नियंत्रण विस्त ति, प्रबन्ध का क्षेत्र, पर्यवेक्षण का क्षेत्र या सत्ता का क्षेत्र भी कहलाता है।

अर्थ (Meaning)

Control शब्द आदेश-निर्देश या नियंत्रित करने वाले अधिकार (सत्ता) का पर्याय है जबकि **Span** के कई अर्थ हैं–

(1) समयावधि जो समाप्त होती है या निरन्तर चलती है।

(2) एक किनारे से दूसरे किनारे (छोर) की दूरी जो कोई तय करता है।

(3) किसी पुल या मेहराब के आधार की दूरी या भाग।

(4) हाथ के अंगूठे और कनिष्ठा को फैलाने से बनने वाली दूरी या क्षेत्र।

यहाँ "नियंत्रण का क्षेत्र" में **Span** का अर्थ किसी नियंत्रणकर्ता अधिकारी के ध्यान के उस क्षेत्र से है जिसके अन्तर्गत वह अधीनस्थों को सफलतापूर्वक नियंत्रित कर सकता है। **वी.ए. ग्रेकुनाज** ने नियंत्रण के क्षेत्र को "**ध्यान का क्षेत्र**" (Span of Attention) नाम दिया है।

अतः नियन्त्रण के क्षेत्र से तात्पर्य यह है कि एक उच्च अधिकारी के अधीन कितने कर्मचारी होने चाहिए जिन पर वह आसानी से नियन्त्रण रख सकता है। प्रशासनिक संगठन में नियन्त्रण के अभाव में कोई भी प्रशासक अपना कार्य सुचारू ढंग से नहीं कर सकता है। नियन्त्रण के क्षेत्र का सम्बन्ध इस बात से भी है कि अधिकारी के ध्यान के क्षेत्र (Span of Attention) का विस्तार कितना है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में ध्यान का क्षेत्र तथा प्रशासन की परिभाषा में नियन्त्रण का क्षेत्र कहा जाता हैं। प्रत्येक अधिकारी की काम करने तथा अन्य व्यक्तियों पर नियन्त्रण रखने की अपनी एक क्षमता होती है और उस क्षमता (Capacity) से ज्यादा काम लाद देने से वह उन कार्यों का पर्यवेक्षण (Supervision) सही ढंग से नहीं कर सकता है। एक समय में कोई अधिकारी निश्चित संख्या में ही अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्य का पर्यवेक्षण, निरीक्षण, मार्गदर्शन तथा अवलोकन कर सकता है। यदि निर्धारित संख्या से ज्यादा व्यक्तियों के ऊपर पर्यवेक्षण और निरीक्षण का कार्य सौंपा गया तो उनकी देखभाल ठीक ढंग से नहीं हो पाएगी और संगठन के संचालन में अव्यवस्थाएँ उत्पन्न हो जाएँगी। **डिमॉकद्वय** ने नियन्त्रण के क्षेत्र को परिभाषित करते हुए कहा है कि "नियन्त्रण का क्षेत्र किसी उद्यम के मुख्य कार्यपालक और उसके प्रमुख सहयोगी अधिकारियों के बीच सीधे एवं सामान्य संचार की संख्या एवं क्षेत्र है।"

सभी प्रशासनिक संगठनों में पदसोपान, कार्मिकों की संख्या तथा कार्य की प्रक ति एक समान नहीं होती है, अतः नियंत्रण का क्षेत्र भी कम या अधिक पाया जाता है। उदाहरण के लिए किसी जिले के पुलिस प्रशासन में एक पुलिस अधीक्षक के अधीन 4 पुलिस उपाधीक्षक तथा उपाधीक्षकों के अधीन 20 निरीक्षक हों तो, एक उपाधीक्षक के अधीन 5 निरीक्षक हो जाएँगें तथा दिए गए चित्रानुसार अन्य उच्चाधिकारियों के अधीनस्थों या नियंत्रण का क्षेत्र निर्धारित हो जाएगा। यहाँ पर उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि प्रशासनिक संगठनों में नियंत्रण का क्षेत्र तथा पदसोपान स्तर निश्चित नहीं होते हैं। यह कई कारकों पर निर्भर करता है। सामान्यतः नियंत्रण का क्षेत्र विस्त त होने पर स्तर बढ़ाए जाते हैं ताकि एक व्यक्ति के अधीन कम कार्मिक हों।

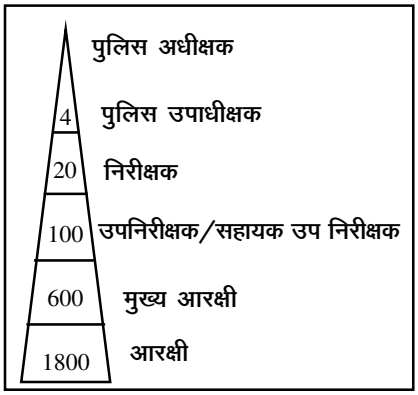

विशेषताएँ (Characteristics)

(1) यह पदसोपान व्यवस्था तथा आदेश की एकता से सम्बन्धित सिद्धान्त है।

(2) यह सिद्धान्त यह निश्चित करता है कि कोई अधिकारी कितने अधीनस्थों को निर्देश दे सकता है।

(3) नियंत्रण का क्षेत्र, संगठन की संरचना, उद्देश्य, कार्य-प्रक ति, पर्यवेक्षक की क्षमता तथा अधीनस्थों के सहयोग इत्यादि पर निर्भर करता है।

(4) यह सिद्ध है कि नियंत्रण का क्षेत्र जितना छोटा या सीमित होगा उतना ही नियंत्रण अधिक होगा तथा आदेश की एकता की क्रियान्विति अधिक होगी।

(5) नियंत्रण का क्षेत्र विस्त त या व्यापक होने पर नियंत्रण प्रक्रिया तुलनात्मक रूप से कम हो जाती है।

संगठन में पदसोपानात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक छोटे-बड़े पदाधिकारी कार्य करते हैं। प्रत्येक कार्मिक का प्रत्यक्ष नियंत्रण उससे निकटस्थ उच्चाधिकारी करता है। इस सम्बन्ध में दो तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं—

(i) प्रत्येक स्तर पर कितने कार्मिक कार्यरत हैं जिनका नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण किये जाने की आवश्यकता है?

(ii) प्रत्येक उच्चाधिकारी अधिक से अधिक किनते अधीनस्थ कार्मिकों का सफलतापूर्वक (क्षमतापूर्वक) नियंत्रण कर सकता है?

वस्तुतः अभी तक ऐसा कोई नियम या फार्मूला निर्धारित नहीं हुआ है जिसके अनुसार यह कहा जा सके कि इतने कार्मिकों का नियंत्रण कोई भी अधिकारी भलीभाँति कर सकता है। कारण स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ सीमित होती हैं तथा संगठन के उद्देश्य, कार्य की प्रक ति, स्थान, व्यक्तित्व तथा समय इत्यादि भी अपना प्रभाव दिखाते हैं। अपने सैनिक अनुभव के आधार पर **सर इयान हेमिल्टन** ने बताया है कि एक उच्चाधिकारी 3-4 अधीनस्थों का ही नियंत्रण कर सकता है जबकि **ग्रेकुनाज** यह संख्या 5-6 मानते हैं। **हेनरी फेयोल** भी मुख्य प्रबन्धक के अधीन 5-6 अधीनस्थों की ही संख्या उपयुक्त मानते हैं। **एल. उरविक** मानते हैं कि उच्च स्तर पर, जहाँ कार्य जटिल तथा उलझे हुए होते हैं, पर केवल 5-6 व्यक्तियों का तथा निम्न स्तर पर, जहाँ कार्य सरल तथा दैनन्दिन प्रक ति का होता है, पर 8-12 कार्मिकों का नियंत्रण किया जा सकता है। अमेरिकन प्रबन्ध संघ की गणना है कि एक उच्चाधिकारी अधिकतम 9 अधीनस्थों पर नियंत्रण रख सकता है। **लॉर्ड हाल्डेन** तथा **ग्राहम वालास** की राय में कोई भी मुख्य कार्यपालक किसी प्रकार का अतिरिक्त भार अनुभव किए बिना 10-12 अधीनस्थ अधिकारियों के कार्य का नियंत्रण कर सकता है। **वालास** ने विभिन्न देशों के शासनाधीशों की वास्तविक स्थिति का अध्ययन कर बताया था कि 1937 में जापान के मुख्य कार्यपालक के अधीन 13 विभाग; कनाडा, जर्मनी, इटली के मुख्य कार्यपालक के अधीन 14; फ्रांस में 17; रूस में 19-20; इंग्लैण्ड में 25 तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग 60 विभाग थे। इस संख्या में इतनी विविधता होते हुए भी किसी भी देश का प्रशासन भंग नहीं हुआ। सन् 1949 में प्रथम हूवर आयोग ने अमेरिकी राष्ट्रपति के अधीन 65 विभागों तथा अभिकरणों को विशाल नियंत्रण का क्षेत्र मानकर आलोचना की थी। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (U.G.C) द्वारा कॉलेजों में कक्षाओं के नियंत्रण और ध्यान के क्षेत्र में करवाए गए एक अध्ययन से निष्कर्ष निकाला गया था कि एक कक्षा में कोई अध्यापक केवल 10-12 विद्यार्थियों को ही सही प्रकार से नियंत्रित कर सकता है एवं अध्ययन करवा सकता है।

एल. उरविक का मानना है कि किसी अधिकारी के अधीन कार्यरत व्यक्तियों की संख्या में जितनी बढ़ोतरी होती है उससे कहीं अधिक बढ़ोतरी अधीनस्थ व्यक्तियों के मध्य परस्पर सम्बन्धों में हो जाती है। उनके अनुसार "यदि किसी अधिकारी के अधीन पहले से कार्यरत 5 अधीनस्थों में यदि एक और (छठा) जुड़ जाए तो कार्य में केवल 23 प्रतिशत अधिक सहायता मिलती है जबकि निरीक्षण या नियंत्रण के क्षेत्र में 100 प्रतिशत अर्थात् दुगुनी से भी अधिक व द्धि हो जाएगी।"[7] इसका कारण यह है कि अधीनस्थ व्यक्ति केवल पाँच या छः अर्थात् श्रीमान् "क", "ख", "ग", "घ", "ङ", "च" का ही सीधा सम्बन्ध उच्चाधिकारी से नहीं होता है बल्कि "क" तथा "ग", "क", "ख", तथा "ग" या "ग" तथा "च"..... इत्यादि के कार्य-सम्बन्ध भी नियंत्रण के क्षेत्र को विस्त त बनाते हैं। स्थूल रूप में कहें तो कार्मिकों की संख्या बढ़ना $5 + 5 = 10$ का ही परिचायक है। जबकि सम्बन्धों की संख्या गुणात्मक होने पर $5 \times 5 = 25$ तथा घातात्मक (5^5) होने पर 3225 के रूप में बढ़ती है। अतः नियंत्रण का क्षेत्र, एक कार्मिक बढ़ा देने से ही बहुत व्यापक हो जाता है। **मिलेट** कहते हैं कि—"अनुभव एवं मनावैज्ञानिक अनुसंधान इस बात को प्रमाणित करते हैं कि किसी भी प्रशासनिक अधिकारी की पर्यवेक्षण क्षमता की एक सीमा होती है।" अतः नियंत्रण कार्य भी प्रभावित होता है।

सन् 1933 में **वी.ए. ग्रेकुनाज** द्वारा प्रकाशित लेख Relationship in Organization में ग्रेकुनाज ने एक गणितीय सूत्र प्रतिपादित किया था। ग्रेकुनाज के अनुसार उच्चाधिकारियों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनके केवल प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही अधीनस्थों के साथ नहीं होते हैं बल्कि अधीनस्थों के विभिन्न समूहों के परस्पर अन्तरसम्बन्ध भी होते हैं। इन सम्बन्धों की संख्या कई कारणों से परिवर्तित होती है। सह सम्बन्ध मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—

(1) **प्रत्यक्ष एकल सम्बन्ध** (Direct Singly Relationship)

(2) **प्रत्यक्ष समूह सम्बन्ध** (Direct Group Relationship)

(3) **आड़े तिरछे सम्बन्ध** (Cross Relationship)

अतः अधीनस्थों की संख्या में व द्धि होने पर गुणात्मक तथा सामूहिक सम्बन्ध बढ़ते हैं। इसलिए सम्बन्धों की संख्या, घातीय अनुपात में बढ़ती है। इसे स्पष्ट करने के लिए ग्रेकुनाज ने यह गणितीय फार्मूला सुझाया था।

$$n\left(\frac{2^n}{2} + n - 1\right)$$

n = **अधीनस्थों की संख्या**

[**यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि** 2 **की घात** n **अर्थात्** (2^n) **है। यह** 2n **नहीं है। माना कि** 2 **की घात** (n) 3 **है तो इसे** 2x2x2=8 **के अर्थ में लिया जाएगा न कि** 2n (2 x 3 = 6) **समझाा जाना चाहिए।**]

एक उदाहरण : **माना कि किसी उच्च अधिकारी के अधीन** 3 **अधीनस्थ हों तो सम्बन्धों की संख्या यह होगी–**

$$n = 3$$

$$2^3 = 2 \times 2 \times 2 = 8$$

$$2^3 = 2 \times 2 \times 2 = 8$$

$$3\ (4 + 3\text{-}1)$$

3 (6) = 3 x 6 = 18 **सम्बन्ध होंगे**

$$n\left(\frac{2^n}{2} + n - 1\right)$$

अधीनस्थों की संख्या	**सम्भावित सम्बन्धों की संख्या**
1	1
2	6
3	18
4	44
5	100
6	222
7	490
8	1080
9	2376
10	5210

अधीनस्थों की संख्या में 25% **प्रतिशत व द्धि होने पर सम्बन्धों की संख्या** 127% **बढ़ती है।**

यदि ग्रेकुनाज के इस सूत्र को उनके द्वारा बताये गए सम्बन्धों के तीन प्रकारों में प थक्-प थक् विभक्त करें तो स्थिति इस प्रकार होगी–

(1) **प्रत्यक्ष एकल** (Direct Singly) **सम्बन्ध** = n

(2) **प्रत्यक्ष समूह** (Direct Group) **सम्बन्ध** = n (n-1)

(3) **आड़े तिरछे** (Crosses) **सम्बन्ध** = $n\ [2^{(n-1)} - 1]$

ग्रेकुनाज के अनुसार नियंत्रण के क्षेत्र तथा सम्भावित सम्बन्धों का विवरण

यदि अधीनस्थों की संख्या हो	प्रत्यक्ष सम्बन्ध n	प्रत्यक्ष समूह सम्बन्ध n (n - 1)	आड़े तिरछे सम्बन्ध $n [2^{(n-1)} - 1]$	कुल सम्बन्ध
1	1	—	—	1
2	2	2	2	6
3	3	6	9	18
4	4	12	28	44
5	5	20	75	100
6	6	30	186	222
7	7	42	441	490
8	8	56	1016	1080
9	9	72	2295	2376
10	10	90	5110	5210

ग्रेकुनाज के इस गणितीय सूत्र की **आलोचना** करते हुए **प्रो. थियो हैमेन** कहते हैं कि ग्रेकुनाज का अध्ययन अनुभवयुक्त निरीक्षण पर आधारित नहीं है बल्कि शीर्ष प्रबन्धन के क्षेत्र में परिवर्तन करने से एक संगठन की क्या स्थिति होगी, इसका गणितीय प्रस्तुतीकरण है। हो सकता है ग्रेकुनाज का गणितीय सूत्र पूर्ण वैज्ञानिक न हो लेकिन एक सीमा तक यह भी सही है कि कार्मिकों की संख्या तथा उनके अन्तरसम्बन्ध निश्चित ही नियंत्रण के क्षेत्र को विस्त त एवं जटिल बनाते हैं।

नियंत्रण के क्षेत्र को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting Span of Control)

नियत्रण का क्षेत्र कई कारणों से प्रभावित होता है, जैसे–

1. **कार्य**–संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ही कार्य सम्पादित होते हैं। संगठन में जिस प्रक ति के कार्य होते हैं उसी के अनुरूप नियंत्रण का क्षेत्र भी प्रभावित हो जाता है। यदि नियंत्रणकर्ता अधिकारी तथा अधीनस्थों का कार्य एक समान प्रक ति का हो तथा दैनन्दिन प्रक ति का हो तो सरलता से अधिक नियंत्रण हो सकता है। यदि कई अधीनस्थ हों तथा सभी भिन्न कार्य करते हों तो नियंत्रण करना कठिन हो सकता है। शिक्षा विभाग, सामान्य प्रशासनिक कार्यालय तथा सांख्यिकी विभागों में नियंत्रण सरल बन जाता है जबकि तकनीकी एवं नियामकीय संगठनों में यह कठिन होता है।

2. **व्यक्तित्व**–यह उच्चाधिकारीञ(नियंत्रणकर्ता) तथा उसके अधीनस्थों की गुणों, अवगुणों, व्यवहार तथा कौशल से सम्बन्धित है। यदि उच्चाधिकारी कुशल, मेधावी, चुस्त तथा लोकतांत्रिक प्रक ति का हो तो वह अधिक व्यक्तियों को नियंत्रित कर सकता है, लेकिन अधीनस्थों का भी सहयोग आवश्यक है। यदि अधीनस्थ कामचोर, अकुशल, असहयोगी तथा जिद्दी हों तो उन पर नियंत्रण करना टेढ़ी खीर हो जाता है। वस्तुतः यह कारक सर्वाधिक प्रभाव दिखाता है, क्योंकि लोक प्रशासन में असाधारण योग्यता वाले अधिकारियों की भी कमी नहीं है तो संगठन में अराजकता फैलाने वाले अधीनस्थ भी कम नहीं हैं।

3. **समय**–इसका आशय **संगठन की आयु** से है। यदि संगठन बहुत पुराना तथा सुस्थापित प्रक्रियाओं एवं परम्पराओं से युक्त है तो नियंत्रण की प्रक्रिया सरल बन जाती है तथा तुलनात्मक रूप से अधिक कार्मिकों को नियंत्रित किया जा सकता है। यदि संगठन नया हो तो नियंत्रण सहित अन्य सभी प्रशासनिक प्रक्रियाएँ संक्रमणकाल से जूझती रहती हैं। समय का **दूसरे अर्थ अधीनस्थों** तथा नियंत्रणकर्ता अधिकारी के **सेवाकाल** या अनुभव से सम्बन्धित है। दीर्घ अनुभव वाले अधिकारी, नये अधिकारी की तुलना में अधिक लोगों का सफलतापूर्वक नियंत्रण कर सकते हैं जबकि संगठन में नवप्रविष्ट अधिकारी शनैः-शनैः नियंत्रण करना सीखता है।

4. स्थान—यदि अधीनस्थ कार्मिक तथा उनका उच्चाधिकारी एक ही कमरे में या एक ही भवन में हों तो अधिक व्यक्तियों का नियंत्रण किया जा सकता है किन्तु भौगोलिक द ष्टि से दूर-दूर कार्यरत अधीनस्थों का नियंत्रण कठिनता से होता है। ऐसी स्थिति में कम व्यक्तियों पर नियंत्रण हो पाता है।

5. सत्ता का प्रत्यायोजन—नियंत्रण का क्षेत्र मुख्यतः संगठन की पदसोपान व्यवस्था तथा सत्ता के प्रत्यायोजन से सम्बन्धित है। कोई भी उच्चाधिकारी जो अपने अधीनस्थों को पर्याप्त सत्ता प्रदान करता है, किन्तु नियंत्रण की सत्ता अपने पास रखता है वह अधिक सफल रहता है। दूसरी ओर जो उच्चाधिकारी अधीनस्थों को समस्त अधिकार प्रदान कर देता है तथा उसी (सत्ता) के अनुरूप अधीनस्थों की जवाबदेयता सुनिश्चित नही करता है तो नियंत्रण करना मुश्किल हो जाता है, अतः सत्ता एवं उत्तरदायित्व का संतुलन बनाना हितकर है। सत्ता का प्रत्यायोजन नहीं करने वाला अधिकारी कार्य बोझ से घिरा रहता है, अतः वह कम अधीनस्थों को नियत्रित कर पाता है।

6. नियंत्रण की विधि—यह एक महत्त्वपूर्ण कारक है। किस संगठन में किस प्रक ति का कार्य होता है तथा वहाँ पर नियंत्रण करने की पद्धति तथा तकनीक क्या है ? रिपोर्ट माँगना, पर्यवेक्षण करना, निरीक्षण करना, लेखा जाँच करना तथा अवलोकन इन्यादि कतिपय मुख्य विधियाँ हैं। यदि कार्य प्रगति की रिपोर्ट माँग कर ही नियंत्रण किया जा सकता है तो इससे बहुत से अधीनस्थों पर नियंत्रण हो सकता है लेकिन तकनीकी प्रक ति के कार्य में यदि प्रत्यक्ष अवलोकन करना है तो कम ही अधीनस्थों पर नियंत्रण किया जा सकता है।

7. पदसोपान के स्तर—किसी भी संगठन में पदसोपान के स्तर नियंत्रण के क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। यदि स्तरों की संख्या अधिक होगी तो नियंत्रण का क्षेत्र कम हो जाएगा तथा निरीक्षण अधिक होगा, साथ ही पर्यवेक्षकों (नियंत्रणकर्ताओं) की संख्या बढ़ानी पड़ेगी, परिणामस्वरूप संगठन का संस्थापना व्यय भी बढ़ जाएगा। स्तर अधिक करने से संचार को भी कई स्तरों से गुजरना पड़ेगा, अतः निर्णय प्रक्रिया भी जटिल हो जाएगी। दूसरी ओर संगठन में स्तरों की संख्या कम होगी तो नियंत्रण का क्षेत्र विस्त त हो जाएगा लेकिन कार्य तेज गति से हो सकेगा। पर्यवेक्षकों की संख्या भी कम होगी तथा व्यय भी कम होगा, साथ ही अधिक अधिकार सौंपे जा सकेंगे। अधिक अधिकार मिलने से कार्मिक उत्तरदायित्व वहन करना सीखते हैं तथा मनोबल भी बढ़ता है।

यद्यपि सभी विद्वान् इस तथ्य से सहमत हैं कि नियंत्रण का क्षेत्र जितना छोटा होगा, उसी मात्रा में निरीक्षण तथा सम्पर्क की सफलता बढ़ जाएगी लेकिन **सेक्लर-हडसन** चेतावनी देते हुए कहते हैं—"अत्यन्त सीमित नियंत्रण के क्षेत्र में खतरे भी निहित हैं। उदाहरण के लिए कुछ प्रतिवेदनों के ब्यौरेवार निरीक्षण का परिणाम यह होगा कि अधीनस्थों को प्रेरित नहीं किया जा सकेगा अथवा उनकी क्षमताओं का पूरा उपयोग नहीं हो पाएगा।" **उरविक** की द ष्टि में नियंत्रण का छोटा क्षेत्र, सामाजिक और प्रशासनिक दूरी को कम कर देता है। नियंत्रण के क्षेत्र से सम्बन्धित कई बाधाओं के उपरांत भी चार बिन्दुओं पर सहमति है—

(1) व्यक्ति चाहे कितना ही योग्यतम क्यों न हो, नियंत्रण एवं निरीक्षण करने की शक्ति एवं सामर्थ्य की भी एक सीमा होती है। अर्थात् अधिक कुशल अधिकारी 10 के बजाय 15 अधीनस्थों का नियंत्रण कर सकता है लेकिन 50 का नहीं।

(2) व्यक्ति के पास जितने बड़े या गम्भीर उत्तरदायित्व होते हैं सक्रिय नियंत्रण का क्षेत्र उसी अनुपात में कम हो जाता है।

(3) एक ही प्रकार के कार्य करने वाले अधीनस्थों के मामले में नियंत्रण का क्षेत्र अपेक्षाक त विस्त त हो जाता है।

(4) प्रत्येक संगठन में नियंत्रण का क्षेत्र तथा इसकी विधियाँ एक समान नहीं होती हैं। संचार क्रान्ति ने नियंत्रण के क्षेत्र को सहज तथा विस्त त बनाया है।

हरबर्ट साइमन ने नियंत्रण के क्षेत्र के इस सिद्धान्त की प्रत्यक्षतः आलोचना नहीं की है बल्कि इसमें व्याप्त दो विराधाभासी स्थितियों का वर्णन किया है—

1. प्रथम स्थिति—ऐसा माना जाता है कि नियंत्रण का क्षेत्र छोटा करने पर प्रशासनिक कार्यकुशलता बढ़ती है, क्योंकि कोई भी उच्चाधिकारी अधिक प्रभावी ढंग से निरीक्षण करने लगता है।

2. द्वितीय स्थिति—कुछ विद्वान् मानते है कि पदसोपान के स्तर घटा देने से कार्य तुलनात्मक रूप से शीघ्र सम्पादित होगा, अतः नियंत्रण का क्षेत्र बड़ा होकर भी प्रभावी है।

अर्थात् नियंत्रण का क्षेत्र छोटा करना तथा पदसोपान के स्तर को भी कम रखना दो परस्पर विरोधी बातें हैं।

परिवर्तित परिदृश्य (Changed Scenario)

विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ प्रशासनिक प्रक्रियाओं में आए सामयिक परिवर्तनों से नियंत्रण के क्षेत्र की परम्परागत अवधारणा भी किंचित् धूमिल हुई है। कम्प्यूटर एवं अन्य वैज्ञानिक उपकरणों जैसे टेलीफोन, फैक्स, ई-मेल, इन्टरनेट, पेजर, मोबाइल, स्वचालन, वीडियो, ऑडियो सिस्टम इत्यादि से एक अधिकारी अब अधिक अधीनस्थों पर सहजता से तथा शीघ्रता से नियंत्रण कर सकता है। विशेषज्ञों की भूमिका ने भी नियंत्रण के क्षेत्र को प्रभावित किया है। वस्तुतः नियंत्रण का क्षेत्र एक आवश्यक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त है। यदि इसकी परम्परागत मान्यताओं में परिवर्तन आ रहा है तो यह इस सिद्धान्त की कमी नहीं बल्कि पर्यावरणीय प्रभावों का परिणाम है, अतः आज की स्थिति में ही इस सिद्धान्त का विश्लेषण करना चाहिए। इसीलिए पिफनर एवं शेरवुड कहते हैं कि इस सिद्धान्त में कतिपय लाभ ऐसे हैं जो इसे प्रशासन की प्रत्येक पुस्तक में स्थान दिला देते हैं।

आदेश की एकता

आदेश या कमान या समादेश की एकता अर्थात् Unity of Command में 'कमांड' शब्द महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः Order, Instruct, Direct तथा Command एक समान प्रतीत होते है। Order सशक्त शब्द है जो प्राधिकारी की इस अपेक्षा से जुड़ा है कि अधीनस्थ उसका पालन करें। Instruct तथा Direct कार्य कराने के सम्बन्ध में सुझाावात्मक स्थिति को बताते हैं। जबकि Command शब्द मुख्यतः सैन्य प्रशासन में प्रयुक्त किया जाता है जहाँ नियंत्रण, अनुशासन तथा आज्ञाकारिता सर्वोच्च मानी जाती है, अतः आदेश की एकता उस सिद्धान्त का पर्याय है जिसमें कार्मिक को केवल एक ही अधिकारी से आदेश प्राप्त करना होता है।

यदि किसी संगठन में एक से अधिक आदेश देने वाले हों और उसे कार्यान्वित करने वाला कर्मचारी एक ही हो, तो ऐसी सम्भावना है कि एक ही कार्य के लिए उसे दो-तीन परस्पर विरोधी आदेश प्राप्त हो जाएँ। ऐसी स्थिति में अगर किसी एक आदेश का पालन अधीनस्थ कर्मचारी करता है तो अन्य उच्चाधिकारी इसे पक्षपात समझेंगे और अव्यवस्था फैल जाएगी। अतः आदेश एक होना चाहिए, एक व्यक्ति से मिलना चाहिए, अर्थात् आदेश की एकता होनी चाहिए। **हेनरी फेयोल** (Henry Fayol) का भी मानना है कि "आदेश की एकता के उल्लंघन से सत्ता कमजोर हो जाती है, अनुशासन खतरे में पड़ जाता है, व्यवस्था भंग हो जाती है और स्थायित्व संकट में पड़ जाता है।" **पिफनर** (Piffner) और **प्रेस्थस** (Presthus) के अनुसार, "नियन्त्रण की एकता की अवधारणा का तात्पर्य यह है कि किसी संगठन के प्रत्येक सदस्य को एक नेता के प्रति जवाबदेह होना चाहिए।"

परस्पर विरोधी आदेशों से कर्मचारी को बचाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे केवल एक ही उच्च अधिकारी की सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। सेना के सम्बन्ध में एक कहावत प्रचलित है कि "एक खराब सेनापति दो अच्छे सेनापतियों से श्रेष्ठ है।" (One bad general is better than two good generals). आदेश की एकता के अभाव में भ्रम उत्पन्न हो सकता है तथा उत्तरदायित्व का निर्धारण करना भी आसान नहीं होता। **लूथर गुलिक** (Luther Gullick) ने बड़े रोचक ढंग से कहा है कि "यदि इस सिद्धान्त का कठोरता से पालन किया जाए तो हो सकता है कि कुछ घातक परिणाम पैदा होंगे, किन्तु ये परिणाम मतिभ्रम, अकार्यकुशलता और अनुत्तरदायित्व की तुलना में कुछ भी नहीं हैं जो इस सिद्धान्त का उल्लंघन करने पर पैदा होंगे।" अतः आदेश की एकता का सिद्धान्त संगठन में अव्यवस्था को रोकता है तथा आदेश और उत्तरदायित्व के बीच समन्वय कायम रखता है। आदेश की एकता सिद्धान्त में सत्ता के यन्त्रों का स्पष्टीकरण रहता है, कर्मचारी के सामने आदेश की स्पष्टता रहती है। जिससे वह क्षमतापूर्ण ढंग से काम कर सकता है। एक व्यक्ति एक स्वामी (One person One boss) संगठन की सुव्यवस्था के मार्ग को प्रशस्त करता है।

आदेश की एकता के प्रबल समर्थक **हेनरी फेयोल** के अनुसार—"यह वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि किसी कर्मचारी को केवल एक निकटतम उच्चाधिकारी द्वारा ही आदेश दिए जाने चाहिए।"

पिफनर एवं प्रेस्थस के शब्दों में—"आदेश की एकता की अवधारणा का तात्पर्य यह है कि किसी संगठन के प्रत्येक सदस्य को एक और केवल एक नेता के प्रति ही उत्तरदायी होना चाहिए।"

इस प्रकार पिफनर एवं प्रेस्थस भी "एक व्यक्ति-एक बॉस" के सिद्धान्त पर बल देते हैं। इसीलिए वे "एक, केवल एक" अर्थात् दो या अधिक कदापि नहीं, के सिद्धान्त को मानते हैं।

विशेषताएँ (Characteristics)

(1) आदेश की एकता का नियम "पदसोपान व्यवस्था" से जुड़ा हुआ है।

(2) यह सिद्धान्त यह मानता है कि किसी भी कार्मिक को, एक ही निकटस्थ अधिकारी से आदेश मिलने चाहिए।

(3) यह सत्ता, उत्तरदायित्व तथा नेत त्व को स्पष्ट करता है।

आवश्यकता एवं लाभ (Need and Advantages)

आदेश की एकता का सिद्धान्त कार्मिकों को उलझन, भ्रम, आशंका तथा अस्पष्टता से मुक्ति दिलाने तथा संगठनात्मक कार्यकरण में एकता लाने के लिए आवश्यक माना जाता हैं आदेश की एकता का महत्त्व (लाभ) पूर्णतया स्पष्ट है–

(1) इससे संगठन में सत्ता के सूत्रों के क्रम में स्पष्टता आ जाती है। प्रत्येक कार्मिक यह जानने लग जाता है कि उसे किससे आदेश प्राप्त होंगे या आदेश लेने हैं। स्पष्ट है कि वह आदेशकर्ता के प्रति उत्तरदायी भी होगा।

(2) इससे कार्यों, आदेशों तथा नेत त्व का दोहराव नहीं हो पाता है, अतः अनुशासनत एवं नियंत्रण भी अच्छे ढंग से किया जा सकता है।

(3) आदेश की एकता से जोड़-तोड़ करने वाले, एक-दूसरे को भड़काने एवं भिड़ाने वाले कार्मिकों की गतिविधियों पर अंकुश लगता है। आदेश की एकता के अभाव में संगठन में न केवल अराजकता पनपती है बल्कि संगठन की गरिमा भी प्रभावित होती है।

(4) संगठन में कार्यकुशलता तथा शीघ्रता बनाए रखने के लिए यह सिद्धान्त आवश्यक है।

इसीलिए **हेनरी फेयोल** कहते हैं–"इस (आदेश की एकता) नियम के उल्लंघन से सत्ता निर्बल हो जाती है, अनुशासन संकट में पड़ जाता है, व्यवस्था भंग हो जाती है और संगठन के स्थायित्व को खतरा उत्पन्न हो जाता है .... एक ही व्यक्ति या विभाग के ऊपर जब दो अधिकारी सत्ता का उपयोग करते हैं तो गड़बड़ी उत्पन्न होने लगती है। ऐसी स्थिति के चलते रहने से अव्यवस्था बढ़ती रहती है। अंततः इसके दो परिणाम होंगे-या तो एक अधिकारी का लोप जाएगा और संगठन पुनः स्वस्थ हो जाएगा अथवा संगठन विनाश की ओर अग्रसर होने लगेगा। वास्तव में किसी भी संगठन की रचना दोहरे नियंत्रण के अनुकूल नहीं होती।"[4] इसीलिए सेना तथा गुप्तचर सेवाओं में आदेश की एकता अधिक दिखाई देती है।

दोष (Disadvantages)

आदेश की एकता के सिद्धान्त की आलोचना बहुत हुई है, क्योंकि जटिल होते प्रशासनिक संगठनों और इनमें बढ़ती विशेषज्ञता ने आदेश की एकता के व्यवहारिक पक्ष पर अंगुली उठाई है–

(1) आदेश की एकता सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसे हर जगह, हर परिस्थिति में लागू नहीं किया जा सकता है। अनेक ऐसे विभाग हैं जहाँ यह अनुपयोगी साबित होता है। जैसे एक जूनियर इंजीनियर को पदसोपान के अनुसार जिलाधिकारी के आदेश को मानना चाहिए या एक्जीक्यूटिव इंजीनियर के आदेशों को मानना चाहिए। यहाँ दोहरा नियन्त्रण स्थापित होने लगता है।

(2) **इस सिद्धान्त के कमजोर पक्ष पर ध्यान आक ष्ट करते हुए सैकलर हडसन** (Seckler Hudson) का कहना है कि "एक व्यक्ति एवं एक अधिकारी की पुरानी अवधारणा वर्तमान जटिल शासकीय परिस्थितियों में सत्य नहीं है। आदेश की सरल सीधी रेखा के बाहर अनेक अन्तः सम्बन्ध विद्यमान हैं। फलस्वरूप अनेक लोगों को प्रतिवेदन देने पड़ते हैं एवं उनके साथ कार्य करना पड़ता है। जिससे व्यवस्थित एवं प्रभावशाली तरीके से कार्य सम्पन्न किया जा सके। शासन में एक प्रशासक के कई स्वामी होते हैं, और वह उनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। एक से वह नीति, दूसरे से कर्मचारी, तीसरे से बजट और चौथे से प्रदाय एवं उपकरण सम्बन्धी आदेश प्राप्त करता है।"

(3) इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए **टेलर** (Taylor) ने लिखा है कि इससे "सैनिक प्रकार की चौधराहट" का विकास होता है। एक कर्मचारी को अपने कार्य के सम्बन्ध में विभिन्न तकनीशियनों से निर्देश प्राप्त करने पड़ते हैं, इसके बिना एक कर्मचारी दक्ष नहीं हो सकता।

निर्देशन की एकता के सिद्धान्त या 'सेना जैसे फोरमैन' को एफ0 डब्ल्यू0 टेलर (F.W. Taylor) , जिनको वैज्ञानिक प्रबन्ध का जन्मदाता कहा जाता है, ने रद्द कर दिया और इसके स्थान पर व्यावसायिक निरीक्षण और निर्देशन का सुझााव दिया जहाँ एक कार्मिक के कार्य का निरीक्षण आठ फोरमैन या निरीक्षकों द्वारा किया जायेगा जिनके नाम इस प्रकार हैं—(1) गुट नेता (The gang boss); (2) गति नेता (The speed boss); (3) इन्सपैक्टर्ज (The inspectors); (4) मरम्मत नेता (The repair boss); (5) कार्य की व्यवस्था और प्रणाली क्लर्क (The order of work and route clerk); (6) शिक्षण कार्ड क्लर्क (The instruction card clerk) (7) समय और लागत क्लर्क (The time and cost clerk); तथा (8) कर्मशाला अनुशासनकर्ता (The shop disciplinarian)। इनमें से पहले चार तो स्वयं कर्मशाला या फैक्ट्री में ही होंगे और व्यक्तिगत तौर पर अपने कार्मिकों को उनके काम में सहायता करेंगे, प्रत्येक नेता केवल अपने ही कार्य या क्षेत्र में सहायता करेगा, और शेष चार नियोजन कमरे से काम करेंगे और वे अपने आदेशों और सूचनाओं को लिखकर भेंजेंगे। टेलर की द ष्टि में इस व्यवस्था का मुख्य लाभ यह है कि निरीक्षकों में श्रम-विभाजन हो जाने से प्रत्येक कार्य में विशिष्ट और विशेषज्ञ का निरीक्षण प्राप्त होने में सुविधा होती है। एक अकेला फोरमैन इन सभी कार्यों में विशेषज्ञ नहीं हो सकता।

संभवतः निर्देशन की एकता के पक्ष में यह कहना एक अधिक अच्छा तर्क होगा कि वहाँ इसका उल्लंघन नहीं होता जहाँ एक कर्मचारी भिन्न-भिन्न विषयों या विषय के भिन्न-भिन्न पक्षों, जिन पर वह कार्य करता है, के सम्बन्ध में एक से अधिक वरिष्ठ अधिकारियों से आदेश प्राप्त करता है। इसका उल्लंघन वहाँ होता है जहाँ एक ही विषय पर एक कर्मचारी एक से अधिक वरिष्ठ अधिकारियों से आदेश लेता है। यह आमतौर पर देखा जाता है कि प्रशासनिक और तकनीकी निरीक्षक एक ही कर्मचारियों पर विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में नियंत्रण रखते हैं। अतः किसी एक विषय में कर्मचारी एक ही नेता से आदेश प्राप्त करता है। अतः यदि स्थिति का अधिक बारीकी और विस्तार से विश्लेषण किया जाये, तो निर्देशन की एकता के उल्लंघन की संभ्रांति दूर हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि कई बार विभिन्न प्रकार के निरीक्षणों में विरोध तथा परस्पर-व्यापकता पैदा हो जाती है, किन्तु विस्तार से विचार करने पर प्रत्येक के उचित क्षेत्र को भिन्न-भिन्न करना असम्भव नहीं। कुछ एक कठिन स्थितियों में जहाँ ऐसा करना सम्भव नहीं, अन्तिम निर्णय प्रायः प्रशासनिक अध्यक्ष के हाथ में होता है जो अपील किए जाने पर तकनीकी विशेषज्ञ के निर्णय को बदल सकता है—यह निर्देशन की एकता को अंततः सार्थकता का प्रमाण है।

वस्तुतः आदेश की एकता के दोषों तथा आलोचना के क्रम में गिनाए जाने वाले तर्क बहुत लचर-पचर हैं और अधिकांश आलोचकों ने आदेश, निर्देश तथा प्रार्थना को समानार्थक माना हुआ है। वस्तु स्थिति यह है कि आदेश की एकता, कमांड शब्द पर आधारित है। वास्तव में एक व्यक्ति को एक समय में आदेश तो एक ही उच्चाधिकारी देता है शेष केवल निर्देश जारी करते हैं। कोई भी कार्मिक कई उच्चाधिकारियों के प्रति प्रत्यक्षतः उत्तरदायी नहीं होता है। विकास प्रशासन, उद्योगों तथा तकनीकी क्षेत्रों में कई पर्यवेक्षक तथा अभिकरण मिलकर एक विशिष्ट कार्य करते हैं, अतः यह एक समन्वयात्मक प्रयास होता है न कि आदेश की अनेकता। **डिमॉक एवं डिमॉक** का कहना सही प्रतीत होता है कि "संगठन में कोई तो प्रमुख होता ही है।"[5] अतः वही आदेश की एकता निर्धारित करता है। इसी प्रकार **जॉन डी. मिलेट** कहते हैं—"आदेश की एकता की धारणा को इस बात के साथ तालमेल बैठाना होगा कि निगरानी और नियंत्रण का काम दोहरा अर्थात् तकनीकी और प्रशासनिक हो सकता है। इन दोनों क्षेत्रों के लिए दो अलग-अलग पर्यवेक्षक (तकनीकी तथा प्रशासनिक) हो सकते हैं। एक पर्यवेक्षक कार्यकुशलता पर तथा दूसरा उपलब्ध मानवीय और भौतिक संसाधनों के प्रभावी उपयोग का ध्यान रख सकता है।" यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि निगरानी का पर्यवेक्षण सहायक क्रियाएँ हैं, कमांड की पर्याय नहीं। वास्तव में आदेश की एकता का सिद्धान्त दुर्भाग्यवश अधिक आलोचना का शिकार हुआ है। **लूथर गुलिक** की यह सलाह अधिक सटीक प्रतीत होती है कि—"यदि इस सिद्धान्त का कठोरता से पालन किया जाए तो हो सकता है कि कुछ घातक परिणाम पैदा हो जाएँ, किन्तु यह परिणाम मतिभ्रम, अकार्यकुशलता तथा अनुत्तरदायित्व की तुलना में कुछ भी नहीं हैं, जो इस सिद्धान्त का उल्लंघन करने पर पैदा होंगे।"

सत्ता का प्रत्यायोजन या हस्तान्तरण

प्रत्यायोजन प्रशासकीय संगठन की अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण विशेषता बन गई है। प्रत्यायोजन के अभाव में आज कोई भी प्रशासकीय संगठन भली प्रकार एवं सुगमतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता। प्रत्यायोजन को हस्तान्तरण, प्रत्याधिकरण, प्रत्याधिक अथवा अधीनस्थ प्रत्यायोजन इत्यादि कई नामों से जाना जाता है। प्रत्यायोजन का सामान्य अर्थ होता है किसी उच्च अधिकारी द्वारा किसी निम्न अधिकारी को विशिष्ट सत्ता प्रदान किया जाना। हालाँकि जो सत्ता वह अपने अधीनस्थों को सौंपता है, उसका वैधानिक रूप से उत्तरदायित्व उस उच्चाधिकारी पर ही होता है। उच्चाधिकारी उन अधीनस्थों पर निरीक्षण, नियन्त्रण और पर्यवेक्षण का अधिकार स्वयं के पास रखता है, अर्थात् सत्ता को हस्तान्तरित करने वाला अधिकारी अन्तिम रूप से अपने उत्तरदायित्वों से मुक्त नहीं हो पाता। यह हस्तान्तरण सदैव के लिए नहीं किया जाता बल्कि केवल कार्य कराने के लिए ही किया जाता है। वरिष्ठ अधिकारी सत्ता का हस्तान्तरण अपने अधीनस्थ अधिकारी को इसलिए करता है कि वह अपने विवेक का प्रयोग कर सके, निर्णय ले सके एवं कार्य को पूरा करा सके।

मुने (Mooney) के अनुसार, प्रत्यायोजन का सामान्य अर्थ एक उच्चाधिकारी द्वारा अपने अधीनस्थ कर्मचारी अथवा एजेण्ट को सत्ता का हस्तान्तरण करना है परन्तु इसमें उच्चाधिकारी सत्ता को पूर्णतया गँवा नहीं देता अपितु नियन्त्रण और निरीक्षण की शक्ति वह अपने हाथ में ही रखता हैं वैधानिक द ष्टि से हस्तान्तरित सत्ता मूल अधिकारी के पास ही मानी जाती है, परन्तु उसके व्यावहारिक प्रयोग का अधिकार अधीनस्थ कर्मचारियों को होना है।

मिलेट (Millet) की यह मान्यता है कि "सत्ता के प्रत्यायोजन का अर्थ दूसरों को केवल कर्त्तव्य सौंपने से कुछ अधिक होता है। प्रत्यायोजन का अर्थ है दूसरों पर स्वविवेक का अधिकार सौंपना ताकि वे व्यक्ति अपने कर्त्तव्य सम्बन्धी विशिष्ट समस्याओं को सुलझाने में अपने निर्णय का प्रयोग कर सकें।"

'The British Committee on Minister's' ने प्रतयायोजन का उल्लेख करते हुए कहा है कि "यह एक प्रकार की लघु वैधानिक शक्ति है जिसका प्रयोग अधीनस्थ कर्मचारियों तथा निकायों द्वारा किया जाता है और यह शक्ति स्वयं विधानपालिका द्वारा दी जाती है।"

थियो हैमेन के शब्दों में—"सत्ता के प्रत्यायोजन का अर्थ अधीनस्थों को निर्धारित सीमाओं में कार्य करने हेतु अधिकार प्रदान करने से है।"

अल्बर्ट के. विक्सबर्ग के अनुसार—"जब संगठन के कुछ कार्य तथा इन कार्यों के संचालन हेतु आवश्यक अधिकार, एक या अधिक अधीनस्थ व्यक्तियों को सौंपे जाते हैं, तो इसे प्रत्यायोजन कहा जाता है।"

डगलस सी. बसिल के शब्दों में—"प्रत्यायोजन में अधिकार प्रदान करना या कुछ परिभाषित क्षेत्रों में निर्णयन की शक्ति देना तथा सौंपे गए कार्यों के निष्पादन के लिए अधीनस्थों को उत्तरदायी बनाना सम्मिलित है।"

जॉर्ज आर. टैरी ने प्रतयायोजन की प्रक्रिया को व्यापक अर्थों में वर्णित किया है। उनके अनुसार—"प्रत्यायोजन का अर्थ है, संगठन की एक इकाई से दूसरी इकाई या एक व्यक्ति द्वारा, दूसरे व्यक्ति को अधिकार सौंप देना।"

टैरी के अनुसार, प्रत्यायोजन, तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

1. **नीचे की ओर** (अधोगामी)—जब उच्चाधिकारी, अपने से निम्नाधिकारी को अधिकार सौंपता है।

2. **ऊपर की ओर** (ऊर्ध्वगामी)—जब नीचे का कोई अधिकारी अपने से उच्च अधिकारी को अधिकार सौंप देता है तो इसे नीचे से ऊपर की और प्रत्यायोजन कहा जाता हैं उदाहरण के लिए किसी कम्पनी के शेयरधारक निदेशक मंडल को अधिकार दे देते हैं।

3. **समस्तरीय** (क्षैतिजिक)—जब समान स्तर या समान पद के अधिकारी को या इकाई को अधिकार सौंप दिए जाते हैं।

दूसरी ओर **मेरी पार्कर फोलेट** मानती हैं कि प्रशासनिक सिद्धान्तों में प्रत्यायोजन एक कल्पना भर है क्योंकि सत्ता, कार्य से जुड़ी है। जो कोई कार्य सम्पन्न करता है, उसी में सत्ता निहित हो जाती है चाहे इसे संगठन पसंद करें या न करें साथ ही फोलेट यह भी मानती हैं कि प्रत्यायोजन संगठन की व्यावहारिकता की माँग है अर्थात् किसी सत्ताधारी पर निर्भर रहते वाली प्रक्रिया नहीं है। बहुत से विद्वान् प्रत्यायोजन तथा हस्तान्रण (Transfer) में अन्तर मानते हुए स्पष्ट करते हैं कि हस्तान्तरण में

सत्ता के साथ-साथ उत्तरदायित्व भी प्रत्यायोजित हो जाते हैं अर्थात् प्रत्यायोजनकर्ता पूर्णतः मुक्त हो जाता है। हस्तान्तरण एक प्रकार का स्थायी प्रत्यायोजन या अन्तिम निर्णय है जबकि प्रत्यायोजन आंशिक तथा अस्थायी प्रक ति का पर्याय है।

पूरे प्रत्यायोजन को एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया जा सकता है। किसी महाविद्यालय के प्राचार्य को अपने कॉलेज के प्रशासन के सम्बन्ध में समस्त शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं, लेकिन वह सभी प्रशासनिक दायित्वों की पूर्ति अकेले नहीं कर सकता है। अतः वह कला, विज्ञान और वाणिज्य विषयों में नामांकन लेने का कार्यभार अन्य प्राध्यापकों को अलग-अलग सौंप देता है। वह वित्तीय दायित्व की पूर्ति के लिए "बरसर" की नियुक्ति करता है। खेलकूद ओर सांस्क तिक गतिविधियों से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए वह कुछ अन्य प्राध्यापकों की भी सहायता लेता है। उपर्युक्त सभी कार्यों के लिए अन्तिम रूप से उस महाविद्यालय का प्राचार्य ही जिम्मेदार होता है। वह जिन लोगों को सत्ता सौंपता है उन्हें निर्णय लेने और कार्य करने का अधिकार अवश्य होता है परन्तु प्राचार्य द्वारा प्रदत्त की गई सीमाओं के अन्दर ही अर्थात् इन पर प्राचार्य का नियन्त्रण और पर्यवेक्षण दोनों ही रहता है।

विशेषताएँ (Characteristics)

प्रत्यायोजन, संगठन की एक आवश्यक तथा विश्वव्यापी प्रक्रिया है, जिसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) प्रत्यायोजन में किसी अधीनस्थ या संगठन की किसी इकाई को एक सीमा तक यह अधिकार दिया जाता है कि वह अपने ढंग से कार्य करे। अधिकार प्राप्त करने वाला, अधिकार सौंपने वाले से कुछ निर्देश एवं शर्तें भी प्राप्त करता है अर्थात् अधीनस्थ व्यक्ति की सीमाएँ, उच्चाधिकारी द्वारा निर्धारित कर दी जाती हैं।

(2) प्रत्यायोजन का दोहरा स्वरूप होता है अर्थात प्रत्यायोजन अपने कार्य एवं अधिकार, दूसरों को सौंपता अवश्य है किन्तु बहुत से अधिकार अपने पास रखता भी है। **टैरी** के शब्दों में—"यह प्रक्रिया उसी प्रकार की है जैसे कि दूसरों को ज्ञान बाँटते समय, दूसरों को ज्ञान भी मिल जाता है तथा बाँटने वाले के पास भी ज्ञान रहता है।"

(3) प्रत्यायोजन में निरीक्षण तथा नियंत्रण के अधिकार तथा अन्तिम उत्तरदायित्व सदैव प्रत्यायोजक का बना रहता है। अर्थात् **कानूनी रूप में** (De Jure) सत्ता, प्रतयायोजन करने वाले अधिकारी में ही समाहित रहती है जबकि वास्तविक या **व्यावहारिक रूप** में (De facto) उस अधिकारी में दिखाई देती है जो उसे काम में लेता है।

(4) एक बार प्रत्यायोजन हो जाने के पश्चात् वह स्थायी रूप से प्रत्यायोजित नहीं रहता है जबकि उसमें संशोधन किया जा सकता है; उसे घटाया या बढ़ाया जा सकता है। यह सब परिस्थिति, कार्य और आवश्यकता पर निर्भर करता है।

(5) कोई भी अधिकारी या अभिकरण वही सत्ता प्रत्यायोजित कर सकता है, जो उसके पास होती है। **न्यूमैन** के अनुसार—"कई बार प्रत्यायोजन से प्राप्त सत्ता को भी आगे प्रत्यायोजन किया जा सकता है।"

(6) कोई भी व्यक्ति, अपनी सम्पूर्ण सत्ता का प्रत्यायोजन नहीं कर सकता है बल्कि आंशिक मात्रा में ही प्रत्यायोजन होता है।

(7) प्रत्यायोजन एक कला है। किस अधिकारी को, कब और कितनी सत्ता देनी है तथा किस प्रकार नियंत्रण स्थापित किया जाना है, इसका निर्धारण प्रत्यायोजन करने वाला अधिकारी ही करता है।

प्रत्यायोजन की आवश्यकता

किसी भी संगठन को सुचारू रूप में चलाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्राप्त शक्तियों को विभिन्न व्यक्तियों के मध्य विभाजित और हस्तान्तरित किया जाए, क्योंकि जब तक सत्ता का विभाजन और हस्तान्तरण नहीं होता तब तक न तो संगठन के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है और न ही प्रशासकीय कार्यों को सुगमतापूर्वक हल किया जा सकता है। प्रत्यायोजन की आवश्यकता, उपयोगिता एवं महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए **प्रो. एल. डी. ह्वाइट** (L. D. White) ने कहा है कि "परिस्थितियों के विस्तार एवं मात्रा की माँग है कि कुछ मात्रा में सत्ता का प्रत्यायोजन हो तथा अधिकतर कार्य वहीं पर निपटा लिए जायँ जहाँ वे उत्पन्न हों। केवल नागरिकों की सुविधा की द ष्टि से अधिकतर मामले वाशिंगटन के बाहर सुलझाए जाते हैं। प्रशासकीय उलझनों के चलते जो विलम्ब होते हैं, उनसे बचने के लिए यह आवश्यक है कि प्रशासकीय निर्णय केवल मुख्यालयों में लिये

जाने के बजाय सैकड़ों-हजारों क्षेत्रीय कार्यालयों में लिये जायँ। कुछ मामलों में स्थानीय परिस्थितियों के साथ नीति और कार्यक्रम के उचित समायोजन के लिए विवेकपूर्ण क्षेत्रीय निर्णयों की आवश्यकता होती है। सत्ता के प्रत्यायोजन का अर्थ निश्चय ही अत्यधिक कर्मशक्ति, उत्तरदायित्व की उच्चतर भावना तथा बाहर कार्य करने वाले कर्मचारियों का ऊँचा मनोबल है।" निम्नलिखित तथ्यों से प्रत्यायोजन की आवश्यकता अत्यधिक बढ़ी है। ये तथ्य प्रत्यायोजन के महत्त्व को भी स्पष्ट करते हैः

1. **व्यवस्थापिका के कर्त्तव्यों में व द्धि**—लोक-कल्याणकारी राज्य की भावना ने आधुनिक राज्यों की व्यवस्थापिकाओं पर कार्यों का बोढ लाद दिया है। व्यवस्थापिका अपने दायित्वों को समय की कमी के कारण पूरा करने में असमर्थता का अनुभव करती हैं लोक प्रशासन की बारीकियों को समझने हेतु तथा लोक प्रशासन की विभिन्न योजनाओं को लागू करने के लिए असंख्य कानून बनाने का न तो विधानमण्डल के पास साधन है, न ही समय। अतः वह कानून बनाने, योजना बनाने, तथा प्रशासन से सम्बद्ध विभिन्न नियमों और विनियमों को बनाने का अधिकार कार्यपालिका को ही सौंप देती है।

2. **कार्यों का बोझ कम करने के लिए**—आधुनिक युग में विभिन्न देशों में न सिर्फ जनसंख्या में व्यापक व द्धि हुई है बल्कि कार्यों का बोझ निरन्तर बढ़ता ही गया है। सरकारी प्रशासन पर इतने कार्य बढ़ गए हैं कि वह किसी भी विभाग का कार्य किसी एक अधिकारी के द्वारा सम्पन्न नहीं करा सकता हैं पदसोपान पर स्थित विभिन्न प्राधिकारों में सत्ता का हस्तान्तरण आवश्यक हो जाता है ताकि कार्यों के बोझ को हल्का किया जा सके।

3. **भौगोलिक क्षेत्रों के द ष्टिकोण से**—लोक-कल्याणकारी राज्य का मुख्य उद्देश्य ही होता है अधिक से अधिक जनता को अधिकतम सुविधा मुहैया कराना। इस भावना की पूर्ति तब तक सम्भव नहीं हो पाएगी जब तक कि देश के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में फैले हुए विभिन्न कस्बों, शहरों और गाँवों तक विविध सुविधाओं को न पहुँचाया जाय क्योंकि अगर हम दिल्ली में ही एक डाकघर और एक बैंक खोल दें तथा उसके लिए हजारों सुविधाओं की घोषणा ही क्यों न कर दें, पूरे देश की जनता उससे लाभान्वित नहीं हो सकती। अतः जन-कल्याण की द ष्टि से यह आवश्यक है कि डाकघर और बैंक की अनेक शाखाएँ छोटे-बड़े कस्बों, शहरों इत्यादि में खोली जाएँ। इन शाखाओं में कार्यरत अधिकारियों को निर्णय लेने के लिए उनके उच्चाधिकारियों द्वारा शक्तियों को हस्तान्तरित किया जाय, अतः भौगोलिक क्षेत्रों को देखते हुए सेवाओं के विस्तार के लिए शक्तियों का हस्तान्तरण आवश्यक है।

4. **कार्यकुशलता के विकास के लिए**—प्रशासकीय संगठन की सफलता का एक प्रमुख रहस्य उसके कर्मचारियों की कार्यकुशलता है। कार्यकुशलता कर्मचारियों के आत्मविश्वास से उत्पन्न होती हैं आत्मविश्वास उनमें तभी आ पाता है जब उन्हें कार्य करने और निर्णय लेने का अवसर मिले और यह अवसर तभी मिल सकता है जब उनमें सत्ता का प्रत्यायोजन हो अर्थात् उन्हें अधिकार एवं सत्ता सौंपे जाएँ। संगठन की कार्यकुशलता के लिए सत्ता को प्रत्यायोजित करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि जब कोई उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ अधिकारी को कोई सत्ता सौंपता है तो इससे अधीनस्थ कर्मचारी में अपने कार्य के साथ-साथ उत्तरदायित्व की भावना भी आ जाती हैं इस सन्दर्भ में वह सोचने लगता है कि जब मैं अपने उत्तरदायित्वों को अधिकाधिक कुशलता से सम्पन्न करूँगा तो मुझे और अधिक सत्ता सौंपी जाएगी और इसी कार्य करने की प्रेरणा की वजह से उसके आत्मविश्वास में व द्धि होती है तथा उसकी कार्यकुशलता को विकसित करती है।

5. **समन्वय की द ष्टि से प्रत्यायोजन**—सत्ता का प्रत्यायोजन समन्वय के द ष्टिकोण से भी आवश्यक हो जाता हैं देशों की सामान्य योजना, प्रशासन और सामान्य नीतियों का कार्यान्वयन सभी के लिए एक साथ होता है। ये योजनाएँ उच्चस्तरीय प्रशासकों द्वारा निर्मित और निर्धारित की जाती हैं। सामान्य प्रक ति की ये योजनाएँ स्थानीय और क्षेत्रीय समस्याओं के साथ मेल नहीं खाती हैं। उन स्थानीय और क्षेत्रीय समस्याओं के साथ समन्वय स्थापित करने के लिए प्रत्यायोजन आवश्यक हो जाता हैं उदाहरण के रूप में अगर सरकार की एक योजना है कि प्रत्येक जिले में सिंचाई और पानी की सुविधा के लिए जलाशय परियोजनाओं को बीस-बीस करोड़ रूपये दिए जाएँगे—यह सरकार की सामान्य योजना हुई। लेकिन एक जैसी राशि में एक समतल और अच्छी मिट्टी वाले जिले में तथा पहाड़ी और मरूभूमि स्थल वाले जिले में कार्य नहीं कराया जा सकता है। अगर सामान्य स्थल में कुआँ खोदने, नलकूप लगाने तथा हैण्डपम्प लगाने में दो करोड़ रूपये लगते हैं तो इन्हीं कार्यों को पूरा करने के लिए एक पहाड़ वाले जिले में इससे दुगुनी रकम लग जाएगी, अतः इन पहाड़ और मरूभूमि वाले जिलों की क्षेत्रीय समस्याओं के लिए कुछ वैसे प्रशासनिक अधिकारियों की आवश्यकता है जिन्हें उन क्षेत्रों के सम्बन्ध में निर्णय लेने की शक्ति प्रत्यायोजित की गई हो।

6. प्रशिक्षण का अवसर प्रदान करने हेतु—सत्ता के प्रत्यायोजन के फलस्वरूप कर्मचारियों को कार्य करने को जो अवसर प्राप्त होता है उसकी बजह से उनकी सक्रियता बढ़ती है, अनुभव में व द्धि होती है तथा भावी उत्तरदायित्वों के लिए वे प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। जब कभी भी अधीनस्थ कर्मचारी के ऊपर प्रत्यायोजन के फलस्वरूप नवीन उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं तो वे पूरे उत्तरदायित्व की भावना के साथ काम करते हैं और इस कार्य से उन्हें प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता है। जब उनकी पदोन्नति उस उच्च पद पर होती है जहाँ उन्हें सत्ता प्राप्त होती थी तो उस पद का दायित्व और कार्य उनके लिए नया नहीं रह जाता, क्योंकि इसके सम्बन्ध में वे पूर्व-प्रशिक्षित होते हैं।

7. निर्देशन, नियन्त्रण और पर्यवेक्षण की सुविधा के लिए—प्रशासनिक संगठन में पद-सोपान के विभिन्न स्तरों पर सत्ता के प्रत्यायोजित होने से निर्देशन, नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण का कार्य सुगम हो जाता हैं सत्ता का प्रत्यायोजन योजनाबद्ध ढंग से होता हैं इसमें यह बात स्पष्टरूप से निर्धारित कर दी जाती है कि किसे कौन-सा कार्य कितनी सीमाओं में रहकर पूरा करना हैं जो उच्चाधिकारी अपने अधीनस्थ को सत्ता प्रत्यायोजित करता है, उसके पास उस कार्य से सम्बन्धित निर्देशन, नियन्त्रण और पर्यवेक्षण के अधिकार बने रहते हैं। अगर प्रशासकीय कार्य में कहीं कोई गड़बड़ी, दुहराव या अव्यवस्था होती है तो इसके लिए उत्तरदायी व्यक्ति का पता आसानी से लग जाता हैं

8. व्यय पर नियन्त्रण हेतु—सत्ता के प्रत्यायोजन और शक्ति के विभाजन से अनावश्यक व्यय पर नियन्त्रण स्थापित कर मितव्ययता को बढ़ावा दिया जाता है, क्योंकि प्रत्येक अधिकारी को अपने द्वारा किए गए खर्चे अर्थात् आय-व्यय से सम्बन्धित विवरण अपने उच्चाधिकारी को देना पड़ता है और इस वित्तीय नियन्त्रण की वजह से वे लोकधन का दुरूपयोग नहीं कर पाते। अगर किसी कार्य के लिए किसी अधिकारी को दिल्ली से प्रत्येक सप्ताह पटना आना पड़े तो इससे बेहतर और मितव्ययतापूर्ण कदम यही होगा कि एक अधिकारी को सत्ता प्रत्यायोजित कर पटना में ही नियुक्त कर दिया जाय।

9. शीघ्र निर्णय के लिए—प्रशासकीय संगठन के विभिन्न स्तरों पर कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिनमें शीघ्र निर्णय लेने की आवश्यकता होती हैं सत्ता का प्रत्यायोजन इस कार्य को आसान बना देता है, क्योंकि अधीनस्थों को भी सीमित दायरे में निर्णय लेने को अधिकार सौंप दिया जाता है। छोटे-छोटे कार्यों के सम्बन्ध में तुरन्त निर्णय ले लिये जाते हैं। कभी-कभी प्रशासकीय संगठनों में कुछ ऐसी आपातकालीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिसके लिए आपातकालीन निर्णय की आवश्यकता होती है, अपने मुख्यालय से आदेश प्राप्त करने में इतना वक्त लग जाता है कि बहुत देर हो चुकी होती है, अतः ऐसी परिस्थिति में प्रत्यायोजित अधिकारी शीघ्र निर्णय लेने में समर्थ होते हैं।

10. लोक-सम्पर्क में सुविधा—लोक-सम्पर्क आज के वर्तमान प्रशासन की अनिवार्य आवश्यकता बन गई है। सत्ता के प्रत्यायोजन के फलस्वरूप निचले स्तर के अधीनस्थ अधिकारी तथा देश के विभिन्न कोनों में फैले हुए कर्मचारी आम जनता के साथ सीधे सम्पर्क में आते हैं। वे जनता की समस्याओं को सुनते हैं तथा उन समस्याओं के अनुरूप प्रशासन में सुधार एवं बदलाव की सिफारिश अपने उच्च अधिकारियों की बैठक में करते हैं। प्रत्यायोजन अधिकारी जनता ही समस्याओं को दूर करने में तो समर्थ होता ही है, साथ ही साथ प्रशासन से सम्बन्धित फैले भ्रम को दूर कर वे अपनी उपलब्धियों को बताते हैं।

प्रत्यायोजन की उपर्युक्त आवश्यकताएँ इसके महत्त्व को स्पष्ट करने में पूर्णतः सफल प्रतीत होती हैं। प्रत्यायोजन के उपर्युक्त लाभों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी संगठन प्रत्यायोजन के इन उपर्युक्त गुणों से अपने को वंचित रखना पसन्द नहीं करेगा अतः यह कहा जा सकता है कि आने वाले दिनों में प्रशासन की जटिलताएँ जितनी अधिक बढ़ेंगी प्रत्यायोजन की आवश्यकता भी उसी अनुपात में दिनों-दिन बढ़ती जाएगी।

सत्ता के प्रत्यायोजन के रूप (The Forms of Delegation Of authority)

सत्ता का प्रत्यायोजन अनेक रूपों में किया जाता है क्योंकि सत्ता का प्रत्यायोजन समय, परिस्थितियों और कार्य की आवश्यकताओं के अनुसार अलग-अलग ढंग से किया जाता है। सत्ता के प्रत्यायोजन के विभिन्न रूपों को किसी विशेष सीमा रेखा में नहीं बाँधा जा सकता है, फिर भी आमतौर पर इसके लिए जो वर्गीकरण (Classification) किया जाता है उसे निम्नलिखित शीर्षकों में व्यक्त किया जा सकता हैः

1. टैरी का वर्गीकरण—टैरी ने तीन प्रकार के प्रत्यायोजनों का उल्लेख किया हैः

(क) नीचे की ओर का प्रत्यायोजन (Downward Delegation)

(ख) ऊपर की ओर का प्रत्यायोजन (Upward Delegation)

(ग) तिरछा प्रत्यायोजन (Side Delegation)

जब कोई उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ को सत्ता हस्तान्तरित करता है तो इसे नीचे की ओर का प्रत्यायोजन कहा जाता है। जब अधीनस्थ अधिकारी अपने वरिष्ठ अधिकारी को सत्ता सौंपता है तो इसे ऊपर की ओर का प्रत्यायोजन कहते है, जैसे—शेयरहोल्डर अपने बोर्ड ऑफ डायरेक्टर को सत्ता सौंपता है। **टैरी** (Terry) के अनुसार, तिरछा प्रत्यायोजन वह प्रत्यायोजन है जो समानान्तर ढंग से इधर-उधर जाता है।

2. पूर्ण या आंशिक प्रत्यायोजन (Complete or Partial Delegation)—सत्ता का प्रत्यायोजन पूर्ण भी हो सकता है और आंशिक भी। पूर्ण प्रत्यायोजन में सम्पूर्ण सत्ता का प्रत्यायोजन सत्ताधारी कर देता है। उदाहरण के रूप में, जब किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में किसी प्रतिनिधिमण्डल को भेजा जाता है तो उसे शासन के द्वारा पूर्ण सत्ता प्रत्यायोजित कर दी जाती है। उस प्रतिनिधिमण्डल के द्वारा लिया गया निर्णय शासन को पूर्णतः मान्य होता है। प्रतिनिधिमण्डल जो भी निर्णय देता है वह शासन की ओर से ही देता है। आमतौर पर देश के आन्तरिक प्रशासकीय संगठन में आंशिक सत्ता का ही प्रत्यायोजन किया जात है अर्थात् उच्च अधिकारी थोड़ी-सी सत्ता और थोड़ा-सा कार्य अपने अधीनस्थ को उत्तरदायित्वों के साथ सौंप देता है।

3. लिखित अथवा मौखिक प्रत्यायोजन (Written or Verbal Delegation)—जिस सत्ता का प्रत्यायोजन लिखित रूप में आदेश के द्वारा, लिखित पत्र के द्वारा अथवा लिखित अधिसूचना के द्वारा हो, उसे लिखित प्रत्यायोजन कहते हैं। इसके विपरीत, सत्ता प्रत्यायोजन यदि मौखिक रूप से अथवा टेलीफोन पर दिया गया हो, तो उसे अलिखित अथवा मौखिक प्रत्यायोजन माना जाता है। प्रत्यायोजन का विधिक स्वरूप मौखिक प्रत्यायोजन नहीं है।

4. औपचारिक अथवा अनौपचारिक प्रत्यायोजन (Formal or Informal Delegation—औपचारिक प्रत्यायोजन वह हस्तान्तरण है जिसमें प्रत्यायोजन संगठन की अधिकार सीमाओं के अनुसार किया जाता है। यह प्रत्यायोजन अधिसूचना के माध्यम से निर्धारित प्रक्रिया (Proper Channel) के अनुसार होता हैं जो प्रत्यायोजन संगठन के नियम के अनुसार अधिसूचना के द्वारा नहीं होता तथा जिसमें निर्धारित प्रक्रिया की अवहेलना की जाती है, उसे अनौपचारिक प्रत्यायोजन कहते हैं। इसमें अधीनस्थ अपनी स्वयं की प्रेरणा से मनमाने ढंग से कार्य कर बैठते हैं।

5. सशर्त अथवा शर्तहीन प्रत्यायोजन (Conditional or Unconditional Delegation)—सत्ता का प्रत्यायोजन सशर्त भी हो सकता है और अशर्त भी। सशर्त प्रत्यायोजन में सत्ता के प्रत्यायोजन के साथ कुछ शर्तें लगा दी जाती हैं और उन शर्तों को पूरा करना अधीनस्थ के लिए आवश्यक हो जाता है, जैसे अमेरिका के राष्ट्रपति को सन्धियाँ करने का अधिकार है मगर शर्त यही है कि उन सन्धियों का अनुमोदन उसे सीनेट से कराना पड़ेगा। शर्तहीन प्रत्यायोजन में कोई शर्त नहीं रखी जाती है तथा अधीनस्थ अधिकारी को निर्णय लेने और कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता रहती है।

6. प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन (Direct or Indirect Delegation)—आमतौर पर प्रत्यायोजन प्रत्यक्ष रूप से ही होता है। सत्ताधारी अपने अधीनस्थ कर्मचारी को सत्ता सीधे सौंपता है तो सत्ता का हस्तान्तरण यहाँ प्रत्यक्ष रूप से होता है। हस्तान्तरण में इन दोनों के बीच कोई मध्यस्थ नहीं होता है, परन्तु प्रत्यायोजन अप्रत्यक्ष रूप से भी होता है। अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन के अन्तर्गत शक्ति पहले एक मध्यस्थ को सौंपी जाती है और यह मध्यस्थ फिर शक्ति उसको सौंपता है, जैसे अमेरिका में राष्ट्रपति को जो शक्ति प्राप्त है वह अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचक-मण्डल के माध्यम से जनता ने उसे सौंपी है।

7. सामान्य अथवा विशिष्ट प्रत्यायोजन (General or Specific Delegation)—सामान्य प्रक ति के कार्यों एवं उत्तरदायित्वों के लिए जो प्रत्यायोजन सामान्य रूप से किये जाते हैं, उन्हें सामान्य प्रत्यायोजन कहा जाता है लेकिन जब किसी विशेष कार्य को पूरा करने के लिए विशिष्ट ढंग से शक्ति का प्रत्यायोजन किया जाता है, तो उसे विशेष प्रत्यायोजन कहते हैं। प्रायः प्रत्येक संगठन में प्रत्यायोजन का विशिष्ट होना एक अच्छी बात समझी जाती है।

8. सरल या जटिल प्रत्यायोजन (Simple or Complex Delegation)—प्रत्यायोजन के वर्गीकरण में अन्तिम स्थान सरल अथवा जटिल प्रत्यायोजन का है। प्रायः छोटे-छोटे संगठनों में उच्च अधिकारी अपने कार्यों के बोझ को हल्का करने के लिए अपने अधीनस्थों का सहयोग लेते हैं और सहयोग लेने के स्वार्थ में उनमें सरल रूप से बिना किसी जटिलता के सत्ता को

प्रत्यायोजित कर देते हैं। ये संगठन इतने छोटे और कम महत्त्व के होते हैं कि हस्तान्तरण की जटिल प्रक्रिया को अपनाना उचित नहीं समझते। दूसरी तरफ जटिल प्रक्रिया की आवश्यकता बड़े संगठनों में होती है जहाँ कार्यबोझ और अधिकार-क्षेत्र काफी विकसित और जटिल होते हैं। इसमें सत्ता का प्रत्यायोजन यूँ ही आसानी से नहीं हो जाता बल्कि प्रत्यायोजन की जटिल निर्धारित प्रतिक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है।

प्रत्यायोजन के उपर्युक्त वर्गीकरण इस बात की ओर संकेत देते हैं कि सत्ता का प्रत्यायोजन प्रशासकीय संगठन के आकार, स्वरूप एवं महत्त्व के अनुसार अलग-अलग ढंग से होता है। सत्ता का औपचारिक एवं लिखित प्रत्यायोजन ज्यादा वैध माना जाता है, लेकिन जब अधीनस्थ अधिकारी के अनौपचारिक सम्बन्ध अत्याधिक घनिष्ठ एवं मधुर हो जाते हैं तो अनौपचारिक ढंग से भी वह कुछ सत्ता प्राप्त कर लेता है। जिस तरह एक देश की लिखित संविधान के अतिरिक्त कुछ अलिखित परम्पराएँ भी विकसित हो जाती हैं ठीक उसी प्रकार सत्ता भी कुछ अर्थों में अलिखित और अनौपचारिक रूप से अधीनस्थ के पास परम्परागत ढंग से पहुँच जाती है।

प्रत्यायोजन की प्रक्रिया (The Process of Delegation)

हेमन (Haimman) ने कहा है कि "सत्ता के हस्तान्तरण का अर्थ केवल यह है कि अधीनस्थों को एक निर्धारित सीमा में कुछ करने की सत्ता सौंप दी जाय। प्रत्यायोजन की इस प्रक्रिया के कारण अधीनस्थ अधिकारी अपने उच्च अधिकारी से सत्ता प्राप्त करता है, किन्तु उच्च अधिकारी के पास सत्ता अब भी मौलिक रूप से बनी रहती है। वह उसे पूरी तरह त्याग नहीं कर देता।" जैसा कि हेमन के इस कथन से स्पष्ट है कि सत्ता का प्रत्यायोजन एक प्रक्रिया है और यह प्रशासन के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में अवतरित हुआ है।

प्रो. न्यूमैन (Newman) की यह मान्यता है कि तीन तत्त्व मिलकर प्रत्यायोजन की प्रक्रिया (Process of Delegation) का निर्माण करते हैं :

(1) कार्यपालिका अपने निकटतम अधीनस्थों (Immediate Subordinates) को कार्य सौंपती है।

(2) कार्यपालिका द्वारा सौंपे जाने वाले कार्य के सम्बन्ध में साधनों का अधिकाधिक प्रयोग करने एवं अन्य प्रकार के कार्य करने की सत्ता प्रदान की जाती है।

(3) जिन अधीनस्थों को कार्य सौंपे जाते हैं उन्हें सौंपने वाले अधिकारी के प्रति उत्तरदायी बनाया जाता है।

प्रो. न्यूमैन ने अपने कथन में तीन बातें प्रमुख रूप से स्पष्ट हैं—प्रथम, कार्य सौंपना; द्वितीय, सत्ता प्रदान करना, एवं त तीय, उत्तरदायित्व का निर्धारण। उपर्युक्त तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त प्रत्यायोजन की प्रक्रिया में एक और तत्त्व प्रधान माना जाता है। वह यह है कि प्रत्यायोजन की एक प्रक्रिया जिस उत्तरदायित्व की रचना करती है उसे पुनः प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता (An obligation created by a delegation scheme cannot be again delegated)। प्रत्यायोजन की प्रक्रिया में यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखी जाती है कि इसमें अधिकारों और कर्त्तव्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित और विभाजित कर दिया जाना चाहिए। प्रत्यायोजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही एक के द्वारा अपने में से औरों को कुछ देने से है।

प्रभावशाली प्रत्यायोजन की आवश्यक बातें (Essential Conditions for Effective Delegation)

प्रभावशाली प्रत्यायोजन के लिए कुछ शर्तों एवं सिद्धान्तों का होना आवश्यक है। प्रमुख विद्धानों के अनुसार प्रत्यायोजन की सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए :

1. प्रो. न्यूमैन के अनुसार प्रशासन तथा प्रबन्धकीय व्यवस्था में दोहरा प्रत्यायोजन (Double Delegation) नहीं रहना चाहिए।
2. प्रत्यायोजन के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों का स्पष्ट रूप से निर्धारण कर लिया जाना चाहिए।
3. प्रत्यायोजन की स्वीक ति हेतु कर्मचारियों को आवश्यक प्रेरणाएँ दी जानी चाहिए।
4. अधिकारों एवं दायित्वों में समरूपता होनी चाहिए।
5. अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों की स्पष्ट विवेचना की जानी चाहिए।

6. प्रत्यायोजन में अधीनस्थ की सामर्थ्य का ध्यान रखा जाना चाहिए।
7. यदि आवश्यक हो तो प्रत्यायोजन के लिए प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।
8. अधीनस्थों की क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया जाना चाहिए।
9. प्रत्यायोजनकर्त्ता प्रशासनिक द ष्टि से कोई सत्ताधारी और समर्थ पदाधिकारी रखा जाना चाहिए।
10. प्रत्यायोजन स्पष्ट तथा लिखित होना चाहिए।
11. सत्ता प्रत्यायोजित करते समय अधीनस्थों की योग्यता एवं क्षमता का ध्यान रखा जाना चाहिए। विशेषज्ञ को ही विशिष्ट कार्य सौंपना चाहिए।
12. उच्च पदाधिकारी एवं अधीनस्थ पदाधिकारी के मध्य पारस्परिक सहयोग, सद्भाव एवं विश्वास का वातावरण तैयार किया जाना चाहिए।
13. जहाँ तक सम्भव हो आदेश की एकता के सिद्धान्त का अनुपालन किया जाना चाहिए।
14. उच्च अधिकारियों द्वारा अधीनस्थों की कठिनाइयों आदि के समाधान हेतु पूर्ण अवसर प्रदान किए जाने चाहिए।
15. प्रत्यायोजन की अन्तिम शर्त यह है कि प्रत्यायोजन का सम्बन्ध पद से होना चाहिए, न कि उस पद पर आसीन किसी व्यक्ति विशेष से।

प्रत्यायोजन की सीमाएँ एवं बाधाएँ (Limitation and Hindrances of Delegation)

आधुनिक प्रशासनिक संगठनों में प्रत्यायोजन एक अनिवार्य प्रक्रिया है लेकिन प्रत्येक संगठन में तथा प्रत्येक स्थिति में प्रत्यायोजन सम्भव नहीं है। इसकी कुछ सीमाएँ एवं बाधाएँ हैं।

सीमाएँ (Limitations)

कोई भी उच्च अभिकरण या अधिकारी निम्नांकित कार्य प्रत्यायोजित नहीं कर सकता है–

(1) निकटस्थ अधीनस्थों का पर्यवेक्षण
(2) वित्तीय स्वीक ति तथा नियंत्रण के अधिकार
(3) नवीन नीति तथा योजना-स्वीक ति
(4) कानून बनाने की शक्तियाँ
(5) उच्च पदों पर नियुक्ति
(6) निकटस्थ अधीनस्थों के निर्णयों के विरूद्ध अपील सुनवाई के अधिकार
(7) अत्यन्त गुप्त निर्णय तथा उच्च स्तरीय कूटनीति
(8) जो अधिकार स्वयं के पास नहीं है
(9) अनुशासनात्मक कार्यवाही के अधिकांश मामले।

बाधाएँ

संगठन में प्रत्यायोजन करने के सम्बन्ध में दो प्रकार की बाधाएँ या अड़चनें हैं–

(1) संगठनात्मक बाधाएँ
(2) कार्मिक बाधाएँ

(1) संगठनात्मक बाधाएँ

(i) कुछ संगठनों में प्रत्यायोजन हेतु उन स्थापित तरीकों तथा प्रक्रियाओं का अभाव होता है जो प्रत्यायोजन हेतु अत्यावश्यक हैं। प्रायः नये तथा छोटे संगठनों में यह बाधा आती है।

(ii) समन्वय प्रक्रिया तथा सम्पर्क प्रणाली का अभाव हो तो प्रत्यायोजन करना मुश्किल रहता है।

(iii) अस्थिर तथा अनावर्ती (Non recurrent) कार्यों का प्रत्यायोजन कठिनता से होता है। जबकि स्थिर तथा पुनराव ति से युक्त कार्यों का प्रत्यायोजन अधिक किया जा सकता है।

(iv) संगठन का आकार तथा भौगोलिक स्थिति भी प्रत्यायोजन को प्रभावित करती है। बड़े तथा फैले हुए संगठनों में प्रत्यायोजन अधिक होता है।

(v) पदों, अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के क्रम में अस्पष्टता हो तो प्रत्यायोजन करना कठिन माना जाता है।

(vi) संविधान, कानून तथा संगठन के उद्देश्य एवं नियम भी प्रत्यायोजन की सीमाएँ तय कर देते हैं।

(vii) गम्भीर परिस्थितियों में प्रत्यायोजन नहीं किया जाता है।

(2) कार्मिक बाधाएँ

पिफनर ने निम्नलिखित मानवीय कारणों को प्रत्यायोजन में बाधाएँ माना है–

(1) प्रत्यायोजन करने वाले में–

(i) पदसोपान में उच्च स्थिति में पहुँच चुके पदाधिकारियों में सामान्य से अधिक अहं होता है।

(ii) उन्हें यह डर रहता है कि दूसरे व्यक्ति सही निर्णय नहीं कर पाएँगे या क्रियान्विति भली प्रकार नहीं करेंगे।

(iii) उन्हें यह भी भय सताता रहता है कि प्रभावशाली अधीनस्थों को अधिकार देने से वफादारी कम हो जाएगी या वे विरोधी बन जाएँगे।

(iv) द ढ़, अति उत्साही तथा शीघ्रता से कार्य करने वाले उच्चाधिकारी, अधीनस्थों की धीमी गति तथा अनिश्चितता से धैर्य खो बैठते हैं।

(v) लोक प्रशासन में राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण भी उच्चाधिकारी प्रत्यायोजन नहीं कर पाते हैं।

(vi) मानव को अधिनायकवादी प्रव त्तियाँ विरासत में मिली हैं अतः सांस्क तिक परिवर्तन के बिना सुधार नहीं होगा।

(vii) प्रत्यायोजन के लिए भावनात्मक परिपक्वता अनिवार्य है जबकि सफल व्यक्तियों में यह कम ही मिलती हैं

(viii) सफल नेत त्व तथा प्रत्यायोजन में परस्पर तालमेल नहीं है। दूसरों को अपने नेत त्व से आकर्षित करने वाले प्रत्यायोजन कम ही करते हैं।

(ix) बहुत से प्रत्यायोजन करने वाले इच्छुक व्यक्ति, यह नहीं जानते कि प्रत्यायोजन कैसे किया जाए।

(x) प्रत्यायोजन करने वाले यह भी नहीं जानते कि किस सीमा तक प्रत्यायोजन किया जाए क्योंकि संगठन तथा प्रबन्धन की कल अभी परिपक्व नहीं हुई तथा बहुत से संगठनों में प्रत्यायोजन किया भी नहीं जा रहा है।

(2) अधीनस्थों की अड़चनें–

बहुत से अधीनस्थ प्रत्यायोजन के द्वारा सत्ता एवं कार्य लेना ही नहीं चाहते, क्योंकि–

(i) उन्हें आलोचना का भय सताता है।

(ii) अच्छा कार्य करने के लिए आवश्यक जानकारी तथा संसाधनों का अभाव है।

(iii) आत्मविश्वास की कमी रहती है।

(iv) पहल-क्षमता और गतिशीलता की कमी है।

(v) क्षमता से अधिक कार्य मिलने पर बोझ-सा लगता है।

(vi) बहुत से अधीनस्थ "करने से पूछना भला" ही अच्छा समझते हैं।

(vii) पदोन्नति के अवसरों तथा अभिप्रेरणाओं का अभाव रहता है।

प्रभावी प्रत्यायोजन के लिए आवश्यक बातें

पिफनर ने प्रत्यायोजन को प्रभावी बनाने के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाएँ हैं–

(1) दायित्वों का निर्वाह करने में सक्षम अधीनस्थों का चयन करें।

(2) प्रत्येक कार्मिक की जिम्मेदारियाँ स्पष्ट करें।

(3) प्रत्यायोजन के सम्बन्ध में उचित प्रशिक्षण दें।

(4) संगठन की सामान्य नीतियाँ निश्चित करके उनका प्रचार करें।

(5) क्रियात्मक तथा व्यवस्था सम्बन्धी प्रक्रियाओं का अधिक से अधिक मानकीकरण करने की चेष्टा करें।

(6) कार्य विश्लेषण, संगठनात्मक अध्ययन, बजट, नियोजन, कार्य प्रगति अध्ययन, व्यवस्था और प्रक्रियाओं के सरलीकरण जैसे प्रबन्धन नियोजन के कार्य निरन्तर करते रहें।

(7) सम्पूर्ण पदसोपान व्यवस्था में ऊपर, नीचे तथा हर दिशा में सूचनाओं के आदान-प्रदान की व्यवस्था करें।

प्रत्यायोजन से सम्बन्धित बाधाओं का निराकरण करके ही संगठनात्मक कुशलता तथा कार्मिकों के व त्तिका विकास सम्बन्धी लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास यह होना चाहिए कि योग्य प्रत्यायोजक संगठन में हों। **योग्य प्रत्यायोजक** वह है जो प्रत्यायोजन का महत्त्व समझता हो, अधीनस्थों में विश्वास रखता हो, पर्याप्त सूचनाएँ एवं तथ्य एकत्र रखता हो, अधीनस्थों को प्रोत्साहित करता हो, अधिकार एवं उत्तरदायित्व में संतुलन करना जानता हो, अनौपचारिक सम्बन्धों तथा संगठनों का महत्त्व समझता हो, अधीनस्थो की समस्याओं तथा जिज्ञासाओं का समाधान करता हो तथा पूर्ण निष्पक्षता के साथ लोकतांत्रिक नेत त्व प्रदान करता हो।

केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण
(Centralization & Decentralization)

केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण दो विपरीतार्थी अवधारणाएँ हैं। सदियों से विश्वभर की शासन व्यवस्थाएँ इसी प्रश्न से जूझती रही हैं कि शासन सत्ता का केन्द्रीकरण किया जाए अथवा विकेन्द्रीकरण। दानों अवधारणाओं की अपनी-अपनी विशेषताएँ, गुण तथा दोष हैं। **जे.सी. चार्ल्सवर्थ** का कहना है–"पूर्ण प्रशासकीय नियंत्रण, एकरूपता एवं निश्चितता स्थापित करने की स्वाभाविक इच्छा तथा सरकारी प्रशासन को स्थानीय जन भावनाओं को ध्यान में रखकर शासन करने की जनता की माँग; में समन्वय स्थापित करना संगठन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है।" एक ओर नियोजित अर्थव्यवस्था, सशक्त तथा प्रभावशाली प्रतिरक्षा और राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता केन्द्रीकरण पर बल देती है तो दूसरी ओर जनसहयोग से लोकतंत्र की स्थापना का आश्वासन एवं क्षेत्रीय स्वायत्तता की बढ़ती माँग विकेन्द्रीकरण का समर्थन करती है। यही कारण है कि अधिकांश देशों में न तो पूर्ण केन्द्रीकरण अपनाया गया है और न ही विशुद्ध विकेन्द्रीकरण प्रणाली में रुचि दिखाई गई है। भारत मे भी जहाँ योजना आयोग, केन्द्रीकरण की प्रतीक संस्था है तो पंचायती राज संस्थाएँ लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की पर्याय है। केन्द्रीकरण, वह अवधारणा है जो प्रत्यायोजन के विपरीत है। जहाँ केन्द्रीकरण में अधिकारिक शक्तियाँ संगठन के उच्च स्तर पर केन्द्रित होती हैं वहीं विकेन्द्रीकरण में सत्ता का छितराव होता है।

अर्थ (Meaning)

केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण मुख्यतः संगठन में निर्णय लेने की शक्ति तथा भौतिक सुविधाओं के जमाव अथवा विखराव को स्पष्ट करते हैं। **हेनरी फेयोल** के शब्दों में–"जिससे अधीनस्थों के महत्त्व में व द्धि हो वह विकेन्द्रीकरण होता है तथा जो अधीनस्थों के महत्त्व को घटाए वह केन्द्रीकरण कहलाता है।"

एल.डी. व्हाईट के अनुसार–"प्रशासन के निम्न तल से उच्च तल की ओर प्रशासकीय सत्ता के हस्तान्तरण की प्रक्रिया को 'केन्द्रीकरण' कहते हैं तथा ठीक इसके विपरीत (उच्च से निम्न की ओर) व्यवस्था 'विकेन्द्रीकरण' कहलाती है।"

हेराल्ड कूंट्ज के अनुसार–"केन्द्रीकरण का प्रयोग उन प्रव त्तियों का विवरण देने के लिए किया जाता है जो सत्ता के छितराव (विकेन्द्रीकरण) से भिन्न हैं.....बहुधा यह विभागीय गतिविधियों, सेवा, प्रभागों या एक ही विभाग में केन्द्रीक त समान या विशिष्ट

गतिविधियों की ओर संकेत करता है लेकिन ब प्रबन्ध के पक्ष के रूप में केन्द्रीकरण की चर्चा की जाती है तो उसका अर्थ होता है—सत्ता को सौंपना या रोके रखना तथा निर्णय लेने में सत्ता का छितराव या जमाव होना।"

लुईस ए. एलन के शब्दों में—"केन्द्रीकरण से आशय उस स्थिति से है जिसमें किए जाने वाले कार्य के सम्बन्ध में अधिकांश निर्णय उन व्यक्तियों द्वारा नहीं लिए जाते हैं जो कि कार्य कर रहे हैं अपितु संगठन में एक उच्च स्तर पर निर्णय लिए जाते हैं। विकेन्द्रीकरण की स्थिति में अधिकारों का प्रत्यायोजन स्थायी रूप से उन स्तरों को कर दिया जाता है जो कार्य का निष्पादन करते हैं।"

जे.एल. मैसी के शब्दों में—"विकेन्द्रीकरण, संगठनात्मक अवधारणा के रूप में, निर्णय को संगठन के निम्न स्तर पर ले जाने की क्रिया है।"

जे.सी. चार्ल्सवर्थ के अनुसार—"विकेन्द्रीकरण का प्रमुख तत्त्व निर्णय-निर्धारण समबन्धी कार्यों का प्रत्यायोजन है।"

फेसलर ने केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"कोई क्षेत्रीय सेवा केन्द्रीकरण की ओर झुकी है या विकेन्द्रीकरण की ओर, इसका अनुमान उन मामलों के महत्त्व पर निर्भर करता है जिनके सम्बन्ध में क्षेत्रीय अधिकारियों को निर्णय लेने का अधिकार होता है, न कि मुख्यालय द्वारा निर्णय किए जाने वाले मामलों पर।" **फेसलर** ने अन्य आधार यह बताए हैं—

(1) मुख्यालय में निर्णित मामलों में क्षेत्रीय अधिकारियों का कितना परामर्श लिया गया या उन्हें महत्त्व मिला?

(2) कितने मामले क्षेत्रीय अधिकारियों द्वारा मुख्यालय के पास निर्णय हेतु भेजे जाते हैं?

(3) क्षेत्र की निर्णय क्षमता तथा प्रक्रिया को प्रभावित करने में केन्द्रीय नियमों तथा आदेशों की संख्या कितनी है?

(4) क्षेत्रीय निर्णयों को स्पष्टतः निरस्त करने के क्रम में जनता द्वारा मुख्यालय में अपील के क्या प्रावधान हैं।

(5) एक ही भौगालिक क्षेत्र के अन्तर्गत क्षेत्रीय क्रियाओं को एक ही क्षेत्रीय अधिकारी द्वारा निर्देशित करने की सीमा तथा अधिकारी की योग्यता क्या है?

फेसलर के अनुसार किसी विभाग या सेवा की क्षेत्रीय इकाइयाँ स्थापित कर देने या कार्यभार बाँट देने अथवा कुल कार्मिकों में से 90% का क्षेत्रीय इकाइयों में कार्य करना मात्र ही विकेन्द्रीकरण का पर्याय नहीं है। इसी तरह विकेन्द्रीकरण को **लुइस ए. एलन** ने "व्यावहारिक प्रबन्ध की कला एवं विज्ञान की प्रशासनिक कार्यविधि में सबसे अधिक उलझी हुई तथा उलझाने वाली विधि माना है।"

पिफनर एवं शेरवुड ने विकेन्द्रीकरण के क्रम में कहा है कि—"कुछ अर्थों में तो विकेन्द्रीकरण को प्रबन्ध व्यवस्था का धर्म वाक्य माना जाने लगा है। **प्रथमतः** तो इसे एक जीवन पद्धति माना जाता है जिसे कम-से-कम, आंशिक रूप में विश्वास के आधार पर अपनाया जाना चाहिए। **दूसरे** यह एक आदर्शवादी अवधारणा है जिसकी नैतिक जड़ें लोकतंत्र में निहित हैं। **तीसरे** प्रारम्भ में यह अधिक कठिन जीवन पद्धति जान पड़ती है क्योंकि इसमें मानव संस्क ति से विपरीत व्यावहारिक परिवर्तन करना पड़ता है।" यही कारण है कि विकेन्द्रीकरण का नया साहित्य इस बात पर बल देता है कि संगठनात्मक व्यवहार में परिवर्तन कैसे लाया जाए। लोग सत्ता के प्रत्यायोजन से कतराते हैं। इसी प्रकार न तो वे दीर्घकालीन हितों के आधार पर सोच पाते हैं और न ही आदेश देने के बजाय आदेश सुन पाते हैं। परम्परावादी लोग (अधिकारी) दूसरों के कार्यों का मूल्यांकन चिड़चिड़ाहट में या तनावपूर्वक करते हैं न कि सब मिलकर आने वाले परिणाम के आधार पर। विकेन्द्रीकरण की अवधारणा तो राजनीतिक सत्ता हस्तान्तरण तथा लोकतांत्रिक नियमों की पक्षधर है। इसके कारण न केवल संगठन में अधिकारियों की क्षमता विकसित होती है बल्कि संगठन तथा जनसाधारण के बीच उचित सम्पर्क स्थापित करने में भी सहायता मिलती है।

सामान्यतया विकेन्द्रीकरण को स्पष्ट करने के लिए पाँच बिन्दुओं को विश्लेषित किया जाता है—

(1) अधीनस्थ व्यक्तियों तथा इकाइयों को स्वेच्छा से कार्य करने तथा निर्णय लेने की पर्याप्त शक्तियाँ सौंपी जाएँ; (प्रशासनिक पक्ष)

(2) मुख्यालय द्वारा कम-से-कम नियंत्रण किया जाए; (प्रशासनिक पक्ष)

(3) निर्वाचित निकायों के हाथों में अधिकाधिक शक्तियाँ सौंपी जाएँ तथा प्रशासन में जनसहभागिता स्पष्ट दिखे; (राजनीतिक पक्ष)

(4) जनता के निकट तथा मुख्यालय से दूर स्वतंत्र क्षेत्रीय इकाइयों की स्थापना हो; (भौगोलिक पक्ष)

(5) विभिन्न नीतियों, कार्यों, नियमों के सम्बन्ध में अधीनस्थ इकाइयों को पूर्ण स्वायत्तता मिले; (कार्यात्मक पक्ष)

उपर्युक्त प्रशासनिक, राजनीतिक, भौगोलिक तथा कार्यात्मक पक्ष शासन में विकेन्द्रीकरण को स्पष्ट करते हैं जबकि इसकी विपरीत स्थिति केन्द्रीकरण को बताती है।

विकेन्द्रीकरण और प्रत्यायोजन में अन्तर (Difference between Decentraliztion and Delegation)

सामान्यतः प्रत्यायोजन तथा विकेन्द्रीकरण, एक-दूसरे से अत्यधिक मिलती-जुलती अवधारणाएँ प्रतीत होती हैं क्योंकि दोनों ही अवधारणाएँ अधीनस्थों को सत्ता देने की वकालत करती हैं, लेकिन कुछ मूलभूत (स्थूल से) अन्तर इनमें हैं।

प्रत्यायोजन का अर्थ किसी दूसरे को अधिकार, कार्य तथा क्रियात्मकरूप से कुछ दायित्व सौंप देने से है। प्रत्यायोजन में अंतिम उत्तरदायित्व, उच्चाधिकारी अर्थात् सत्ता प्रदत्त करने वाले (प्रत्यायोजक) का ही बना रहता है। इसी प्रकार प्रत्यायोजन में, जिसे अधिकार दिए जाते हैं वह पूर्ण स्वतंत्र नहीं रहता है बल्कि कुछ शर्तों के अधीन वह कार्य करता है तथा अधिकांशतः अन्तिम निर्णय उच्चाधिकारी का ही रहता है। विकेन्द्रीकरण में जिसे अधिकार दिए जाते हैं वह पूर्ण स्वतंत्रता भी भोगता है तथा अंतिम रूप में उत्तरदायित्व भी निभाता है। विकेन्द्रीकरण एक विस्त त अवधारणा है जिसमें एक व्यक्ति के बजाय सम्पूर्ण संस्था या निकाय या स्तर को सत्ता दे दी जाती है जबकि प्रत्यायोजन की अवधारणा अधिकांशतः व्यक्ति से व्यक्ति को प्रदत्त अधिकारों को स्पष्ट करती है। इसी प्रकार प्रत्यायोजन की प्रक ति पूर्णतः प्रशासनिक एवं सीमित है जबकि विकेन्द्रीकरण की प्रक ति राजनीतिक, प्रशासनिक तथा भौगोलिक होते हुए व्यापक दिखाई देती है। प्रत्यायोजन का उद्देश्य संगठन की आंतरिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ है जबकि विकेन्द्रीकरण प्रत्यक्षतः लोकतंत्र के मूल्यों तथा जन भावनाओं से सम्बद्ध अवधारणा है। प्रत्यायोजन सीमित, अल्पावधि, आंशिक, अप्रत्यक्ष तथा विशिष्ट हो सकता है जबकि विकेन्द्रीकरण व्यापक, स्थायी, पूर्ण, प्रत्यक्ष तथा सामान्य होता है। **पीटर एफ. ड्रकर** के अनुसार—"विकेन्द्रीकरण, संघवाद के सिद्धान्त पर आधारित है जबकि प्रत्यायोजन में ऐसा नहीं है।"

प्रत्यायोजन तथा विकेन्द्रीकरण में अन्तर

प्रत्यायोजन	विकेन्द्रीकरण
1. यह एक सीमित तथा किंचित् प्रशासनिक अवधारणा है।	1. यह एक व्यापक तथा स्थायी अवधारणा है जो लोकतांत्रिक मूल्यों से प्रभावित है।
2. यह संगठन की आंतरिक कार्यप्रणाली से सम्बद्ध है।	2. यह शासन, प्रशासन तथा जनता के भावनात्मक और संगठन की सम्पूर्ण कार्यप्रणाली से सम्बद्ध है।
3. प्रत्यायोजन, समान्यतः व्यक्ति से व्यक्ति को किया जाता है।	3. विकेन्द्रीकरण, संस्था से संस्था को किया जाता हैं।
4. इसमें अधीनस्थ को उच्च निर्णय की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं होती है।	4. इसमें अधीनस्थ संस्था को निर्णयन के क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्रता रहती है।
5. इसमें अंतिम उत्तरदायित्व प्रत्यायोजक का रहता है।	5. इसमें अंतिम उत्तरदायित्व अधीनस्थ संस्था का ही रहता है।
6. प्रत्यायोजन में अधीनस्थ को नियम-निर्माण की शक्तियाँ प्रायः नहीं दी जाती हैं।	6. विकेन्द्रीकरण में अधीनस्थ संस्था को नियम-निर्माण की भी स्वायत्तता रहती है।

7. इसमें राजनीतिक मूल्यों तथा जन भावनाओं का बहुत कम स्थान है।	7. इसमें राजनीतिक मूल्य तथा जनभावनाएँ प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाती है।
8. प्रत्यायोजन सीमित, अल्पावधि, आंशिक, अप्रत्यक्ष तथा विशिष्ट होता है। **जैसे**—प्राचार्य द्वारा उप प्राचार्य को कार्य एवं अधिकार अधिकार सौंपना	8. विकेन्द्रीकरण व्यापक, स्थायी, पूर्ण, प्रत्यक्ष सामान्य होता है। **जैसे**—राज्य सरकार द्वारा अपने कार्य एवं अधिकार पंचायती राज संस्थाओं को देना।

वास्तव में प्रत्यायोजन का लक्ष्य, संगठन में कार्यकुशलता लाना, अधीनस्थों को योग्य बनाना, शीघ्रता से कार्य का सम्पादन करना तथा उच्चाधिकारी के कार्य-बोझ को कम करना होता है जबकि विकेन्द्रीकरण का लक्ष्य संगठन में लोकतांत्रिक मूल्यों को प्रसारित करते हुए अधीनस्थ इकाइयों को स्वतंत्रता देना होता हैं प्रत्यायोजन में किसी **"की ओर से"** कार्य किया जाता है जबकि विकेन्द्रीकरण में **"स्वयं की ओर"** से कार्य किया हुआ माना जाता है।

विकेन्द्रीकरण के प्रकार (Types of Decentralization)

विकेन्द्रीकरण को स्थूल रूप से दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है—

(1) प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण

(2) राजनीतिक विकेन्द्रीकरण

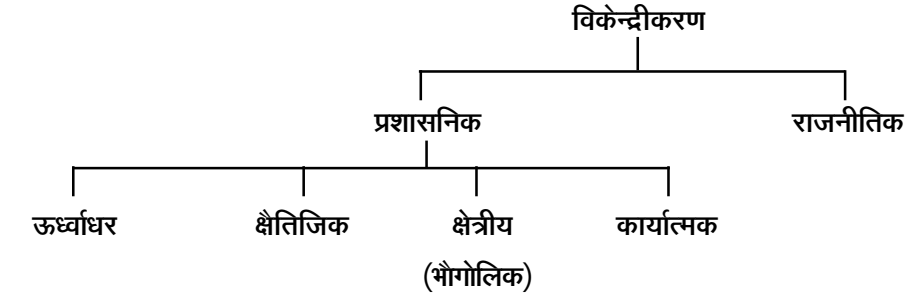

प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण का आशय प्रशासनिक संगठन के अन्दर अधीनस्थ विभागों या इकाइयों की सत्ता प्रदान करना है। स्पष्ट है यह प्रत्यायोजन का अधिक सुधरा हुआ तथा लोकतांत्रिक स्वरूप है। प्रशासनिक संगठन में इस प्रकार विकेन्द्रीकरण हो सकता है—

1. ऊर्ध्वाधर—जब संगठन में उच्च इकाई, ठीक अपने से नीचे की इकाई को कार्य में पूर्ण स्वतंत्रता दे देती है तो यह ऊर्ध्वाधर प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण कहलाता है, जैसे कोई विभाग अपनी प्रशासनिक संरचना के किसी अनुभाग को कार्य में पूर्ण स्वतंत्र कर दे।

2. क्षैतिजिक—यह समस्तरीय विकेन्द्रीकरण प्रतीत होता है। इसमें समान स्तर के अधिकारी या प्रशासनिक इकाई अपने कार्य, अधिकार तथा निर्णय सत्ता दूसरे को स्थायी रूप से सौंप देते हैं। जैसे—समझौता समितियों, आयोगों तथा न्यायाधिकरणों की स्थापना करना।

3. क्षेत्रिय (भैगोलिक)—जब कोई विभाग या प्रशासनिक संगठन अपने कार्यालय दूर-दूर क्षेत्रों में स्थित करके उन्हें कार्यकरण में स्वतंत्रता दे देता है तो यह क्षेत्रीय प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण कहलाता है। जैसे—विभिन्न कार्यालयों के संभागीय, आंचलिक, क्षेत्रीय तथा जिला स्तरीय कार्यालय देश भर में स्थित हैं।

4. कार्यात्मक—जब कोई मंत्रालय या विभाग या संगठन अपने किसी कार्य को आधार बनाकर प थक् से उस कार्य को सम्पादित करने की इकाई बना देता है तो यह कार्यात्मक प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण होता है। भारत सहित अधिकांश देशों के लोक प्रशासन में यह विकेन्द्रीकरण खूब पाया जाता है। जैसे—चिकित्सा विभाग में स्वास्थ्य विभाग, परिवार कल्याण विभाग की प थक् स्थापना।

जेम्स डब्ल्यू. फेसलर ने विकेन्द्रीकरण के अध्ययन के क्रम में चार उपागम (द ष्टिकोण) वर्णित किए हैं–

(1) **सिद्धान्तवादी उपागम** (Doctrinal Approach)

(2) **राजनीतिक उपागम** (Political Approach)

(3) **प्रशासनिक उपागम** (Administrative Approach)

(4) **दोहरी भूमिका उपागम** (Dual Role Approach)

सिद्धान्तवादी उपागम एक मानसिक रचना है जो विकेन्द्रीकरण को एक लक्ष्य या साध्य (End) के रूप में देखती है, साधन (Mean) के रूप में नहीं। राजनीतिक उपागम, स्वायत्तता प्राप्त राजनीतिक इकाइयों की स्थापना पर केन्द्रित है। पंचायती राज इसी श्रेणी का विकेन्द्रीकरण है। प्रशासनिक उपागम, क्षेत्रीय, संभागीय तथा खण्ड स्तरीय संगठनों की स्वतंत्रता का पक्षधर है ताकि समस्या-समाधान एवं निर्णयन में सहायता मिल सके। दोहरी भूमिका उपागम, संघर्षों के समाधान में विकेन्द्रीकरण को एक पद्धति मानता है। यह उपागम परम्परा तथा परिवर्तन के मध्य व्याप्त अन्तर में विकेन्द्रीक त संस्था/संगठन के दोहरे कार्यों को आँकता है। भारत में जिला प्रशासन पूर्ववर्ती नियामकीय कार्यों (Regulatory Functions) के साथ-साथ विकास एवं सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का कार्य भी कर रहा है।

राजनीतिक विकेन्द्रीकरण में प्रशासन के बजाय शासन (सरकार) के स्तरों पर सत्ता विभक्त कर दी जाती है। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का सीधा सम्बन्ध लोकतांत्रिक मूल्यों, जनभावनाओं तथा विभिन्न दबावों से है। भारत में कार्यरत **पंचायती राज संस्थाएँ,** राजनीतिक (लोकतांत्रिक) विकेन्द्रीकरण का सटीक उदाहरण हैं। इन संस्थाओं को राज्य सरकार अपनी शक्तियाँ तथा कार्य सौंप देती हैं प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा प्रशासनिक संगठनों में कुशलता लाने तथा कार्य को शीघ्रता एवं सरलता से करने के पक्ष में झुकी हुई प्रतीत होती है जबकि राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा शासन के प्रत्येक स्तर पर जनसाधारण की सहभागिता तथा शासन-संचालन में जनता की भूमिका को सुनिश्चित करने का प्रयास करती है।

विकेन्द्रीकरण के गुण (Merits of Decentralization)

स्वायत्तता, कुशलता तथा प्रशासनिक कार्यों के शीघ्र सम्पादन के नाम पर किया जाने वाला विकेन्द्रीकरण कई प्रकार के गुणों या लाभों से परिपूर्ण है, जैसे–

1. **जन भावनाओं के अनुकूल**–विकेन्द्रीकरण को प्रायः जनता की माँग, आवश्यकता तथा दबाब के कारण अपनाना पड़ता है। स्थानीय समस्याओं को वास्तविक एवं भली-भाँति समझने, उनका मूल्यांकन करने तथा उनके प्रभावी समाधान के लिए आवश्यक निर्णय लेने हेतु विकेन्द्रीकरण आवश्यक हैं ब्रिटेन में स्थानीय शासन सरकारें इसीलिए सफल मानी जाती हैं कि वे स्थानीय समस्याओं को न केवल समझती हैं बल्कि उनका समाधान भी उसी स्तर पर कर देती हैं। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में जनता की इच्छा को सर्वोपरि मानते हुए **राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हरिजन (18-1-1948 ई०) में लिखा था**–"मेरी राय में ऐसा कानून नहीं है जहाँ यदि लोग चाहते हैं तो पंचायत के कार्य-संचालन को रोका जा सकता है। गाँवों के हर समूह के लोग या लोगों का समूह पंचायत प्रणाली अपनाए रख सकता है, भले ही शेष भारत में यह हो या न हो। सच्चे अधिकार तो कर्त्तव्य के पालन से अपने आप ही प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे अधिकार कोई छीन नहीं सकता। पंचायत लोगों की सेवा करने के लिए ही है।"

2. **लोकतांत्रिक मूल्यों का प्रसार**–विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से केवल जनता एवं शासन में ही प्रजातंत्र का विकास नहीं होता है बल्कि यह संगठन के अन्दर भी लोकतांत्रिक मूल्यों तथा आस्थाओं का प्रसार करती हैं संगठन में सभी कार्य तथा निर्णय केवल उच्च स्तर पर हों तथा अधीनस्थ इकाइयाँ उच्च सत्ता के आदेशों का ही पालन करें तथा इन इकाइयों की निर्णय, नीति एवं कानून निर्माण में कोई सार्थक भूमिका न हो तो, स्पष्ट है ऐसे संगठन में मनोबल, व द्धि नहीं करता और न ही उत्साह एवं पहल क्षमता रह पाती है। इसीलिए कहा जाता है कि विकेन्द्रीकरण केवल एक सैद्धान्तिक अवधारणा ही नहीं बल्कि एक जीवन पद्धति का पर्याय भी है। आधुनिक प्रशासनिक संगठनों में नेत त्व की लोकतांत्रिक शैली को ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। विकेन्द्रीकरण शासन व्यवस्था में जनता और कार्मिक दोनों ही रुचि लेकर कार्य करते हैं।

3. **कार्य का शीघ्र निस्तारण**–यदि संगठन में या शासन में केन्द्रीकरण होगा तो एक स्थान या एक अधिकारी के पास कार्य का बोझ हो जाएगा। परिणामस्वरूप न तो कार्य शीघ्र हो पाएँगे और न ही कार्यों और निर्णयों में गुणवत्ता दिखाई देगी।

विकेन्द्रीकरण में चूँकि अधीनस्थ या क्षेत्रीय या स्थानीय संस्थाएँ अपने निर्धारित अधिकार क्षेत्र में निर्णय करने और कार्यवाही करने को स्वतंत्र होती हैं, अतः कार्य में विलम्ब नहीं होता। इसीलिए **थॉमस जैफरसन** कहते हैं—"बेहतर प्रशासन पर सत्ता के एकीकरण (Consolidation) और केन्द्रीकरण का नहीं बल्कि उसके "वितरण" का प्रभाव पड़ता है।"

4. प्रशासन में लोचशीलता—सामान्यतः प्रशासनिक संगठन अपने कार्यकरण में कठोरता तथा लालफीताशाही से ग्रस्त माने जाते हैं। यह केन्द्रीकरण की प्रव त्ति है जबकि विकेन्द्रीकरण में प्रशासनिक लोचशीलता तथा गतिशीलता दोनों में व द्धि होती है। स्थानीय समस्याओं का स्थानीय संसाधनों तथा समाजिक-आर्थिक परिवेश के अनुसार सुसंगत समाधान तभी किया जा सकता है जबकि निर्णय की सत्ता स्थानीय स्तर पर दी गई हो। विकेन्द्रीकरण के कारण प्रशासन में लचीलापन आता है, अतः तुरंत निर्णय और परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार संशोधन या अनुकूलन भी किया जा सकता है।

5. नवाचारों को प्रात्साहन—जड़ता को तोड़ना तथा नवीन विचारों को अपनाना तभी सम्भव है जबकि ऐसा करने की स्वायत्तता मिली हुई हो। केन्द्रीकरण में एकरूपता, नियंत्रण तथा समन्वय को अधिक बल दिया जाता है, अतः उस व्यवस्था में नव प्रव त्तियाँ तथा स जनात्मक विचार पल्लवित नहीं हो पाते हैं। **विकास प्रशासन** की आधुनिक अवधारणा में विकेन्द्रीकरण एक आवश्यकता है क्योंकि निचले स्तर पर अनुभव की जाने वाली समस्याएँ तथा उनका स्थानीय समाधान ही विकास कार्यों को गति देता है।

6. आत्मविश्वास में व द्धि—संगठन के क्षेत्रीय कार्यालयों तथा अधीनस्थ इकाइयों में कार्य करने वाले कार्मिक, यदि उच्च स्तरीय सत्ता के निर्णय एवं आदेश ही क्रियान्वित करते रहेंगे तो उनका मनोबल निम्न होता चला जाएगा तथा वे चुनौतियों एवं आकस्मिक संकटों का सामना नहीं कर पाएँगे। अतः अधीनस्थों को स्वावलम्बी बनाने, अभिप्रेरित करने तथा योग्यता सिद्ध करने के अवसर देने हेतु एकमात्र प्रभावी उपाय विकेन्द्रीकरण ही है।

7. नीति एवं क्रियान्वयन में सामंजस्य—केन्द्रीक त अवस्था में संगठन की नीतियाँ, कानून, नियम, कार्यक्रम तथा योजनाएँ उच्च स्तर पर निर्मित होती हैं तथा निम्नतम स्तर पर क्रियान्वित होती हैं। इस स्थिति में प्रायः नीतियाँ एवं कार्यक्रम असफल रहते हैं। यदि विकेन्द्रीकरण के माध्यम से नीतियाँ एवं योजनाएँ स्थानीय स्तर पर ही बनें तथा क्रियान्वित हों तो असफलता की दर काफी कम की जा सकती है। विकेन्द्रीकरण अपने आप में संगठन के विस्तार का परिचायक है। भारत में "जिला आयोजना तंत्र" की अवधारणा इसी तथ्य को रेखांकित करती है।

लुईस ए. एलन ने विकेन्द्रीकरण के इन लाभों में विविधता का प्रसार, संसाधनों का सदुपयोग एवं उनकी सार्थक उपलब्धता, प्रतिभाओं का विकास तथा उच्च प्रबन्धकों का कार्य बोझ कम करना प्रमुख माना हैं। **चार्ल्सवर्थ** के शब्दों में—"विकेन्द्रीकरण में मात्र प्रशासकीय कुशलता के अतिरिक्त कुछ और लाभ भी हैं। नागरिकों की व्यक्तिगत औचित्य भावना के विकास पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, अतः विकेन्द्रीकरण में आत्मिक गुण भी होते हैं।

विकेन्द्रीकरण के दोष (Demerits of Decentralization)

विकेन्द्रीकरण की अवधारणा जहाँ एक ओर लोकतांत्रिक स्वरूप तथा कुशलता से सम्बद्ध होने के कारण गुणों से भरपूर दिखाइ देती है, वहीं इसमें कतिपय दोष भी हैं—

1. पूर्ण विकेन्द्रीकरण सम्भव नहीं—यद्यपि विकेन्द्रीकरण व्यवस्था में बहुत सारे गुण तथा लाभ दिखाई देते हैं तथापि किसी भी शासन व्यवस्था का पूर्ण विकेन्द्रीकरण सम्भव नहीं है। रक्षा, बजट, लेखांकन, वैदेशिक सम्बन्ध, गुप्तचर सेवाएँ, राष्ट्रीय महत्त्व के गम्भीर विषयों तथा प्रशासनिक नियंत्रण से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित गतिविधियों का विकेन्द्रीकरण करना आत्मघाती कदम माना जाता है। कोई भी संगठन अपनी सारी नीतियाँ, कार्यक्रम, सत्ता तथा कानून, निम्न स्तर तक विकेन्द्रीक त नहीं कर सकताा है क्योंकि इससे अनेक प्रकार की दुविधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

2. नियंत्रण एवं समन्वय में बाधाएँ—विकेन्द्रीकरण के कारण अधीनस्थ संस्थाएँ या अभिकरण स्वायत्तता का लाभ तो उठाती हैं किन्तु इससे संगठन की विभिन्न प्रशासनिक क्रियाओं के मध्य समन्वय जटिल हो जाता है। जितने अधिक निर्णय-स्तर होंगे उतनी ही उलझनें संगठन में उत्पन्न होंगी। नीति-निर्धारण तथा क्रियान्वयन के स्तरों पर नियंत्रण तथा समन्वय अत्यावश्यक माने जाते हैं। सत्ता का विकेन्द्रीकरण हमेशा लाभ ही नहीं देता है क्योंकि अधीनस्थों को सत्ता कई बार पथभ्रष्ट भी करती है। **लार्ड एक्टन** ने कहा था—"सत्ता भ्रष्ट बनाती है और निरंकुश सत्ता, निरंकुश भ्रष्ट बनाती है।" यदि किसी अधीनस्थ को सत्ता

दी जाये तथा नियंत्रण न किया जाए तो भ्रष्ट आचरण की समस्या बनी रहती है। अतः विकेन्द्रीकरण से 'अराजकता' भी पनप सकती है। इसके कारण संचार के स्तर भी बढ़ते हैं तथा समस्याएँ भी।

3. **एकरूपता का अभाव**—विकेन्द्रीकरण के कारण सभी इकाइयाँ अपने कार्यकरण में स्वतंत्र हो जाती हैं, अतः प्रत्येक इकाई अपने ढंग से नीति, कानून तथा कार्यक्रम निर्मित एवं संचालित करती हैं। ऐसी परिस्थिति में एक ही विभाग के अलग-अलग कार्यालय विविधताओं एवं विभिन्नताओं के पर्याय बन जाते हैं। एकरूपता के अभाव में कई बार कानूनी जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। विकेन्द्रीकरण के कारण ही भारत में राज्यों की प्रशासनिक व्यवस्थाएँ तथा पंचायती राज संस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न दिखाई देती हैं। विकेन्द्रीकरण के कारण बहुत से कार्यों में अतिराव तथा पुनराव त्ति की समस्या भी पैदा हो जाती हैं संकटकालीन परिस्थितियों में विकेन्द्रीकरण घातक भी हो सकता है।

4. **अपव्यय**—यह भी माना जाता है कि विकेन्द्रीकरण के कारण प्रशासनिक संगठनों का प्रसार तथा कार्मिकों की संख्या में व द्धि होती है। यद्यपि हमेशा ऐसा हो, यह निश्चित तो नहीं है किन्तु यह सही है कि विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था में विशेषज्ञों तथा योग्य अधिकारियों की दोहरी व्यवस्था करनी पड़ती है। विकेन्द्रीकरण में योजनाओं, कार्यक्रमों तथा नीतियों का दोहराव भी हो सकता है। लेखांकन, बजट तथा नियंत्रण सम्बन्धी प्रावधान शिथिल होने से अधिक अपव्यय भी होते देखा गया है।

5. **स्थानीय दुष्प्रभाव**—यद्यपि विकेन्द्रीकरण का प्रसार स्थानीय लोगों तथा अधीनस्थों की माँग के आधार पर किया जाता है तथापि स्थानीय राजनीति, जाति, वर्ग-भेद, संघर्ष, ऐतिहासिक सन्दर्भ तथा पक्षपात स्पष्ट प्रभाव डालते हैं। भारत में पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना के पश्चात् उत्पन्न हुए विषाक्त वातावरण ने गाँवों की परम्परागत समरसता को डस लिया है। इसी तरह विकेन्द्रीकरण का एक बड़ा दोष यह है कि इसमें राष्ट्रीय महत्त्व के मामले गौण हो जाते हैं तथा कम महत्त्व के स्थानीय मुद्दे हावी रहते हैं।

विकेन्द्रीकरण के दोषों के कारण ही विश्वभर में आज भी केन्द्रीकरण की प्रव त्तियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। शासन व्यवस्था के सफल संचालन तथा अनुशासन के लिए केन्द्रीकरण उपयुक्त माना जाता है।

केन्द्रीकरण के गुण (Merits of Centralization)

केन्द्रीकरण एक परम्परागत अवधारणा है, जिसके निम्नांकित गुण माने जाते हैं—

1. **प्रभावी नियंत्रण एवं समन्वय**—संगठनात्मक प्रभावशीलता तथा शासन की सफलता का अधिकांश श्रेय प्रायः उच्च नेत त्व को दिया जाता है। कारण स्पष्ट है उच्चस्तरीय नीति, निर्देशन तथा नियंत्रण ही सम्पूर्ण तंत्र के कार्यकरण को प्रभावित करता है। इस अवधारणा में व्यक्तिगत नेत त्व, नियंत्रण तथा समन्वय करना आसान हो जाता है। **विलियम आर. वैसेट** ने कहा है—"एकाकी व्यक्ति-नियंत्रण सर्वश्रेष्ठ है, यदि वह व्यक्ति इतना सक्षम हो कि प्रत्येक कार्य की व्यवस्था कर सके।" इसीलिए छोटे भौगोलिक आकार वाले देशों (जैसे फ्रांस) में केन्द्रीकरण की अवधारणा वर्षों से सफलतापूर्वक कार्य कर रही है।

2. **एकरूपता की स्थापना**—जहाँ विकेन्द्रीकरण में अनेकता का प्रसार होता है, वहीं केन्द्रीकरण में संगठनात्मक एवं प्रशासनिक एकरूपता का बोलबाला रहता है। सभी इकाइयाँ एक नेत त्व के अधीन कार्य करती हैं, अतः स्पष्ट है उन्हें एक जैसा व्यवहार एवं कार्य संचालन बनाए रखना होता है। एकरूपता के कारण नागरिकों को यह सुविधा रहती है कि वे आसानी से निष्पक्ष तथा एकीक त संगठन की सेवाएँ प्राप्त कर लें। नीतियों, नियमों तथा कार्यक्रमों में भिन्नता न होने के कारण विवाद भी कम होते हैं।

3. **मितव्ययता—मर्विन कोहन** का मानना है कि केन्द्रीकरण से संगठन में कार्मिकों तथा उपकरणों (संसाधनों) का पूर्ण उपयोग तथा उनमें सामूहिकता का पुट, सुनिश्चित किया जा सकता है। पुनराव त्ति तथा अतिराव की समस्या से मुक्ति पाने के कारण मितव्ययता भी आती है।

4. **राष्ट्रीय हितों की रक्षा**—राष्ट्रीय महत्त्व के गम्भीर विषयों जैसे नियोजन, रक्षा, वित्त, करारोपण, कर एकत्रण, वैदेशिक सम्बन्ध, लेखांकन इत्यादि के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी समस्याएँ हैं जिनका समाधान केवल केन्द्रीकरण के द्वारा किया जा सकता है, जैसे परिवार नियोजन, जनसंख्या-नियंत्रण, मद्यपान निषेध, आतंकवाद का सामना, नशीली दवा-व्यापार नियंत्रण, साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रवाद से मुक्ति तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता से जुड़े अन्य विवादित मुद्दे। केन्द्रीकरण प्रव त्ति केवल "राष्ट्र" के सम्मान एवं रक्षा के लिए ही हितकर नहीं है बल्कि यह किसी भी संगठन की एक छवि की रक्षक भी है।

5. नेत त्व की प्रभावशीलता—यह माना जाता है कि केन्द्रीकरण के द्वारा सर्वोच्च अधिकारी तथा प्रबन्धक अपनी प्रतिष्ठा एवं प्रभाव में व द्धि कर सकते हैं। चूँकि यह प्रणाली सर्वोच्च शिखर पर सत्ता को केन्द्रित करती है, अतः महत्त्वपूर्ण तथा महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों की अभिलाषाएँ इसी विधि से पूरी हो सकती हैं। जो व्यक्ति अपनी योग्यता, प्रतिष्ठा तथा संगठनात्मक कार्यों को जोड़कर देखना एवं कुछ कर दिखाना चाहते हैं, उनको केन्द्रीकरण ही रास आता है। विश्व के अधिकांश लोकप्रिय तथा प्रभावशाली राजनेता केन्द्रीकरण के ही समर्थक रहे हैं।

लुईस ए. एलन का कहना है कि—"केन्द्रीकरण के द्वारा संगठन अपने अन्दर व्यक्तिगत नेत त्व की सक्रिय भूमिका के माध्यम से गतिशीलता ला सकता है। साथ ही कार्य में एकरूपता लाने वाले संगठनात्मक गतिविधियों को पूरा करने के लिए एकीक त प्रयास में भी सहायता करती है। इसके अतिरिक्त यह अवधारणा संकटकाल तथा कल्पनातीत मामलों को सुलझाने में काफी सहायक सिद्ध होती है।"

केन्द्रीकरण के दोष (Demerits of Centralization)

केन्द्रीकरण व्यवस्था के निम्नांकित दोष या हानियाँ—

1. अलोकतांत्रिक—आधुनिक लोक कल्याणकारी तथा प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्थाओं में केन्द्रीकरण प्रव त्तियाँ अलोकतांत्रिक मानी जाती हैं। केन्द्रीकरण को परमपरावाद तथा राजशाही व्यवस्थाओं की विरासत भी माना जाता है क्योंकि केन्द्रीकरण में एकल नेत त्व तथा शीर्षस्तरीय निर्णय महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं तथा अधीनस्थ व्यक्तियों या इकाइयों का परामर्श निरर्थक हो जाता है। यदि शासन-प्रशासन तंत्र में आमजन तथा अधीनस्थों की सहभागिता नहीं होगी तो क्रियान्वयन स्तर पर असफलताओं का सामना करना पड़ सकता है।

2. कठोर एवं अलोकप्रिय—केन्द्रीकरण में कठोरता तथा जड़ता पाई जाती है। इसमें संगठन का विस्तार तथा सत्ता का प्रत्यायोजन इस भय से नहीं किया जाता है कि अधीनस्थ सत्ता का दुरुपयोग करेंगे। परिणाम यह होता है कि स्थानीय स्तर की समस्याएँ न तो समय पर सुलझ पाती हैं और न ही किसी को उन समस्याओं के समाधान की चिन्ता होती हैं अधीनस्थों का स्वभाव केवल उच्च सत्ता के आदेशों को अनमने ढंग से एवं आधा-अधूरा क्रियान्वित करने का हो जाता है। इस प्रव त्ति में अनावश्यक रूप से लालफीताशाही पनपती है।

3. कार्य में विलम्ब—केन्द्रीकरण में निर्णयन की शक्ति तथा उच्चस्तरीय नीति निर्माण की सत्ता एक शीर्ष स्थान पर होती है, अतः क्षेत्रीय या अधीनस्थ संस्थाएँ अपनी-अपनी समस्याएँ निरन्तर उच्च सत्ता की ओर प्रेषित करती रहती हैं। परिणामस्वरूप उच्च सत्ता के पास कार्य का ढेर हो जाता है। कार्याधिक्य के कारण न तो मामलों का समय पर एवं शीघ्र निस्तारण हो पाता है ओर न ही प्रत्येक मामले को गहराई से विश्लेषण करने लायक समय ही दिया जा सकता है।

4. अधीनस्थों में कुंठा एवं हताशा—केन्द्रीकरण के कारण संगठन में द्वितीय पंक्ति के प्रबन्धक तैयार नहीं हो पाते हैं। यदि निम्नस्तरीय कार्मिकों को कभी निर्णय लेने तथा नियम बनाने का अवसर ही नहीं दिया जाएगा तो भला उनमें उमंग, पहल क्षमता, मनोबल तथा आत्मविश्वास कैसे उत्पन्न होगा? यही कारण है कि केन्द्रीक त व्यवस्था, एक व्यक्ति के चमत्कारिक नेत त्व तमाशा देखने वाली भीड़ की परिचायक हो जाती है। इस व्यवस्था या प्रणाली में उच्चस्तरीय सत्ता तथा अधीनस्थों में सहयोग के स्थान पर प्रायः संघर्ष पाया जाता है।

5. अन्य दोष

(1) केन्द्रीकरण के कारण स्थानीय संसाधनों का सदुपयोग नहीं होता तथा स्थानीय शासन की अवधारणा का गला घुटता है।

(2) इसमें जनसहभागिता तथा प्रेरणाओं का अभाव रहता है।

(3) नवाचारों तथा अनुकूलनशीलता को प्रोत्साहन नहीं मिलता है।

(4) संकटकालीन परिस्थितियों में केन्द्रीकरण से भारी क्षति भी उठानी पड़ सकती है। उदाहरण के लिए एक स्थान पर अधिकांश उद्योग स्थित हों तो युद्ध के समय शत्रु उन्हें आसानी से नष्ट कर सकता है। इसलिए कहा जाता है कि "सभी अंडे एक ही टोकरी में रखना कई बार घाटे का सौदा भी हो जाता है।"

विलोबी ने कहा है कि "अत्यधिक केन्द्रीक त व्यवस्था में स्थानीय इकाइयाँ केवल कार्यवाहक अभिकरणों का कार्य करती हैं। उन्हें अपनी पहल (Initiative) से कार्य करने की कोई शक्ति प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक कार्य मुख्यालय की ओर से दिया जाता है तथा यहाँ तक कि इकाई के आन्तरिक प्रबन्धन में भी मुख्यालय की पूर्व अनुमति आवश्यक होती है.....ऐसी स्थिति में कुशलता, नियंत्रण तथा मनोबल की सोचना व्यर्थ है।"

केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण में से किसे अपनाया जाए, इसका निर्धारण करना मुश्किल है। **विलोबी** का निष्कर्ष है कि—"इन दोनों में से किसी एक अवधारणा को सामान्यीक त नहीं किया जा सकता है बल्कि यह सब किए जाने वाले कार्य की प्रक ति तथा अन्य विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करेगा कि कौनसी व्यवस्था किसके लिए उपयुक्त है।" इसी प्रकार **डेविड ट्रमैन** का मानना है कि "व्यवहार में किसी भी संगठन में इन दोनों प्रकार की पद्धतियों या अवधारणाओं के कुछ-न-कुछ लक्षण अवश्य पाये जाते है।"

केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण में अन्तर (Difference between Centralization and Decentralization)

केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण नामक अवधारणाएँ या व्यवस्थाएँ पूर्णतया विपरीत प्रक ति की हैं जिन्हें इस सारणी मे दर्शाया जा रहा है—

केन्द्रीकरण	विकेन्द्रीकरण
1. यह परम्परावाद तथा कठोरता की परिचायक है।	1. यह आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों तथा लोचशीलता की परिचायक है।
2. इसमें सत्ता उच्च स्तर पर एक स्थान पर केन्द्रित रहती है।	2. इसमें सत्ता का प्रत्यायोजन अधीनस्थों को कर दिया जाता हैं।
3. नीति, कानून, कार्यक्रम तथा महत्त्वपूर्ण निर्णय उच्च स्तर पर होते हैं।	3. अधिकांश निर्णय अधीनस्थ या क्षेत्रीय इकाइयाँ करती हैं।
4. उत्पाद, सेवाएँ, संसाधन तथा उपकरणों का एक जगह जमाव पाया जाता है।	4. उत्पाद, सेवाएँ, संसाधन तथा उपकरणों का बिखराव पाया जाता है।
5. अधीनस्थों तथा जनता के सहयोग में कम विश्वास करती है।	5. अधीनस्थों तथा जनता के सहयोग पर ही निर्भर करती है।
6. रक्षा, निवेश, नियोजन, वित्त, लेखांकन क्षेत्रों में अधिक पाई जाती है।	6. सामाजिक सेवाओं, जन कल्याण तथा सामान्य विषयों में अधिक होती है।

केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण
(Centralization Vs. Decentralization)

केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण का सैद्धान्तिक द्वनद्व तथा व्यावहारिक संघर्ष एक लम्बे समय से जारी है क्योंकि दोनों ही अवधारणाएँ शासन में उपयोगी हैं। एक के गुण, दूसरी पद्धति के दोषों की पूर्ति करते हैं। केन्द्रीकरण की प्रव त्ति जहाँ परम्परावाद की परिचायक लगती है वहीं विकेन्द्रीकरण, आधुनिक तथा लोकतांत्रिक मूल्यों से स्नेह रखने वाली पद्धति दिखती है। केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण का मुख्य बिन्दु 'सत्ता' है। इस क्रम में **एडम हेनरी** का कथन उपयुक्त प्रतीत होता है—"आधुनिक राजनीति व्यक्तियों का नहीं बल्कि शक्तियों का संघर्ष है।" यह संघर्ष केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण में भी दिखता है। वास्तव में केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण सत्ता के दो छोर हैं इसीलिए यह सापेक्षिक (Relative) शब्द हैं। इनमें से किसी एक पद्धति पर आधारित संगठन की कल्पना करना बेमानी है। यह दोनों अवधारणाएँ मिलकर ही संगठन में स्थिरता, जवाबदेयता, निपुणता तथा प्रभावशीलता लाती हैं। **जेम्स डब्ल्यू. फेसलर** ने केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण को अपनाने में क्रम में **चार तत्त्वों** को वर्णित किया है—

(1) उत्तरदायित्त्व के तत्त्व

(2) प्रशासनिक तत्त्व

(3) कार्यात्मक तत्त्व

(4) बाह्य तत्त्व

किसी संगठन में केन्द्रीकरण होगा या विकेन्द्रीकरण, इसके सम्बन्ध में **फेसलर** कहते हैं कि **उत्तरदायित्व** का तत्त्व विकेन्द्रीकरण पर रोक लगाता हैं क्योंकि किसी सेवा या विभाग का अध्यक्ष जब हर कार्य के लिए उत्तरदायी माना जाता है तो वह सत्ता का प्रत्यायोजन क्यों करना चाहेगा? जहाँ तक **प्रशासनिक** तत्त्वों की बात है, उसके कई पक्ष हैं। यदि संगठन काफी पुराना हो चुका है तो उसमें विकेन्द्रीकरण सरलता से हो सकता है लेकिन नये संगठन को भली-भाँति स्थापित होने में समय लगता है। इसी प्रकार स्थायी नीतियाँ विकेन्द्रीकरण करवा सकती हैं तथा कुशल कार्मिक भी इसमें प्रेरक तत्त्व सिद्ध होते हैं लेकिन अस्थायी या बार-बार परिवर्तित होने वाली नीतियाँ तथा नये एवं अकुशल कार्मिक केन्द्रीकरण को बाध्य करते हैं। **कार्यात्मक तत्त्वों** में संगठन द्वारा सम्पादित होने वाले कार्य माने जाते हैं। बहुआयामी तथा तकनीकी प्रक ति के कार्यों वाले संगठनों में विकेन्द्रीकरण आवश्यक हो जाता है जबकि रक्षा, वित्त, नियोजन, लेखांकन तथा राष्ट्रीय महत्त्व के कार्यों का केन्द्रीकरण ही उचित माना जाता है। **बाह्य तत्त्वों** में संगठन का पर्यावरण, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा भौगोलिक दशाएँ सम्मिलित हैं। जनमत का झुकाव विकेन्द्रीकरण की ओर होता है तथा किसी देश का विशाल भौगोलिक क्षेत्रफल (जैसे-भारत, अमेरिका, आस्ट्रेलिया) भी विकेन्द्रीकरण की माँग करता है।

विकेन्द्रीकरण की बढ़ती माँग के पीछे शिक्षा एवं चेतना का प्रसार, लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना, विकास प्रशासन की अवधारणा का जन्म, लोक कल्याणकारी राज्य का उदय, विशेषज्ञों में व द्धि, अधिकारों की चाह तथा विकास के प्रति जनता की रुचि इत्यादि प्रमुख हैं जबकि **केन्द्रीकरण** के लिए उत्तरदायी **कारणों** में यातायात एवं संचार साधनों में व द्धि, वित्तीय अनुदान एवं लेखांकन प्रणाली, आर्थिक नियोजन, राष्ट्रीय एकता, मितव्ययता, सुरक्षा सम्बन्धी मामले तथा राष्ट्र पर बार-बार आने वाले संकट प्रमुख हैं। सभी देशों में केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण, दोनों पद्धतियों का मिश्रण पाया जाता है। भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में खूब प्रयास हो रहे हैं, किन्तु अभी भी पंचायतीराज संस्थाएँ पूर्णतया स्वायत्तता प्राप्त नहीं कही जा सकती हैं। इसी प्रकार कठोर केन्द्रीकरण के पर्याय फ्रांस में भी अब विकेन्द्रीकरण हो रहा है तो दूसरी ओर भारत में योजना आयोग की भूमिका नियोजन तंत्र को केन्द्रीकरण की ओर आकर्षित करती प्रतीत होती है।

पिफनर एवं शेरवुड का कहना है कि—"विकेन्द्रीकरण को सदैव एक ऐसे संघर्ष का सामना करना पड़ेगा जो समन्वय के पक्षधर तथा उसके विराधियों के बीच होता है।" महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक ऐसी जीवन पद्धति अपनायी जाए जिसमें लोग अधिक-से-अधिक अपने व्यक्तिगत लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास कर सकें और साथ ही भिन्न मत रखने वाले दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य कर सकें।" वस्तुतः **विकेन्द्रीकरण को अपनाने से पूर्व** निम्नांकित तथ्यों का सत्यापन आवश्यक है—

(1) संगठन के सदस्यों या जनता में चारित्रिक परिपक्वता हो।

(2) कार्य संस्क ति तथा नागरिक संस्क ति उच्च मानकों से युक्त हो।

(3) स्थानीय अधिकारी इसके लिए योग्य एवं प्रतिबद्ध प्रतीत हों।

(4) अधिकार क्षेत्र का स्पष्ट विभाजन कर दिया गया हो।

(5) नियम, कानून, नीति तथा कार्य प्रक्रियाएँ बहुत भिन्न न हों।

(6) स्थानीय अभिकरण लोचशील तथा अनुकूलन योग्य हो।

(7) स्थानीय अधिकारी परिस्थिति के अनुसार सार्थक निर्णय ले सकें।

(8) समन्वय एवं नियंत्रण की समुचित व्यवस्था हो।

(9) स्थानीय स्तर पर संसाधनों का अकाल न हो।

उपर्युक्त सभी पूर्वापेक्षाएँ विकेन्द्रीकरण को सफल बना सकती हैं। भारत सहित अधिकांश विकासशील राष्ट्रों में व्याप्त अराजकता तथा विकेन्द्रीकरण की असफलता इन्हीं तत्त्वों के अभाव का परिणाम है। **एलेक्सिस डि टॉकविले** ने माना है "किसी भी राष्ट्र के जिन्दा रहने के लिए सशक्त केन्द्रीकरण आवश्यक है तो साथ में वांछित सम द्धि के लिए विकेन्द्रीकरण भी जरूरी है।"

एकीकरण बनाम विच्छेदन
(Integration Vs. Disintegration)

आज प्रशासन का क्षेत्र व्यापक एवं विस्त त होता जा रहा है। राजय के लोक-कल्याणकारी उद्देश्यों ने प्रशासन पर कार्यों का बोझ सा लाद दिया है। इन सब कार्यों को करते इस बात की सम्भावना रहती है कि पारस्परिक संघर्ष, शक्तियों का दुरुपयोग एवं अधिकार-क्षेत्र का भ्रम न फैल जाय। इन अवगुणों को रोकने के लिए एकीक त संगठन की आवश्यकता अनुभव की जाती है। प्रशासकीय संगठन के दो रूप सामने आते हैं:

1. एकीक त अथवा विभागीय (Integrated or Departmental)
2. स्वतन्त्र या विघटित अथवा असम्बद्ध (Independent or Disintegrated or Uncorrelated)

1. एकीक त संगठन (Integrated Organisation)—जब सम्पूर्ण कार्यपालिका सत्ता एक व्यक्ति अर्थात् मुख्य कार्यपालक के नियन्त्रण में आ जाती है तो उसे एकीक त संगठन का नाम दिया जाता हैं प्रशासन की एकीक त व्यवस्था में समान सेवाएँ सम्पन्न करने वाले अभिकरणों को विभागों से सम्बद्ध कर दिया जाता है और विभिन्न विभागों को आपस में सम्बद्ध कर मुख्य कार्यपालक की सत्ता के अधीन कर दिया जाता हैं इस तरह मुख्य कार्यपालक का नियन्त्रण ऊपर से लेकर नीचे तक सम्पूर्ण प्रशासन पर रहता है। एकीक त प्रशासन में सत्ता के सूत्र मुख्य कार्यपालक से होते हुए नीचे तक विभिन्न स्तरों पर अविरल रूप से जाते रहते हैं। सभी सेवाओं को विभागों के रूप में वर्गीक त (Classified) कर लिया जाता है तथा संविधान और कानून के द्वारा इन विभागों की सत्ता मुख्य कार्यपालक को सौंप दी जाती है। एकीक त प्रशासकीय व्यवस्था के सन्दर्भ में प्रसिद्ध विद्वान विलोबी (Willoughby) का कथन है कि "एकीक त व्यवस्था में यह कोशिश की जाती है कि जिन सेवाओं की कार्यवाहियाँ समान परिधि में आती हैं उन्हें समूह बनाकर विभागों में रख दिया जाय। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सत्ता के सूत्र विभिन्न सेवाओं से विभागों की ओर जाते हैं, जिनकी वे अधीनस्थ इकाइयाँ होती हैं। सत्ता सूत्र विभागों से फिर मुख्य कार्यपालिका या व्यवस्थापिका को जाता है जिनका क्षेत्राधिकार समस्त विभागों पर फैला हुआ है।"[1] भारतीय प्रशासकीय संगठन पर यदि आप गौर करें तो पाएँगे कि यहाँ एकीक त व्यवस्था है। यहाँ समान सेवाएँ अनेक विभागों (जैसे- ग ह-विभाग, वित्त-विभाग, रेल-विभाग, संचार-विभाग, खाद्य एवं आपूर्ति विभाग) में वर्गीक त कर दी गई हैं। ये विभाग आपस में मन्त्रिमण्डल के द्वारा सम्बद्ध हैं, और इनकी सत्ता मन्त्रिमण्डल और प्रधानमन्त्री से होते हुए संवैधानिक रूप से देश के राष्ट्रपति के हाथ में है।

हालाँकि विश्व के किसी भी राष्ट्र में ऐसा उदाहरण सामने नहीं आता जिसको देखने से यह पता चले कि वह पूर्णतः एकीक त व्यवस्था है। ऊपर आपने देखा कि भारत में एकीक त व्यवस्था के लक्षण बताये गये। लेकिन हमारे यहाँ भी तीन शासकीय स्तर पाये जाते हैं—केन्द्रीय स्तर, राज्य स्तर तथा स्थानीय स्तर। राज्य शासन और स्थानीय शासन कुछ सीमा तक केन्द्रीय शासन से स्वतन्त्र होते हैं। लेकिन हमारे यहाँ एकीक त व्यवस्था के लक्षण इतने मजबूत हैं कि वे विघटित संगठन के लक्षणों के गुणों पर हावी हैं। इसलिए भारतीय प्रशासन को एकीक त शासन-व्यवस्था कहा जाता है। ब्रिटेन की शासन-व्यवस्था की स्थिति भी एकीकरण की ओर ज्यादा और विघटन की ओर कम झुकी हुई है। लेकिन अमेरिका में विघटित शासन-व्यवस्था के लक्षण ज्यादा देखने को मिलते हैं। वहाँ स्वतन्त्र नियामक आयोग, लोक-निगम, लेखा परीक्षक सहित अनेक संस्थान हैं जो सरकार के नियन्त्रण से मुक्त हैं। हालाँकि अमेरिकी शासन-व्यवस्था में भी शक्ति- प थक्करण सिद्धान्त (Separation of Powers) के माध्यम से विघटन (Disintegration) को बढ़ावा दिया गया है, फलस्वरूप अमेरिका की शासन-व्यवस्था में स्वतन्त्र के लक्षण विद्यमान हैं।

2. स्वतन्त्र या विघटित संगठन (Independent or Disintegrated Organisation)—प्रशासकीय व्यवस्था का वह रूप जिसमें सत्ता कई स्वतन्त्र अभिकरणों तथा आयोगों में निहित रहती है, केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त रहता हैं उसे स्वतन्त्र अथवा विघटित प्रणाली के रूप में माना जाता है। इस व्यवस्था में सत्ता एक से अधिक निकायों या इकाइयों को सौंप दी जाती है। वे आयोग

या अभिकरण अपने क्षेत्र में स्वायत्त ढंग से कार्य करते हैं। **विलोबी** (Willoughby) के शब्दों में, "स्वतन्त्र व्यवस्था में प्रत्येक अभिकरण को एक प थक इकाई माना जाता है। उसका अन्य इकाइयों से सीधा सम्बन्ध या तो होता ही नहीं है या बहुत कम होता हैं इस प्रणाली के अन्तर्गत सत्ता का सूत्र क्रियाशील अभिकरण से सीधे मुख्य निष्पादक या व्यवस्थापिका को जाता है, जिसके द्वारा वह अब निदेशित तथा नियन्त्रित किया जाता है।" स्वतन्त्र व्यवस्था में विभिन्न अभिकरण, आयोग और विभाग एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं होते हैं। उनका उत्तरदायित्व भी अलग-अलग होता है और वे स्वायत्त ढंग से कार्य करते हैं। अमेरिका में स्वतन्त्र नियामकीय आयोग (Independent Regulatory Commission) इतने उन्मुक्त ढंग से कार्य करता है कि उसे **"सरकार की चतुर्थ शाखा"** (Fourth Branch of the Government) की संज्ञा दी जाती है। भारत में भी चुनाव आयोग (Election Commission), नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक (Auditor and Comptroller General) के अतिरिक्त अनेक बोर्ड अथवा निगम हैं जो स्वतन्त्र एवं विघटित व्यवस्था के उदाहरण हैं।

एकीक त व्यवस्था के गुण (Merits of Integrated System)

1. समायोजन (Co-ordination)—एकीक त व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न विभागो और अभिकरणों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में सुविधा होती है। सभी मुख्य कार्यपालिका के नियन्त्रण में काम करते हैं तथा मुख्य कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी भी होते हैं। अतः उनके बीच सामंजस्य और तालमेल आसान हो जाता है।

2. प्रभावकारी नियन्त्रण (Effective Control)—एकीक त व्यवस्था में मुख्य कार्यपालक का सभी विभागों पर प्रभावशाली नियन्त्रण होता है। प्रभावशाली नियन्त्रण की वजह से आदेश की एकता भी बनी रहती है। स्वतन्त्र व्यवस्था में इस तरह का प्रभावशाली नियन्त्रण सम्भव नहीं है।

3. सहयोग (Co-operation)—एकीक त व्यवस्था में विभिन्न विभागों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। फलस्वरूप विभिन्न प्रशासकीय विभाग एक-दूसरे के सहयोग से अपने कार्यों का सम्पादन करते हैं। उनमें अपनत्व की भावना इस प्रकार रहती है मानो वे एक ही व क्ष की विभिन्न शाखाएँ हों। इसके विपरीत स्वतन्त्र व्यवस्था में वे अपने को अलग-अलग तथा स्वतन्त्र महसूस करते हैं।

4. स्पष्ट अधिकार-क्षेत्र (Clear-cut Jurisdiction)—एकीक त प्रणाली में सभी विभागों के अधिकार-क्षेत्र निर्धारित और परिभाषित रहते हैं। फलतः उनके मध्य अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी विवाद उत्पन्न नहीं होते हैं।

5. वित्तीय योजना (financial Planning)—एकीक त प्रणाली में सभी विभाग मुख्य कार्यपालक के अन्तर्गत कार्य करते हैं। फलस्वरूप सभी विभागों द्वारा अपने विभाग से सम्बन्धित सम्पूर्ण सूचना, स्थिति एवं योजना मुख्य कार्यपालक को भेज दिये जाते हैं। परिणाम यह होता है कि मुख्य कार्यपालक को वित्तीय योजनाओं के निर्माण में सहूलियत होती है।

प्रो. विलाबी (Willoughby) ने अपनी पुस्तक *Principles of Public Administration* में एकीक त प्रणाली के गुणों की विस्त त विवेचना की है। उनके अनुसार, "यह सरकार की अनेक कार्यरत इकाइयों को एक अत्यन्त एकीक त प्रशासकीय मशीन के रूप मं परस्पर सम्बद्ध करता है; यह प्रशासन एवं नियन्त्रण की प्रभावशाली प्रणाली की स्थापना को निश्चित करता है, यह प्रशासकीय सत्ता एवं उत्तरदायित्व की रेखा को निश्चित करता है। यदि यह संगठन, कारखाने, उपकरण, कर्मचारियों और उनके क्रियाकलापों में द्विगुणन को समाप्त नहीं करती तो उसे समाप्त करने का आधार अवश्य बनाती है.....यह क्रय प्रदायों की सुरक्षा तथा प्रदाय कर्मचारियों की भर्ती तथा उन्हें काम देना, लेखा रखना, पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं, योजना की रूपरेखा के कक्षों इत्यादि की व्यवस्था के केन्द्रीकरण को सम्भव बना देती है और अन्त में यह समुचित रूप से अनिवार्य आधारशिला प्रदान करती है।"[1]

स्वतन्त्र एवं विघटित संगठन के गुण (Merits of Disintegrated Systed)

1. तानाशाही का अभाव (Lack of Dictatorship)—एकीक त व्यवस्था में सम्पूर्ण सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में आ जाने से तानाशाही की प्रव त्ति मुख्य कार्यपालिका में आ जाती है लेकिन स्वतन्त्र व्यवस्था मं सत्ता अलग-अलग छोटे-छोटे अभिकरणों में विभाजित रहने से तानाशाही का भय नहीं रहता है।

2. प्रशासकीय कार्यकुशलता (Administrative Efficiency)—जिस प्रकार लोक प्रशासन की अपेक्षा व्यक्तिगत प्रशासन में कार्यकुशलता ज्यादा पायी जाती है उसी प्रकार एकीक त प्रणाली की अपेक्षा स्वतन्त्र प्रणाली में कार्यकुशलता और प्रशासकीय चुस्ती ज्यादा पाई जाती है।

3. बड़े राज्यों के लिए उपयुक्त (Better for Big States)—आज के वर्तमान युग में विशालकाय राजयों के लिए एकीक त व्यवस्था से पूर्ण नियन्त्रण रख पाना सम्भव नहीं है। स्वतन्त्र एवं विघटित व्यवस्था बड़े राज्यों के लिए उपयुक्त और लाभकारी साबित नहीं हो रही है।

4. प्रजातान्त्रिक मूल्य (Democratic Values)—स्वतन्त्र व्यवस्था तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक सुरक्षित रहती है। प्रजातान्त्रिक मूल्यों की रक्षा होती है जबकि एकीक त व्यवस्था लोकतन्त्र तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं अतः स्वतन्त्र व्यवस्था प्रजातान्त्रिक मूल्यों के अनुकूल होती है।

5. जन-कल्याण (Public Welfare)—विघटित संगठन (Disintegrated Organisation) स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं। जन-कल्याणकारी संस्थाओं को अगर स्वतन्त्रता और स्वायत्तता प्रदान की जाती है तो वे अन्य एकीक त संगठन की अपेक्षा ज्यादा प्रभावकारी ढंग से कार्य करते हैं। एकीक त व्यवस्था में जनकल्याणकारी संस्थाएँ ढीली पड़ जाती हैं तथा उन पर प्रभावकारी नियन्त्रण स्थापित नहीं होने से कार्यकुशलता भी नहीं रह पाती है।

एकीक त प्रणाली (Integrated System) के गुण ही विच्छेदन पद्धति (Disintegrated System) के दोष माने जाते हैं, तथा विच्छेदन पद्धति के गुण एकीक त प्रणाली के दोष हैं अर्थात् एक का सकारात्मक पहलू दूसरे का नकारात्मक पहलू है तथा दूसरे का नकारात्मक पहलू पहले का सकारात्मक पहल है।

उपर्युक्त विवेचन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होती कि एकीक त व्यवस्था के गुणों का पलड़ा भारी है। अधिकांश विद्वान एकीक त व्यवस्था के पक्ष में हैं, क्योंकि विश्व की कोई भी प्रशासनिक व्यवस्था पूर्णतः एकीक त नहीं हो सकती है। कुछ मामलों में अनिर्वायतः स्वतन्त्रता देनी पड़ती है। एकीक त व्यवस्था में कुछ संस्थाओं को स्वायत्तता देना प्रशासकीय संगठन के लिए हितकारी होता है और प्रशासन की समग्रता पर कोई अन्तर नहीं आता है। एकीक त व्यवस्था को सामान्य नियम के रूप में अपनाना चाहिए और स्वतन्त्र व्यवस्था को अपवाद के रूप में। भारतीय प्रशासकीय व्यवस्था में एकीक त प्रणाली को अपनाते हुए आवश्यकतानुसार कुछ संस्थाओं और अभिकरणों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। अतः सबसे सुन्दर प्रशासकीय व्यवस्था वही मानी जा सकती है जिसमें एकीक त व्यवस्था को अधिकांशतः तथा स्वतन्त्र व्यवस्था को अंशतः अपनाया गया है।

सत्ता और उत्तरदायित्व
(Authority & Responsibility)

पदसोपान व्यवस्था तथा कानूनी आधार से युक्त आधुनिक प्रशासनिक संगठनों में अधिकार या सत्ता, पद से जुड़ी एक अविभाज्य अवधारणा है। सत्ता वह शक्ति या अधिकार है जो वैधता प्राप्त है तथा व्यक्ति या व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करती हैं इसलिए कहा जाता है कि सत्ता का संगठन में वही स्थान है जो मानव शरीर में आत्मा का है। बिना आत्मा के मानव शरीर निष्क्रिय है तो बिना सत्ता के प्रशासनिक संगठनों में न निर्णय हो सकते हैं और न ही अधीनस्थों से कर्त्तव्य पालन करवाया जा सकता है। **साइमन, स्मिथबर्ग तथा थॉम्पसन** ने कार्य-विभाजन तथा सत्ता को किसी भी संगठन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता माना है इसके अनुसार—"जब कभी हम एक संगठन का ढाँचा तैयार करते हैं तो हमें संगठन की प्रत्येक इकाई को एक स्थान देना होता है और इसके पश्चात इन स्थानों को कुछ श्रेणियों से सम्बद्ध कर दिया जाता है। इन श्रेणियों को ही 'सत्ता की श्रेणी' कहते हैं।"

अर्थ (Meaning)

हेनरी फेयोल के अनुसार—"सत्ता, आदेश देने का अधिकार और उसका पालन करवाने की शक्ति है।"

हरबर्ट साइमन की द ष्टि में, "सत्ता, मुख्यतः निर्णय लेने की शक्ति से सम्बन्धित है जिससे दूसरे व्यक्तियों की क्रियाएँ निर्देशित होती हैं।"

एलन के शब्दों में–"किसी कार्मिक को दिए गए कार्यों का निष्पादन को सम्भव बनाने हेतु सौंपी गई शक्तियाँ एवं अधिकार ही सत्ता है।"

पेटरसन के अनुसार, "आदेश देने एवं उसके पालन की आज्ञा का अधिकार सत्ता है।"

डेविस के शब्दों में–"सत्ता निर्णय लेने एवं आदेश देने का अधिकार है।"

मैक्स वेबर ने प्रभुता के रूप में सत्ता को देखा है तथा कहा है कि–"यह सम्भावना है कि एक विशिष्ट आदेश का व्यक्तियों के एक विशिष्ट समूह द्वारा पालन किया जाएगा, प्रभुता है।"

थियो हैमेन के अनुसार–"सत्ता, वह वैधानिक शक्ति है जिसके आधार पर अधीनस्थों को काम करने के लिए कहा जाता है तथा उन्हें बाध्य किया जा सकता है और आदेश के उल्लंघन पर आवश्यकतानुसार प्रबन्धक उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकता है। यहाँ तक कि उनको कार्य से भी प थक् कर सकता है।"

शब्दकोषीय द ष्टि से "सत्ता, दूसरों को आदेश देने और उनका पालन करवाने की शक्ति है।"

वस्तुतः सत्ता की परिभाषाएँ अलग-अलग **द ष्टिकोणों** को स्पष्ट करती हैं–

(1) परम्परागत या विधि सम्बन्धी द ष्टिकोण में यह माना जाता है कि संविधान, कानून या नियमों द्वारा किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को निर्णय लेने तथा उसका क्रियान्वित कराने की शक्ति, सत्ता है।

(2) स्थिति या पद स्थिति द ष्टिकोण यह मानता है कि कोई भी व्यक्ति, संगठन में पद के अनुसार स्वतः ही सत्ता प्राप्त करता हैं आम भाषा में इसे **"कुर्सी में शक्ति"** कहा जाता है।

(3) **कार्यात्मक** द ष्टिकोण के अनुसार, सत्ता पर किसी का एकाधिकार नहीं होता बल्कि जैसा कार्य किया जाता है वैसी ही सत्ता प्राप्त हो जाती हैं

(4) **व्यवहारवादी** विचारधारा के अन्तर्गत यह माना जाता है कि सत्ता का सीधा सम्बन्ध प्रशासन में मानवीय सम्बन्धों से है अर्थात् सत्ता को व्यक्तियों तथा समूहों द्वारा ही स्वीक ति मिलती है। अनौपचारिक सम्बन्धों के द्वारा औपचारिक सत्ता को प्रभावित किया जा सकता है।

(5) **एकीक त** द ष्टिकोण के अन्तर्गत किसी एक आधार के बजाए सभी आधारों, यथा–परम्परागत, स्थिति, कार्यात्मक तथा व्यवहारवादी को एकीक त करके सत्ता को परिभाषित एवं विश्लेषित किया जाता है। **फेयोल** इस द ष्टिकोण के समर्थक हैं।

अवधारणा (Concept)

प्रशासनिक संगठनों में सत्ता की अवधारणा का तीन पक्षों से अध्ययन किया जाता है–

1. **सत्ता का कानूनी पक्ष**–इसके अन्तर्गत सत्ता की उत्पत्ति; स्रोत, नियम तथा आचरण को सम्मिलित करके सत्ता के कार्यक्षेत्र तथा सीमाओं को परिभाषित करते हैं।

2. **सत्ता का स्थिति पक्ष**–इसमें प्रशासनिक संगठनों में विभिन्न पदों पर आसीन व्यक्तियों के अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों सहित संगठन में उनके स्तर (पद) को सम्मिलित करते हैं।

3. **सत्ता का मानवीय पक्ष**–सत्ता की अवधारणा के अध्ययन के क्रम में य भी देखा जाता है कि संगठन में पारस्परिक सम्बन्ध, समन्वय, सहयोग, संचार तथा सत्ता की स्वीक ति की स्थिति क्या है।

प्रायः सत्ता तथा शक्ति को समानार्थी मान लिया जाता है जबकि वास्तविकता यह है कि शक्ति (Power) किसी कार्य को करने की क्षमता या योग्यता है जबकि सत्ता (Authority) दूसरों से कार्य कराने या उन्हें आदेश देने का अधिकार है जिसमें कानूनी पुट समाहित रहता है। **मूने एवं रैली** के अनुसार–"सत्ता, समन्वयन के लिए सर्वोच्च शक्ति" का कार्य करती है।

विशेषताएँ (Characteristics)

प्रबन्धकीय द ष्टिकोण ने सत्ता की प्रमुख विशेषताएँ यह मानी हैं–

(1) सत्ता एक प्रबन्धकीय अधिकार है जिसका प्रत्यायोजन ऊपर से होता है।

(2) सत्ता निर्णय लेने, अधीनस्थों को कार्य सौंपने तथा अधीनस्थों से सन्तोषजनक कार्य निष्पादन की अपेक्षा रखने का अधिकार है।

(3) संगठन के उच्च स्तर पर सत्ता का क्षेत्र तथा प्रभाव बहुत व्यापक होता है तथा मध्यम तथा निम्न (स्तरों) की ओर आते-आते यह संकीर्ण होता चला जाता है।

(4) प्रत्येक संगठन में सत्ता का प्रत्यायोजन होता है।

व्यवहारवाद तथा मानव-सम्बन्ध विचारधारा के समर्थक जैसे मेरी पार्कर फोलेट, रॉबर्ट टेननबेम, चेस्टर बर्नार्ड, हरबर्ट साइमन इत्यादि का मानना है कि जब तक अधीनस्थ व्यक्ति दिए गए आदेश या निर्णय को स्वीकार नहीं कर लेते तब तक वह आदेश देने की शक्ति, सत्ता नही कहला सकती हैं

सत्ता के स्रोत (Sources of Authority)

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न सामने रहता है कि किसी प्राधिकारी को अखिर सत्ता मिलती कहाँ से है? प्रशासनिक संगठनों में सत्ता निम्नांकित स्रोतों से प्राप्त होती है–

1. कानून–लोक प्रशासन का आधार ही संविधान तथा सरकार द्वारा निर्मित विविध कानून हैं। अधिकारों की उत्पत्ति का मूल स्रोत संविधान ही होता है। विधायिका के द्वारा समय-समय पर निर्मित अन्य अधिनियम तथा कार्यपालिका द्वारा निर्मित नियम एवं निर्गमित आदेश भी कानून का रूप होते हैं। न्यायिक निर्णय, पूर्व उदाहरण तथा स्वीक त प्रक्रियाएँ प्रशासनिक क्षेत्र के कार्मिकों को अधिकार प्रदान करती हैं।

2. परम्परा–जिस प्रकार समाज में कई प्रकार की परम्पराएँ, मानव-व्यवहार को कुछ सुविधाएँ तो कुछ अनुशासन प्रदान करती हैं उसी प्रकार प्रत्येक संगठन समय के साथ अपने नियम, संहिता तथा कार्यविधि विकसित कर लेता है जिसमें यह वर्णन रहता है कि किस परिस्थिति में किस अधिकारी ने क्या निर्णय लिया। शनैः-शनैः यह सब संगठन की परम्पराओं का रूप धारण कर लेता है। संगठन के नियम, प्रक्रियाएँ तथा परम्पराएँ स्वतः ही सत्ता प्रदान करते हैं। परम्पराएँ संगठनात्मक मूल्यों की भी पर्याय बन जाती हैं।

3. प्रत्यायोजन–अर्थात् उच्चाधिकारी द्वारा अधीनस्थ को सत्ता सौंपना एक स्वाभाविक प्रशासनिक प्रक्रिया है। यह शासन के शीर्ष शिखर से प्रारम्भ होकर नीचे तक आती है। लिखित या मौखिक आदेशों से एक के बाद एक पदसोपानीय स्तर तक सत्ता आती रहती है। यह स्रोत पद को प्रस्थिति-अनुसार मिलने वाली सत्ता को भी स्पष्ट करता है।

उपर्युक्त औपचारिक स्रोतों के अतिरिक्त एक अन्य तरीका (स्रोत) अनौपचारिक सम्बन्धों का भी है। संगठन में कार्य करते हुए कुछ व्यक्ति मिलकर अपना नेता चुन लेते हैं तथा उसे अपनी ओर से कुछ निर्णय लेने की छूट अर्थात् अधिकार प्रदान कर देते हैं।

सत्ता के स्रोत सम्बन्धी द ष्टिकोण (Theories Regarding Sources of Authority)

उपर्युक्त वर्णित सत्ता के स्रोत सामान्य तथा व्यावहारिक परिवेश को स्पष्ट करते हैं। सिद्धान्तकारों की द ष्टि में सत्ता के स्त्रोत सम्बन्धी विचारधाराएँ निम्नांकित हैं–

(1) औपचारिक सत्ता द ष्टिकोण

यह द ष्टिकोण मानता है कि सत्ता की मुख्य स्रोत किसी भी देश का **संविधान** होता है। **बर्नार्ड** के अनुसार–"अधिकार-सत्ता की वह अवधारणा, जिसमें अधिकारों का प्रेषण सार्वजनिक संस्थाओं से व्यक्तिगत प्रबन्धकों को होता है, वह औपचारिक सत्ता कहलाती है।" वस्तुतः शासन की सत्ता संविधान, विधायिका तथा जनता में निहित होती है जिसे औपचारिक रूप से वे व्यक्ति मानते हैं जो सरकारी तंत्र में नियुक्त रहते हैं। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद् से यह सत्ता, सचिवालय तथा सचिवालय से अधीनस्थ कार्यालयों तक आती है।

(2) स्वीक ति द ष्टिकोण

सत्ता का स्वीक ति द ष्टिकोण, अधीनस्थों को केन्द्र बिन्दु मानता है। इस द ष्टिकोण में मानव-सम्बन्ध, व्यवहारवाद तथा व्यावहारिकता का पुट अधिक है। स्वीक ति विचारधारा के समर्थकों के अनुसार औपचारिक सत्ता, नाममात्र की सत्ता है क्योंकि जब तक सत्ता या आदेश अधीनस्थों द्वारा स्वीकारा नहीं जाता तब तक वह अर्थपूर्ण बन ही नहीं सकता है। **हरबर्ट साइमन** तथा **चेस्टर बर्नार्ड** इसी द ष्टिकोण के समर्थक हैं। यदि उच्चाधिकारी ने आदेश दिया (अर्थात् सत्ता काम में ली) तथा अधिनस्थ ने नकार दिया तो वह आदेश तथा अधिकार शून्य के समान है, अतः स्वीक ति महत्त्वपूर्ण है। इस द ष्टिकोण के अनुयायी औपचारिक सत्ता को अधिनायकवाद के रूप में देखते हैं जो संगठन में स्वामी-सेवक का वातावरण बनाती है।

(3) सक्षमता द ष्टिकोण

यह द ष्टिकोण व्यक्ति के स्वयं के गुणों तथा योग्यताओं को सत्ता का स्रोत मानता है। यह विचारधारा यह मानकर चलती है कि योग्य तथा सक्षम व्यक्ति स्वतः ही नेत त्व सम्भाल लेते हैं, भले ही उन्हें संगठन में कोई विशिष्ट पद न दिया गया हो, क्योंकि व्यक्ति के तकनीकी गुण तथा व्यक्तित्व की प्रभावशीलता अधिकार का स्रोत बन जाती है। व्यवहार में एकाधिक द ष्टिकोणों के आधार पर ही सत्ता को विश्लेषित करना चाहिए।

मैकियावली तथा मैक्स वेबर सहित अन्य कई विद्वानों ने उन कारणों को स्पष्ट किया है जो किसी प्रशासनिक संगठन में कार्यरत व्यक्ति की सत्ता में योगदान करते हैं। इन कारणों में—(i) प्रशासकों की आजीविका तथा कार्यकाल का स्थायित्व; (ii) विशिष्ट ज्ञान, कौशल तथा विशेषज्ञता; और (iii) सार्वजनिक कार्य निपटाने के कारण प्राप्त बाहरी सम्पर्क प्रमुख हैं। **डी मिलेट** ने प्रशासनिक कार्यों के सफल निष्पादन के लिए चार क्षेत्रों में पर्याप्त सत्ता की अनुशंसा की है—

(1) कानूनी सीमाओं के भीतर प्रशासनिक गतिविधियों के लक्ष्य और उद्देश्य निर्धारित करने के लिए पर्याप्त मात्रा में **कार्यक्रम सम्बन्धी सत्ता** होनी चाहिए।

(2) प्रशासनिक नीतियों और कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए आवश्यक उपयुक्त ढाँचा निर्मित करने के लिए **संगठनात्मक सत्ता** होनी चाहिए।

(3) संगठन के उद्देश्यों और प्राथमिकताओं की पूर्ति हेतु **बजट सम्बन्धी सत्ता** मिलनी चाहिए।

(4) संगठन का सबसे बड़ा संसाधन मानव है, अतः कर्मचारियों की भर्ती, प्रशिक्षण पदोन्नति, अनुशासनात्मक कार्यवाही तथा बर्खास्तगी इत्यादि के लिए **कार्मिक सम्बन्धी सत्ता** बहुत आवश्यक है।

सत्ता के प्रकार (Types of Authority)

मैक्स वेबर ने समाज में सत्ता (प्रभुता) को **परम्परागत सत्ता** (राजा का बेटा राजा), **चमत्कारिक सत्ता** (व्यक्तिगत गुणों से प्राप्त शक्ति) तथा **वैध तार्किक सत्ता** (कानूनी आधार पर शक्ति जैसे नौकरशाही) के तीन रूपों में वर्णित किया था किन्तु यहाँ केवल प्रशासनिक संगठनों में कार्मिकों द्वारा काम में ली जाने वाली सत्ता या अधिकारों की चर्चा की जा रही है, अतः यह सत्ता तीन प्रकारों में समझी जा सकती है—

1. सूत्र सत्ता (Line Authority)—जैसा कि पूर्व अध्याय में बताया जा चुका है, शासन में सत्ता का सर्वाधिक प्रयोग सूत्र अभिकरण अर्थात् नीति-निर्माता तथा नियंत्रणकर्ता अधिकारी करते हैं। सूत्र-सत्ता समस्त उच्चाधिकारियों तथा अधीनस्थों के मध्य व्याप्त रहती है। यदि 'आदेश की एकता' का उल्लंघन न किया जाए तो यह सत्ता उच्च स्तर से निम्नतम कार्मिक तक आती है। **थियो हैमेन** के अनुसार—"सूत्र-सत्ता, आदेश देने की सत्ता हैं यह वह अन्तिम (मुख्य) सत्ता है जो अन्य व्यक्तियों को निर्देशित-नियंत्रित करती है और उन्हें संगठन के लक्ष्यों, निर्णय, नीतियों तथा कार्यक्रमों के अनुरूप कार्य करने को कहती है। यह संगठन को क्रियाशील बनाती है।"

2. स्टाफ सत्ता (Staff Authority)—**ब्रेसी एवं सेनफोर्ड** के अनुसार—"स्टाफ सत्ता, सेवा करने वाली सत्ता है। यह सत्ता अन्य व्यक्तियों (सूत्र) को परामर्श देने एवं सहायता पहुँचाने का अधिकार रखती हैं यह अन्य व्यक्तियों के लिए निर्णय लेने की सत्ता नहीं है। सूत्र सत्ता में सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है जबकि स्टाफ सत्ता में यह प्रवाह किसी भी ओर हो सकता है।" अतः परामर्श, सूचना तथा सहायता देने के लिए कार्यरत संगठनों में यह सत्ता विद्यमान रहती है।

3. क्रियात्मक सत्ता (Functional Authority)—यह सत्ता, सूत्र तथा स्टाफ सत्ता के मध्य की प्रक ति से युक्त होती है। क्रियात्मक सत्ता, कार्य या क्रिया विशेष से जुड़ी रहती है। यह सत्ता निर्णय ले सकती है, लेकिन एक विशेष तथा सीमित क्षेत्र में ही, जो उसे निर्दिष्ट किया गया है। यह सत्ता, आदेश की एकता का उल्लंघन करती है। चूँकि यह सत्ता उसी व्यक्ति में समाहित मानी जाती है जो किसी विशेष कार्य से सम्बन्धित हो, ऐसे में यह कार्यकारी अधिकारी के कार्यभार में व द्धि कर सकती है तथा सूत्र सत्ता में कमी भी ला सकती है। **थियो हैमेन** ने इसे "सीमित-सत्ता" नाम देते हुए इसे सावधानी से प्रयुक्त करने की सलाह दी है।

ए. एटजियोनी (Amitai Etzioni) ने सत्ता को तीन रूपों में विभक्त किया है—

(i) **बलयुक्त सत्ता** (Coercive Authority)—ऐसी सत्ता जो भय के कारण स्वीकार की जाती है। यदि सत्ता स्वीकार न की जाए तो शारीरिक, मानसिक, आर्थिक या प्रशासनिक हानि होने का भय रहता हैं।

(ii) **आदर्शात्मक सत्ता** (Normative Authority)—प्रतीकात्मक पुरस्कारों के वितरण तथा विवेचन से युक्त यह सत्ता निश्चित मानकों (Norms) पर आधारित होती है।

(iii) **उपयोगितावादी सत्ता** (Utilitarian Authority)—इसे पुरस्कार सत्ता (Reward Authority) भी कहा जाता है। यह उन भौतिक पुरस्कारों पर आधारित होती है जो अधीनस्थों द्वारा स्वीकारे जाते हैं या उनके द्वारा चाहे गए हैं।

सत्ता-पालन (आज्ञाकारिता) के आधार (Bases of Accepting Authority)

संगठन में या बाहर, व्यक्ति किन कारणों से सत्ता को स्वीकार कर लेता है तथा आज्ञा को मानते हुए अपना आचरण निर्धारित करता है, इस सम्बन्ध में कई कारण गिनाए जाते हैं। **साइमन** के अनुसार—"सत्ता को इसलिए स्वीकारा जाता है कि अधीनस्थ ऐसा मानते हैं कि उच्च अधिकारी के आदेशों का पालन किया जाना चाहिए।" दूसरी ओर **चेस्टर बर्नार्ड** ने सत्ता को अधीनस्थों द्वारा स्वीकारने की चार शर्तें बतायी हैं—

(1) यदि वे संचार (सत्ता) को समझते हों।

(2) यदि संचार (सत्ता) संगठनात्मक उद्देश्यों के अनुरूप हो।

(3) यदि संचार (सत्ता) अधीनस्थ के हितों के विपरीत नहीं हो।

(4) यदि अधीनस्थ शारीरिक-मानसिक रूप में संचार (सत्ता) का पालन करने की स्थिति में हों।

बर्नार्ड ने माना है कि कोई आदेश, अधीनस्थों तक आने में तीन स्थितियाँ हो सकती हैं। प्रथमतः कुछ आदेश पूर्णतः अस्वीक त हो जाते हैं, दूसरे वे जिनको अधीनस्थ स्वीक त या अस्वीक त कर सकते हैं। तीसरे वे आदेश जिन्हें अधीनस्थ बिना मनन किए सहजभाव से स्वीकार कर लेते हैं। इसे **बर्नार्ड** ने उदासीनता का क्षेत्र (Zone of Acceptance) कहा है। बर्नार्ड के अनुसार सत्ता तभी सत्ता कहला सकती है जबकि उसे अधीनस्थ स्वीकार कर लें बर्नार्ड के उदासीनता के क्षेत्र की भाँति **हरबर्ट साइमन** ने **स्वीक ति का क्षेत्र** (Zone of Acceptance) प्रतिपादित किया है। साइमन के अनुसार अधीनस्थ, उच्चाधिकारी की निर्णय करने एवं निर्देशन करने की शक्ति से प्रभावित रहते हैं तथा उसी के अनुरूप व्यवहार करते हैं लेकिन यह सत्ता अधीनस्थों की स्वीक ति पर ही निर्भर रहती है। अगर उच्चाधिकारियों के आदेश, अधीनस्थों की स्वीक ति के क्षेत्र से बाहर के होते हैं तो अधीनस्थ उन आदेशों की अवज्ञा करते हैं। अर्थात् स्वीक ति का क्षेत्र, अधीनस्थों के अनुमोदन पर निर्भर करता है।

सत्ता को स्वीकारने या आज्ञापालन के क्रम में **साइमन** ने **चार प्रमुख आधार** यथा—विश्वास की सत्ता, एकरूपता की सत्ता, दबावों की सत्ता तथा वैधानिकता की सत्ता बताये हैं—

1. विश्वास की सत्ता—संगठन में कार्य करते-करते अधीनस्थ बहुत सारे निर्णयों, प्रक्रियाओं, तकनीकी विशेषताओं तथा अतीत के क्रियाकलापों से परिचित हो जाते हैं। यहीं से उनमें संगठन की सत्ता के प्रति विश्वास भी उत्पन्न होता है। उच्च ज्ञान, कौशल एवं पद से युक्त उच्चाधिकारी की क्षमता एवं शक्ति के प्रति भी उनमें विश्वास होता हैं विश्वास की सत्ता अधीनस्थों के दैनन्दिन कार्य का एक अंग बन जाती है, अतः सहज भाव से सत्ता स्वीकार कर लेते हैं।

2. एकरूपता की सत्ता—मानव-व्यवहार को निर्देशित करने में सामूहिक आदर्श, मूल्य तथा निर्णय बहुत प्रभाव दिखाते हैं। संगठन में भी, एक अधीनस्थ सत्ता को इसलिए स्वीकार कर लेता है कि शेष सभी अधीनस्थ उसे स्वीकार कर रहे होते हैं।

औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों का सदस्य होते हुए कोई भी अधीनस्थ उन मापदण्डों का उल्लंघन नहीं करता है जो सर्वस्वीकार्यता प्राप्त कर चुके होते हैं। संगठन की एकरूपता भंग करने का अर्थ है उस व्यक्ति की आलोचना, दण्ड तथा अन्य सदस्यों से अलगाव।

3. दबावों की सत्ता—वास्तव में विविध प्रकार के सकारात्मक एवं नकारात्मक दबाव व्यक्ति को सत्ता स्वीकारने के लिए बाध्य भी करते हैं।

(1) **सामाजिक दबाव**—मूल्य, विश्वास, परम्परा, संस्क ति, समूह-व्यवहार इत्यादि।

(2) **मनोवैज्ञानिक दबाव**—भय, प्रताड़ना, आशंका, नैतिकता तथा पुरस्कार इत्यादि से सम्बन्धित दबाव।

(3) **संगठन का लक्ष्य**—प्रत्येक अधीनस्थ यह जानता है कि अमुक आदेश संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए है, अतः स्वीकारना पड़ेगा।

(4) **आर्थिक सुरक्षा एवं स्तर**—संगठन में कार्य करते समय मनुष्य मुख्यतः अपनी आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करता है, अतः आर्थिक सुरक्षा बनाए रखने के लिए सत्ता स्वीकारता है। इसी प्रकार पदस्थिति (स्तर) के अनुरूप वह जानता है कि उसे किसकी सत्ता स्वीकारनी पड़ेगी।

(5) **उदासीनता**—संगठन में प्रत्येक व्यक्ति कार्यशील, उत्साही तथा समर्पित नहीं होता है और न ही उत्साही व्यक्ति हमेशा समर्पित होता है, अतः अधीनस्थ के व्यवहार में कुछ अंश उदासीनता के आ जाते हैं। कई बार वह सत्ता को इसी उदासीनता के कारण स्वीकारता है।

4. वैधानिकता की सत्ता—मैक्स वेबर ने माना है कि आधुनिक शासन तंत्र का आधार कानून है, अतः लोग शासन का आदर करते हैं। इसी प्रकार संगठन का आधार जब कानून हो, नियम तथा प्रक्रियाएँ स्पष्ट हों, कार्य-विभाजन किया हुआ हो तो अधीनस्थ इस वैधानिकता के परिवेश में उच्चाधिकारियों की सत्ता सहज ही स्वीकार कर लेता है।

सत्ता की सीमाएँ (Limitations of Authority)

प्रत्येक संगठन में प्रत्येक कार्मिक, प्रत्येक स्थिति में सम्पूर्ण मात्रा में सत्ता या आज्ञा को स्वीकार नहीं कर पाता है। इसी प्रकार प्रशासनिक सत्ता असीमित तथा अनियंत्रित भी नहीं होती है। **सत्ता पर अंकुश** रखने तथा इसकी सीमाएँ निर्धारित करने में निम्नांकित कारक (Factors) महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं—

1. विधायी नियंत्रण—प्रशासनिक संगठनों का कार्यकरण कानूनी मर्यादाओं से निर्धारित किया जाता हैं विधायिका वह स्थान है जहाँ से समस्त प्रकार के कानून स्वीक त होते हैं, अतः प्रशासनिक अधिकारियों की सत्ता पर नियंत्रण का एक सशक्त तरीका विधायी नियंत्रण भी है। संसदीय समितियों तथा अन्य अभिकरणों के द्वारा विधायिका नियंत्रण करती है। प्रशासनिक कार्यकलापों के विरुद्ध सदन में उठने वाले प्रश्न, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव तथा मंत्री की सदन के प्रति जवाबदेयता के कारण सत्ता असीमित तथा अनियंत्रित नहीं हो पाती है।

2. न्यायिक नियंत्रण—संविधान, कानून का सर्वोच्च स्रोत है। इसी प्रकार संविधान में वर्णित तथा विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों, प्रावधानों की व्याख्या करने का दायित्व न्यायपालिका निभाती है। निर्धारित प्रशासनिक कानूनों, नियमों, प्रक्रियाओं तथा तथ्यों सहित अधिकारी के स्वविवेकीय क्षेत्राधिकार के दुरुपयोग को न्यायिक कार्यवाहियाँ एवं अदालती निर्णय, नियंत्रित करते हैं। विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक न्यायधिकरण, समझौता समितियाँ, लोकायुक्त तथा जाँच आयोग इत्यादि भी सत्ता के दुरुपयोग पर अंकुश लगाते हैं।

3. जनमत, मीडिया एवं दबाव समूह—प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा सत्ता-प्रयोग को नियंत्रित करने में जनमत, समाचार पत्र तथा अन्य जनसंचार माध्यम प्रभावी भूमिका निभाते हैं। विभिन्न प्रकार के दबाव समूह जैसे कर्मचारी संगठन, व्यापारी संघ, विद्यार्थी, श्रमिक एवं उपभेक्ता यूनियनें तथा राजनीतिक पार्टियाँ इत्यादि शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक संगठन सत्ता पर कड़ा अंकुश लगाते हैं। संगठन में विद्यमान अनौपचारिक संगठन भी सत्ता की सीमाएँ निर्धारित करने में योगदान देते हैं।

4. कार्यपालिका–नियंत्रण–प्रशासनिक संगठन जो कि स्वयं कार्यपालिका का एक भाग हैं, सभी प्रशासनिक पदसोपान में कहीं-न-कहीं स्थित हैं। प्रत्येक अधिकारी का एक उच्चाधिकारी होता है जो अधीनस्थ की गतिविधियों को नियंत्रित-निर्देशित करता है। वस्तुतः सत्ता, प्रत्यायोजन के द्वारा अधीनस्थों तक आती है, अतः साथ में उत्तरदायित्वों का भी प्रावधान करती है। नियम-निर्माण, संशोधन, कार्मिक नीति एवं प्रबंध, आचार-संहिता तथा अनुशासनात्मक कार्यवाही के द्वारा सत्ता को निरंकुश होने से बचाया जाता है।

सत्ता पर नियंत्रण करने के उपर्युक्त प्रभावी साधनों या माध्यमों के अतिरिक्त कुछ अन्य बिन्दु ऐसे भी है जो सत्ता की सीमाओं पर असर दिखाते हैं।

5. अधीनस्थों की सीमा–चेस्टर बर्नार्ड तथा **साइमन** यह मानते हैं कि सत्ता की स्वीक ति अधीनस्थों द्वारा बहुत आवश्यक है। बर्नार्ड तो यह मानते हैं कि सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे नहीं बल्कि नीचे से ऊपर की ओर होता है अर्थात् अधीनस्थ, उच्चाधिकारी के आदेश को स्वीकार कर उसे सत्ता का स्वरूप देते हैं। बहुत बार अधीनस्थ, उच्चाधिकारी के आदेशों या आज्ञा का पालन नहीं करते हैं। इससे सत्ता की सीमा स्वतः ही सीमित हो जाती है।

6. आदेशकर्ता का व्यक्तित्व–सत्ता तथा उसके प्रयोगकर्ता का गहरा सम्बन्ध है। यदि अधीनस्थों को किसी उच्चाधिकारी के व्यक्तित्व में ढीलापन, पक्षपात, भ्रष्टाचार तथा अविश्वास दिखाई देता है तो वे सत्ता को कम स्वीकार करते हैं। यह एक सुस्थापित तथ्य है कि एक ही पद पर एक समान सत्ता होते हुए दो अधिकारी एक समान प्रभाव नहीं दिखा पाते हैं। यदि लोक प्रशासन एक कला है तो इसमें सबसे बड़ी कला (कौशल) लोगों से कार्य करवाने की ही है।

7. नेत त्व की सीमाएँ–संगठन में पदस्थापित उच्चाधिकारी, अपने अधीनस्थों का नेता होता है लेकिन नेत त्व करना पूर्णतया नेता के अधीन नहीं है बल्कि इसमें अनुयायियों की भी भूमिका है। उदाहरणस्वरूप यात्रियों से भरी एक बस का संचालन, केवल चालक अपनी इच्छा से नहीं करता है बल्कि यात्रियों की इच्छा एवं भावना भी महत्त्वपूर्ण रहती है। चालक के पास बस चलाने की कला तथा अधिकार है, फिर भी वह यात्रियों पर सभी प्रकार के नियंत्रण स्थापित नहीं कर सकता है।

8. तकनीकी सीमाएँ–वर्तमान विशेषीकरण के युग में सत्ता का प्रयोग बिना विशिष्ट ज्ञान या कौशल के करना असम्भव हैं कार्य या दायित्व के आधार पर ही सत्ता मिलती है लेकिन सत्ता एवं कार्य का ज्ञान ही प्रयोगकर्ता को होना चाहिए अर्थात् केवल हाथ में बंदूक थमाने से भीड़ पर नियंत्रण नहीं होता, सम्बन्धित व्यक्ति को बन्दूक चलाने की तकनीकी कला भी आनी चाहिए।

9. जैविक सीमाएँ–किसी भी आदेश को अधीनस्थ उसी अवस्था में स्वीकार कर सकते हैं जितना कि उनका शारीरिक-मानसिक स्तर अनुमति देता हो। कोई भी अधिकारी यदि अधीनस्थों को जहर चखने या बिजली के तार छूने का आदेश दे, तो शायद ही उसे कोई स्वीकारेगा।

10. मनोवैज्ञानिक सीमाएँ–आदेश की क्रियान्विति उसी स्थिति में सम्भव होती है जबकि अधीनस्थों की मनोस्थिति उसे स्वीकार करे। चिन्ता, गम, अवसाद तथा तनाव से ग्रस्त व्यक्ति सत्ता को स्वस्थ रूप से नहीं स्वीकार कर पाता है। इसी प्रकार व्यक्ति के धार्मिक-सांस्क तिक मूल्य भी उसे बाध्य करते हैं।

11. आर्थिक सीमाएँ–आधुनिक शासन व्यवस्थाओं का केन्द्र बिन्दु 'वित्त' है, अतः संगठन की आर्थिक स्थिति, सत्ता को प्रभावित करती है। उसी तरह अधीनस्थ की आर्थिक स्थिति, लाभ-हानि द ष्टिकोण भी आदेशों की क्रियान्विति को प्रभावित करता है। आर्थिक लाभ वाले आदेश प्रायः अधीनस्थों द्वारा तुरंत स्वीकार कर लिए जाते हैं।

12. पर्यावरणीय सीमाएँ–संगठन का भौगोलिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पर्यावरण भी सत्ता को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए कश्मीर में -20ºC तथा थार मरूस्थल के 48^0C तापमान की स्थिति में बहुत-सी प्रशासनिक गतिविधियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। अकाल, सूखा, महामारी, तूफान, भूकम्प, बाढ़, आगजनी, हिंसा, आतंकवाद तथा अन्य कई आन्दोलन तथा सुरक्षा की चिन्ताएँ सत्ता की सीमाएँ सीमित कर देती हैं।

सत्ता के कार्य (Functions of Authority)

सामान्यतः सत्ता को हम आदेश देने, निर्णय लेने, निर्णयों का पालन करवाने तथा नियंत्रण-निर्देशन स्थापित करने की शक्ति के रूप में वर्णित करते हैं। **हरबर्ट साइमन** ने सत्ता के तीन कार्य बताए हैं–

(1) सत्ता, उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करती है।

(2) सत्ता, निर्णय लेने की विशेष दक्षता को प्रोत्साहित करती है।

(3) सत्ता, संगठन की विविध क्रियाओं में समन्वय स्थापित करती है।

अन्य कार्य

(4) सत्ता के कानूनी पक्ष के समर्थक मानते हैं कि सत्ता व्यक्तिगत कार्यों की समाज या संगठन द्वारा स्थापित आदर्शों के साथ एकरूपता स्थापित करती है।

(5) सत्ता द्वारा किए गए निर्णयों में बुद्धि, योग्यता एवं कौशल का समावेश होता है, अतः सत्ता प्रभाव स्थापित करती है।

(6) सत्ता, नियंत्रण, निर्देशन तथा अनुशासन स्थापित करने का साधन है।

जे. डी. मिलेट ने प्रशासनिक अधिकारियों हेतु चार क्षेत्र रेखांकित किए हैं, जहाँ पर्याप्त सत्ता की आवश्यकता होती है–

1. **कार्यक्रम सत्ता** (Programme Authority)–गतिविधियों के उद्देश्य निर्धारण हेतु।

2. **संगठनात्मक सत्ता** (Organisational Authority)–कार्यक्रमों के सफल क्रियान्वयन हेतु आवश्यक संरचना के निर्माण तथा संगठन (संचालन) हेतु।

3. **बजटीय सत्ता** (Budgetary Authority)–कार्यक्रमों, लक्ष्यों तथा प्राथमिकताओं की वित्तीय पूर्ति हेतु।

4. **कार्मिक सत्ता** (Personnel Authority)–कार्मिकों की नियुक्ति, अभिप्रेरणा, नियंत्रण तथा अनुशासन हेतु।

इस प्रकार सत्ता के कार्य संगठन, बजट, कार्मिक तथा कार्यक्रम से सम्बन्धित हैं।

सत्ता और शक्ति (Authority & Power)

सामान्यतः सत्ता (प्राधिकार) तथा शक्ति को समानार्थी मान लिया जाता है जबकि इन दोनों शब्दों में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक, दोनों पक्षों की द ष्टि से भेद है। इन दोनों शब्दों के अर्थ स्पष्ट करने के लिए बहुत से विद्वानों ने प्रयास किए हैं–

(1) अधिकांश विद्वान् इस तथ्य से सहमत हैं कि सत्ता का स्वरूप कानूनी होता है जबकि शक्ति का कानूनी आधार होना अनिवार्य नहीं है।

(2) 'शक्ति' शब्द किसी कार्य को करने की क्षमता अथवा योग्यता का प्रदर्शन करना है जबकि 'सत्ता' दूसरों से कार्य कराने या उन्हें आदेश देने का अधिकार है।

(3) **कार्ल जे. फ्रेडरिक** के अनुसार–"सत्ता, शक्ति का एक प्रकार नहीं बल्कि यह एक वस्तु है जो शक्ति के साथ चलती है। यह (सत्ता) व्यक्तियों और वस्तुओं में एक गुण है जो उनकी शक्तियों में व द्धि करती है। यह एक ऐसी वस्तु है जो शक्ति को उत्पन्न करती है किन्तु स्वयं शक्ति नहीं है।"

(4) शक्ति का अस्तित्व सत्ता के अभाव में भी सम्भव तो है किन्तु उसका (शक्ति) अस्तित्व दीर्घकाल तक सम्भव नहीं है। हाँ, सत्ता के साथ शक्ति का लम्बा प्रभाव रह सकता है।

(5) **बायर्सटीड** के अनुसार–"सत्ता, शक्ति के प्रयोग का संस्थागत अधिकार है, परन्तु स्वयं शक्ति नहीं है।"

(6) सत्ता का प्रत्यायोजन किया जा सकता है, शक्ति का नहीं।

(7) **पिफनर एवं शेरवुड** के अनुसार–"औपचारिक पदसोपान में सत्ता, आज्ञा देने का अधिकार है जबकि शक्ति, मूल्यों तथा लक्ष्यों को प्राप्त करने की सामर्थ्य को बताती है।"

(8) सत्ता के साथ जवाबदेयता जुड़ी रहती है जबकि शक्ति के साथ ऐसा अनिवार्य नहीं है।

वास्तव में शक्ति, व्यक्तिगत क्षमताओं से सम्बन्धित अवधारणा है। **मेरी पार्कर फोलेट** के अनुसार–"शक्ति, आत्मविकास की सामर्थ्य की परिचायक है या साधारण रूप से कार्य करने की योग्यता है।" जबकि सत्ता, संस्थागत रूप में प्राप्त एक अधिकार है। इसी प्रकार सत्ता तथा **प्रभाव** (Influence) के मध्य भेद करने का प्रयास किया जाता है। मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि **प्रभाव** वह स्थिति है जो किसी के कार्यों, व्यवहार, विश्वासों तथा आस्थाओं को डिगा. सकती है या अनुसरण को बाध्य करती

है। प्रभाव में कानूनी आधार होना आवश्यक नहीं है। संत, महात्मा, चमत्कारिक व्यक्तित्व तथा अंध भक्ति में कुछ लोग किसी के प्रभाव को मानते या स्वीकारते हैं। जिसका प्रभाव है, उसके पास शक्ति या सत्ता हो या न हो इससे अधिक अंतर नहीं पड़ता है। हम कह सकते हैं कि महात्मा गांधी का भारतीयों पर 'प्रभाव' था।

उत्तरदायित्व (Responsibility)

सत्ता तथा उत्तरदायित्व परस्पर जुड़ी हुई अवधारणाएँ हैं। सत्ता के बिना उत्तरदायित्व नहीं निभाये जा सकते हैं तो दूसरी ओर बिना उत्तरदायित्व किसी को सत्ता सौंपना खतरनाक सिद्ध हो सकता है। **साइमन** के अनुसार, "सत्ता की व्यवस्था की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें सदैव उत्तरदायित्व निर्धारित किए जाते हैं।"

थियो हैमेन के शब्दों में–"उत्तरदायित्व, एक अधीनस्थ को अपनी सत्ता के प्रयोग पर एक बन्धन है।"

दूसरे शब्दों में जहाँ सत्ता, आदेश देने की शक्ति है, वहीं उत्तरदायित्व–"आदेश पालन का कर्त्तव्य है।" उत्तरदायित्व **दो प्रकार** के होते हैं–

1. **क्रियात्मक उत्तरदायित्व**–सत्ता के साथ यह उत्तरदायित्व उच्चाधिकारी, अपने अधीनस्थों को सौंप सकता है, अतः यह आंशिकता को बताता है।
2. **सम्पूर्ण उत्तरदायित्व**–सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का कभी प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता है।

विशेषताएँ (Characteristics)

(1) उत्तरदायित्व एक व्यक्तिगत, आत्मिक तथा नैतिक गुण है जो सामान्यतः किसी कार्य को करने के लिए मिले अधिकार के साथ जुड़ जाता है।

(2) उत्तरदायित्व की भावना एक दबाव का कार्य करती है।

(3) उत्तरदायित्व स्वनियंत्रण तथा सत्ता-संतुलन का कार्य करता है।

(4) उत्तरदायित्व कर्त्तव्यों से जुड़ा वह साधन है, जिसके आधार पर किसी को, किसी कार्य को न करने पर दोषी ठहराया जा सकता है। (दायित्वों के सम्बन्ध में उत्तर)

उत्तरदायित्व के प्रकार (Type of Responsibility)

प्रशासनिक संगठनों में मुख्यतः तीन प्रकार के उत्तरदायित्व होते है:-

(1) राजनीतिक उत्तरदायित्व

लोक प्रशासन, राजनीतिक कार्यपालिका के नेत त्व में कार्य करने वाली व्यवस्था है। संसदीय लोकतंत्र में विभागीय नियंत्रण, मत्री के द्वारा किया जाता है। प्रत्येक मंत्री, विधायिका में अपने विभाग के क त्यों तथा कार्यकलापों के लिए उत्तरदायी है। चूँकि नीति, कानून तथा कार्यक्रमों का निर्माण तथा निर्देशन मुख्यतः मंत्री द्वारा किया जाता है अतः समस्त प्रशासनिक अभिकरण अपने-अपने विभाग के मंत्री के प्रति उत्तरदायी होते हैं तथा सभी मंत्री, मुख्य कार्यपालिका के साथ मिलकर अपने दायित्वों का निर्वहन करते हैं। प्रशासनिक तंत्र, राजनीतिक कार्यपालिका के प्रति तथा राजनीतिक कार्यपालिका, विधायिका तथा जनता के प्रति उत्तरदायी रहती है।

(2) संस्थागत उत्तरदायित्व

लोक प्रशासन में प्रत्येक संस्था, जनहितार्थ कार्य करती है। इसलिए संस्था अपने कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी होती हैं यदि संस्था अपने सार्वजनिक दायित्वों को भलीभाँति नहीं निभा पाती है और जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को भी नहीं समझती है तो, उस संस्था का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है। संस्थागत उत्तरदायित्वों की पूर्ति हेतु जन्म शिकायत-निवारण व्यवस्था, संगठनात्मक विकास तथा नवाचारों के प्रयास किए जाते हैं।

(3) व्यावसायिक उत्तरदायित्व

आधुनिक समय में प्रशासन, समाज तथा संगठनों सहित सभी क्षेत्र विशेषज्ञता से युक्त हो गए हैं। चिकित्सा, नर्सिंग, विधि,

अभियांत्रिकी, लेखा, अर्थतंत्र तथा वाणिज्य इत्यादि से सम्बद्ध हजारों व्यावसायिक (Professional) संघ निर्मित हो चुके हैं। विशेषज्ञ सेवाओं से सम्बद्ध कार्मिक अपने क्षेत्र के व्यावसायिक संघों के सदस्य होते हैं तथा संघ द्वारा निर्मित आचार संहिता (व्यावसायिक) का पालन करते हैं। प्रत्येक पेशे के अपने कुछ मूल्य, मानदण्ड तथा नियम निर्धारित हो चुके हैं। इन व्यावसायिक या पेशेवर प्रतिमानों का पालन करके सदस्यगण अपना उत्तरदायित्व निर्वाहित करते हैं, अन्यथा संघ से सदस्यता भी समाप्त हो सकती है।

इस प्रकार संगठनात्मक सत्ता को कार्य में लेते हुए व्यक्ति कई प्रकार के उत्तरदायित्वों को निर्वाहित करता है। **एल. उरविक** कहते हैं—"किसी समूह या व्यक्ति को उत्तरदायित्व के निर्वहन हेतु आवश्यक सत्ता दिए बिना उन्हें या उसे किसी गतिविधि के लिए उत्तरदायी ठहराना स्पष्ट रूप से अनुचित एवं असंतोषजनक है। इसी प्रकार संगठन के सुचारू संचालन के लिए यह भी आवश्यक है कि सभी स्तरों पर सत्ता तथा उत्तरदायित्व एक साथ एवं एक समान हों।" इसी तरह यह भी कहा जाता है कि उत्तरदायित्व का विभाजन व्यक्तिगत होना चाहिए क्योंकि **"सभी की जिम्मेदारी, किसी की जिम्मेदारी नहीं होती है।"**

उत्तरदायित्व एवं जवाबदेयता (Responsibility and Accountability)

सामान्यतः उत्तरदायित्व (Responsibility) तथा जवाबदेयता (Accountability) को भी किंचित् समानार्थी माना जाता है लेकिन इन दोनों में भी भेद है। उत्तरदायित्व को मुख्यतः व्यक्तिगत, नैतिक तथा कर्त्तव्य बोध से युक्त विचार माना जाता है जबकि जवाबदेयता में औपचारिक स्थिति तथा कानूनी बाध्यता को सामाहित किया जाता है। जवाबदेयता, मुख्यतः सैनिक संगठनों में प्रयुक्त होने वाला शब्द है जिसका अर्थ है—सही-सही और पर्याप्त रिकार्ड रखना तथा जन सम्पत्ति की सुरक्षा करना। **पीटरसन तथा प्लोमैन** के अनुसार—"जवाबदेह होने का अर्थ है पूरे किए गए या न किए गए कर्त्तव्यों के प्रति उत्तरदायी (Answerable) होना।" **शब्दकोषीय** द ष्टि से "ऐसा जिम्मेदार, जिससे किसी मुद्दे पर किसी भी बात (कार्य) के प्रति जवाब या हिसाब-किताब माँगा जा सके, वह जवाबदेह कहलाता है तथा यह स्थिति जवाबदेयता है।" प्रशासनिक संगठनो में निर्णय के स्तर अधिक होने से जवाबदेयता की समस्या बढ़ती है।

पिफनर ने इन दोनों के मध्य यह अन्तर बताए हैः-

(1) उत्तरदायित्व एक नैतिक गुण है जिसमें औपचारिक स्थिति तथा औपचारिक शक्ति का सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है जबकि जवाबदेयता का सम्बन्ध संगठन में औपचारिक स्थिति से है।

(2) उत्तरदायित्व का सम्बन्ध लोक सेवकों की जनता की आकांक्षाओं के प्रति कर्त्तव्य बोध से है जबकि जवाबदेयता लोक सेवकों के उत्तदायित्व को लागू करने की विशिष्ट विधि को बताती है।

(3) उत्तरदायित्व का सम्बन्ध स्वचेतना या अन्तःकरण से है जबकि जवाबदेयता एक बाहरी एवं वस्तुनिष्ठ स्थिति है जो संगठनात्मक नियमों पर निर्भर करती है।

जवाबदेयता तथा **नियंत्रण** में अन्तर यह है कि नियंत्रण तो कार्य निष्पादन के दौरान भी हो सकता है जबकि जवाबदेयता कार्य समाप्ति पर ही होती है।

समन्वय
(Co-ordination)

जटिल होते संगठनों तथा समय के साथ बढ़ते कार्यो एवं प्रक्रियाओं के कारण समन्वय एक बड़ी प्रशासनिक समस्या बन चुका है।[12] इसीलिए **जेम्स मूने, समन्वय को "संगठन का प्रथम सिद्धान्त" करार देते हैं।** विशेषीकरण के कारण संगठनात्मक उलझनें बढ़ी हैं और सरकारी तंत्र में लोक कल्याणकारी राज्य की पल्लवित होती अवधारणा ने नित्य नये विभागों तथा शासकीय कार्यो का विस्तार किया है। सरकारी एवं निजी, दोनों ही क्षेत्रों में संगठनों के विस्तार तथा कार्यो में तकनीकी जटिलता ने विभिन्न इकाइयों तथा व्यक्तियों के मध्य परस्पर सामंजस्यता की समस्या उत्पन्न की है। एक समान प्रक ति तथा क्षेत्र के कार्य, आज कई प्रकार के संगठनों तथा विभागों द्वारा निष्पादित किए जा रहे हैं। इसी प्रकार एक ही संगठन के भीतर बहुत सी गतिविधियाँ ऐसी होती हैं जो सामूहिक प्रयासों तथा सकारात्मक सहयोग की अपेक्षा करती हैं, अन्यथा कार्यो में दोहराव, अतिराव, प्रतिस्पर्द्धा तथा संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जो संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होती

हैं। इसलिए विभिन्न कार्यों, व्यक्तियों तथा प्रक्रियाओं के मध्य तालमेल स्थापित करना पड़ता है, जिस समन्वय कहा जाता है।

अर्थ (Meaning)

शब्दकोषीय द ष्टि से—"व्यक्तियों, अंगों या वस्तुओं से कुशल एवं व्यवस्थित ढंग से कार्य लेना ही समन्वय है।"

एल.डी.व्हाईट के अनुसार—"समन्वय का अर्थ है विभिन्न भागों का परस्पर समायोजन एवं उनकी गतिविधियों तथा क्रियाओं का भी समय पर समायोजन, ताकि प्रत्येक भाग पूर्ण उत्पाद (या सेवा) के लिए अपना अधिकतम योगदान कर सके।"

हेनरी फेयोल के अनुसार—"समन्वय, किसी संगठन की सभी क्रियाओं में समरसता स्थापित करता है ताकि इसका कार्य सुविधाजनक ढंग से सफलतापूर्वक चलता रहे।"

जॉर्ज आर. टैरी के शब्दों में—"समन्वय, निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नों का **समकालीन संचालन** (Synchronization) है, ताकि निष्पादन की उपयुक्त मात्रा, समय तथा संचालन की क्रियाओं में सामंजस्य एवं एकता स्थापित हो सके।"

सेक्लर-हडसन के अनुसार—"समन्वय, कार्य के विभिन्न हिस्सों के बीच तालमेल स्थापित करने की महत्त्वपूर्ण गतिविधि है।"

समन्वय को परिभाषित करते हुए **मेरी पार्कर फोलेट** कहती है—"यह (समन्वय) किसी स्थिति में सभी तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध है।"

मूने एवं रैली के अनुसार—"किसी सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति हेतु की जाने वाली विभिन्न क्रियाओं के मध्य एकता बनाए रखने के उद्देश्य से सामूहिक प्रयत्नों में सुव्यवस्था करने को समन्वय कहते हैं।"

निग्रो के शब्दों में—"समन्वय से तात्पर्य यह है कि संगठन के विभिन्न अंग एक साथ मिलकर प्रभावकारी रूप से कार्य करते है और संघर्ष, अतिराव तथा पुनराव त्ति के बिना काम चलता रहता है।"

मैक्फारलैण्ड के अनुसर—"समन्वय, एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा एक कार्यकारी अधिकारी अपने अधीनस्थों में सामूहिक प्रयास का एक सुव्यवस्थित स्वरूप विकसित करता है तथा सामूहिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु क्रियाओं से सम्बन्धित एकता स्थापित करता है।"

न्यूमैन के अनुसार—"समन्वय, प्रयत्नों की ऐसी व्यवस्थित समकालिकता है जिसमें किसी कार्य के निष्पादन का उचित परिणाम, समय तथा निर्देशन प्राप्त होता है, जिसके फलस्वरूप निर्धारित उद्देश्य के लिए सामंजस्यपूर्ण तथा एकीक त क्रियाएँ सम्भव होती हैं।"—

समन्वय प्रक्रिया को दो द ष्टिकोणों में समझा जा सकता है—

(1) **नकारात्मक द ष्टि** से समन्वय का अर्थ संगठन में व्याप्त संघर्ष, झगड़ों तथा एक दूसरे के विपरीत कार्य करने वाली प्रव त्तियों और प्रक्रियाओं को दूर करना है।

(2) **सकारात्मक द ष्टि** से समन्वय का अर्थ संगठन में ऐसी व्यवस्था बनाना है ताकि संघर्ष की स्थितियाँ ही उत्पन्न न हों और सभी कार्मिक सामूहिकता की भावना से मिलजुलकर कार्य करें तथा संगठन के सभी पक्षों में सहयोग बना रहे।

समन्वय की विशेषताओं के बारे में कहा जा सकता है कि—

(1) यह एक सतत् प्रक्रिया है;

(2) संगठन के शीर्षस्थ पदाधिकारी का यह मुख्य दायित्व है कि वह विभिन्न इकाइयों, व्यक्तियों, कार्यो तथ प्रक्रियाओं में समन्वय करे;

(3) यह व्यक्तिगत क्रिया न होकर सामूहिक सहयोग पर आधारित है;

(4) इसमें सहयोग को सकारात्मक तथा अर्थपूर्ण ढंग में एकीक त किया जाता है;

(5) समन्वय का उद्देश्य संगठन में व्यवस्था स्थापित करना तथा संगठन के लक्ष्यों की कुशलतापूर्वक प्राप्ति करना है; और

(6) यह संगठन के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों वातावरणों में आवश्यक है।

सामान्यतः **समन्वय तथा सहयोग** एक समान शब्द प्रतीत होते हैं। वस्तुतः सहयोग, में स्वैच्छिक भावना प्रबल है, जबकि समन्वय में समूह की इच्छा तथा अन्य कई बाहरी तत्त्व भी प्रभावी भूमिका निभाते हैं। प्रायः समन्वय में, सहयोग की भावना होती है लेकिन समन्वय बिना सहयोग भी करवाया जा सकता है। सहयोग की भावना व्यक्ति में स्वतः उत्पन्न होती है जबकि समन्वय के लिए प्रयास करने पड़ते हैं।

थियो हैमेन के अनुसार—"सहयोग केवल व्यक्तियों की एक दूसरे की सहायता करने की इच्छा प्रकट करता है। यह लोगों के स्वेच्छापूर्ण द ष्टिकोण का परिणाम है। इसके विपरीत समन्वय में कई सारे तत्त्व सम्मिलित हैं। समन्वय में भाग लेने वालों की इच्छा एवं रुचि से कुछ अधिक आवश्यकता होती है।"

टैरी ने सहयोग एवं समन्वय के सम्बन्ध में कहा है कि—"सहयोग, किसी सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक व्यक्ति का दूसरे या दूसरों के साथ सामूहिक कार्य है। समन्वय, सामूहिक कार्य से कहीं अधिक है और इसका (समन्वय) का अर्थ है—**प्रयत्नों की समकालिकता अर्थात् प्रयत्न एक ही समय होने चाहिए।**" सहयोग एवं समन्वय में अंतर स्पष्ट करने हेतु **टैरी** ने एक उदाहरण दिया है—एक लड़के को किसी आवश्यक कार्य से सुबह जल्दी उठकर ट्रेन पकड़नी थी। यह बात घर के सभी सदस्य जानते थे। रात को सोने से पूर्व लड़के ने अपनी अलार्म घड़ी में आधा घंटा समय आगे बढ़ दिया ताकि वह निर्धारित समय से पूर्व ही उठ जाए। कुछ समय पश्चात् लड़के के पिता ने आधा घंटा और बढ़ा दिया ताकि लड़का सुबह आराम से नहा-धोकर तैयार हो सके। घर के सभी सदस्य सो गए तो चिन्ताग्रस्त माँ ने लड़के की घड़ी में आधा घंटा समय और बढ़ा दिया। नतीजा यह कि उस लड़के को निर्धारित समय से डेढ़ घंटा पूर्व ही नींद से जागना पड़ा। यहाँ माता, पिता तथा पुत्र के कार्यों में सहयोग तो था किन्तु समन्वय नहीं क्योंकि किसी को भी दूसरे की गतिविधि का पता नह था और न ही जानने या बताने का प्रयत्न किया।

दूसरा उदाहरण एक दर्जी की दुकान का दिया जाता है जहाँ एक ग्राहक अपनी पैंट 2 इंच छोटी करवाने को देकर जाता है। दुकान के मालिक ने किसी एक दर्जी को जिम्मेदारी बिना सभी 4 दर्जियों की उपस्थिति में आदेश दिया कि यह पैंट 2 इंच छोटी कर देना। समन्वय के अभाव में नतीजा यह हुआ कि शाम तक चारों दर्जियों ने अलग-अलग समय में पैंट को 2-2 इंच छोटा कर कुल 8 इंच की लम्बाई घटा दी। समन्वय के अभाव में कार्य का दोहराव, अतिराव तथा बिखराव होता है। आर्केस्टा पर बजता मधुर संगीत, पुष्पाहार में सजे विविध रंगों एवं आकार के पुष्प तथा किसी सुन्दर पेन्टिंग में रंगों का संयोजन समन्वय के उदाहरण हैं।

प्रशासनिक संगठनों में समन्वय करना एक कठिन कार्य बना रहता है क्योंकि प्रत्येक कार्मिक, इकाई तथा विभाग अपने ही कार्यक्षेत्र को विशेष मानकर संकीर्ण द ष्टिकोण से घिरे रहता है। इस सम्बन्ध में **सरकारी संगठनों में तीन प्रकार की प्रव त्तियाँ** व्याप्त रहती हैं—

(1) कोई भी विभाग या इकाई संगठन की व्यापक हित के बारे में नहीं सोचता है।

(2) एक विभाग, दूसरे विभाग के बारे में न तो जानता है और न ही जानना चाहता है।

(3) समन्वय की समस्या अन्तरविभागीय (Interdepartmental) ही नहीं है बल्कि एक ही विभाग (संगठन) के अन्दर उपविभागों के बीच (Intradepartmental) भी उतनी ही दूरी या अंतर बना रहता है जितना कि दो प थक् विभागों में।

प्रशासनिक संगठनों में समन्वय की समस्या के बारे में **फोलेट** कहती हैं कि "प्रायः यह सोचा जाता है कि सभी विभाग या इकाइयाँ, एक-दूसरे से स्वतः ही समायोजन कर लेंगे या कर लेना चाहिए, जबकि समन्वय तो सभी सम्बद्ध पक्षों का एक ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है जो सभी कार्यों का एक लक्ष्य बनाकर चलने में विश्वास करता है।"

सामान्यतः समन्वय के दो रूप पाए जाते हैं—

(1) **आन्तरिक (कार्यात्मक) समन्वय**—संगठन की अन्दरूनी कार्य प्रणाली तथा विभिन्न व्यक्तियों तथा उनके कार्यों के बीच किया जाता है।

(2) **बाह्य (संरचनात्मक) समन्वय**—एक संगठन का दूसरे संगठनों के साथ किया जाने वाला समन्वय बाहरी समन्वय है।

एपलबी ने समन्वय को दो रूपों में वर्णित किया है–

(i) **लम्बवत् (**Perpendiculary या एकदम सीधा 90^0 कोण**)**–यह समन्वय वह होता है जो किसी संगठन की पदसोपानात्मक व्यवस्था में उच्च एवं निम्न कार्मिकों या इकाइयों में किया जाता है। (ऊर्ध्वाधर)

(ii) **क्षैतिजिक** (Horizontally)–समन्वय वह है जो दो या अधिक समान स्तरीय कार्मिकों या विभागों के बीच किया जाता है।

हरबर्ट साइमन ने समन्वय को दो प्रकारों में विभक्त किया है–

प्रक्रियात्मक (Procedural)

वास्तविक (Substantive)

प्रक्रियात्मक समन्वय, संगठन की संरचना की औपचारिक सम्बन्धों के साथ निहित रहता है, जबकि वास्तविक समन्वय संगठन की गतिविधियों के साथ जुड़ा रहता है। जिस प्रक ति की गतिविधि होगी, वैसा ही समन्वय करना आवश्यक होगा।

समन्वय की आवश्यकता तथा महत्त्व (Need and Importance of Co-ordination)

वस्तुतः समन्वय, किसी भी उपक्रम में कार्यकुशलता का उच्च स्तर प्राप्त करने के लिए उपक्रम एवं उससे सम्बद्ध बाहरी हिस्सों के बीच तालमेल करके उन्हें एक व्यवस्थित रूप देता है। संगठन, अपने आप में एक सामूहिक प्रयास है। चूँकि संगठन में बहुत से व्यक्ति, उपकरण, संसाधन तथा प्रक्रियाएँ काम में आती हैं, अतः उनमें भिन्नता या मतभेद होना भी स्वाभाविक है। इन्हीं मतभेदों तथा संघर्षों से संगठन को बचाना एवं समरसता का प्रसार करना समन्वय प्रक्रिया का मंतव्य है। सामान्यतः संगठन में समन्वय की आवश्यकता इन कारणों से होती है–

1. टकराव एवं संघर्ष समाप्त करने हेतु–मानव स्वभाव की विविधताएँ तथा संगठनों की आन्तरिक कार्य प्रणाली, दोनों ही नित्य नए संघर्षों और मतभेदों को जन्म देती हैं। प्रशासनिक क्षेत्र में बढ़ती विशेषज्ञता, कार्यों में विस्तार तथा संकीर्ण स्वभाव के कारण नित्य नये विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। उदाहरण के लिए नगर नियोजन से सम्बन्धित कार्य के लिए राजस्व विभाग (भूमि), नगर निगम, विद्युत् बोर्ड, जलदाया विभाग, वन विभाग, सार्वजनिक निर्माण विभाग तथा उद्यान विभाग सहित अनेक व्यापारिक, वाणिज्यिक तथा निजी संगठनों से सहयोग प्राप्त करना होता है, वरना नगर नियोजन की योजना असफल हो सकती है। भारत में उत्पन्न हुए नदी-जल विवाद, राज्य पुनर्गठन विवाद तथा अन्तरराज्यीय व्यापार विवाद इसी तथ्य को रेखांकित करते हैं कि समन्वय की समस्या संगठन के अन्दर तथा बाहर समान रूप से विद्यमान है। **फोलेट** के अनुसार, **संगठन में संघर्ष स्वाभाविक है लेकिन उसे रचनात्मक भी बनाया जा सकता है।**

2. खतरनाक प्रतिस्पर्द्धा को नियंत्रित करने हेतु–जहाँ दो या दो से अधिक व्यक्ति होंगे, वहाँ संघर्ष के साथ-साथ प्रतियोगिता भी होना स्वाभाविक है। यद्यपि प्रतियोगिता के कारण कार्मिकों एवं विभागों के कार्यकरण में कुशलता एवं सुधार का समावेश होता है तथापि अनियंत्रित प्रतियोगिता (गला काट प्रतिस्पर्द्धा) कई प्रकार के खतरों को भी जन्म देती है। यदि संगठन में ईर्ष्या, कुंठा, घ णा तथा हिंसा की प्रव त्तियाँ घर कर लें तो उन्हें दूर करना कठिन हो जाता है। भारत में एक ही कार्य से सम्बन्धित अनेक योजनाएँ, कार्यक्रम तथा नीतियाँ विभिन्न विभागों द्वारा संचालित की जा रही हैं तथा इन कार्यक्रमों के संचालन में होड़ तथा अपव्यय भी स्पष्ट दिखाई देता है। संगठन में ऐसा बहुत बार होता है जब किसी एक इकाई या व्यक्ति को लाभ पहुँचाने के लिए दूसरों की उपेक्षा कर दी जाती है। इन सब अवांछित गतिविधियों पर नियंत्रण करने का एकमात्र प्रभावी उपाय उच्च सत्ता द्वारा समन्वय स्थापित करना है।

3. कार्यकुशलता का स्तर उच्च करने हेतु–प्रत्यके संगठन को यह प्रयास रहता है कि उसके कार्यों मे कुशलता तथा मितव्ययता दिखाई दे, अतः समन्वय के माध्यम से उन गतिविधियों तथा प्रक्रियाओं में सामंजस्य स्थापित किया जाता है जो परस्पर गहराई से जुड़ी हुई होती हैं। समन्वय के अभाव में न केवल कार्य विलम्ब से निष्पादित होता है बल्कि संसाधनों का दुरुपयोग भी होता है। कार्य में देरी से स्वाभाविक रूप से लागत बढ़ती है। कहा जाता है कि भोपाल स्थित भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लिमिटेड (भेल) के लिए कुछ अत्याधुनिक मशीनें विदेशों से मँगवाई गई थी। पहले यह निश्चित किया गया था कि मशीनें मुम्बई से भोपाल तक मालगाड़ी द्वारा भेजी जायेंगी। किन्तु बहुत समय बाद पता चला कि मुम्बई में उपलब्ध रेलवे

वेगनों से ये मशीनें, पश्चिमी घाट हो कर नहीं पहुँचायी जा सकती हैं। अतः मुम्बई से मशीनें लदे जहाज को कोलकाता बन्दरगाह भेजा गया। इस प्रक्रिया में धन एवं समय अपव्यय तो हुआ ही किन्तु समस्या अभी भी नहीं सुलझी। कोलकाता में जहाज के पहुँचने के पश्चात् यह पता चला कि दक्षिण-पूर्वी रेलवे के पास भी पर्याप्त वैगन नहीं हैं, अतः चार सप्ताह जहाज कोलकाता बन्दरगाह पर खड़ा रहा। मशीनों के पहुँचने से पूर्व ही श्रमिकों की नियुक्ति कर ली गई थी अतः उन्हें वापस भी न भेजा जा सका। इस पूरे घटनाक्रम में समन्वय तथा सामान्य समझ-बूझ का अभाव था।

4. संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु—किसी भी संगठन के निर्धारित लक्ष्य तथा उद्देश्यों की प्राप्ति को सुनिश्चित करने के लिए उसके विभिन्न अंगों तथा कार्मिकों के मध्य सकारात्मक एवं व्यवस्थित सहयोग आवश्यक है। उदाहरण के लिए एक चिकित्सालय के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि ऑपरेशन थियेटर, एक्सरे विभाग, प्रयोगशाला, ऑक्सीजन प्लांट, नर्सिंग अनुभाग, प्रशासन शाखा तथा विद्युत् शाखा में पर्याप्त समन्वय हो। इसी प्रकार कई बार संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए केवल आंतरिक समन्वय ही नहीं बल्कि बाहरी संगठनों से भी समन्वय करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए लोकसभा या विधानसभा इत्यादि चुनावों के समय भारत निर्वाचन आयोग को सभी विभागों से कार्मिक तो माँगने पड़ते ही हैं साथ में ग ह विभाग, स्वास्थ्य विभाग, रसद विभाग तथा जिला प्रशासन से अत्यंत उच्च श्रेणी का समन्वय भी स्थापित करना पड़ता है। भारत में आम चुनावों का आयोजन समन्वय का सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

5. दोहराव एवं अतिराव रोकने हेतु—समन्वय के अभाव में किसी भी संगठन में कार्यो तथा गतिविधियों का दोहराव तथा अतिराव (Overlapping) सम्भव है। यदि सभी सदस्यों को एक दूसरे के कार्यो का ज्ञान नहीं होगा तो सम्भव है कि एक ही कार्य दो या अधिक व्यक्ति या इकाइयाँ सम्पादित कर रही हों। यह सभी सम्भव है कि परस्पर सूचना के अभाव में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य किसी भी व्यक्ति द्वारा यह सोच कर नहीं किया जा रहा हो कि इसे (कार्य) दूसरे व्यक्ति कर रहे होंगे। राजस्थान के राठ क्षेत्र (बहरोड़) में कहावत है कि "**पाँच मामाओं वाला भाणजा भूखा ही रहता है**" क्योंकि समन्वय के अभाव में प्रत्येक मामा यह सोचता है कि भाणजे को किसी दूसरे मामा ने खाना खिला दिया होगा। इसीलिए **जॉर्ज आर. टैरी** सहयोगात्मक क्रियाओं में 'समय' को बहुत महत्त्व देते हैं। भारत में ग्रामीण विकास एवं निर्धनता उन्मूलन की लगभग 10-15 योजनाएँ अलग-अलग मंत्रालयों द्वारा संचालित की जा रही हैं। स्पष्ट है, यह समन्वय की कमी है।

6. कार्यो में जटिलता तथा विशेषज्ञता—विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास के साथ जहाँ एक ओर संगठनात्मक प्रभावशीलता में व द्धि हुई है, वहीं दूसरी ओर समन्वय सम्बन्धी जटिलताएँ भी उत्पन्न हुई हैं। न तो आधुनिक युग में सरकार के कार्यो की प्रक ति सरल है और न ही संगठनों की संरचनात्मक स्थिति स्पष्ट है। विशेषीकरण के कारण आए दिन नये संगठन निर्मित करने पड़ते हैं अथवा विद्यमान संगठन में ही विशेषीक त इकाई बनानी पड़ती है। विकेन्द्रीकरण तथा कार्य-विभाजन के कारण भी समन्वय सम्बन्धी समस्याएँ बढ़ रही हैं।

समन्वय के सिद्धान्त (Principles of Co-ordination)

किसी भी संगठन में समन्वय-प्रक्रिया को प्रभावी तथा व्यावहारिक बनाने के लिए कतिपय सिद्धान्त प्रबन्ध विद्वानों द्वारा सुझाए गए हैं। यहाँ वर्णित समन्वय के सिद्धान्तों में **प्रथम चार सिद्धान्त मेरी पार्कर फोलेट द्वारा बताये गए हैं**—

1. प्रत्यक्ष सम्पर्क का सिद्धान्त—समन्वय के इस सिद्धान्त के अनुसार जहाँ कहीं संघर्ष, विवाद या अतिराव की समस्या उत्पन्न हो रही हो या होने की आशंका हो तो उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि पदसोपान की परवाह किए बिना प्रत्यक्षतः अर्थात् मौके पर जाकर समस्या को सुलझाया जाए। बहुत से भ्रम तथा आशंकाएँ तो केवल इसीलिए बने रहते हैं कि हम दूसरों से मिल बिना और उनके विचार एवं स्थिति जाने बिना निराधार भ्रान्त धारणाएँ विकसित कर लेते हैं। सरकारी यंत्र में समन्वय की असफलता का एक प्रमुख करण यह है कि यहाँ पत्रों या आदेशों के माध्यम से समन्वय करने का प्रयास किया जाता है जो निष्प्रभावी सिद्ध होता है।

2. प्रारम्भिक चरण में ही समन्वय की स्थापना का सिद्धान्त—फोलेट का यह भी मानना है कि समस्या या विवाद उठने पर उसका तुरंत अर्थात् प्रारम्भिक चरण में ही समाधान कर देना चाहिए। नियोजन तथा नीति निर्धारण के समय यदि सम्भावित बाधाओं का आकलन कर लिया जाए तो सम्भवतः विवाद तथा दोहराव इत्यादि की समस्याएँ ही न आएँ। फिर भी यदि विवाद हो ही जाता है उसे लम्बा कदापि नहीं घसीटना चाहिए क्योंकि इससे स्थितियाँ दिन-ब-दिन और जटिल ही होती हैं।

3. सम्पूर्णता (सहसम्बद्धता) का सिद्धान्त—समन्वय का यह सिद्धान्त इस मान्यता को पोषित करता है कि किसी संगठन में या किसी परिस्थिति में सभी सम्बद्ध घटकों या पक्षों को देखना चाहिए। अर्थात् समन्वय की समस्याएँ प्रायः अन्तरसम्बन्धों पर आधारित होती हैं। प्रत्येक संगठन के भीतरी पर्यावरण के साथ-साथ बाहरी कारकों को जानकर, संसाधनों तथा प्रशासन के तारतम्य को देखकर तथा एक कारक का सभी व्यक्तियों एवं इकाइयों के साथ सहसम्बन्ध जानकर ही हम वास्तव में कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

4. निरन्तरता का सिद्धान्त—समन्वय एक सतत् प्रक्रिया के रूप में निर्बाध गति से होना चाहिए। ने तो एक-दो दिन में समन्वय स्थापित हो सकता है और न ही संगठन के संघर्ष क्षणिक होते हैं। यदि कोई समस्या आज दबा दी जाती है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वैसी समस्या पुनः सामने नहीं आएगी, अतः नीति, नियोजन, नियंत्रण, सम्पर्क तथा अनौपचारिक विधियों से संगठन में समन्वय होते रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में फोलेट सुझाव देती हैं कि समन्वय हेतु प्रबंधकों के पास एक स्थायी तंत्र होना चाहिए जिसके द्वारा निरन्तर सही सूचनाएँ मिलती रहें।

5. समय का सिद्धान्त—आधुनिक प्रबन्ध विज्ञानी मान रहे हैं कि 'समय' अपने आप में एक अमूल्य संसाधन तथा कुछ समस्याओं की अचूक औषधि है। संगठन में सभी कार्य निर्धारित समय पर सम्पन्न हों तथा प्रत्येक संगठनात्मक गतिविधि, एक-दूसरे के साथ समकालिक सामंजस्य पर आधारित हो तो "बाढ़ आने के बाद बाँध बनाने की नौबत" ही न आएगी।

6. पारस्परिक सम्बन्धों का सिद्धान्त—संगठन तथा प्रशासन सामूहिक प्रयासों पर आधारित होते हैं। समन्वय का यह सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि संगठन के प्रत्येक कार्मिक, इकाई, उप इकाई तथा अनौपचारिक संगठनों का परस्पर एक रिश्ता होता है। मानव-सम्बन्ध विचारधारा ने इस धारणा को मजबूती प्रदान की है कि अनौपचारिक सम्बन्ध, संगठनात्मक विकास, संचार तथा समस्या-समाधान में महती भूमिका निभाते हैं, अतः संगठन की समन्वय प्रक्रिया में सभी भागों के परस्पर सम्बन्धों को जानना चाहिए।

7. पारस्परिक संचार का सिद्धान्त—संचार, आधुनिक संगठनों का रक्त है। समन्वय का यह सिद्धान्त यह मानता है कि यदि प्रभावी संचार व्यवस्था की स्थापना कर दी जाए तो संगठन में बेहतर ढंग से समन्वय किया जा सकता है। संचार प्रणाली से न केवल नियंत्रण तथा निर्देशन सरल बनता है बल्कि संगठन में सिर उठा रही समस्याओं तथा संघर्षों का भी समय रहते समाधान किया जा सकता है।

समन्वय की विधियाँ या तकनीकें (Methods or Techniques of Co-ordination)

प्रशासनिक संगठनों में समन्वय स्थापित करने की बहुत-सी विधियाँ हैं। इनमें से कुछ प्रमुख विधियाँ इस प्रकार हैं—

(1) **नियोजन**—एक सुविचारित तथा सुस्पष्ट नियोजन, संगठन की आधी समस्याओं का समाधान कर देता है। **नियोजन का अर्थ है—"**भविष्य की गतिविधियों की पहले से रूपरेखा तैयार करना ताकि कार्य के विभिन्न पक्षों को व्यवस्थित ढंग से क्रियान्वयन में लगाया जा सके।" वस्तुतः नियोजन का उद्देश्य एक निश्चित समय सीमा के अन्तर्गत कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति तथा संसाधनों के अधिकतम प्रभावी उपयोग है। यदि संगठन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न कार्यक्रमों का सोच-समझ कर नियोजन करता है तो निस्संदेह भविष्य में उठने वाली कई समस्याओं का पूर्वानुमान समय रहते लगा सकता है। यदि किसी स्थान पर चिकित्सालय का निर्माण करना हो तो एक सुविचारित योजना के अन्तर्गत भूमि अधिग्रहण, भवन निर्माण, स्वदेशी उपकरणों की व्यवस्था, मशीनों का आयात तथा दक्ष कार्मिकों की नियुक्ति सहित सम्बन्धित क्षेत्र के स्वास्थ्य स्तर के अनुकूल अन्य चिकित्सा व्यवस्थाएँ समय रहते ही की जा सकती हैं।

(2) **संगठनात्मक तरीके**—कहा जाता है कि **संगठन स्वयं ही समन्वय का एक तरीका या माध्यम है** क्योंकि प्रत्येक संगठन में पदसोपान की एक व्यवस्थित श्रंखला होती है जो नियंत्रण, निर्देशन तथा नेत त्व के द्वारा समन्वय की प्रक्रिया भी निर्धारित करती है। भारत में समन्वय स्थापित करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय सचिवालय, मंत्रिमण्डल सचिवालय, योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद्, प्रधानमंत्री कार्यालय, विभागीय आयोग, बोर्ड एवं स्वायत्तशासी संगठन कार्यरत हैं। इसी प्रकार राज्यों में मुख्यमंत्री सचिवालय, मंत्रिमण्डल सचिवालय, योजना मंडल तथा जिला स्तर पर जिला कलक्टर कार्यालय इत्यादि समन्वय करने की व्यवस्था के संगठनात्मक तरीके हैं। प्रत्येक प्रशासनिक संगठन की शासन की स्थिति तथा उसके कानून स्वतः ही समन्वय सम्बन्धी प्रावधान भी करते हैं।

(3) **सम्मेलन-संगोष्ठियाँ**—सम्मेलन, समितियाँ, संगोष्ठियाँ, कार्यशाला तथा अन्तरविभागीय समितियाँ इत्यादि भी समन्वय स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं। समय-समय पर आयोजित होने वाला राज्यपाल-सम्मेलन, मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन, मुख्य सचिव-सम्मेलन, विभागीय मंत्रियों का सम्मेलन, उद्योगपतियों का सम्मेलन तथा विभिन्न व्यावसायिक संघों तथा कर्मचारी संगठनों के सम्मेलन अत्यन्त प्रभावी भूमिका निभाते हैं। बहुधा किसी कार्यक्रम, नीति, योजना या कार्य से सम्बन्धित विभिन्न संगठनों तथा संलग्न कार्मिकों की संगोष्ठी अथवा कार्यशाला के माध्यम से भी समन्वय करने का प्रयास किया जाता है। इन सभा-संगोष्ठियों के माध्यम से न केवल विचारों का आदान-प्रदान होता है बल्कि समस्याओं की वास्तविक तस्वीर तथा दूसरे संगठनों का पक्ष भी सामने आता है। सहभागियों की अधिक संख्या, नया एवं गम्भीर गुद्दा तथा बहुआयामी प्रकरणों के समाधान के लिए यह विधि कारगर मानी जाती है।

(4) **परामर्श एवं सामूहिक बैठकें**—समन्वय का एक कारगर तरीका यह है कि सभी सम्बन्धित पक्ष परस्पर सलाह मशविरा करके समाधान ढूँढ़ें। यदि किसी एक विभाग के कार्य से दूसरे विभाग के कार्य पर प्रभाव पड़ रहा हो तो परामर्श के माध्यम से रास्ता ढूँढ़ा जाना चाहिए। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य तथा व्यय से सम्बन्धित गतिविधि के संचालन से पूर्व वित्त विभाग से परामर्श करना भी श्रेयस्कर माना जाता है। भारत में आए दिन विद्युत् विभाग, जलदाय विभाग, दूरसंचार विभाग तथा अन्य विभागीय कार्यों के लिए तोड़ी जाने वाली सड़कें, इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि सरकारी विभागों में परस्पर सलाह मशविरा करके समन्वय स्थापित करने की स्वस्थ परम्परा अभी विकसित नहीं हुई है। यद्यपि यह एक सरल तथा सहज विधि है।

(5) **पर्यवेक्षण**—समन्वय करने की यह एक दैनन्दिन तथा महत्त्वपूर्ण पद्धति है। संगठन की पदसोपानात्मक स्थिति में प्रत्येक स्तर पर पर्यवेक्षण की व्यवस्था होती है। पर्यवेक्षक का कार्य केवल अवलोकन करना ही नहीं बल्कि अधीनस्थों की समस्याओं का पता लगाना तथा उनका व्यावहारिक हल सुझाना है। पर्यवेक्षक केवल एक उच्चाधिकारी नहीं होता बल्कि वह अधीनस्थों का मित्र, दार्शनिक तथा मार्गदर्शक भी होता है। यह आवश्यक है कि दोनों में संचार हो। **थियो हैमेन** ने कहा है—"उत्तम संचार, विभिन्न क्रियाओं में महती भूमिका निभाता है।"

(6) **क्रियाविधियों का मानकीकरण**—किसी भी संगठन में अपनाई जाने वाली प्रक्रियाओं तथा विधियों इत्यादि का यदि वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक ढंग से मानकीकरण कर दिया जाए तो दिन-प्रतिदिन की कई पेचीदगियों तथा संघर्षों से मुक्ति मिल सकती है। एकरूपता तथा सामानय नियम सदैव समन्वय में सहायक सिद्ध होते हैं। विभिन्न कार्यों के लिए प्रयुक्त होने वाले प्रपत्र (Forms), उसने सम्बन्धित नियमावली, आवश्यक कागजातों तथा अपनाई जाने वाली विधियों का यदि मानकीकरण हो जाए तो कार्यों का भी स्वतः ही सरलीकरण हो जाता है।

(7) **नियंत्रण एवं निर्देशन**—संगठन के शीर्ष पर विद्यमान मुख्य कार्यपालिका का यह दायित्व है कि वह सम्पूर्ण संगठनात्मक गतिविधियों को निर्देशित एवं नियंत्रित करे। इस दायित्व की पूर्ति के लिए वह **लिखित निर्देश** तथा आदेश जारी कर सकता है। सामान्यतः समन्वय के लिए इस विधि का प्रयोग बहुतायत में किया जाता है। इसी प्रकार यदि उच्चाधिकारी पूर्व में जारी आदेशों की क्रियान्विति के क्रम में पूछताछ करे तो इससे भी संगठन में गतिशीलता आती है। अपील, परिपत्र, बुलेटिन तथा अन्य औपचारिक आदेशात्मक विधियाँ भी समन्वय में सहायक हैं।

(8) **आधिकारिक सत्ता द्वारा**—प्रत्येक संगठन में व्यवस्था एवं अनुशासन बनाये रखने के लिए कतिपय नियम तथा प्रक्रियाएँ निश्चित कर दी जाती हैं। यदि कोई कार्मिक निर्धारित नियमों का उल्लंघन करता है तो सम्बन्धित अनुशासनिक अधिकारी द्वारा कठोर कार्यवाही की जा सकती है। भय एवं दण्ड, यद्यपि नकारात्मक अभिप्रेरणाएँ दिखाई देता हैं लेकिन समन्वय (चाहे अनिच्छा से हो) के क्रम में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

(9) **केन्द्रीक त ग हपालन सेवाओं द्वारा**—अमेरिका के **प्रथम हूवर आयोग** (1949) ने यह सुझाया था कि भण्डार, स्टेशनरी, सफाई, मरम्मत, मुद्रण तथा प्रतिलिपि इत्यादि ऐसे कार्य हैं जो संगठनों की, सभी इकाइयों के लिए आवश्यक होते हैं, इन कार्यों के लिए एक केन्द्रीक त अभिकरण ऐसा होना चाहिए जो केवल इन ग हपालक सेवाओं (House Keeping Services) का संचालन करे। इससे विभिन्न विभागों या इकाइयों के मध्य इन कार्यों के लिए संघर्ष नहीं बल्कि समन्वय हो सकेगा। भारत में आपूर्ति महानिदेशालय, सार्वजनिक निर्माण विभाग तथा लोक सेवा आयोग इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

10. अन्य विधियाँ

(1) **व्यक्तिगत नेत त्व** तथा सम्बन्धों के द्वारा भी समन्वय किया जा सकता है।

(2) बहुत से संगठनों विशेषतः औद्योगिक उपक्रमों में **जन सम्पर्क अधिकारी** (P.R.O.) या सम्पर्क अधिकारी (Liaison Officer) के द्वारा भी समन्वय किया जाता है।

(3) **निर्णय प्रक्रिया** में अधीनस्थों अथवा प्रभावित होने वाले पक्षों को सम्मिलित करके आगामी विवादों से बचा जा सकता है।

(4) **बजट एवं वित्त विभाग** से सम्बन्धित बहुत-सी गतिविधियाँ स्वतः ही प्रशासनिक संगठनों में समन्वय स्थापित करती हैं।

(5) **अनौपचारिक संगठनों** के द्वारा संचार एवं उनसे वार्तालाप भी लाभदायक रहता है।

(6) **चाय, पार्टी, समारोह** तथा अनौपचारिक सम्बन्धों या दबावों का सहारा लेकर भी समन्वय किया जा सकता है।

(7) किसी समस्या या मुद्दे पर **अधीनस्थों के सुझाव** आमंत्रित करके भी कई बार सरलता के कुछ सूत्र हाथ लग सकते हैं।

(8) कई बार किसी बैठक या सभा में उच्चाधिकारी की भावुकता से भी अपील भी प्रभाव डालती है।

(9) **मैक्फारलैण्ड** से समन्वय के चार तरीके बताए हैं–

सत्ता तथा उत्तरदायित्वों की स्पष्टता

पर्यवेक्षण तथा अवलोकन

प्रभावी संचार

नेत त्व के द्वारा समन्वय

(10) **जे.डी. थॉम्पसन** ने समन्वय की तीन तकनीक वर्णित की हैं–

मानकीकरण

नियोजन

आपकी सहमति

गुलिक ने पदसोपान, कमेटियों तथा **सचेत विचारों** के माध्यम से समन्वय करने पर बल प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त संगठन की औपचारिक संरचना समन्वय करती है तथा किसी विचार (Idea) की प्रभुता भी समन्वय करवा सकती है। गुलिक की द ष्टि में समन्वय अचानक या संयोग से नहीं होता है बल्कि सोच-समझ कर किया जाता है।

यद्यपि समन्वय एक जटित समस्या है तथापि इसे संगठन में स्थापित भी किया जा सकता है, बशर्ते कि उच्च सत्ता इस दिशा में सार्थक मानवीय प्रयास करे। **ई.एफ.एल. ब्रेच** के अनुसार–"समन्वय, एक मानवीय क्रिया है तथा प्रबन्धक, अपने व्यक्तिगत आचरण एवं प्रव त्तियों द्वारा इसकी स्थापना करता है।" सभी संगठनों में हमेशा सहयोग ही बना रहे, यह न तो सम्भव है और न ही बहुत लाभकारी है। **हार्लन क्लीवलैण्ड** द्वारा प्रतिपादित **तनाव सिद्धान्त** (Tension Theory) तो इस मान्यता पर आधारित है कि यदि किसी संगठन में लड़ाई-झगड़ा नहीं हो रहा है तो सुनियोजित ढंग से ऐसा करवाना चाहिए। संघर्ष एवं तनाव के पश्चात् संगठन में स्वतः ही सहयोग एवं प्रेम बढ़ता है क्योंकि यह मानवीय प्रव त्ति है।"

समन्वय में बाधाएँ (Hindrances in Co-ordination)

लूथर गुलिक ने समन्वय की राह में आने वाली बाधाओं या कमियों का विवरण इस प्रकार दिया है–

(1) व्यक्ति तथा जनता के व्यवहार के विषय में भविष्य सम्बन्धी अनिश्चितताएँ।

(2) नेत त्व में ज्ञान, अनुभव, बुद्धिमानी तथा चरित्र का अभाव और उनके उलझे हुए तथा परस्पर विरोधी विचार एवं उद्देश्य

(3) प्रशासकीय कौशल तथा तकनीक का अभाव।

(4) अनेक विभिन्नताओं का समूह तथा मानवीय ज्ञान की अपूर्णता (विशेषतः मनुष्य और उसके जीवन एवं व्यवहार के सम्बन्ध में)।

(5) नवीन विचारों तथा कार्यक्रमों का विकास करने, उन पर मनन करने, परिपूर्ण बनाने तथा उन्हें अपनाने में व्यवस्थित तरीकों को अभाव।

सेक्लर-हडसन ने समन्वय की कुछ और बाधाएँ बताई हैं–

(6) संगठनों का बढ़ता आकार एवं जटिलता।

(7) कार्मिकों का व्यक्तित्व तथा राजनीतिक तत्त्वों का हस्तक्षेप।

(8) लोक प्रशासन का ज्ञान रखने वाले प्रबुद्ध नेताओं की कमी।

(9) अन्तराष्ट्रीय सीमाओं तथा लोक प्रशासन का गतिशील एवं व्यापक प्रसार।

सरकारी तंत्र में नित्य नये विभागों एवं उनके क्षेत्रीय कार्यालयों की स्थापना करने, बोर्ड, आयोग, संस्थान, निगम तथा अन्य स्वायत्तशासी संस्थाओं के निर्माण को प्रोत्साहन देने, कमजोर सूचना तंत्र होने, विशेषज्ञ सेवाओं का विस्तार करने, सूत्र एवं स्टाफ अभिकरणों में भेद स्पष्ट न रहने, कार्यों को दूसरों पर टाल देने, नियमों की अधिकता होने, आदेश की एकता का उल्लंघन करने तथा नित्य नई बड़ी परियोजनाओं को हाथ में लेने इत्यादि के कारण भी समन्वय सम्बन्धी समस्याएँ आती हैं। संगठन में समन्वय की स्थापना के सम्बन्ध में पिफनर ने सुझाव दिए हैं कि–

(1) पदसोपान की रचना पूर्ण स्पष्ट हो तथा यह पिरामिड की तरह लगता भी हो। इसमें सत्ता एवं उत्तरदायित्व की स्पष्ट व्याख्या हो।

(2) संगठन का प्रत्येक कार्मिक अपनी इकाई के मुखिया के प्रति उत्तरदायी हो।

(3) बड़े मुख्य विभागों के अधीन उप विभागों का गठन, उद्देश्य, कार्य तथा आवश्यकता के आधार पर तुरन्त होना चाहिए।

(4) जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक विभाग स्वावलम्बी हो तथा उनकी एकीकरण प्रक्रिया समन्वय की आवश्यकताओं के अनुकूल हो।

(5) विभागों की संख्या कम ही होनी चाहिए ताकि मुख्य कार्यपालिका प्रभावी ढंग से उन पर नियंत्रण रख सके।

(6) प्रबंध तथा समन्वय के लिए सामान्य और सहायक स्टाफ सेवाएँ गठित की जानी चाहिए।

(7) बड़े संगठनों की सहायक क्रियाएँ जैसे कार्मिक प्रबंध तथा वित्त प्रत्यक्षतः मुख्य कार्यकारी के अधीन होनी चाहिए और वे व्यावसायिक विभागों में अपनी जैसी अन्य इकाइयों से निकट का मेल-जोल रखकर कार्य सम्पादित करें।

(8) सूत्र और स्टाफ अभिकरणों के भेद को किसी व्यावहारिक नियम के अन्तर्गत पुनर्गठित किया जाना चाहिए।

इसी तरह संगठन में समन्वय की स्थापना के लिए **न्यूमैन** ने पाँच पूर्व शर्तें वर्णित की हैं–

(1) सरलीकृत संगठन

(2) सामंजस्यपूर्ण कार्यक्रम और नीतियाँ

(3) संचार के सुव्यवस्थित तरीके

(4) ऐच्छिक समन्वय की सहायता

(5) पर्यवेक्षण द्वारा समन्वय

न्यमैन का मानना है कि एकरूपी क्रियाओं से युक्त संगठन सरल प्रकृति के होते हैं जबकि एक ही संगठन में नाना प्रकार की क्रियाएँ एवं कार्य न केवल भ्रान्तियाँ उत्पन्न करते हैं बल्कि इससे समन्वय में भी बाधाएँ आती हैं, अतः एकरूपी क्रियाओं को किसी एक ही प्रशासनिक इकाई के अधीन रखा जाना चाहिए। समन्वय के लिए यह भी आवश्यक है विभिन्न कार्यक्रमों एवं नीतियों के मध्य परस्पर पूर्ण सामंजस्य हो और कार्य नियोजन के स्तर पर ही कर देना श्रेयस्कर है, अन्यथा बाद में बहुत देर हो जाती है। इसी तरह संगठन में सुस्थापित एवं त्वरित गति की संचार प्रणाली उच्च सत्ता के लिए एक सहायक अधिकारी का कार्य करती है क्योंकि बिना सूचना तो संगठन की एक भी गतिविधि का संचालन होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार **न्यूमैन** कहते हैं कि समन्वय, किसी पर लादा नहीं जा सकता बल्कि इसमें किंचित् स्वेच्छापूर्ण सहयोग आवश्यक है अतः संगठन में

प्रयास किए जाने चाहिए कि कार्मिक स्वतः ही समन्वय को इच्छुक हों। ऐसा स्पष्ट एवं प्रभावशाली उद्देश्य के निर्धारण से, अनौपचारिक सम्बन्धों को विकसित करने से, मध्यस्थ व्यक्ति की नियुक्ति से, समितियों के प्रयोग से तथा परस्पर वार्तालाप एवं अधीनस्थों की समस्या सुनने एवं उनका तुरंत समाधान करने से संभव हो सकता है। पाँचवी पूर्व शर्त पर्यवेक्षण से जुड़ी है। यह आवश्यक है कि समय-समय पर कार्मिको का निरीक्षण ही न हो बल्कि उन्हें यथोचित मार्गदर्शन एवं सहायता भी प्रदान की जाए।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि संगठन तथा समन्वय का स्पष्ट सहसंबंध है। मूने के अनुसार—''संगठन में समन्वय के सभी तत्त्व होते हैं।'' अर्थात् समन्वय, उनकी द ष्टि में प्रथम सिद्धान्त तो है ही, शेष सिद्धान्त तथ संगठनात्मक प्रक्रियाएं समन्वय से ही जुड़ी होती हैं। किसी भी संगठन के निर्माण में नियंत्रण तथा निर्देशन सहित कार्यों की एक औचित्यपूर्ण व्यवस्था भी की जाती है ताकि कहीं कोई व्यवधान न हो। यदि सभी कुछ नियमानुसार तथा व्यावहारिकता के अनुरूप लोचशील ढंग से चले तो समन्वय की स्थापना बहुत कठिन भी नहीं है।

प्रर्यवेक्षण
(Supervision)

किसी भी संगठन में नीतियों, कानूनों तथा योजनाओं का निर्माण जितना महत्त्वपूर्ण कार्य है, उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण एवं जटिल कार्य है, इनका संचालन तथा नियंत्रण। आधुनिक प्रशासनिक संगठनों में समन्वय के लिए अपनाई जाने वाली विधियों में नियंत्रण, पर्यवेक्षण, संचार तथा नेत त्व प्रमुख हैं। प्रशासनिक कार्यों के संचालन के लिए नियम-विनियम बना देना ही प्रर्याप्त नहीं है बल्कि क्रियान्यवन के स्तर पर दैनन्दिन निरीक्षण आवश्यक है। इसीलिए कहा जाता है कि—''जिस कार्य का निरीक्षण नहीं किया जाता, वह कार्य होता ही नहीं है।'' प्रशासनिक पदसोपान क्रम में ऊपर से नीचे तक सत्ता तथा उत्तरदायित्वों की एक श ंखला होती है जिसमें प्रत्येक अधिकारी कर्मचारी का कोई-न-कोई पर्यवेक्षक भी होता है क्योंकि संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह अनिवार्य भी है। उच्चाधिकारी द्वारा निम्नाधिकारी के कार्य की जाँच तथा यथावश्यक परामर्श ही पर्यवेक्षण या अधीक्षण है।

अर्थ (Meaning)

पर्यवेक्षण, अंग्रेजी शब्द Super (उच्च) + Vision (द ष्टि) से बना है जिसका अर्थ है—देखने की उच्च शक्ति। शब्दकोषीय द ष्टि से सुपरवीजन का अर्थ है—''किसी वस्तु या व्यक्ति पर निगरानी रखना या यह जाँचना की कार्य विधिवत ढंग से हो रहा है या नहीं?'' लोक प्रशासन में इसका अर्थ ''**सत्ता सहित किसी कार्य या व्यक्ति की देखरेख''** से है।

रेनिंग के शब्दों में—''दूसरों के कार्यों का सत्ता के सहयोग से निर्देशन ही प्रर्यवेक्षण है।''

टैरी और फ्रेकंलिन के अनुसार—''पर्यवेक्षण का अर्थ बताए गए कार्य को पूरा करने के लिए कार्मिकों तथा अन्य साधनों के प्रयासों को दिशा और निर्देश देने से है।''

पर्यवेक्षण में मानवीय प्रक ति पर बल देते हुए **मार्गरेट विलियमसन** ने कहा है—''यह एक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत कर्मचारियों को उनकी आवश्यकतानुसार सीखने, अपने ज्ञान तथा कौशल का सर्वोत्तम उपयोग करने तथा योग्यताओं में सुधार करने में किसी पदाधिकारी की सहायता प्राप्त होती है ताकि कर्मचारी अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकें ताकि इसमें कर्मचारियों एवं उनके संगठन को अधिकाधिक सन्तोष मिलता रहे।''

जी.डी. हेल्से ने पर्यवेक्षण की विस्त त प्रक्रिया में कई बातों को सम्मिलित किया है—

(1) प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति का चयन करना।

(2) प्रत्येक व्यक्ति में कार्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना तथा सिखाना कि वह कार्य को कैसे कर सकता है।

(3) कार्य सम्पन्न किए जाने की गति तथा कार्यक्षमता का मापन करना ताकि यह पता चल सके कि शिक्षण प्रभावशाली रहा या नहीं।

(4) जहाँ कहीं कमी या गलती रह गई हो उसे सुधारना तथा जिन कार्मिकों के लिए आवश्यकता प्रतीत हो उन्हें दूसरे कार्य पर लगा देना और काई अक्षम सिद्ध हो तो उसे हटा देना।

(5) अच्छे कार्य के लिए प्रशंसा करना तथा पुरस्कार देना।

(6) प्रत्येक व्यक्ति को व्यवस्थित रूप से एक कार्यकारी समूह में रखना।

हेल्से हिदायत देते हैं कि यह सब पूर्ण निष्पक्षता, धैर्य और चालाकी से किया जाना चाहिए ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कार्यकुशलता भली प्रकार से, उत्साहपूर्वक ढंग से एवं बुद्धिमता से पूरी कर सके।

वस्तुतः पर्यवेक्षण एक कौशल युक्त विधि है जिसकी निम्नांकित **विशेषताएँ** कही जा सकती हैं–

(1) यह एक सतत् प्रक्रिया है।

(2) यह एक दोहरी प्रक्रिया भी है। एक ओर इसमें दिशा-निर्देश दिए जाते हैं तो दूसरी ओर यह दूसरों के कार्य का निरीक्षण भी है।

(3) संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति, अनुशासन एवं समन्वय की स्थापना तथा कार्मिकों की सहायता इसके प्रमुख उद्देश्य हैं।

(4) यह एक व्यापक अवधारणा से युक्त प्रक्रिया है जो संगठन के उद्देश्य, कार्य की प्रक ति तथा पदसोपान के स्तरों से प्रभावित रहती है; उदाहरण के लिए किसी कारखाने में कार्य करने वाले श्रमिकों तथा किसी कार्यालय में कार्यरत लिपिकों का पर्यवेक्षण सर्वथा प थक् प्रक ति का होगा। इसी प्रकार कुशल, व्यावसायिक तथा विशेषज्ञ का पर्यवेक्षण, एक अकुशल कार्मिक से अलग होगा। संगठन के उच्च स्तर पर किया जाने वाला पर्यवेक्षण सीमित क्षेत्र, किन्तु बहुत चतुराई की माँग करता है, जबकि निम्नतम स्तर पर किये जाने वाले में पर्यवेक्षण में निरन्तरता तथा व्यापकता होनी अपेक्षित है।

(5) पर्यवेक्षण का समन्वय, अभिप्रेरणा, नेत त्व, कार्मिक-संतुष्टि तथा निष्पादन क्षमता से सीधा सम्बन्ध है।

(6) पर्यवेक्षण, केवल एक प्रशासनिक प्रक्रिया ही नहीं बल्कि एक शैक्षिक गतिविधि भी है।

द ष्टिकोण (Views)

पर्यवेक्षण को सामान्यतः दो द ष्टिकोणों से देखा जाता है–

1. नकारात्मक–नकारात्मक द ष्टि से पर्यवेक्षण परम्परागत निरीक्षण का पर्याय है जिसमें कर्मियों को ढूँढ़ना तथा अधीनस्थों में भय का वातावरण बनाना सम्मिलित है। इस प्रकार के पर्यवेक्षण में केवल सदस्यों की गतिविधयों का निर्देशन तथा जाँच सम्मिलित है।

2. सकारात्मक–सकारात्मक द ष्टि से पर्यवेक्षण में सदस्यों को कार्य की सर्वोत्तम दशाएँ उपलब्ध कराना, सुविधाओं का ध्यान रखना तथा मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन प्रदान करना सम्मिलित है।

वस्तुतः पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण में अंतर केवल द ष्टिकोण का ही है। **निरीक्षण** (Inspection), पर्यवेक्षण की प्रक्रिया का एक अंग का हिस्सा भर है क्योंकि पर्यवेक्षण में शिक्षण तथा प्रोत्साहन भी सम्मिलित है।

प्रकार (Types)

मिलेट ने पर्यवेक्षण के दो भेद बताये हैं–

1. मूलभूत या वास्तविक पर्यवेक्षण (Substantive Supervision)–मूलभूत या वास्तविक पर्यवेक्षण वह होता है जो किसी संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले वास्तविक कार्य से सम्बन्धित होता है। जैसे–सचिवालय में किसी अनुभाग के कार्य की जाँच करना।

2. तकनीकी पर्यवेक्षण (Technical Supervision)–तकनीकी पर्यवेक्षण वह होता है जो किसी संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनाये जा रहे तरीकों या तकनीकों से सम्बन्धित होता है। जैसे–सचिवालय में टाइपिस्टों के कार्य का पर्यवेक्षण करना।

तीसरी श्रेणी में **एकल या बहुल** पर्यवेक्षण को सम्मिलित किया जा सकता है। किसी कार्य या व्यक्ति को जब एक पर्यवेक्षक देखता है तो यह एकल (Single) पर्यवेक्षण कहलाता है। **हेनरी फेयोल** इसी के समर्थक हैं। बहुल (Plural) पर्यवेक्षण में कई पर्यवेक्षक सम्मिलित होते हैं। यह टेलर की ''कार्यात्मक फोरमैनशिप'' का परिचायक है।

चौथी श्रेणी में **सूत्र** (Line) **तथा कार्यात्मक** (Functional/Staff) पर्यवेक्षण को सम्मिलित किया जाता है। सूत्र पर्यवेक्षण पदसोपान श ंखला से जुड़ा मूलभूत पर्यवेक्षण है, जबकि कार्यात्मक पर्यवेक्षण विशेषज्ञों द्वारा किए जाने वाला पर्यवेक्षण होता है।

पर्यवेक्षण की विधियाँ या तकनीकें (Methods or Techniques of Supervision)

यद्यपि किसी संगठन में पर्यवेक्षण की कौनसी विधि अपनायी जा सकती है, यह संगठन के उद्देश्यों, आकार, कार्य की प्रक ति तथा अन्य कई काराकों पर निर्भर करता है तथापि **मिलेट** द्वारा बताई गई यह छः विधियाँ पर्यवेक्षकों द्वारा प्रायः काम में ली जाती हैं।

1. पूर्व स्वीक ति—जिस प्रकार नियोजन, समन्वय के लिए प्रथम तथा कारगर विधि है, उसी प्रकार पर्यवेक्षण के लिए भी योजनाओं एवं कार्यों का पूर्व अनुमोदन (Approval) एक प्रभावी हथियार है। इस तकनीक में कार्य या योजना शुरू करने से या कोई नीति बनाने से पहले ही अधीनस्थ व्यक्ति या अभिकरण को उच्च सत्ता से स्वीक ति लेनी पड़ती है। इस तकनीक से पर्यवेक्षक को संगठन की नीतियों, योजनाओं तथा भावी कार्यक्रमों की पहले ही जानकारी मिल जाती है। योजना या कार्य को स्वीक ति देते समय ही यह परिवर्तन एवं सुधार सुझा सकता है। पर्यवेक्षक या नियंत्रणकर्ता को यह भी पता चल जाता है कि कार्य में सम्भावित बाधाएँ क्या होगीं। कठिनाइयों, विवादों तथा भ्रान्तियों का समाधान भी समय रहते किया जा सकता है। भारत में सरकारी विभागों के कार्यक्रमों की अधिकांश पूर्व स्वीक तियाँ वित्त विभाग द्वारा दी जाती हैं। इस प्रकार अन्य बहुत से कार्यों की स्वीक ति विभागाध्यक्ष तथा कार्यालयाध्यक्ष भी जारी करते हैं।

एक कारगर नियंत्रण-निर्देशन विधि होते हुए भी इस तकनीक की यह कहकर आलोचना की जाती है कि इस कार्य में अनावश्यक विलम्ब होता है तथा लालफीताशाही पनपती है। कर्मचारियों तथा अधिकारियों में तनाव बढ़ता है तथा संगठन को बहुत हानि भी उठानी पड़ती है। यह आरोप भी लगाया जाता है यह तकनीक प्रायः औपचारिकताओं की पूर्ति करती है तथा पक्षपातपूर्ण भी है। आपालकालीन परिस्थितियों में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

2. सेवा एवं कार्यों का मानकीकरण—पर्यवेक्षण की दूसरी तकनीक यह है कि शीर्ष प्रबन्धन द्वारा अभिकरण में संचालित होने वाली सेवाओं या कार्यों का लक्ष्य, स्तर निर्धारित करना या मानकीकरण (Standardization) कर देना। इससे यह जाँचना आसान हो जाता है कि कोई कार्मिक या इकाई निर्धारित मानक के अनुसार कार्य कर रही है या नहीं। चूँकि पर्यवेक्षक के पास एक मापदण्ड होता है, अतः कार्यकुशलता तथा निष्पादन का सरलता से मूल्यांकन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए किसी टाइपिस्ट के लिए प्रतिदिन प ष्ठों की संख्या निर्धारित करना, नर्स के लिए रोगियों की संख्या निर्धारित करना अथवा कक्षा में अध्यापक के कार्य के मापन हेतु छात्र-प्रगति निश्चित करना इत्यादि सेवा या कार्य के स्तर हैं जो पर्यवेक्षण में सहायता कर सकते हैं। यद्यपि **मिलेट की नजर में** इस तकनीक से कार्य को टालने तथा विलम्ब की प्रव त्ति पर अंकुश लग सकता है किन्तु प्रत्येक सेवा एवं कार्य के मापदण्ड निष्पक्ष एवं व्यावहारिक रूप से निर्धारित करना एक कठिन कार्य है। एक आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि कार्य की मात्रा तथा गुणवत्ता में भारी अंतर होता है अतः सेवा मानकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है।

3. कार्य-बजट—पर्यवेक्षण की यह भी एक प्रभावी तकनीक है। इस विधि से उच्च प्रबन्धकों का निम्नस्तरीय इकाइयों पर सरलता से नियंत्रण हो जाता है। बजट, अपने आप में नियंत्रण का एक प्रभावी हथियार है। इस विधि में निम्नस्तरीय इकाइयों के विभिन्न कार्यों तथा गतिविधियों के लिए आवश्यक धनराशि की मात्रा निश्चित कर दी जाती है। कोई भी इकाई आंवटित धनराशि से अधिक व्यय नहीं कर सकती है और न ही किसी दूसरे कार्य के लिए बजट का उपयोग कर सकती है। यह एक ऐसी विधि मानी जाती है जिसमें केन्द्रीय नियंत्रण की व्यवस्था पर कोई विपरीत प्रभाव डाले बिना स्थानीय स्तर की पहल को भी प्रोत्साहित किया जा सकता है।

4. कार्मिकों की स्वीक ति—सरकारी अभिकरणों में कोई भी संस्था अपने समस्त प्रकार के कार्मिकों की भर्ती एवं नियुक्ति के क्रम में स्वतंत्रता प्राप्त नहीं रहती है। कार्मिकों के चयन एवं नियुक्ति की स्वीक ति के अधिकार प्रायः उच्चस्तरीय सत्ता में निहित

होते हैं। अधीनस्थ संगठनों पर नियंत्रण की इस विधि से अनावश्यक व्यय तथा पक्षपात पर अंकुश लगाया जा सकता है। कार्य संचालन से जुड़े संगठनों को केवल अधीनस्थ एवं निम्नस्तरीय कार्मिकों अभिकरणों (जैसे लोक सेवा आयोग) के माध्यम से भरे जाते हैं। जो नियुक्तियाँ, पदोन्नतियाँ तथा कार्मिक सेवा सुधार सम्बन्धी आदेश अधीनस्थ संगठनों द्वारा दिए जाते हैं उनकी स्वीक ति भी उच्च स्तर से ही जारी होती है।

5. प्रतिवेदन—उच्च स्तरीय सत्ता या प्रबन्धकों को कार्य की प्रगति तथा संगठनात्मक गतिविधियों से अवगत कराने की एक लोकप्रिय तकनीक है—रिपोर्ट भेजना। इन दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, छमाही या वार्षिक, विशिष्ट या तदर्थ रिपोर्टों के आधार पर प्रबन्धक या पर्यवेक्षक कार्य की वास्तविक प्रगति से अवगत हो जाते हैं तथा मूल्यांकन भी कर लेते हैं। इन प्रतिवेदनों में संगठन की प्रमुख गतिविधियों, उपलब्धियों तथा कमियों की चर्चा की जाती है। इकाई से प्राप्त रिपोर्ट के विश्लेषण से पर्यवेक्षक को प्रशंसा करने या चेतावनी देने या कार्यक्रम में संशोधन सुझाने का अवसर प्राप्त होता है।

6. निरीक्षण—निरीक्षण या जाँच-पड़ताल, पर्यवेक्षण की एक प्राचीनतम तकनीक है। जबसे संगठन बने हैं तबसे निरीक्षण, नियंत्रण की एक प्रमुख विधि रही है। निरीक्षण का उद्देश्य यह देखना है कि अधीनस्थ इकाइयाँ निर्धारित मानकों, नियमों तथा कार्यविधियों के अनुरूप कार्य कर रही हैं या नहीं? अधीनस्थ इकाइयों का कार्य-निष्पादन, मुख्यालय या उच्च स्तर की अपेक्षाओं के अनुरूप होना चाहिए। उच्चाधिकारी अथवा पर्यवेक्षक स्वयं जाकर किसी कार्यालय एवं कार्मिकों का निरीक्षण कर वस्तुस्थिति का पता लगाते हैं। **एल.डी.व्हाईट ने निरीक्षण के अन्तर्गत निम्नलिखित को सम्मिलित माना है—**

(1) कानून या प्रशासनिक आदेशों द्वारा मानकों का निर्धारण किया जाता है।

(2) इनका पालन नहीं करने पर दण्ड देने की व्यवस्था होती है।

(3) निरीक्षण करना अनिवार्य प्रक्रिया है।

(4) आदेशों की पालन की जाँच कार्य स्थल पर जाकर की जाती है।

(5) आवश्यकता लगे तो आदेश में संशोधन किया जाता है।

(6) अनुशासनात्मक कार्यवाही हो तो अपील का अधिकार दिया जाता है।

(7) अदालतों द्वारा समीक्षा का अवसर रहता है।

मिलेट ने निरीक्षण, खोजबीन तथा पर्यवेक्षण में अंतर किया है। उनके अनुसार—''निरीक्षण का उद्देश्य सूचना प्राप्त करना है तथा निरीक्षण अपने आप में प्रबन्ध का प थक् कार्य नहीं है बल्कि पर्यवेक्षण प्रक्रिया का एक भाग है। खोजबीन या जाँच-पड़ताल (Investigation) का उद्देश्य प्रबन्धकीय सत्ता से दुरुपयोग या किसी सन्देहास्पद घटना की जाँच से सम्बन्धित है।'' इस प्रकार निरीक्षण, कार्योत्तर समीक्षा (कभी-कभी कार्य के दौरान भी) तथा नकारात्मक द ष्टिकोण का पर्याय है जबकि पर्यवेक्षण एक विस्त त सकारात्मक तथा कार्य से पूर्व या कार्य के दौरान या पश्चात् तीनों अवस्थाओं की प्रक्रिया है। निस्संदेह, निरीक्षण तो पर्यवेक्षण की एक प्रमुख तकनीक है। संगठन में पदसोपानात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत निरीक्षण का कार्य भी निश्चित रहता है।

पर्यवेक्षक
(Supervisor)

सामान्यतः यह प्रश्न उठाया जाता है कि पर्यवेक्षक कौन होता है? अधिसंख्य विद्वानों की राय है कि पदसोपानात्मक व्यवस्था में उच्चाधिकारी, निम्नाधिकारी का पर्यवेक्षक होता है। कुछ संगठनों में पर्यवेक्षक या सुपरवाइजर नामक विशिष्ट पद होता है तो कुछ में अधीक्षक को यह कार्य सौंपा जाता है लेकिन अधिकांश संगठनों में पर्यवेक्षक का प थक् से कोई पद नहीं होता है। राज्य सचिवालय में मुख्य सचिव, विभाग में विभागीय सचिव, निदेशालय में निदेशक, जिले में जिला कलेक्टर या विभाग का जिलाधिकारी, तहसील में तहसीलदार, पंचायत समिति में विकास अधिकारी तथा महाविद्यालय में प्राचार्य ही पर्यवेक्षक होते हैं। बहुधा किसी संगठन में एक कार्मिक के कई पर्यवेक्षक भी हो सकते हैं। यह कार्य की प्रक ति तथा संगठन की संरचना पर निर्भर करता है। आदेश की एकता के सिद्धान्त के विरुद्ध टेलर ने यह सुझाया था कि श्रमिकों को कई पर्यवेक्षकों (कार्य क्षेत्रानुसार) द्वारा निर्देशित किया जाना चाहिए।

मार्क्स के अनुसार–''पर्यवेक्षक एक ऐसा व्यक्ति होता है जो किए जाने वाले कार्य तथा प्रबन्धकों द्वारा निर्धारित नीतियों और कार्यविधियों को जानता है और जो इन नीतियों और कार्यविधियों के ढाँचे में कार्मिकों को कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकता है।''

पर्यवेक्षक **दो प्रकार** के होते हैं–

1. **सूत्र पर्यवेक्षक**–सूत्र पर्यवेक्षक वे होते हैं जो पदसोपानात्मक व्यवस्था से जुड़े होते हैं तथा उनका सत्ता की कमान से सीधा सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए पुलिस महानिदेशक, पुलिस महानिरीक्षक का तथा पुलिस महानिरीक्षक, जिला पुलिस अधीक्षक का सूत्र पर्यावेक्षक है।

2. **कार्यात्मक (स्टाफ) पर्यवेक्षक**–जब किसी कार्मिक के कार्य का पर्यवेक्षण उसके मूल विभाग या इकाई के अतिरिक्त अन्य सम्बद्ध संगठन या विषय विशेषज्ञ द्वारा किया जाता है तो वह कार्यात्मक पर्यवेक्षक कहलाता है। उदाहरण के लिए जिला कलक्टर (शांति व्यवस्था के लिए), जिला पुलिस अधीक्षक का कार्यात्मक पर्यवेक्षक है या महालेखकार (सी.ए.जी. का कार्मिक) सभी विभागों का कार्यात्मक पर्यवेक्षक है।

पर्यवेक्षक के कार्य (Functions of a Supervisor)

एफ.एम.मार्क्स की द ष्टि में, सामान्यतः किसी भी संगठन में पर्यवेक्षक निम्नलिखित तीन प्रकार के कार्य करता है–

1. **वास्तविक या तकनीकी पक्ष**–यह कार्य पर्यवेक्षक का मूलभूत कार्य है जो संगठन के लक्ष्यों, नीतियों, कार्यक्रमों तथा अधीनस्थ द्वारा की जा रही गतिविधियों या कार्यों के पर्यवेक्षण से सम्बन्धित होता है। पर्यवेक्षक उसी अवस्था में अधीनस्थ को परामर्श तथा मार्गदर्शन दे सकता है जबकि वह स्वयं उस कार्य को सम्पादित करने की कला जानता हो। कार्य का मापन, निर्धारण, आबंटन तथा समस्या-समाधान इसी वर्ग के कार्य हैं।

2. **संस्थागत पक्ष**–इस श्रेणी में वे कार्य सम्मिलित किए गए हैं जो संगठन के नियमों, क्रियाविधियों की अनुरूपता के क्रम में होते हैं। अतः पर्यवेक्षक को यह ज्ञान होना चाहिए कि इस संस्था के वास्तविक उद्देश्य क्या हैं तथा अधीनस्थों को क्या समझाना है? वस्तुतः अधीनस्थों के आचरण एवं अवज्ञा के लिए पर्यवेक्षक ही उत्तरदायी होता है क्योंकि संस्था की छवि कार्मिकों के आचरण से जुड़ी होती है।

3. **कार्मिक पक्ष**–यहाँ पर्यवेक्षक तथा अधीनस्थों के मध्य मानवीय सम्बन्धों की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। पर्यवेक्षक के पास, अधीनस्थों से काम लेने का अधिकार तो होता है लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसे मानवीय संवदेनाओं, समस्याओं तथा सम्बन्धों के क्रम में चेतनापूर्वक कार्य करना चाहिए।

जे.डी. मिलेट का मानना है कि पर्यवेक्षक के कार्यों में विभिन्न अंगों में समन्वय तथा प्रत्येक इकाई को दिए गए कार्य का सफल निष्पादन को सुनिश्चित करना सम्मिलित है।

एच.निसेन ने पर्यवेक्षक के निम्नांकित कार्य बताए हैं–

(1) अपने पद के कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान रखना।

(2) कार्य की योजनाएँ बनाना।

(3) अधीनस्थों में कार्यों का विभाजन करना और प्रत्येक को उक्त कर्त्तव्य पालन के लिए प्रेरित करना।

(4) कार्यप्रणाली, नियमों तथा कार्यविधियों में सुधार करना।

(5) स्वयं का ज्ञान, सूचना तथा कौशल निरन्तर बढ़ाते रहना।

(6) अधीनस्थों को प्रशिक्षित करना।

(7) अधीनस्थों के कार्यों का मूल्यांकन करना कि कार्य कितना और कैसा हुआ।

(8) गलतियों को सुधारना, कार्य की कठिनाइयाँ दूर करना तथा अनुशासन बनाए रखना।

(9) संगठन की नीतियों से अधीनस्थों को अवगत कराना तथा यह बताना कि संगठन की संरचना एवं उद्देश्य क्या हैं तथा कोई परिवर्तन आए हैं तो वे क्या हैं?

(10) सहकर्मियों तथा अधीनस्थों के साथ सहयोग भाव से कार्य करना।

(11) अधीनस्थों की शिकायतों को सहानुभूतिपूर्वक सुनना तथा उनको दूर करने का प्रयास करना। यदि कोई सुझाव अधीनस्थ दें तो उसे आदरपूर्वक प्राप्त करना एवं उस पर मनन करना।

रेन्सिस लिकर्ट ने **मिशिगन** (Michigan) अध्ययनों के आधार पर पर्यवेक्षकों को दो प्रकारों (शैलियों) में विभक्त करते हुए उनके द ष्टिकोण इस प्रकार बताए हैं–

पर्यवेक्षणीय शैलियाँ

कार्य-केन्द्रित पर्यवेक्षक (Job-centred Supervisors)	**कार्मिक-केन्द्रित पर्यवेक्षक (Employee-centred Supervisors)**
1. कार्य करवाने हेतु भारी दबाव देने वाले	1. अधीनस्थों पर कम दबाव देने वाले
2. अधीनस्थों पर कम विश्वासकर्ता	2. अधीनस्थों पर विश्वास करने वाला तथा उनका विश्वास पाने वाला
3. नजदीकी तथा व्यापक पर्यवेक्षणकर्ता	3. सामान्य पर्यवेक्षणकर्ता
4. अधीनस्थों को कम स्वतंत्रता देने वाला	4. अधीनस्थों को अपने ढंग से कार्य करने की छूट देने वाला
5. निर्णयन में अधीनस्थों की भूमिका नहीं स्वीकारने वाला	5. निर्णयन में अधीनस्थों की अधिकाधिक भूमिका सुनिश्चित करने वाला
6. गलती होने पर दण्ड देने तथा आलोचना करने का आदी	6. गलती या समस्या होने पर समस्या होने पर अधीनस्थों की सहायताकर्ता
7. ''कार्य'' पर सर्वाधिक ध्यान देने वाला	7. ''उत्तरदायित्व'' पर अधिक ध्यान देने वाला

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ''कार्मिक-केन्द्रित पर्यवेक्षक'' तुलनात्मक रूप से अधिक प्रभावी, लोकप्रिय तथा सफल सिद्ध हो सकता है।

अच्छे पर्यवेक्षक के गुण (Qualities of a Good Supervisor)

एक अच्छे पर्यवेक्षक के गुणों में **पिफनर** ने निम्नांकित को सम्मिलित किया है:

(1) कार्य से सम्बन्धित पूर्ण ज्ञान

(2) व्यक्तिगत योग्यताएँ जैसे–द ढ़ चरित्र

(3) एक अच्छे शिक्षक की योग्यताएँ

(4) उसे अपने कार्य से प्रेम हो तथा अधीनस्थों को भी प्रेरित करे

(5) साहस और सहनशीलता

(6) नैतिकता तथा सदाचार

(7) प्रबन्धकीय योग्यता तथा जिज्ञासा

(8) बौद्धिक सतर्कता एवं नवाचार प्रव त्तियाँ।

इसी प्रकार **हेल्से** ने अच्छे पर्यवेक्षक के लिए निम्नांकित गुण बताये हैं–

(1) कार्य एवं सभी मामलों की पूरी जानकारी (परिपूर्णता)

(2) निष्पक्षता, न्यायप्रियता तथा सहानुभूति (औचित्य)

(3) साहस एवं आत्मविश्वास (पहल)

(4) लोगों से कार्य करवाने की कला (चतुराई)

(5) कर्त्तव्य, आदर्शों तथा रुचियों से भरपूर (उत्साह)

(6) भावनात्मक नियंत्रण।

सरकारी संगठनों में सभी प्रकार के व्यक्ति कार्य करते हैं तथा बहुत से व्यक्ति वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नत होकर पर्यवेक्षक की भूमिका में आ जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक पर्यवेक्षक उन योग्यताओं तथा कुशलताओं से युक्त हो ही, जो कि एक अच्छे पर्यवेक्षक के लिए आवश्यक है। सामान्यतः यह मान्यता रही है कि अच्छे पर्यवेक्षक बनाए नहीं जाते बल्कि वे पैदा होते हैं। लेकिन प्रशिक्षण की आधुनिक तकनीक जैसे सम्मेलन विधि, कार्य के दौरान प्रशिक्षण तथा अन्य संगठनात्मक-व्यवहार सम्बन्धी प्रयोगों के माध्यम से पर्यवेक्षकीय गुणों का विकास किया जा सकता है। **हेल्से** का कहना है कि—''कई बार यह सिद्ध हो चुका है कि सामान्य बुद्धि तथा ईमानदारी से लोगों की सेवा के इच्छुक व्यक्तियों में पर्यवेक्षण का कार्य सफलतापूर्वक करने के लिए आवश्यक गुण विकसित किए जा सकते हैं; आवश्यक तकनीकें सिखाई जा सकती हैं और उनके प्रयोग की विधा को अभ्यास द्वारा स्थायी बनाया जा सकता है।''

नियंत्रण
(Control)

संगठन की व्यवस्था बनाए रखने हेतु तथा इसके समस्त अंगों को विधिवत् ढंग से संचालित करने के लिए 'नियंत्रण' आवश्यक है। वस्तुतः नियंत्रण, संगठन का वह अमूर्त्त तत्त्व तथा प्रक्रिया है जो अन्य स्वरूपों में अपना कार्य करता है तथा संगठन की प्रक्रियाओं जैसे संचार, समन्वय, पर्यवेक्षण, सत्ता तथा उत्तदायित्व इत्यादि से घुल मिल गया है। बहुधा निरीक्षण, पर्यवेक्षण, समन्वय, जाँच-पड़ताल तथा नियंत्रण एक जैसे ही प्रतीत होते हैं जबकि इनमें काफी अंतर है। **नियंत्रण संगठन की अधिकांश प्रक्रियाओं का एक उद्देश्य है जो संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।**

अर्थ (Meaning)

शब्दकोषीय द ष्टि से—''निर्देश देने, आदेश देने तथा प्रबन्ध करने की सत्ता या शक्ति, नियंत्रण है या किसी चीज का प्रबन्ध अथवा प्रतिबन्ध नियंत्रण है।''

थियो हैमेन के शब्दों में—''नियंत्रण, देखभाल करने की एक प्रक्रिया है ताकि यह पता किया जा सके कि नियोजन के अनुसार किया जा रहा है या नहीं, लक्ष्यों की दिशा में प्रगति हो रही है या नहीं और यदि आवश्यक हो तो सुधार के लिए क्या प्रयास किया जाए।'' ऐसी ही परिभाषा **हेनरी फेयोल** ने दी है।

ई.एफ.एल. ब्रेच के अनुसार—''निर्धारित प्रमापी या योजनाओं से वास्तविक निष्पादन की तुलना करने की प्रक्रिया नियंत्रण कहलाती है, जिससे इस बात का पता लग जाए कि पर्याप्त प्रगति अथवा सन्तोषजनक निष्पादन हो रहा है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार से प्राप्त किए गए अनुभव को सम्भावित भावी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु योगदान के रूप में अंकित किया जा सके।''

मैक्फारलैण्ड के अनुसार—''नियंत्रण एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अधिकारी अपने अधीनस्थों के निष्पादन की तुलना निर्धारित योजनाओं, आदेशों, उद्देश्यों अथवा नीतियों के अनुसार अथवा इनके निकट करते हैं।''

वस्तुतः नियंत्रण संगठन की व्यवस्था को बनाए रखने तथा उसके उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक **''सुधारात्मक उपाय'' है जिसे प्रायः ''प्रबन्ध का नकारात्मक पक्ष''** भी मान लिया जाता है। यदि नियंत्रण (प्रायः कठोर) नहीं हो तो संगठन में भ्रष्टाचार, अकर्मण्यता, अनैतिकता, अनुत्तरदायित्व तथा अव्यवस्था का जन्म होता है। इन सभी जटिल समस्याओं को नियंत्रण के द्वारा रोका जाता है, अतः नियंत्रण किंचित् कठोर एवं अलोकतांत्रिक प्रक ति की प्रक्रिया दिखाई देती है जबकि वह संगठन की मूलभूत आवश्यकता भी है।

विशेषताएँ (Characteristics)

नियंत्रण की निम्नांकित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

(1) यह संगठन में चलने वाली सतत् एवं गतिशील प्रक्रिया है।

(2) यह संगठन के प्रत्येक स्तर पर कार्य करती है।

(3) नियंत्रण का मूलभूत या गुरुत्तर दायित्व 'सूत्र अभिकरण' का होता है।

(4) यह संगठन के लक्ष्यों, कार्यों, योजनाओं तथा प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में व्यवस्था बनाए रखने हेतु किया जाता है।

(5) नियंत्रण का प्रबंधकीय कार्य ''नकारात्मक'' प्रतीत होता है जबकि यह एक सुधारात्मक उपाय है।

(6) यह संगठन के कार्मिको से ही सम्बन्धित नहीं है बल्कि नीति, भौतिक साधनों, उत्पाद या सेवाओं, कार्य प्रणाली, लागत-लाभ तथा अन्य सभी पक्षों के नियंत्रण से सम्बन्धित है।

(7) नियंत्रण तथा दण्ड का सहसम्बन्ध होता है।

नियंत्रण के प्रकार (Types of Control)

हेनरी फेयोल ने किसी व्यापारिक संगठन के सम्बन्ध में पाँच प्रकार के नियंत्रणों को वर्णित किया है–

(1) कच्ची सामग्री, गुणवत्ता, कीमत तथा भण्डारण पर नियंत्रण

(2) कार्मिक एवं अन्य संसाधनों पर तकनीकी नियंत्रण

(3) वित्तीय नियंत्रण

(4) सम्पत्ति, संसाधन तथा कार्मिकों की सुरक्षा हेतु नियंत्रण

(5) लेखा साधारण पर नियंत्रण

नियंत्रण की आवश्यकता तथा प्रकार, सम्बन्धित संगठन के कार्य क्षेत्र पर निर्भर करते हैं। **औद्योगिक संगठनों** में नीतियों पर नियंत्रण, संरचना पर नियंत्रण, कार्मिकों पर नियंत्रण, वेतन (मजदूरी) पर नियंत्रण, लागत पर नियंत्रण, कार्यप्रणाली एवं तकनीक पर नियंत्रण, पूँजी-व्ययों पर नियंत्रण, सेवा कार्यों पर नियंत्रण, उत्पाद पर नियंत्रण, शोध एवं विकास पर नियंत्रण, जनसम्पर्क पर नियंत्रण तथा सम्पूर्ण संगठन पर नियंत्रण प्रमुख रहते हैं तो **लोक प्रशासन के संगठनों** में प्रायः रूढ़िवादी तरीके से कुछ ही नियंत्रण किये जाते हैं। इनमें सर्वप्रमुख रूप से वित्तीय नियंत्रण, कार्मिक नियंत्रण, संसाधन नियंत्रण, परियोजना नियंत्रण, भण्डार नियंत्रण, सेवा शर्तें नियंत्रण, वैधानिक एवं राजनीतिक नियंत्रण, आचरण-नियंत्रण, जन शिकायत नियंत्रण, सरकारी सत्ता के दुरुप्रयोग पर नियंत्रण, स्वविवेकाधिकारों पर नियंत्रण तथा लेखा नियंत्रण इत्यादि सम्मिलित हैं।

नियंत्रण के साधन (Methods of Control)

किसी भी संगठन की संरचना तथा कार्यप्रणाली अपने आप में नियंत्रण का एक स्वरूप होती है। नियंत्रण तो अधिकांशतः मानव व्यवहार पर किया जाता है। कतिपय साधन इस प्रकार है–

(1) संगठन की संरचना तथा पदसोपान

(2) सत्ता एवं उत्तरदायित्व (जवाबदेयता)

(3) संगठन के नियम, कानून, प्रक्रियाएँ तथा कार्यविधियाँ

(4) आचार-संहिताएँ एवं सेवाशर्तें

(5) उच्चस्तरीय प्रबन्ध एवं मुख्यालय (सूत्र अभिकरण)

(6) निरीक्षण, जाँच पड़ताल तथा पर्यवेक्षण

(7) आन्तरिक अनुशासन तथा प्रतिबन्धात्मक नियम

(8) कार्य या सेवा का मानकीकरण

(9) निष्पादन मूल्यांकन

(10) नीति, योजना, कार्यक्रम तथा आदेशों में वर्णित प्रावधान

(11) आदेश की एकता

(12) प्रतिवेदन

(13) बजट

(14) कर्त्तव्यों की सीमाएँ

(15) अंकेक्षण

नियंत्रण के अन्य साधन (Other Methods of Control)

- अवलोकन
- उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध (M.B.O.)
- प्रबन्ध सूचना व्यवस्था (M.I.S.)
- प्रबन्धकीय अंकेक्षण
- पर्ट
- सी.पी.एम.

लोक प्रशासन से सम्बन्धित संगठनों पर नियंत्रण की उपुर्यक्त विधियाँ (साधन) कार्यपालिका तथा आन्तरिक नियंत्रण की पर्याय हैं। अन्य विधियों में **विधायी नियंत्रण, न्यायिक नियंत्रण, जनमत तथा मीडिया** द्वारा नियंत्रण इत्यादि प्रमुख है। प्रभावशाली नियंत्रण के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व ''समय'' है, अर्थात् प्रत्येक कार्य एवं प्रक्रिया पर नियंत्रण, समय रहते किया जाना चाहिए। साँप निकलने के पश्चात् लकीर पीटने की परम्परा से नियंत्रण व्यवस्था प्रभावशाली नहीं रह पाती है। दुर्भाग्य से लोक प्रशासन से सम्बन्धित अधिकांश नियंत्रण प्रणालियाँ तथा तकनीकें ''पोस्टमार्टम'' विधि पर ही आधारित हैं। प्रभावशाली नियंत्रण के लिए प्रायः यह सुझाया जाता है कि नियंत्रण संगठनात्मक स्वरूप में किया जाना चाहिए, नियंत्रण की प्रक्रिया सरल तथा सुगम होनी चाहिए; लोचशील तथा नवाचारों से पूर्ण होनी चाहिए; भविष्यलक्ष्मी होनी चाहिए तथा परिणामोन्मुखी होनी चाहिए।

अध्याय-9

संगठन के शास्त्रीय एवं नवशास्त्रीय सिद्धान्त

हिन्दी भाषा में 'Theory' तथा 'Principle' दोनों के लिए ''सिद्धान्त'' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस कारण प्रायः सामाजिक विज्ञानों के अध्ययनकर्ताओं को भ्रम हो जाता है। Theory, जिसे हिन्दी में सिद्धान्त के साथ-साथ विचारधारा या द ष्टिकोण भी कहा जाता है, का अभिप्राय उस परिष्क त उपकरण या पद्धति से है जिसके आधार पर भविष्यवाणी की जा सकती है तथा तथ्यों का परीक्षण हो सकता है। फ्रेड एन० कर्लिन्गर सिद्धान्त (Theory) की परिभाषा इस प्रकार देते हैः "सिद्धान्त परस्पर-सम्बन्धित धारणाओं, परिभाषाओं तथा प्रस्तावों का जोड़ है, जो अंगों के परस्पर सम्बन्धों को निश्चित करके घटनाओं का व्यवस्थित पहलू पेश करता है, ताकि घटनाक्रम का विवरण दिया जा सके और उनका पूर्वानुमान लगाया जा सके।" भौतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक संसारों के विभिन्न तत्वों का ठीक-ठीक वर्णन करने और उनका सफलतापूर्वक पूर्वानुमान लगाने की दिशा में किये गये प्रयासों को सिद्धान्त कहते हैं। संगठन के सिद्धान्तों को अभी तक वह निश्चिता और क्षेत्र प्राप्त नहीं हुए जो भौतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों को प्राप्त हो चुके हैं फिर भी संगठन के कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो औपचारिक संगठनों के डिजाइन में और प्रशासनिक व्यवस्थाओं को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

प्रशासनिक सिद्धान्तों या उपागमों की प्रक ति मूलतः अस्थायी, विकासशील, लचीली तथा अल्पकालिक है। लोक प्रशासन सहित अधिसंख्य सामाजिक विज्ञानों के उपागमों या सिद्धान्तों की प्रक ति उतनी विश्वसनीय, स्थायी, सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक नहीं है जितनी की प्राक तिक विज्ञानों की है। राज्य के बदलते स्वरूप तथा कार्यक्षेत्र ने लोक प्रशासन के सिद्धान्तों (Theories) को भी परिवर्तित किया है। वर्तमान में लोक प्रशासन की परम्परागत विचारधाराएँ जैसे-नौकरशाही उपागम, शास्त्रीय उपागम एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध उपागम इत्यादि की प्रासंगिकता कम हो चुकी है तथा व्यवस्था उपागम, व्यवाहारवादी उपागम एवं परिस्थितिकीय उपागम की उपादेयता अधिक मानी जा रही है। साथ ही आकस्मिकता उपागम तथा लोक विकल्प उपागम जैसे नए सिद्धान्त सामने आ रहे हैं।

लोक प्रशासन में अध्ययन के उपागमों का क्रमिक विकास हुआ है। **कास्ट एवं रोजेन्जवीग** के अनुसार यह तीन कालों, यथा-**परम्परावादी या शास्त्रीय काल** (वैधानिक, ऐतिहासिक, सांस्थानिक, कार्यकुशलता, संरचनात्मक, राजनीतिक, नौकरशाही, वैज्ञानिक प्रबंध उपागमों सहित) **मानव-सम्बन्ध आन्दोलन तथा व्यवहारवादी काल तथा आधुनिक या व्यवस्थावादी काल** में विभक्त किया जा सकता है। कुछ विद्वान् केवल परम्परावादी तथा आधुनिक उपागमों के रूप में लोक प्रशासन की विभिन्न पद्धतियों का वर्गीकरण करते हैं।

संगठन का शास्त्रीय/प्रशासकीय/यांत्रिक सिद्धान्त या उपागम

वस्तुतः संगठन की शास्त्रीय या परम्परागत विचारधारा के अन्तर्गत टेलर का वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त, वेबर का नौकरशाही सिद्धान्त तथा फेयोल, गुलिक, उरविक इत्यादि द्वारा समर्थित यांत्रिक सिद्धान्त या औपचारिक संगठन सिद्धान्त प्रमुख है। इनमें यांत्रिक सिद्धान्त सर्वप्रमुख माना जाता है। **यांत्रिक सिद्धान्त को औपचारिक संगठन उपागम, पुरातनवादी उपागम, संरचनात्मक उपागम, प्रबंध प्रक्रिया पंथ, कुशलता उपागम या प्रशासनिक सिद्धान्त इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। साइमन** एवं **मार्च** ने इसे **प्रशासनिक प्रबंध सिद्धान्त** (Admininstrative Management Theory) कहा है। संगठन की शास्त्रीय विचारधारा की चर्चा करते समय सर्वाधिक ध्यान यांत्रिक उपागम या द ष्टिकोण की ओर जाता है क्योंकि इसकी जड़ें सर्वाधिक गहरी एवं पुरानी हैं।

हेनरी, फेयोल प्रशासकीय या यांत्रिक सिद्धान्त (Theory) के प्रणेता माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम संगठन के सिद्धान्तों को अपनी पुस्तक 'General and Industrial Management, (1916)' में उजागर किया। उन्होंने संगठन के चौदह सिद्धान्त

(Principles) बताए। किन्तु क्योंकि फेयोल के लेख उनके जवीन काल में अधिक प्रचलित नहीं हो पाए इसलिए उनके द्वारा प्रतिपादित संगठन के सिद्धान्तों को भी 1925 ई० में उनकी म त्यु के पश्चात् ही अधिक स्वीकारा गया। इस सिद्धान्त (Theory) को 1937 में गुलिक एवं उरविक की पुस्तक के Papers on the Science of Administration बाद अधिक बल मिला एवं यह 1930 यह के दशक में अपने चरमोत्कर्ष पर रहा।

संगठन का यांत्रिक उपागम औपचारिकता, कानून, संरचना तथा नियमों में विश्वास करता है। मानव-सम्बन्ध तथा अनौपचारिक तत्त्वों का इस उपागम में कोई स्थान नहीं है। **हेनरी फेयोल, लूथर गुलिक, एल. उरविक, जे.डी. मूने, ए.सी. रैली, मेरी पार्कर फोलेट तथा आर. शैल्टन इसके प्रमुख समर्थक हैं।** इस उपागम के समर्थक विद्वान् मानते हैं कि सभी प्रशासन एक जैसे होते हैं। निजी प्रशासन तथा लोक प्रशासन में कोई भेद नहीं हैं, क्योंकि सभी प्रशासनिक संगठनों के एक समान तकनीकों तथा सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है। मूल लक्ष्य तो कुशलता प्राप्ति तथा मितव्ययता बनाए रखना है। यांत्रिक यह औपचारिक संगठन उपागम, संगठन को मशीनी उपकरण की भाँति देखता है तथा इसमें कार्य करने वाले कार्मिकों को यंत्र के पुर्जे या हिस्से मानता है। इस उपागम की मान्यता के अनुसार यदि संगठन एक इमारत है तो सिद्धान्त, इसकी वास्तुकला है। प्रत्येक संगठन का निर्माण किन्हीं सुनिश्चित सिद्धान्तों के आधार पर होता है तथा ऐसा होना भी चाहिए। यह अवधारणा दो प्रमुख विश्वासों पर आधारित है—

(1) संगठन की योजना का निर्माण इसके उद्देश्यों तथा कार्यों के अनुरूप किया जाता है जो निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित होती है।

(2) संगठन की योजना को मूर्त्तरूप देने के लिए कार्मिकों की आवश्यकता होती है अर्थात् कार्मिक संगठन के पुर्जे हैं।

डिमॉक एवं डिमॉक के अनुसार—"यह उपागम अभियांत्रिकी प्रणालियों से प्रभावित है।" जिस प्रकार एक इंजीनियर, सदैव तार्किक संरचना तथा सुनिश्चितता के लिए प्रयत्नशील रहता है, और प्रत्येक कार्य को करने के सर्वश्रेष्ठ तरीकों और विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में उसका प्रभाव स्पष्ट रहता है, उसी प्रकार संगठन में सिद्धान्तों, कार्मिकों तथा संरचना के समन्वय से कुशलता प्राप्त होती है।"

हिक्स एवं गुलेट का मानना है कि यह उपागम मूलतः व्यवस्था, तार्किकता, संरचना तथा विशेषज्ञता पर बल देता है तथा श्रमिकों को 'आर्थिक मानव' के रूप में देखता है जिन्हें केवल आर्थिक प्रेरणाओं से ही प्रेरित किया जा सकता है।

यांत्रिक/शास्त्रीय/ सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ/मान्यताएँ

यांत्रिक सिद्धान्त की निम्नलिखित प्रमुख मान्यताएं हैं:—

(1) इस उपागम के समर्थक संगठन की **संरचना** पर सर्वाधिक बल देते हैं। इनकी मान्यता है कि संगठन की समस्त समस्याएँ इसकी संरचना में जन्म लेती हैं, अतः वैज्ञानिक आधार पर संगठन की संरचना होनी चाहिए।

(2) यांत्रिक उपागम की दूसरी मान्यता यह है कि संगठन के कतिपय निश्चित सिद्धान्त होते हैं। इस उपागम के समर्थक विद्वानों ने संगठन के सिद्धान्तों को विकसित करने में सर्वाधिक रुचि ली है।

(3) निश्चित सिद्धान्तों को अपनाकर किसी भी संगठन में अधिकतम कुशलता तथा मितव्ययता का स्तर पाया जा सकता है। यह उपागम प्रशासन को एक तकनीकी समस्या मानकर अपना सारा ध्यान कुशलता पर केन्द्रित करता है।

(4) यांत्रिक उपागम के समर्थक यह भी कहते हैं कि लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में कोई भेद नहीं है बल्कि सभी प्रशासन एक जैसे होते हैं, अतः सरकारी या गैर सरकारी प्रशासन का भेद अवास्तविक है बल्कि मूल समस्या तो सभी संगठनों में कुशलता प्राप्त करना है।

(5) यह उपागम संगठन में कार्यरत कार्मिकों तथा उनके दायित्वों को प थक् रूप से आँकता है।

(6) इस उपागम की यह भी मान्यता है कि कानून, नियम, प्रक्रिया, ढाँचा तथा नियंत्रण प्रणाली ही प्रशासन में निर्णायक भूमिका निभाती है।

(7) संगठन तथा इसकी विभिन्न इकाइयों के मध्य अधिकतम समन्वय स्थापित कराना इस उपागम की द ष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

(8) इस उपागम की यह विशिष्ट मान्यता है कि प्रत्येक प्रशासनिक संगठन एक औपचारिक ढाँचा है जो पूर्व निर्धारित नियमों, सिद्धान्तों, कानूनों, कार्य-प्रक्रियाओं के अनुसार संचालित होता है तथा प्रशासनिक संरचना एवं इसके अन्य अंग चार्ट एवं नियमावली के द्वारा स्पष्ट किए जा सकते हैं।

(9) यह उपागम संगठन के कार्यकरण, संरचना तथा सिद्धान्तों के बाह्य वातावरण तथा आन्तरिक स्तर पर मानवीय व्यवहार से अछूता मानता है।

इसके अतिरिक्त शास्त्रीय उपागम की छः दार्शनिक विशेषताएँ भी मानी जाती हैं, जो इस प्रकार हैं:

1. आणविक—अर्थात् संगठन में कार्यरत व्यक्ति मात्र एक पुर्जा होता है वह अपने सहकर्मियों से प थक् होता है। आणविक विशेषता सजीव तथा निर्जीव संरचना में भेद नहीं करती है।

2. यांत्रिक—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह उपागम संगठन को एक मशीन मानता है, अतः संगठनात्मक व्यवहार को कोई महत्त्व नहीं देता है।

3. गतिहीनता—यह उपागम गतिशील नहीं है, इसीलिए परम्परागत द ष्टिकोण कहलाता है। वैसे भी यह संगठन को जीवन्त उपक्रम में नहीं देखता बल्कि जड़ संगठन के रूप में आँकता है।

4. स्वैच्छिक—यह उपागम मानता है कि संगठन में कार्यरत कोई कार्मिक अपने साथियों तथा समाजिक नियंत्रण से मुक्त रहता है।

5. तार्किकता—अर्थात् संगठन में विवेकसम्मत ढंग या सैद्धान्तिक रीति से कार्य सम्पादित होना चाहिए।

6. अर्थ-प्रधानता—यह उपागम मानता है कि संगठन में कार्यरत कार्मिकों को आर्थिक प्रोत्साहनों के द्वारा अभिप्रेरित किया जा सकता है, गैर आर्थिक प्रोत्साहन महत्त्वहीन हैं।

आलोचना

यांत्रिक उपागम की अनेक विचारकों ने विभिन्न आधारों पर आलोचना की है। इसकी आलोचना के सम्बन्ध में निम्नांकित बात (साधारतयाः) कही जाती हैः—

(1) **हरबर्ट साइमन** ने यांत्रिक द ष्टिकोण के कुछ मान्य सिद्धान्तों (Principles) विशेषकर कार्य-विभाजन, आदेश की एकता तथा नियंत्रण के क्षेत्र की कटु आलोचना करते हुए इन्हें महज कहावतें (Proverbs, Myths, Slogans) माना है क्योंकि एक सिद्धान्त दूसरे को काटता है। साइमन के अनुसार 4 'पी' आधार पर होने वाला कार्य-विभाजन, किस स्थान पर तथा किस विशेष स्थिति में, कौनसे सिद्धान्त को बल प्रदान करेगा, यह स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार आदेश की एकता तथा सीमित नियंत्रण का क्षेत्र सम्भव नहीं है।

(2) यह एक संकुचित द ष्टिकोण है जो संगठन और व्यक्ति में परस्पर सम्बद्धता नहीं बल्कि प थकता की द ष्टि से देखता है।

(3) यह उपागम 'संरचना' तथा 'औपचारिकता' पर बहुत बल देता है जबकि संगठन में मानवीय सम्बन्ध भी महत्त्वपूर्ण रहते हैं।

(4) आलोचकों का मानना है कि यह द ष्टिकोण संगठन के चार्ट, नियमों, कार्यविधियों तथा कानूनों को प्राथमिक मानता है जबकि वास्तविकता में प्रत्येक संगठन केवल इन्हीं तथ्यों पर टिका नहीं रहता है और न ही सभी तथ्य चार्ट के द्वारा समझे जा सकते हैं।

(5) इसमें संगठन को एक "बन्द इकाई या व्यवस्था (Closed System)" के रूप में वर्णित किया जाता है तो बाह्य वातावरण से प्रभावित नहीं होता है जबकि वस्तुस्थिति यह है कि संगठन जीवन्त होते हैं जो बाहरी पर्यावरण को प्रभावित करते हैं और उससे प्रभावित भी होते हैं।

(6) गुलिक तथा उरविक ने प्रशासनिक सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता की चर्चा की है जबकि वास्तविकता इससे भिन्न है क्योंकि प्रशासनिक सिद्धान्त केवल प्रशासनिक स्थिति को ठीक से समझने एवं उसका वर्णन करने में मापदण्ड मात्र हैं उनका परीक्षण तथा सर्वस्वीकार्यता सम्भव नहीं है।

(7) यह उपागम संगठन में केवल 'आर्थिक प्रोत्साहनों' तथा औपचारिक आदेशों को महत्त्व देते हैं जबमि अनार्थिक प्रोत्साहन तथा अनौपाचारिक सम्बन्धों की संगठन की कार्यकुशलता में निर्णायक भूमिका रहती है।

(8) कतिपय विद्वानों (जैसे, सुब्रमण्यम) का मानना है कि यह द ष्टिकोण 'प्रबंध' की और झुका हुआ है। इसमें प्रबंध तथा व्यक्तियों से सम्बन्धित अन्य संगठनात्मक समस्याओं को गौण माना गया है।

(9) यह उपागम संगठन को एक मशीन या यंत्र की भाँति विश्लेषित करता है जबकि संगठन मानवीय तत्त्वों से युक्त है। मनुष्यों को पुर्जों की भाँति न तो समझा जा सकता है न वे निर्जीव पुर्जे हो सकते हैं। मानवीय प्रेरणाएँ, सम्बन्ध तथा कार्यकुशलता अन्तरसम्बन्धित होती हैं।

(10) यह उपागम एक **आदर्शात्मक सिद्धान्त** (Normative Theory) है जो "क्या होना चाहिए (What ought to be)" पर बल देता है, न कि "क्या है " का अध्ययन करता है अतः यह व्यवहारवाद के विपरीत है।

(11) **मार्च एवं साइमन** ने अपनी पुस्तक (Organizations) में स्पष्ट किया है कि यांत्रिक विचारधारा में अभिप्रेरणा तत्त्वों की कमी थी, अन्तर्संगठनात्मक (Intra Organizational) संघर्षों के निवारण की चिन्ता नहीं थी, सूचना प्रक्रिया पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया था तथा कार्यक्रम-मूल्यांकन से सम्बन्धित समस्याओं का उत्तर भी इन उपागम के पास नहीं था।

योगदान

उपरोक्त सभी आलोचनाओं, दोषों तथा विसंगतियों के उपरान्त भी हम संगठन के इस सिद्धान्त को नकार नहीं सकते। यांत्रिक उपागम संगठन के अध्ययन क्षेत्र में अपनाए गए शुरुआती द ष्टिकोणों में एक था। इस उपागम ने लोक प्रशासन के अध्ययन क्षेत्र को विस्त त बनाने के साथ ही इसे एक दिशा भी प्रदान की। अन्य सिद्धान्त, जो बाद में विकसित हुए, भी इसी उपागम की आलोचनाओं पर फलीभूत हुए। इस सब के उपरान्त भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अपनी सभी विसंगतियों एवं कमियों के बाद भी यह सिद्धान्त अपनी प्रासंगिकता आज भी बनाए हुए है एवं आज भी लोक प्रशासन या संगठन के अध्ययनों का प्रमुख माध्यम बना हुआ है। इस सिद्धान्त के प्रमुख योगदान की चर्चा नीचे की जा रही हैः—

(1) संगठन के इस परम्परागत उपागम या सिद्धान्त ने अध्ययन एवं व्यवहार के रूप में प्रशासनिक संगठनों की प थक् से पहचान स्थापित करवाई। इस सिद्धान्त या द ष्टिकोण ने प्रबंध और संगठन की समस्याओं के विषय में विद्वानों को सोचने तथा विश्लेषण करने के लिए विवश किया। यह एक बड़ी व्यावहारिक उपलब्धि थी।

(2) इस उपागम ने औद्योगिक संगठनों में उत्पादन बढ़ाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाहित की।

(3) इसके द्वारा सत्ता, उत्तरदायित्व तथा प्रत्यायोजन की दिशा में स्पष्ट चिन्तन की शुरुआत हुई।

(4) यांत्रिक उपागम ने ही प्रशासन को विषय के रूप में स्थापित करने तथा इसके बौद्धिक अन्वेषण की शुरुआत करवाई ताकि लोक प्रशासन को विज्ञान के रूप में स्थापित किया जा सके।

(5) प्रारम्भिक उपागम होने के कारण इसी उपागम के समर्थकों ने प्रशासन की परिभाषाएँ, अवधारणाएँ, शब्दावली तथा क्षेत्र का स्पष्टीकरण किया।

(6) इस सिद्धान्त की सीमाओं या कमियों ने ही संगठनात्मक व्यवहार के क्षेत्र में अधिक अनुसन्धान कार्यों को प्रोत्साहित किया।

शास्त्रीय उपागम मैं हेनरी फेयोल का योगदान

हेनरी फेयोल को 'आधुनिक प्रबन्ध विचारधारा' का जन्मदाता माना जाता है। उन्होंने प्रबन्ध के क्षेत्र में जिन सामान्य सिद्धान्तों का सम्पादन किया है वे आज भी समस्त राष्ट्रों व संगठनों में उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। उन्होंने उच्च प्रबन्ध एवं प्रशासन के क्षेत्र में आधारभूत दर्शन एवं द ष्टिकोण को जन्म दिया। फेयोल ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने प्रबन्ध की सार्वभौमिकता को बतलाया तथा सभी प्रकार के—औद्योगिक, वाणिज्यिक, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक या शैक्षणिक उपक्रमों के संचालन में प्रबन्ध की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्पष्ट किया। इसीलिए उन्हें सर्वयुक्तिवादी के रूप में जाना जाता हैं।

फेयोल एक तकनीकी व्यक्ति थे। वे एक अच्छे इंजीनियर, राजमिस्त्री, वैज्ञानिक, दर्शनशास्त्री तथा कुशल प्रशासक थे। वे प्रथम विश्वयुद्ध के समय फ्रांसीसी सरकार के एक प्रमुख सलाहकार रहे तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासकीय विज्ञान कांग्रेस में एक उच्च श्रेणी के सदस्य भी थे। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम वर्षो में सरकार के प्रशासकीय कार्यो में सुधार लाने में विशेष रुचि ली थी। वे एक उच्च कोटि के लेखक थे। उनके प्रबन्धकीय सिद्धांत उनकी बौद्धिक सत्यनिष्ठा, असाधारण अर्न्तद ष्टि एवं व्यावहारिक विवेक का परिणाम थे। वर्षो के प्रबन्धकीय अनुभव एवं अध्ययन के बाद उन्होंने लेखन के जगत में प्रवेश किया था। उन्हें प्रबंध साहित्य में फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) के नाम से जाना जाता है।

हेनरी फेयोल का जन्म 1841 में फ्रांस में एक साधारण परिवार में हुआ था। उन्होंने अपने प्रारम्भिक कार्य की शुरुआत फ्रेंच माइनिंग इन्स्टरी, से की। 21 वर्ष की आयु में ही 'Commentary Four chambault company' में ये कनिष्ठ अभियन्ता के पद पर नियुक्त किये गये। 1888 ई में जब उनकी उम्र 47 वर्ष थी, उन्हें इसी कपनी का प्रबन्ध-संचालक बना दिया गया। जिस समय उन्हें इस कम्पनी का प्रबंध-संचालक बनाया गया, उस समय कम्पनी की आर्थिक स्थिति बहुत ही खराब थी तथा कम्पनी 'दिवालिया घोषित होने पर थी। लेकिन उनके नेत त्व तथा कार्य के प्रति समर्पित-भाव के कारण कम्पनी की हालत इतनी मजबूत हो गई कि उस समय उसके बराबर कोई कम्पनी नहीं रह गई। यह उनके प्रशासकीय नेत त्व की पहली सफलता थी। वे 1918 ई० में सेवानिव त्त हो गये।

सेनानिव त्ति के पश्चात् 1918 ई० से अनी म त्यु (1925) तक फेयोल ने सारा समय अपनी प्रशासनिक विचारधारा (Theory of Administration) के संसार में लगाया। इस अवधि में उन्होंने एक 'प्रशासनिक अध्ययन केन्द्र' (Centre of Administrative Studies) की स्थापना की, जिसका संचालक अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों, लेखकों, दार्शनिकों विचारकों, इंजीनियरों, सैनिकों, अधिकारियों, उद्योगपतियों, क्रियाशील व्यक्तियों, के सहयोग से होता था। फेयोल इसके अध्यक्ष थे। द्वितीय, उन्होंने प्रशासनिक सिद्धातों की ओर अधिक ध्यान देने के लिए सरकार को प्रोत्साहित किया। अपनी म त्यु के समय वे फ्रांसीसी तम्बाकू उद्योग, जो सरकारी एकाधिकार में था, के संगठन के बारे में अनुसंधान कर रहे थे।

फेयोल के प्रमुख प्रकाशन

फेयोल एक योग्य लेखक थे। उन्होंने भू-गर्भ शास्त्र, खनन यान्त्रिकी, प्रशासन, प्रबन्ध आदि विषयों पर काफी लिखा। लोक प्रशासन में एक चिन्तक के रूप में ख्याति दिलाने वाली उनकी पुस्तक General and Industrial Management थी जो कि उनके द्वारा फ्रांसीसी भाषा में सन् 1916 ई० में लिखी गई पुस्तक Administration Industrialle of Generale का अंग्रेजी अनुवाद थी। अंग्रेजी में अनुवादित यह पुस्तक सर्वप्रथम सन् 1929 ई० में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक प्रबन्ध को उनका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि वास्ताविक "प्रशासन (Administration)" शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद "प्रबन्ध (Management)" के रूप में किया गया न कि प्रशासन के रूप में। फेयोल की अन्य रचनाएँ इस प्रकार हैं:—

The Industrialisation of the State.

The Theory of Administration in the State.

Discourse on the General Principlers of Administration.

हेनरी फेयोल को धातु-कर्म के क्षेत्र में उनके शोधकार्यों के लिए सन् 1921 ई० में नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। हेनरी फेयोल के संगठन के प्रशासनिक उपागम को दिए गए योगदान का उल्लेख हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं:—

औद्योगिक क्रियाएँ तथा प्रशासनिक क्रियाएँ

हेनरी फेयोल ने औद्योगिक क्रियाओं या गतिविधियों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इन औद्योगिक क्रियाओं में प्रशासनिक क्रियाएँ भी शामिल हैं।

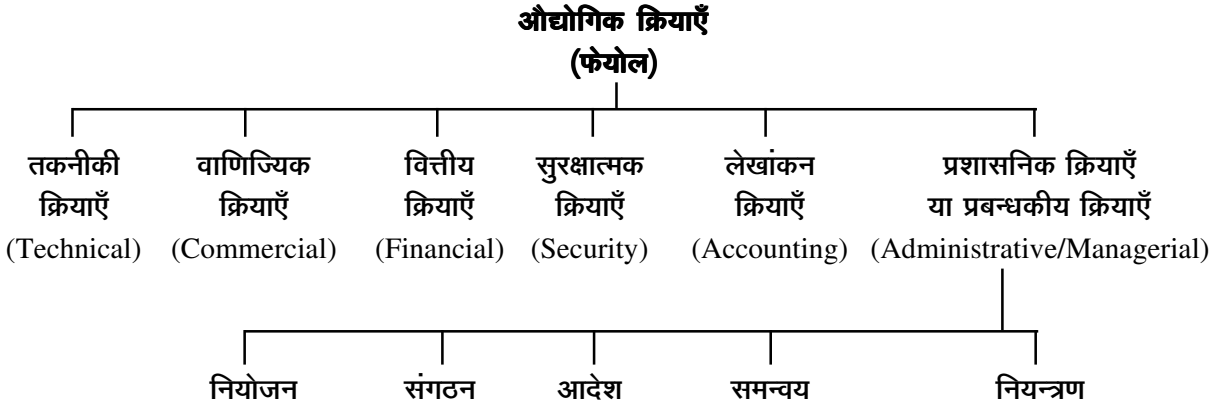

फेयोल द्वारा औद्योगिक क्रियाओं का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है, उसका संक्षेप में विवरण इस प्रकार है:

(i) **तकनीकी क्रियाएँ:** फेयोल प्रथम समूह की क्रियाओं को तकनीकी क्रियाएँ कहते हैं। तकनीकी क्रियाओं में उत्पादन, विनिर्माण तथा अनुकूलन सम्बन्धी क्रियाओं को शामिल किया गया है। इन तीनों की प्रक ति तकनीकी होती है और संस्था के लक्ष्य प्राप्त करने के लिए ये गतिविधियाँ आवश्यक होती हैं।

(ii) **वाणिज्यिक क्रियाएँ:** उद्योग के लिए वाणिज्यिक क्रियाएँ भी उतना ही महत्त्व रखती हैं जितनी कि अन्य क्रियाएँ। वाणिज्यिक क्रियाएँ। वाणिज्यिक क्रियाओं में क्रय (buying), विक्रय (selling), तथा विनिमय (exchange) सम्बन्धी को शामिल किया गया है। वाणिज्यिक क्रियाओं का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उत्पादन सम्बन्धी ज्ञान। बाजार की स्थिति, प्रतिस्पर्धा की प्रक ति, मूल्य विनियमन, दूरद ष्टिता आदि की जानकारी रखना औद्योगिक इकाई के लिए आवश्यक होता है।

(iii) **वित्तीय क्रियाएँ:** इनमें पूँजी की प्राप्ति और पूँजी का उपयुक्तम उपयोग सम्बन्धी क्रियाएँ शामिल की जा सकती हैं। पूँजी हर कार्य के लिए आवश्यक होती है। कोई भी औद्योगिक गतिविधि बिना पूँजी के संचालित नहीं की जा सकती। चाहे कच्चा माल खरीदना हो या फिर मशीन, चाहे कर्मचारियों के वेतन-भत्तों का भुगतान करना हो या उद्यम का विस्तार करना हो, बिना पूँजी के यह सब सम्भव नहीं है। अतः पूँजी की प्राप्ति तथा उसके अनुकूलतम उपयोग के लिए समुचित वित्तीय प्रबन्ध आवश्यक है। उद्यम की सफलता के लिए वित्तीय प्रबन्ध पर सर्वाधिक ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

(iv) **सुरक्षात्मक क्रियाएँ:** सुरक्षा उद्यम की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। सुरक्षात्कम क्रियाओं में व्यक्तियों और सम्पत्ति की सुरक्षा शामिल है। संगठन में कार्यरत व्यक्तियों को यदि अपनी सुरक्षा का पूर्ण विश्वास होता है तो ही वे संगठन में कुशलतापूर्वक कार्य कर पाने में सफल हो पाते हैं। असुरक्षापूर्ण वातावरण में कार्यकुशलता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। आवश्यक हो जाता है कि चोरी, आग, अतिव ष्टि तथा अन्य सामाजिक गड़बड़ियों जैसे-हड़ताल, तालाबन्दी, पत्थरबाजी आदि से व्यक्तियों तथा सम्पत्ति की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था आवश्यक है।

(v) **लेखांकन क्रियाएँ:** लेखांकन क्रियाओं में स्टॉक परीक्षण, सन्तुलन पत्र, लागतें, आँकड़ें आदि सम्बन्धी क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है। ये सभी लेखांकन सम्बन्धी क्रियाएँ संगठन के स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होती हैं। यदि उद्यम की वित्तीय स्थिति के सम्बन्ध में लेखांकन सम्बन्धी क्रियाओं के सम्पादन में किसी भी प्रकार की गड़बड़ी होती है तो यह संगठन के लिए नुकसानदायक रहता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि संगठन की लेखांकन गतिविधियों पर भी उतना ही ध्यान दिया जाए जितना कि तकनीकी, वाणिज्यिक, वित्तीय, सुरक्षात्मक और प्रशासनिक क्रियाओं पर दिया जाता है।

(vi) **प्रशासनिक क्रियाएँ/प्रबन्धकीय क्रियाएँ:** हेनरी फेयोल न प्रशासनिक क्रियाओं (या प्रबन्धकीय क्रियाओं) को औद्योगिक क्रियाओं के अन्तिम समूह में रखा है। यह क्रियाएँ प्रशासन के तत्त्व कहलाती हैं।

चित्र-1 : फेयोल की P.O.C.CO.C क्रियाएँ

फेयोल का मत था कि प्रबन्ध करने का आशय नियोजन (पूर्वानुमान) करना, संगठन बनाना, आदेश देना, समन्वय स्थापित करना और नियन्त्रण रखना है। फेयोल ने इन पाँचों गतिविधियों को ही प्रशासन या प्रबन्ध के तत्त्व कहा है। इन क्रियाओं का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है:

(i) नियोजन (Planning): फेयोल नियोजन तथा पूर्वानुमान को प्रशासन (प्रबन्ध) के प्रथम तत्त्व के रूप में पहचानते है। नियोजन का सर्वाधिक प्रभावी उपकरण "कार्य की योजना" (plan of action) है। कार्य की योजना बनाना प्रबन्ध का प्रथम कार्य है। कार्य किस प्रकार जाएगा, किन चरणों में किया जाएगा, किन विधियों को काम में लिया जाएगा आदि का उल्लेख कार्य-योजना में किया जाता है। कार्य की योजना बनाना इसलिए आवश्यक होता है क्योंकि इसी की सहायता से संसाधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव है तथा संगठन के लक्ष्य प्राप्ति में यह सहायक होती है। फेयोल ने एक अच्छी कार्य की येाजना की निम्न तत्त्व बताएँ हैं:

- एकता
- स्वत्तता
- लचीलापन
- संक्षिप्तता।

कार्य की अच्छी योजना लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होती है और अनावश्यक गतिविधियों से बचाव करती है।

(ii) संगठन (Organization): संगठन प्रबन्ध का दूसरा कार्य है। सरकारी अभिकरण या औद्यागिक इकाई को संगठित करने का अभिप्राय: होता है उसके संचालन के लिए कच्चे माल, उपकरण, पूँजी या वित्त, कर्मचारी आदि की व्यवस्था करना। संगठन में मानवीय तथा भौतिक पक्ष दोनों शामिल हैं। फेयोल संगठनात्मक चार्ट का भी सुझाव देते हैं। फेयोल ने उन कार्यो को गिनाया है जो हर संगठन को सम्पन्न करने होते हैं और जो प्रबन्धकीय प्रक ति के होते हैं:

- इस बात को सुनिश्चित करना कि योजना का निर्माण बुद्धिमानी से किया गया है और इसे ठीक से लागू किया जा रहा है।
- यह देखना कि मानवीय और भौतिक संगठन, संगठन के उद्देश्यों, संसाधनों और आवश्यकताओं के अनुरूप हों।
- एकल, समर्थ और ऊर्जावान मार्गदर्शक सत्ता की स्थापना करना।
- गतिविधियों में सामंजस्य लाना और प्रयासों में समन्वय की स्थापना करना।
- स्पष्ट, विशिष्ट और संक्षिप्त निर्णय लेना।
- कर्मचारियों के प्रभावी चयन और उचित पदस्थापन की व्यवस्था करना।
- कर्त्तव्यों को स्पष्टत: परिभाषित करना।
- पहलपन प्रदर्शित करने के लिए कर्मचारियों को अभिप्रेरित करना।

- सेवा करने के बदले में कर्मचारियों को बिना पक्षपात के पुरस्क त करना।
- अनियमित और अनैतिक व्यवहार को दण्डित करना।
- अनुशासन बनाए रखना।
- इस बात को सुनिश्चित करना कि व्यक्तिगत हित सामान्य हितों के अधीन रहें।
- आदेश की एकता पर विशेष ध्यान देना।
- मानवीय और भौतिक संगठनों का पर्यवेक्षण करना।
- समुचित नियन्त्रण लागू किया जाए।
- अति विनियमन, लालफीताशाही और कागजी कार्रवाई पर रोक लगाई जाए।

इस प्रकार संगठन अनेक प्रबन्धकीय कार्य सम्पन्न करता है। फेयोल महाप्रबन्धक को कार्यों में सहायता देने के लिए स्टाफ की नियुक्ति की भी सलाह देते हैं। साथ ही फेयोल ने जिन चौदह सिद्धान्तों का उल्लेख किया है उन्हें भी लागू करने का फेयोल आग्रह करते हैं।

(iii) **आदेश देना** (Command) : आदेश द्वारा संगठन में कार्यरत व्यक्तियों से अधिकतम उत्पादन लिया जा सकता है। संगठन के संचालन के लिए आदेश का होना अति आवश्यक है। फेयोल के मत में आदेश देने की कला व्यक्तिगत गुणों और सामान्य सिद्धान्तों के ज्ञान पर निर्भर करती है। आदेश का सिद्धान्त संगठन की संरचना से जुड़ा है। फेयोल ने सुझाया है कि संगठन में जो व्यक्ति आदेश देने की शक्ति का प्रयोग करते हैं उनके लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं:

* उसे अपने कर्मचारियों के बारे में पूरी जानकारी होनी चाहिए।
* उसे अक्षम कर्मचारियों को हटा देना चाहिए।
* कर्मचारियों को उससे जोड़ने वाली व्यवस्था की अच्छी जानकारी होनी चाहिए।
* उसे एक अच्छा उदाहरण पेश करना चाहिए।
* संगठन का समय-समय पर अंकेक्षण करना चाहिए तथा संक्षिप्त चार्ट बनाने चाहिए।
* उसे सम्मेलनों के माध्यम से अपने मुख्य सहायकों को नजदीक लाना चाहिए।
* उसे विस्त त विवरण में नहीं डूबना चाहिए।
* कार्मिकों के बीच एकता, ऊर्जा, पहल और विश्वास पैदा करने की लक्ष्य बनाना चाहिए।

(iv) **समन्वय** (Coordination): फेयोल समन्वय को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि समन्वय प्रबन्ध का वह कार्य है जिसके माध्यम से संस्थान की विभिन्न गतिविधियों में तालमेल बिठाया जाता है ताकि कार्य सुगमतापूर्वक होता रहे तथा कोई बाधा पैदा न हो। संगठन अनेक तरह के कार्य करता है। प्रत्येक इकाई द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों में दोहराव और मतभेदों में दोहराव और मतभेदों को दूर करने के लिए समन्वय की स्थापना आवश्यक हो जाती है। फेयोल का मत था कि जिन संगठनों में समन्वय का अभाव होता है वहाँ संगठन के विभिन्न विभाग एक-दूसरे के प्रति कोई जानकारी नहीं रखते हैं और उनके बीच सहयोग का अभाव पाया जाता है। फेयोल सम्मेलनों और सम्पर्क अधिकारियों के माध्यम से संगठन स्थापना का सुझाव देते हैं।

(v) **नियन्त्रण** (Control): फेयोल नियन्त्रण को भी प्रबन्ध का महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं। फेयोल कहते हैं–

" नियन्त्रण का अभिप्राय का सत्यापन करना है कि क्या उपक्रम की प्रत्येक क्रिया अपनाई गई योजनाओं, दिए गए आदेशों तथा स्थापित सिद्धान्त के अनुसार हो रही है या नहीं। इसका उद्देश्य दुर्बलताओं और गलतियों को मालूम करना है जिससे समय पन उन्हें सुधारा जा सके तथा उनकी पुनराव त्ति रोकी जा सके।" फेयोल का सुझाव था कि नियन्त्रण संस्था में उचित समय पर स्थापित किया जाना चाहिए तथा उसके लिए समुचित दण्ड की व्यवस्था भी होनी चाहिए। इस प्रकार नियन्त्रण के माध्यम से संस्था की कमजोरियों को दूर किया जा सकता है। फेयोल ने प्रभावशाली नियन्त्रण के लिए दो बातें आवश्यक बताई है।

प्रथम—यह उपयुक्त समय में किया जाना चाहिए तथा द्वितीय, यह पर्याप्त अनुज्ञाओं द्वारा किया जाना चाहिए।

फेयोल के अनुसार उपरोक्त वर्णित क्रियाओं को सम्पादित करने के लिए प्रशासकों में निम्नलिखित आवश्यक गुण होने चाहिए।

(A) शारीरिक गुण—स्वास्थ्य, मेहनत आदि।

(B) मानसिक गुण—समझने और सीखने की योग्यता, निर्णय लेना एवं अनुकूलता।

(C) नैतिक गुण—शक्ति, द ढ़ता, दायित्व स्वीकार करने की इच्छा, प्रेरणा, इज्जत, वफादारी आदि।

(D) शैक्षणिक गुण—कार्य सम्बन्धी ज्ञान के अतिरिक्त सामान्य ज्ञान की जानकारी।

(E) तकनीकी गुण—कार्य की जानकारी।

(F) अनुभव—उचित कार्य करने से प्राप्त।

फेयोल ने प्रबन्ध के सिद्धांतों का व्यवस्थित रूप से प्रशिक्षण प्रदान किये जाने पर जोर दिया। उनका मत था कि प्रत्येक उपक्रम के कर्मचारियों में तकनीकी, वाणिज्यिक, वित्तीय, सुरक्षा, लेखा व प्रबन्धकीय कार्यो को करने की योग्यता होना चाहिए। इन योग्यताओं को विकसित करने के लिए उन्होंने स्कूल, कॉलेज व व्यावसायिक संस्थानों में प्रबंध विषय को पढ़ाये जाने का सुझाव रखा था। स्वयं उनके शब्दों में—"प्रबधकीय योग्यता तकनीकी योग्यता की भाँति पहले स्कूल में व बाद में कार्यशाला में विकसित की जा सकती है व की जानी चाहिए।"

शैक्षिक संस्थाओं में प्रबंध का अध्याणन न होने का मुख्य कारण उन्होंने इसके व्यवस्थित सिद्धांतो का अभाव होना बताया है। प्रबंध के सर्वमान्य सिद्धांतों का अभाव होना बताया है। प्रबंध के सर्वमान्य सिद्धांतों के स्थापना के बिना इसका प्रशिक्षण दिया जाना संभव नहीं था। उद्योगों में विरोधी प्रबंधीय व्यवहार एवं व्यक्तिगत सिद्धांतीकरण की प्रथा प्रचलित थी। प्रबंध के सामान्य सिद्धांतों, विधियों, नियमों, कार्य पद्धतियों, मूलाधारों का पूर्णतः अभाव था। प्रबंध के क्षेत्र में प्रवेश करने वाला अन्त तक केवल नौसिखुआ ही रहा करता था। अतः फेयोल ने प्रबंध के व्यवस्थित सिद्धांतों का निर्माण किया। उन्होंने प्रबन्ध के सामान्य अध्यापन पर बल देते हुए सुझाव दिया था कि—"प्रबंध की प्राथमिक शिक्षा प्राथमिक स्कूलों में, कुछ व्यापक शिक्षा माध्यमिक स्कूलों व प्रबन्ध की पूर्णतः उच्च व गहन शिक्षा उच्चतर शैक्षणिक संस्थाओं में प्रदान की जानी चाहिए।"

प्रबन्ध तथा प्रशासन के सिद्धांत
(Principles of Management and Administration)

हेनरी फेयोल ने अपनी पुस्तक (General and Industrial Administration) में 1916 ई० प्रबंध के सामान्य सिद्धांतों की विस्त त रूप से व्याख्या की है। उनके अनुसार किसी भी औद्योगिक संस्थान का प्रबंध करने हेतु प्रबंधकों को कुछ सामान्य आधारभूत सिद्धांतों का ज्ञान होना आवश्यक है यह सिद्धांत लोचपूर्ण है जिनको किसी भी स्थिति में लागू किया जा सकता है। ये 14 सिद्धांत इस प्रकार हैं—

(1) **कार्य का विभाजन (Divison of Work):** फेयोल के अनुसार एक संगठन का सबसे अनिवार्य कार्य छः औद्योगिक क्रियाओं (तकनीकी, व्यापारिक, वित्तीय सुरक्षा, लेखाक्रम तथा प्रबंधकीय) को करने के कर्मचारियों को अपनी योग्यता का विकास करना चाहिए। इसके लिए ज्ञान का विशिष्टीकरण होना आवश्यक होता है। यह किसी भी प्रबंध में उत्पादन को बढ़ाता है। अर्थात विशिष्टीकरण एवं प्रमाणीकरण से अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु प्रत्येक उपक्रम या संस्थान में कार्य का निष्पादन श्रम विभाजन के सिद्धांत पर आधारित होना चाहिए। इसके उत्पादन के मानवीय एवं भौतिक साधनों की कार्यकुशलता में व ृद्धि की जा सकती है। और न्यून्तम लागत पर अधिकतम उत्पादन किया जा सकता है। फेयोल कहते हैं कि किसी भी संगठन में (छोटा हो या बड़ा) अपने कर्मचारियों का उनके विशिष्टीकरण तथा अनुभव के आधार पर ही कार्यों का विभाजन करना चाहिए।

(2) **अधिकार एवं उत्तरदायित्वः—** फेयोल के अनुसार अधिकार का अर्थ "आदेश देने तथा आज्ञा पालन करवाने का अधिकार" होता है। वे दो प्रकार के अधिकार (Authority) का वर्णन करते हैं। (1) कार्यालयिक अधिकार (offical authority); (2) व्यक्तिगत अधिकार (offical authority).

(1) कार्यालयिक अधिकार (offical authority):— यह किसी व्यक्ति को कानूनी रूप से प्रदान किया जाता है।

(2) व्यक्तिगत अधिकार (offical authority):— यह व्यक्ति अपने व्यक्तित्व, बुद्धिमत्ता, अनुभव तथा नैतिक बल द्वारा प्राप्त करता है।

फेयोल के अनुसार प्रबन्ध में अधिकार एवं उत्तरदायित्व में घनिष्ठ संबंध है। ये एक दूसरे के साथ काम में आते हैं। बिना अधिकार के उत्तदायित्व और बिना दायित्व के अधिकार व्यर्थ है। इसलिए फेयोल ने इन दोनों में समानता लाने पर जोर दिया है। क्योंकि ये एक कार्य के दो पहलू हैं जिनका उपयोग प्रत्येक व्यावसायिक क्रिया में किया जाता है। किसी भी व्यक्ति को कार्य करने का उत्तदायित्व सौंपने के साथ-साथ उसे अधिकार भी दिए जाने चाहिए। ये दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। अधिकारों के अंतर्गत कई संयोजन सम्मिलित किए जाते हैं। इनमें प्रबन्धक मंडल को प्राप्त अधिकार तथा उसके व्यक्तिगत गुणों अर्थात उसका पद व्यक्तित्व, बुद्धिमत्ता, अनुभव, नैतिक बल तथा पिछली सेवाओं का समावेश ही उसके अधिकार क्षेत्र को इंगित करता है।

(3) अनुशासन :— फेयोल के अनुसार अनुशासन का अभिप्राय समझौतों के प्रति आस्था प्रकट करना है जिससे आज्ञाओं का पालन किया जा सके और व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कार्य कर सके। किसी भी संस्थान में अनुशासन उसके प्रबंधक के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। एक अच्छे अनुशासन हेतु एक सफल नेत त्व की आवश्यकता है। इसमें तीन बातों का होना आवश्यक है—

(1) सभी स्तरों पर अच्छे एवं सुनियोजित पर्यवेक्षण (supervision) का होना।

(2) समझौते स्पष्ट एवं उचित होने चाहिए।

(3) दण्ड-विधान को द ढ़तापूर्वक एवं विवेक के साथ लागू करने का प्रावधान होना चाहिए।

(4) आदेश की एकता (Unity of Command):— इस सिद्धांत के अनुसार एक कर्मचारी के आदेश देने वाला एक ही अधिकारी होना चाहिए जिसके असुविधा एवं अनुशासन भंग की स्थिति उत्पन्न नहीं हो। यही आदेश देने वाले अधिकारी एक से अधिक होंगे तो कर्मचारी के समक्ष भ्रमपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। यदि आदेश देने वाला व्यक्ति एक ही होगा तो कर्मचारी अपने दायित्व को भली प्रकार निभा सकेगा।

(5) निर्देश की एकरूपता (Unity of Direction):— इसके अनुसार प्रत्येक एक समान उद्देश्य वाली क्रियाओं के समूह ही एक ही योजना हो तथा उसका अधिकारी भी एक ही हो। इस अधिकारी द्वारा दिए जाने वाले निर्देश में एकरूपता का होना आवश्यक है जिससे क्रियाओं एवं प्रयासों में समन्वय आसानी से किया जा सके और किसी प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न न हो। फेयोल ने आदेशों की एकता तथा निर्देशों की एकरूपता का अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आदेशों की एकता का संबंध केवल विभिन्न स्तरों पर कार्यरत कर्मचारियों से है जबकि निर्देशों की एकरूपता समूचे निगम-शरीर (Corporatebody) से संबंधित है। अतः जिस प्रकार शरीर पर एक सिर से अधिक होना राक्षस की निशानी है, उसी प्रकार निगम रूपी शरीर पर भी एक ही सिर होना उचित होगा।

(6) व्यक्तिगत हित की तुलना में सामान्य हित को महत्त्व (Subordination of individual interest to General interest):— फेयोल के अनुसार, प्रबन्ध के लक्ष्य पर व्यक्तिगत हित का प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति को कर्मचारी हो या प्रबन्धक, अपना व्यक्तिगत संगठन के लक्ष्य के हित में ही मिला देना चाहिए क्योंकि संगठन ही सब कुछ होता है। किसी भी संस्थान में व्यक्तिगत हितों एवं सामान्य हितों में संघर्ष नहीं होना चाहिए। यह सर्वोच्च प्रशासकों एवं प्रबन्धकों का दायित्व है कि वे व्यक्तिगत हितों को त्यागकर संस्थान के सामान्य हितो की ओर सभी कर्मचारियों का ध्यान आकर्षित करें। व्यक्तिगत हितों एवं सामान्य हितों में समन्वय करके संघर्ष की स्थिति को उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। यह तभी संभव हो सकता है जबकि उच्च अधिकारी अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करें। जहां तक संभव हो उचित समझौते हों एवं निरंतर रूप से पर्यवेक्षण कार्य होता रहे। आलस्य, महत्त्वकांक्षा, कमजोरी एवं अन्य तत्त्व सामान्य हितों के महत्त्व को कम कर देते हैं।

(7) कर्मचारियों का पारिश्रमिक (Remuneration of personnel):—फेयोल के अनुसार, संगठन में पारिश्रमिक तथा क्षतिपूर्ति नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि उससे कर्मचारी तथा नियोक्ता (employer) दोनों संतुष्ट रहें। यह सिद्धांत टेलर के वैज्ञानिक प्रबंध के एक आधारीय सिद्धांत i.e. (कर्मचारियां को उत्पोषण (motivation) आर्थिक प्रेरणा (money incentive)

पर भी निर्भर **है,)** जैसा प्रतीत होता है। पारिश्रमिक का तात्पर्य सेवाओं के बदले दिया जाने वाला प्रतिफल है। फेयोल के अनुसार, इसकी मात्रा इतनी होनी चाहिए जो कर्मचारी तथा संस्था दोनों के प्रति न्यायसंगत हो।

(8) केन्द्रीकरण (Centralisation) :– यह सिद्धांत निर्देशन एवं नियंत्रण के ऐसे केन्द्रीयकरण पर बल देता है जिससे पूर्ण संगठन गतिशील रह सके अर्थात् यह संस्था के उच्च अधिकारियों के साथ-साथ संस्था के समस्त कर्मचारियों से संबंध रखता है। हेनरी फेयोल ने केन्द्रीयकरण के सिद्धांत पर जोर देते हुए कहा है कि किसी भी संस्थान में अधिकारों का किसी सीमा तक विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) किया जाए, अलग-अलग संस्थानों की प्रक ति एवं आकार पर निर्भर करते हैं। एक बड़े उद्योग में अधिकारों का केन्द्रीयकरण अधिक नहीं होगा बल्कि वहां उच्चस्तरीय प्रबन्ध से मध्यम व निम्नस्तरीय प्रबन्धकों तक अधिकारों का विकेन्द्रीकरण होगा। इसके विपरीत एक छोटे उपक्रम में अधिकार-सत्ता का केन्द्रीयकरण बड़े पैमाने पर मिलेगा।

(9) स्केलर श्रंखला (Scalar chain):– यह सिद्धांत पदसोपान पर (Hierarchy) आधारित है। इसके अनुसार संगठन में उच्च से निम्न अधिकारियों तथा सत्ता की एक श्रंखला होती है जिसके द्वारा आदेश, सुझाव आदि प्रेषित किये जाते हैं तथा निम्न स्तर से उनकी प्रतिक्रिया जानी जाती है। इस श्रंखला का पालन संचार वाहन में किया जाना चाहिए किंतु यदि विलम्ब की संभावना हो तो प्रत्येक अधिकारी अपने उच्च अधिकारी की अनुमति द्वारा अन्य अधिकारी से संपर्क स्थापित कर सकता है।

(10) व्यवस्था (Order):– यह वस्तुओं और व्यक्तियों के संगठन के सिद्धांत पर आधारित है। यह सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि प्रत्येक वस्तु एवं व्यक्ति के लिए एक उचित स्थान होता है और प्रत्येक स्थान के लिए एक उचित वस्तु एवं एक उपयुक्त व्यक्ति। अतः व्यक्तियों एवं वस्तुओं को उचित स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। प्रबन्ध में निम्न लागत पर अधिकतम उत्पादन करने हेतु उचित वस्तु व व्यक्ति का होना आवश्यक है। इसके लिए प्रबन्धकीय क्रियाओं के दो पहलू अच्छा संगठन एवं अच्छा चयन का होना परमावश्यक है। आदेश समय तथा साधन की बर्बादी को कम करता है।

(11) समता (Equity):– इसके लिए दया एवं न्याय का होना आवश्यक है। किसी भी संस्थान के प्रबन्धकों को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ दया एवं न्याय के साथ व्यवहार करना चाहिए। जिससे कर्मचारी आदर दे सकेंगे तथा आज्ञाकारिता एवं स्वामिभक्ति की भावना उत्पन्न हो सकेगी। प्रबंध के सभी स्तरों पर समता के सिद्धांत को लागू करना चाहिए। इसके लागू करने हेतु अच्छा विवेक, अनुभव एवं अच्छा होना आवश्यक है।

(12) कर्मचारियों के पदों की स्थिरता (Stability of tenure of personnel) :– इस सिद्धांत के अनुसार कर्मचारियों को कार्य की सुरक्षा तथा पद की स्थिरता प्रदान की जानी चाहिए। यह आवश्यक होता है क्योंकि कर्मचारियों के प्रशिक्षण में समय और लागत का खर्च होता है। पदों में बार-बार परिवर्तन करने पर उद्योग के कार्य में बाधा उत्पन्न होगी और ऐसा एक अकुशल प्रबन्ध की निशानी है। इससे संस्थान को नुकसान होता है। पदों की अस्थिरता कर्मचारियों के मनोबल को कम तथा अनुभव को तथा संगठन की नीति की प्रवाहता (continuity) को खत्म करता है।

(13) प्रेरणा (Initiative) :– इसके अंतर्गत किसी योजना पर विचार करने एवं उसके क्रियान्वयन का कार्य आता है। यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधरित है कि प्रत्येक व्यक्ति में सोचने विचारने की शक्ति होती है। किसी भी योजना को तैयार करने एवं उनको लागू करने में कर्मचारियों को छूट होनी चाहिए। इससे कर्मचारियों में उत्साह एवं शक्ति में व द्धि होती है। अतः फेयोल के अनुसार, प्रबन्धकों को चाहिए कि वे कर्मचारियों में प्रेरणा की भावना उत्पन्न करने का कार्य करें।

(14) सहयोग की भावना (Esprit decorps):– यह संगठन की शक्ति है। यह (Union is Strength) के सिद्धांत पर आधारित है। यह एकता उत्पन्न करता है। प्रबन्धकों को अपने अधीनस्थ से सहयोग प्राप्त करना चाहिए। और सभी को एक साथ लेकर एक टीम के रूप में कार्य करना चाहिए। सहयोग की भावना उत्पन्न करने हेतु सन्देशवाहन के महत्त्व पर जोर दिया गया है। यदि श्रमिकों में एकता नहीं है तो यह संस्थान के हितों के लिए घातक सिद्ध होता है। पूर्ण सहयोग की प्राप्ति हेतु एक ओर आदेशों में एकरूपता रखनी होगी, तथा दूसरी और 'फूट डालों और शासन करो' (Divide the Rule) वाली ताकतों को समाप्त करना होगा। इसके लिए प्रभावपूर्ण ढंग से संदेशवाहन का उपयोग करना होगा, जिससे कि तुरंत किसी भी प्रकार के संदेह को दूर किया जा सके।

आलोचना (Criticism)

प्रशासन एवं प्रबन्ध के क्षेत्र में फेयोल के योगदान की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है–

(1) इसने प्रशासन एवं प्रबंध के सरंचनात्मक पहलुओं के बारे में किसी भी प्रकार के विचार प्रस्तुत नहीं किये हैं।

(2) उन्होंने प्रशासन एवं प्रबंध के जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है वह मुख्यतः माइनिंग कंपनी पर आधारित है। अतः ये सिद्धांत सभी प्रकार के संगठनों में लागू नहीं किए जा सकते हैं।

(3) उनके द्वारा प्रतिपादित प्रशासन में स्केलर श्रंखला के सिद्धांत समुचित नहीं हैं क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक प्रस्ताव और आदेश को आने-जाने में अनेक सीढ़ियों से गुजरना पड़ता है। इसमें कई दिन, सप्ताह अथवा महीनों लग सकते हैं।

(4) फेयोल के आदेश की एकता का सिद्धांत प्रशासन में सही रूप से लागू नहीं हो सकता है क्योंकि किसी भी संगठन में एक तकनीकी अधिकारी को अपने तकनीकी बॉस और प्रबंध संचालक दोनों के आदेशों को मानना पड़ता है।

नॉरमन कथबर्त (Norman Cuthbert) ने फेयोल की प्रबंधीय विचारधारा में निम्न कमियों को बताया हैः–

(1) फेयोल के सिद्धांतों, तत्त्वों एवं कार्यों में कई जगह दोहराव पाया गया है।

(2) उन्होंने ढांचे एवं प्रक्रियाओं में स्पष्ट भेद नहीं किया है।

(3) उनके द्वारा प्रयुक्त परिभाषाओं में बहुत से शब्दों में अस्पष्टता एवं सही ज्ञान की झलक मिलती है।

(4) शैक्षणिक संस्थाओं ने प्रबन्ध की शिक्षा का महत्त्वपूर्ण सुझाव उन्होंने दिया था, किंतु प्रबंध शिक्षा की सीमाओं के बारे में विस्त त एवं स्पष्ट रूप से उन्होंने कुछ नहीं कहा है।

(5) वरिष्ठ प्रबन्धकों एवं प्रशासकों को फेयोल ने एक "बौद्धिक विशिष्ट वर्ग" माना है, किंतु इस विचार को सार्वभौमिक रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

(6) उन्होंने प्रबन्ध के सिद्धांतों पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है।

निष्कर्ष (Conclusion)

फेयोल द्वारा दिया गया उपर्युक्त प्रशासन एवं प्रबंध संबंधी योगदान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। फेयोल ने प्रशासकीय कार्य को एक विशेष प्रक ति का कार्य माना एवं इसके लिए विशेष कौशल की आवश्यकता पर बल दिया है। उन्होंने प्रबंधकों एवं प्रशासकों के मार्गदर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का वर्णन किया। ये सिद्धांत प्रशासन एवं प्रबंध के क्षेत्र में सार्वभौमिक रूप से उपयोगी रहे है। **Harwood F. Meritt** के शब्दों में "फेयोल के ये सिद्धांत समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं।" प्रशासन एवं प्रबंध के सिद्धांतों के क्रियान्वयन के संदर्भ में फेयोल ने कहा है–"There is nothing.....absolute in management affairs, seldom do we have to apply the same principle twice as in identical conditions, allowance must be made for different changing circumstances."

नॉरमन कथवर्ट ने प्रबन्ध के क्षेत्र में फेयोल के महान योगदान को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "प्रबन्ध के महत्त्व की उद्घोषणा करने में फेयोल अपने समय से एक पीढ़ी आगे थे और उन्होंने कई ऐसे विचारों का प्रतिपादन किया जिनका श्रेय उनके अनुयायियों को दिया जाता है। संगठन चार्ट, कार्य विशिष्टीकरण, प्रबन्ध शिक्षा व प्रशिक्षण आदि की विचारधारा के लिए फेयोल को श्रेय दिये जाने के बावजूद भी उनके कार्यों का ठीक से आकलन नहीं किया गया है।" कार्य पर मानवीय संबंधों के बारे में उन विचारों के औद्योगिक मनोविज्ञान के आधार भूत निष्कर्षो का पूर्वानुमान कर लिया था। फ्रांस की "कमिजरियेट टू योजना", (Commissariat Du Plan) जिसने फ्रांसीसी अर्थव्यवस्था के आधुनिक विस्तार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, के विकास के पीछे फेयोल का प्रत्येक स्तर पर 'लोचपूर्ण नियोजन' का विचार ही था। "**क्लाड एस. जार्ज** के शब्दों में "वह अनुभव वाला व्यक्ति था, जिसने उनकी भाषा, बोली, उनकी समस्याओं को पहचाना तथा अपने विचारों को एक शुद्धवाद (a neat theory) के रूप में प्रस्तुत किया।" **प्रौफेसर एलबर्ट लेपास्की** (Albert Lapawasky) ने फेयोल के योगदान का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि–"बीसवीं शताब्दी को हेनरी फेयोल की भाँति योग्य व्यवसायियों एवं प्रशासन के उत्साही छात्र का एक संतुलित संयोजन प्रस्तुत करना शेष है।" श्री **पी.एस. पाघ** (**P.S. Paugh**) ने फेयोल के बारे में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त

किये हैं कि "प्रबन्ध के क्षेत्र में फेयोल का गौरवपूर्ण स्थान उतना उनके सिद्धांतों के कारण नहीं है, यद्यपि वे अभी भी शाश्वत हैं, जितना कि उनकी परिभाषा के कारण कि प्रबन्ध क्या है। प्रबन्धकीय क्रियाओं के सिद्धांतिक विश्लेषण के वे सबसे प्रारभिक प्रतिपादक रहे है। एक ऐसा विश्लेषण जिसने आधी शताब्दी तक विचारकों के महत्त्वपूर्ण वाद-विवाद का सामना किया है।" **एल उरविक** (L. Urwick) ने फेयोल के कार्यो एवं योगदान का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि—"फेयोल ने अपने जीवन को चार रूपों में अंगीकार किया। इनमें से प्रत्येक में पूर्व—अग्रगम्य (Preeminent) थे। तकनीकी व्यक्ति के रूप में उन्होंने खनन अभियांत्रिकी में अपने योगदान के लिए राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त की। भूगर्भशास्त्री के रूप में कोयले का रूप धारण करने वाली परतों (Strata) के निर्माण के संबंध में एक पूर्णतः नये सिद्धांत का प्रतिपादन किया। एक औद्योगिक अगुआ के रूप में उनकी सफलता अपूर्व थी। एक प्रशासनिक, दार्शनिक एवं राजनेता के रूप में उन्होंने अपने एवं यूरोपीय देशों में एक अविस्मरणीय छाप छोड़ी जो अमेरिका में टेलर द्वारा छोड़ी गयी छाप से कम नहीं थी।"

इस प्रकार फेयोल ने प्रबंध एवं प्रशासन विषय का एक व्यावहारिक व्यवसाय की भाँति अध्ययन कर सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था। उनका अवलोकन, विश्लेषण, चिंतन एवं सिद्धांत आज भी प्रबंधीय विकास के लिए एक आधारभूमि सिद्ध हो रहा है।

शास्त्रीय उपागम में लूथर गुलिक का योगदान

हेनरी फेयोल की भाँति लूथर गुलिक यांत्रिक या प्रशासनिक विचारधारा के प्रबल समर्थक रहे हैं। प्रो० माहेश्वरी के अनुसार "संगठनों के प्रबन्ध की 'शास्त्रीय विचारधारा' को सर्वश्रेष्ठ तरीके से लोकप्रिय करने वाले और उसे व्यवस्थित करने वाले लूथर गुलिक और लिंडल उरविक है जिनके कार्य इस विषय का परिचय कराते है।" लूथर गुलिक ने (मुख्यतः लिंडल उरविक के साथ) भी अन्य प्रमुख विचारकों जैसे कि टेलर, फेयोल, मैक्स वेबर, मूने व रैले इत्यादि की तरह लोक प्रशासन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए जिसे एक महत्त्वपूर्ण क ति माना जाता है।

लूथर गुलिक का जन्म 1892 ई० में ओसाका, जापान में हुआ था। अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने कोम्बिया विश्वविद्यालय से 1920 ई० में Ph.D. की उपाधि प्राप्त की। आपने 1939 में डी०लिट० भी किया। आप 40 वर्षों तक न्यूयार्क में सिटी रिसर्च इन्स्टीट्यूट में कार्य करते रहे। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान आपने राष्ट्रीय रक्षा परिषद् में भी कार्य किया। 1954 से 1962 ई० तक न्यूयार्क नगर के एक प्रशासक के रूप में भी आपने कार्य किया। 1960 से 1962 ई० तक आप ने इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन न्यूयार्क के अध्यक्ष के रूप में कार्य किया। आपने राष्ट्रपति द्वारा निर्मित प्रशासकीय प्रबन्ध की समिति में भी एक सदस्य के रूप में कार्य किया।

लूथर गुलिक को न केवल सामान्य प्रशासन का ज्ञान प्राप्त था बल्कि सैनिक तथा औद्यागिक प्रशासन के कार्यों का भी अनुभव था। इसीलिए आपने विभिन्न संगठनों के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। आपने लाइन तथा स्टाफ सिद्धांतों का निर्माण सैनिक संगठनों से प्राप्त अनुभव के आधार पर ही किया था। आपके द्वारा प्रशासन तथा प्रबंध पर अनेक पुस्तकें तथा लेख प्रकाशित हुए जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(i) Administrative Reflections from World War II
(ii) Metropolitan Problems and American Ideas
(iii) Modern Management for the City of New York
(iv) Papers on the Science of Administration.

संगठन के सिद्धान्त

गुलिक का सम्बन्ध औपचारिक संगठन विचारधारा से है। वे शास्त्रीय विचारक माने जाते हैं। गुलिक का विश्वास था कि संगठन के कुछ सामान्य सिद्धान्त होते हैं और इन सिद्धान्तों को लागू करके संगठन की प्रभावशीलता में व द्धि की जा सकती है। शास्त्रीय विचारकों का मुख्य ध्यान 'मितव्ययता' और 'दक्षता' पर था। उनका मत है कि प्रशासन सिद्धान्तों का पालन करके अधिकतम मितव्ययता और दक्षता प्राप्त की जा सकती है। लूथर गुलिक हेनरी फेयोल द्वारा प्रतिपादित प्रशासन के चौदह सिद्धान्तों से काफी प्रभावित थे। गुलिक ने संगठन के निम्न दस सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है:

(1) **कार्य का विभाजन या विशेषीकरण:** संगठन के दस सिद्धान्तों में गुलिक कार्य के विभाजन या विशेषीकरण के सिद्धान्त को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। उनका मत है कि कार्य का विभाजन केवल संगठन का आधार ही नहीं बल्कि कारण है। अन्य शास्त्रीय विचारक भी कार्य विभाजन को संगठन का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त मानते हैं। कार्य के विभाजन का आशय यह है कि कार्य को सर्वप्रथम छोटे-छोटे भागों में बाँटा जाए और प्रत्येक भाग का कार्य विशिष्ट व्यक्ति ही करे। कार्य का विभाजन कर दिए जाने से न केवल कार्य को करना आसान होगा अपितु विशेषीकरण का लाभ भी उठाया जा सकेगा क्योंकि एक-सा कार्य करते रहने से कर्मचारी उस कार्य में विशेष दक्षता हासिल कर लेता है।

(2) **विभागीय संगठनों के आधार:** गुलिक संगठन का दूसरा सिद्धान्त विभागीय संगठनों के आधार के रूप में पहचानते हैं। गुलिक ने इस पर काफी कुछ लिखा। आपने विभागीयकरण के चार आधारों की विवेचना की है जिनका विस्तार से वर्णन अगले भाग में दिया जाएगा। संक्षेप में ये आधार हैं:

* पर्पज़ या प्रयोजन,
* प्रोसेस या प्रक्रिया,
* पर्सन या व्यक्ति, तथा
* प्लेस या स्थान।

गुलिक का विभागीयकरण का यह सिद्धान्त "चार-पी" (Four 'P') सिद्धान्त के नाम से अधिक लोकप्रिय है।

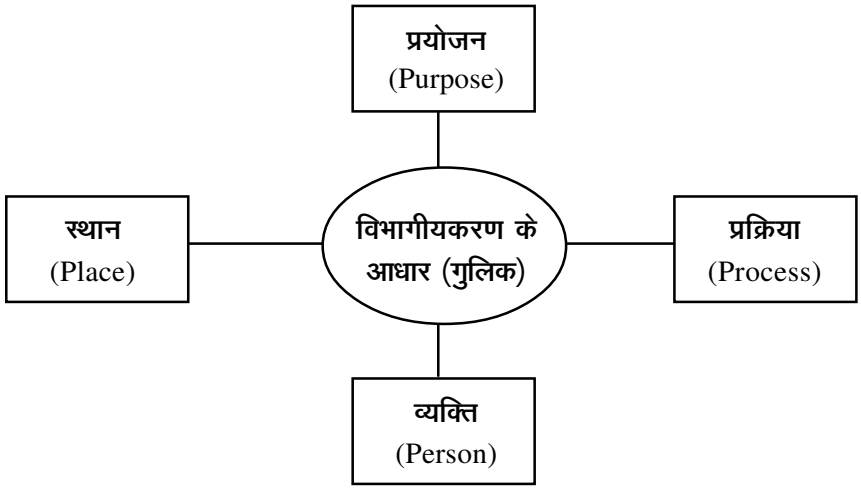

चित्र-2 : गुलिक के विभागीयकरण के आधार

गुलिक ने विभागीयकरण के प्रत्येक आधार की विस्तार से चर्चा की है और उनके गुणों व नुकसानों को भी गिनाया है।

"प्रयोजन या पर्पज़" गुलिक के अनुसार विभागीयकरण का प्रथम आधारा है। यहाँ संगठन को सर्वप्रथम अपने मुख्य कार्यो और लक्ष्यों की पहचान करनी होती है और फिर प्रत्येक कार्य के लिए प थक् विभाग की स्थापना की जाती है। प्रयोजन के आधार पर विभागों का गठन सामान्य बात है। जैसे चिकित्सा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए चिकित्सालय, शिक्षा के लिए स्कूल और कॉलेज आदि होते हैं। इस प्रकार जब प्रयोजन या उद्देश्य के आधार पर विभाग का गठन किया जाता है तो गुलिक के मत में समन्वय की स्थापना आसानी से और कम खर्च पर हो जाती है। वे इसके कुछ नुकसान भी गिनाते हैं। जैसे—विशेषीकरण के विरुद्ध अधिक हैं।

"प्रोसेस या प्रक्रिया" विभागीयकरण का दूसरा आधार है। इस आधार पर एक समान प्रक्रिया का अनुसरण करने वाले व्यक्ति एक ही विभाग के अधीन रखे जाते हैं चाहे उनके प्रयोजन भिन्न-भिन्न क्यों न हों। यहाँ प्रक्रिया से तात्पर्य कार्य करने के तकनीकी कौशल से है। इस आधार पर लाभ यह है कि इसमें विशेषीकरण का लाभ लिया जा सकता है। परन्तु इसका एक प्रमुख दोष यह है कि इससे समन्वय स्थापना की प्रक्रिया में बाधा आती है।

"पर्सन या व्यक्ति" विभागीयकरण का तीसरा आधार है। इसका आशय यह है कि एक विशिष्ट विभाग व्यक्तियों के एक विशिष्ट समूह की सेवा करेगा। इस प्रकार एक ही समूह की सेवा करने तथा देखभाल करने से कार्यों में विशेषीकरण बढ़ता है और सेवा किए जाने वाले समूह को सुविधाएँ आसानी से मिल जाती हैं। परन्तु इसका नुकसान यह है कि चूँकि लोगों के समूह भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं अतः सभी के लिए अलग-अलग विभागों की स्थापना करना महँगा कार्य होगा।

"प्लेस या स्थान" को गुलिक विभागीकरण का अन्तिम आधार बताते हैं। इसमें एक क्षेत्र-विशेष में किए जा रहे सभी कार्यो को जोड़ दिया जाता है और उनका एक विभाग बना दिया जाता है। इस प्रकार बनाए गए विभागों से उस क्षेत्र विशेष का विकास सम्भव हो जाता है जिसके लिए कि विभाग की स्थापना की गई है। पर यह आधार क्षेत्रीयता और संकीर्णता को बढ़ावा दे सकता है।

(3) **पदसोपना द्वारा समन्वयः** समन्वय संगठन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में से एक है। गुलिक भी समन्वय स्थापना के कई तरीके बताते हैं जिनमें से एक है पदसोपान द्वारा समन्वय। पदसोपान संगठन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है और यह संगठन में समन्वय स्थापना में सहायक होता है।

(4) **सचेत समन्वयः** गुलिक संगठन में जान-बूझकर, सचेत प्रक्रिया द्वारा समन्वय स्थापना को संगठन का चौथा सिद्धान्त बताते हैं। वस्तुतः समन्वय स्थापना के लिए सचेत प्रयास किए जाने आवश्यक हैं।

(5) **समितियों द्वारा समन्वयः** समितियों के माध्यम से समन्वय स्थापना को गुलिक संगठन का पाँचवाँ सिद्धान्त बताते हैं। समन्वय की स्थापना के लिए समितियों का गठन भी किया जा सकता है। इनके माध्यम से औपचारिक व प्रभावी समन्वय की स्थापना की जा सकती है।

(6) **विकेन्द्रीकरणः** विकेन्द्रीकरण से आशय है प्रशासनिक सत्ता का एक स्थान पर केन्द्रित न होकर संगठन के विभिन्न स्तरों पर निहित होना। विकेन्द्रीकरण को गुलिक संगठन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त मानते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध कार्य-विभाजन से होता है।

(7) **आदेश की एकताः** आदेश की एकता या एकिक आदेश सिद्धान्त से आशय है कि प्रशासनिक संगठन में किसी कर्मचारी को अपने तुरन्त उच्च अधिकारी से ही आदेश ग्रहण करने चाहिए और केवल उसी के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। यह सिद्धान्त 'एक स्वामी एक अधीनस्थ' के विचार पर जोर देता है।

(8) **स्टाफ एवं सूत्रः** गुलिक स्टाफ एवं सूत्र को संगठन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बताते हैं। स्टाफ परामर्शदात्री कार्य सम्पन्न करता है और सुत्र नीति बनाता है, निर्णय लेता है और उन्हें क्रियान्वित करता है।

(9) **प्रत्यायोजनः** इसका आशय है सत्ता सहित कार्यो का हस्तान्तरण। जब अधिकारी के पास कार्य भार बढ़ जाता है या कार्य का तकनीकी पक्ष जटिल हो जाता है तो वह सत्ता सहित कार्यो को हस्तान्तरित करता है। उसे ही प्रत्यायोजन कहा जाता है।

(10) **नियन्त्रण का क्षेत्रः** गुलिक नियन्त्रण के क्षेत्र को संगठन का अन्तिम सिद्धान्त बताते हैं। इसका आशय यह होता है कि एक प्रशासनिक संगठन में एक उच्चाधिकारी अपने अधीन कितने कर्मचारियों के कार्यो का प्रभावशाली रूप से नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण कर सकता है। यह अवधारणा बी.ए. ग्रेक्यूनास के 'ध्यान के विस्तार क्षेत्र' के सिद्धान्त से सम्बन्धित है।[3]

इस प्रकार अन्य शास्त्रीय विचारकों की तरह गुलिक भी संगठन के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए उन्हें संगठन में लागू करने का आग्रह करते हैं।

आलोचना (Criticism)

गुलिक द्वारा प्रतिपादित संगठन के सिद्धांतों की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है–

(1) **विभागीय संगठन के आधार में पूर्णता का अभाव** (Lack of completeness in the basis of departmental organisation)**:** विभागीय संगठन के चारों आधारों में से कोई भी आधार ऐसा नहीं है जिसको निष्पक्ष होकर विभागीय संगठन का एक मात्र आधार मान लिया जाए। वास्तव में प्रत्येक आधार गुणों और दोषों से युक्त है। यदि उद्देश्य को समाने रखकर विभागीय संगठन किया जाये तो इसके बहुत बड़े होने का दोष लगाया जा सकता है। यदि प्रक्रिया पर संगठन आधारित किया जाय तो उद्देश्य

फीके पड़ जाएँगे। यदि संगठन का आधार सेवी वर्ग को बनाया जाय तो दबाव समूह संगठन पर हावी हो जाएँगे और क्षेत्र के आधार पर संगठन बनाया जाए तो क्षेत्रीयता की प्रव त्ति बढ़ सकती है। अतः कोई भी आधार अपने आप में पूर्ण नहीं है।

(2) **पदसोपान में दोष** (Defects of Hieraschy)**:** पदसोपान की प्रक्रिया के फलस्वरूप संगठन के कार्यों में काफी विलम्ब हो जाता है। लालफीताशाही तथा नौकरशाही का बोलबाला हो जाता है। सभी कार्य औपचारिक संबंधों पर ही आधारित हो जाता है।

(3) **अनुपयुक्त आदेश की एकता** (Unsuitable principle of unity of command)**:** संगठन में इस सिद्धांत का प्रयोग सार्वभौम रूप से नहीं हो पाता है। उदाहरण के तौर पर तकनीकी कर्मचारियों के समक्ष समस्या खड़ी हो जाती है कि वे अपने क्षेत्र के सामान्य अधिकारी की आज्ञा का पालन करें अथवा अपने तकनीकी उच्च अधिकारी का।

(4) **मानवीय तत्त्वों का अभाव** (Lack of human elements)**:** संगठन की प्रक्रिया पर मानवीय तत्त्वों का काफी प्रभाव पड़ता है। मानवीय व्यवहार, आचरण, व्यक्तित्व, बुद्धि आदि संगठन की प्रक्रिया पर प्रभाव डालते हैं। अतः गुलिक ने इन तत्त्वों का समावेश अपने सिद्धांतों में नहीं किया है।

प्रशासन का कार्यक्षेत्र या कार्यपालिका के कार्य

परिवर्तन के इस युग में लोकप्रशासन जैसे गतिशील विषय का क्षेत्र निश्चित करना बहुत कठिन है। लोक प्रशासन के क्षेत्र के बारे में विचारकों में बड़ा मतभेद है। मूलतः मतभेद इन प्रश्नों को लेकर है कि क्या लोक प्रशासन शासकीय काम-काज का केवल प्रबंधकारी अंश है अथवा सरकार के समस्त अंगों का समग्र अध्ययन है? क्या लोक प्रशासन सरकारी विधियों का क्रियावन्यन है अथवा वह नीति निर्धारण में भी प्रभावी भूमिका अदा करता है?

लोक प्रशासन के क्षेत्र के विषय में लूथर गुलिक का मत है कि लोक प्रशासन में सामान्य कार्यों के अतिरिक्त प्रशासन की कार्यपालिका की क्रियाओं का भी समावेश होता है।

लूथर गुलिक का मत है " प्रशासन का संबंध कार्य पूरा किये जाने और निर्धारित उद्देश्यों की परिपूर्ति से है।" (Administration has to do with getting things done, with the accomplishment of defined objectives).

लोक प्रशासन की परिभाषा देते हुए लूथर गुलिक ने कहा है – "लोक प्रशासन के विज्ञान का वह भाग है जो सरकार से संबंधित है और इसलिए उसका संबंध कार्यपालिका से है, जहाँ कि सरकार का काम मुख्य रूप से होता है, यद्यपि उसको स्पष्ट रूप से उन प्रशासकीय समस्याओं पर भी ध्यान देना होता है जो व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका के क्षेत्र में आती है–

(Public Administration is that part of the science of Administration which has to do with government and thus concerns itself, primarily with the executive branch, where the work of the government is done though these are, obviously, problems also in connection with the legislative and judicial branches.

लोक प्रशासन की इसी परिभाषा के आधार पर लोक प्रशासन के क्षेत्र के संबंध में लूथर गुलिक ने जिस मत को प्रतिपादित किया है उसे 'POSDCORB' कहा जाता है। लूथर गुलिक से पहले उरविक तथा हेनरी फेयोल आदि विद्वानों ने भी इस द ष्टिकोण को अपनाया था। परंतु इन विचारों को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय लूथर गुलिक को ही जाता है। POSDCORB शब्द अंग्रेजी के सात शब्दों के प्रथम अक्षरों को मिलाकर बनाया गया है। वे शब्द इस प्रकार हैं–

- P - Planning (योजना बनाना)
- O - Organisation (संगठन स्थापित करना)
- S - Staffing (कार्मिकों की व्यवस्था करना)
- D - Directing (निर्देशन देना)
- Co - Co-ordination (सामंजस्य स्थापित करना)
- R - Reporting (प्रतिवेदन देना) तथा
- B - Budgeting (बजट बनाना)

इन सभी से वास्तव में क्या तात्पर्य है यह निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता है–

(i) **योजना बनाना** (Planning): योजना बनाने से तात्पर्य उन सारी बातों की कल्पना करना है जो किये जाने वाले हैं। यह निर्धारित करना कि कार्य को किस ढंग से किया जाना है? किस प्रकार के लोगों की आवश्यकता उस कार्य को पूरा करने के लिए होगी तथा उद्देश्य की प्राप्ति कैसे की जा सकती है? इत्यादि योजना के विषय होते हैं। उदाहरण के तौर पर यदि विस्थापितों को बसाने का कार्य पूरा किया जाना है। इस संबंध में सबसे पहले योजना बनानी होगी कि विस्थापितों को कैसे बसाया जा सकता है, उनको बसाने के कौन से साधन प्रयोग में लाये जा सकते हैं। कार्य करने की प्रक्रिया में सबसे पहली कड़ी योजना की होती है। योजना बनाने के बाद ही आगे बढ़ा जा सकता है।

(ii) संगठन स्थापित करना (Organistaion): प्रशासकीय प्रक्रिया की दूसरी कड़ी संगठन स्थापित करना है। विस्थापितों को बसाने का कार्य संपन्न करने के लिए यदि एक पुनर्वास विभाग स्थापित करना है तो उस विभाग को संगठित करना होगा। संगठन से तात्पर्य उस ढांचे से है जो मानवीय तथा भौतिक साधनों के द्वारा एक विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्थापित किया जाता है। काम का विभाजन करना तथा विभाग को उपविभागों में बाँटना भी संगठन की क्रिया के अंग हैं।

(iii) कार्मिकों की व्यवस्था करना (Staffing): संगठन की स्थापना के पश्चात् उसमें काम करने वाले कर्मचारियों की व्यवस्था करनी होती है। यह निर्धारित करना होता है कि संगठन में कितने वरिष्ठ और कितने कनिष्ठ पदाधिकारी चाहिए। उनमें कौन सी योग्यताएँ पाई जानी अपेक्षित हैं, भर्ती के कौन से नियम बनाए जाने चाहिए तथा कार्मिकों को कौन-कौन सी सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएँ इत्यादि।

(iv) निर्देशन देना (Directing): शासन का कोई भी विभाग एक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु स्थापित किया जाता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति की ओर संगठन तथा उसमें लगे हुए कर्मचारी अग्रसर हैं या नहीं यह देखना आवश्यक होता है। विभाग के वे पदाधिकारी, जो उसके कार्यों के लिए उत्तरदायी हैं, विभाग के समस्त कार्मिकों के उचित निर्देशन देते हैं। निर्देशन का अर्थ नेत त्व प्रदान करना है। पूरे संगठन को एक नेत त्व प्रदान करना तथा उसको वांछित उद्देश्य की ओर प्रव त्त करना प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

(v) सामंजस्य स्थापित करना: प्रशासकीय संगठन में अनेक लोग कार्यरत होते हैं। इन लोगों के द्वारा जो भी प्रशासकीय निर्णय लिए जायें या प्रशासकीय कार्य किए जायें उन सबमें ताल-मेल बैठाना भी जरूरी होता है। एक संगीत मंडली में यदि सब ऐसे स्वर निकाले जिनमें कोई सामंजस्य न हो उस समय जैसी स्थिति बनेगी वैसी जब एक संगठन में काम करने वाले लोग अपना-अपना राग अलापने लगें तब होगी। सामंजस्य या समन्वय से जैसे संगीत मधुर हो सकता है, वैसे ही सामंजस्य या समन्वय से ही प्रशासकीय संगठन अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है।

(vi) प्रतिवेदना देना : इसका उद्देश्य वरिष्ठ तथा निम्न कर्मचारियों के कार्यो के संबंध में अधिकारियों को सूचित करना होता है। आज के लोकतांत्रिक शासनों में प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रशासन का उद्देश्य लोकनीति को कार्यान्वित करना है। अतः प्रशासन को इस बात का स्पष्टीकरण देना आवश्यक हो जाता है कि उसने लोकनीति को कार्यान्वित करने में किस सीमा तक सफलता प्राप्त की है। इस स्पष्टीकरण के लिए प्रशासन प्रतिवेदन तैयार करता है और प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता तक पहुँचता है। कनिष्ठ अधिकारी इसी प्रकार से अधीनस्थ कर्मचारियों के काम का प्रतिवेदन वरिष्ठ अधिकारियों तक पहुँचाते हैं। प्रशासन के द्वारा जाँच, अनुसंधान या निरीक्षण करने का उद्देश्य अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करना होता है।

(vii) बजट बनाना (Budgeting): प्रशासन का एक अन्य कार्य POSDCORB विचार के अनुसार बजट बनाने का है। बजट बनाने से तात्पर्य आगामी समय के लिए आय और व्यय का लेखा-जोखा तैयार करना है। लोकनीति को कार्यान्वित करने के लिए प्रशासन का वित्त की आवश्यकता होती है। वित्त पर पूरा अधिकार प्रशासन का ही होता है। बजट बनाने के कार्य से संबन्धित ही बजट पर नियंत्रण रखने का तथा हिसाब रखने का कार्य है।

आलोचना (Criticism)

लोक प्रशासन के क्षेत्र के संदर्भ में गुलिक का यह विचार अत्यंत स्वेच्छाचारी तथा काल्पनिक बताया जाता है जिसके अन्तर्गत प्रशासन के वास्तविक तत्त्व को छोड़ दिया गया है। पोस्डकार्ब सिद्धांत की आलोचना करते हुए मेरियल ने कहा है कि "प्रशासन का जिन विषयों से संबंध होता है, उनका पूर्ण ज्ञान प्रशासन की वास्तविकता को समझने के लिए आवश्यक है।"

लोक प्रशासन के क्षेत्र से संबन्धित गुलिक के विचारों की आलोचना निम्नलिखित मुख्य आधारों पर की जाती है–

(1) **विषय वस्तु का ज्ञान आवश्यक** (Essential of knowledge of subject matter): इस सिद्धांत की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इसमें लोक प्रशासन से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व की उपेक्षा की गई है। वह तत्त्व है पाठ्य विषय का ज्ञान। (Knowledge of subject matter) इस आलोचना के प्रमुख प्रतिपादक लेविस मेरियम है। उन्होंने कहा है "किसी भी प्रशासकीय अभिकरण के प्रभावशाली एवं प्रज्ञावान प्रशासन के लिए उससे संबन्धित पाठ्य विषय का गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेना नितांत अनिवार्य है। (Intimate knowledge of the subject matter with which an administrative agency is primarily concerned in indispensable to the effective and intelligent administration of that agency) पोस्डकार्ब द ष्टिकोण केवल प्रशासन की तकनीकों से संबन्धित हैं, उसके पाठ्य विषय से नहीं।

(2) **प्रशासन में मानवीय तत्त्व का महत्त्व** (Importance of Human element in Administration):वे विद्वान भी इस विचार की आलोचना करते हैं, जो प्रशासन के क्षेत्र में मानवीय संबंधों के द ष्टिकोण के समर्थक हैं। हाथर्न प्रयोग प्रशासन को मानवीय पहलू से नहीं देखता है। इन प्रयोगकर्ताओं का कहना है कि उत्पादकता काम करने वालों की सेवा की दशाओं पर निर्भर करती है। प्रशासन में इस तथ्य की उपेक्षा ठीक नहीं। पोस्डकार्ब विचार इस तथ्य के प्रति उदासीन है। लोकप्रशासन के अन्तर्गत केवल प्रशासन की तकनीकों एवं विधियों का ही अध्ययन नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इसको अपना ध्यान उन मनुष्यों पर भी केन्द्रित करना चाहिए जो कि इन तकनीकों एवं विधियों को प्रयुक्त करते हैं।

सारांश

लोक-प्रशासन के एक प्रमुख शास्त्रीय विचारक के रूप मे लूथर एच गुलिक को सदैव याद किया जाएगा। 1937 में लिंडल एफ. उरविक के साथ मिलकर उन्होंने "पेपर्स ऑन दी साइन्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन" का सम्पादन किया जो कि लोक-प्रशासन के विकास के मार्ग में एक मील का पत्थर साबित हुई।

गुलिक औपचारिक संगठन विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने संगठन के औपचारिक ढाँचे का विशद् अध्ययन किया तथा संगठन के दस सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

उनके संगठन के दस सिद्धान्त इस प्रकार हैं–कार्य विभाजन या विशेषीकरण, विभागीय संगठनों के आधार, पदसोपान द्वारा समन्वय, सचेतन समन्वय, समितियों द्वारा समन्वय, विकेन्द्रीकरण, आदेश की एकता, स्टाफ तथा सूत्र, प्रत्यायोजन एवं नियन्त्रण का क्षेत्र।

'पोस्डकॉर्ब' विचार से प्रशासन का हर विद्यार्थी परिचित है। गुलिक ने बड़े ही सुन्दर तरीके से प्रशासन के कार्यों को 'पोस्डकॉर्ब' में समेटा। 'पोस्डकॉर्ब' के सात अक्षरों में से प्रत्येक प्रशासन के एक निश्चित कार्य की ओर इशारा करता है। ये कार्य हैं-प्लानिंग, ऑर्गेनाइजेशन, स्टाफिंग, डायरेक्टिंग, कोऑर्डिनेटिंग, रिपोर्टिंग तथा बजटिंग।

गुलिक विभागीयकरण के चार आधारों की पहचान करते हैं। प्रथम प्रयोजन या उद्देश्य, दूसरा प्रक्रिया, तीसरा व्यक्ति तथा चौथा क्षेत्र है। इसी प्रकार गुलिक प्रधान कार्यालय और क्षेत्रीय कार्यालयों के सम्बन्धों की भी विवेचना करते हैं। इसके लिए उन्होंने तीन प्रकार के सम्बन्धों की पहचान की-सभी अंगुलियाँ, छोटी भुजाएँ और लम्बी अंगुलियाँ एवं लम्बी भुजाएँ और छोटी अंगुलियाँ।

अपने परवर्ती लेखन में गुलिक लोक-प्रशासन पर दूसरे द ष्टिकोण से विचार करते हैं वे लोक-प्रशासन के व्यवहार का अध्ययन करते हैं तथा इसमें सुधार हेतु सुझाव भी देते हैं। गुलिक लोक-प्रशासन में समय कारक और मानवीय कारकों पर सर्वाधिक बल देते हैं। वे सरकार को मानवीय कल्याण कार्य करने की वकालत करते हैं। निस्सन्देह गुलिक का प्रशासन को योगदान सदैव याद किया जाता रहेगा।

संगठन का नवशास्त्रीय सिद्धान्त

संगठन के यांत्रिक या शास्त्रीय सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह संगठन में मानवीय तत्त्व की अवहेलना करता है तथा संगठन में कार्य करने वाले लोगों को भी भावना-रहित मशीन के पुर्जे मानती है। दूसरे शब्दों में यह सिद्धान्त मानव का मशीनीकरण कर देता है। नवशास्त्रीय सिद्धान्त शास्त्रीय सिद्धान्त के इस दोष या कमी को दूर करने का

एक प्रयास था। इसीलिए नवशास्त्रीय सिद्धान्त एक ओर जहाँ संगठन के सिद्धान्तों (Principles) की बात करता है वहीं दूसरी ओर यह संगठन में मानवीय तत्त्व का भी समावेश करता है। संगठन में मानवीय तत्त्व को सम्मिलित करके व इस प्रकार और इस प्रकार व्यक्तिगत व सामूहिक आचरण/व्यवहार के महत्त्व को स्वीकार करके नवशास्त्रीय विचारकों ने यान्त्रिक विचारधारा में सुधार करने का प्रयास किया। नवशास्त्रीय विचारकों के अनुसार कोई भी संख्या या संगठन मानवीय तत्त्व की अवहेलना करके जीवित नहीं रह सकता। इसके साथ ही नवशास्त्रीय सिद्धान्त अनौपचारिक संगठन के महत्त्व को भी स्वीकारता है और इस बात को भी उजागर करता है कि अनौपचारिक संगठन औपचारिक संगठन को प्रभावित करता है। बल्कि अनेकों बार अनौपचारिक संगठन किसी भी संस्था की निर्णयन प्रक्रिया को औपचारिक संगठन की तुलना में अधिक गहरे से प्रभावित करता है।

इस प्रकार नवशास्त्रीय विचारकों ने यान्त्रिक विचारधारा में दों तत्त्वों - मानवीय तत्त्व व अनौपचारिक संगठन - को समाहित करके यान्त्रिक विचार को अधिक स्वीकार्य बनाने का प्रयास किया।

नवशास्त्रीय सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताएँ या विशेषताएँ

नवशास्त्रीय सिद्धान्त की निम्नलिखित प्रमुख मान्यताएँ या विशेषताएँ हैं:—

(1) औपचारिक संगठन में अनौपचारिक संगठन भी वास करता है और औपचारिक संगठन को प्रभावित करता तथा स्वयं भी उससे प्रभावित होता है।

(2) व्यक्तिगत तथा संगठनात्मक उद्देश्यों के मध्य द्वन्द्व रहता है तथा यह इन दोनों में एकीकरण के महत्त्व को बढ़ाता है।

(3) व्यक्ति परस्पर-एक-दूसरे पर निर्भर हैं तथा उनके व्यवहार को सामाजिक-मनोवैज्ञानिक कारकों के सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

(4) मानवीय क त्य सदैव तर्कसंगत नहीं होते हैं। अनेकों बार व्यक्ति अपने द्वारा किए गए जा रहे कार्यों से सम्भावित पारितोषिक के सन्दर्भ में अतर्कपूर्ण व्यवहार करता है।

(5) संगठनात्मक कार्यों के सुचारू रूप से सम्पादन के लिए सदस्यों में सहयोग की भावना आवश्यक है।

नवशास्त्रीय सिद्धान्त का योगदान

संगठन और प्रशासन के क्षेत्र में नवशास्त्रीय सिद्धान्त के योगदान को हम निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं:—

(1) यांत्रिक विचारधारा में सुधार:—विशिष्टीकरण पर आधारित कार्य विभाजन संगठन के यांत्रिक द ष्टिकोण का प्रमुख योगदान रहा। कार्य विभाजन और विशिष्टीकरण का दुष्प्रभाव श्रमिकों में थकान और कार्य के प्रति अरूचि के रूप में सामने आया। क्योंकि संगठन के विभिन्न सदस्यों में केवल कार्य का विभाजन और यहाँ तक कि संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन सदस्यों का सकारात्मक और सहयोगपूर्ण खैया भी वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा। इसके लिए आवश्यक है कि अधीनस्थों के कार्यों को उच्चाधिकारियों द्वारा समन्वित किया जाए। इसीलिए नवशास्त्रीय विचारकों ने एक पदाधिकारी के निर्देशन सम्बन्धी कार्य में प्रेरणात्मक एव समन्वयात्मक

कार्यों का समावेश करके शास्त्रीय द ष्टिकोण के कार्य के विभाजन के सिद्धान्त (Principle) में सुधार किया।

(2) सत्ता एवं उत्तदायित्व का असन्तुलन एवं कार्यक्षेत्र का दोहराव:—संगठन के शास्त्रीय सिद्धान्त ने पदसोपान के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पदसोपान के साथ-2 संगठन में आदेश की श्र ंखला, प्राधिकार एवं उत्तरदायित्व के प्रत्यायोजन एवं रिर्पोटिंग ने संगठनात्मक ढाँचे को पूर्णता प्रदान की। शास्त्रीय सिद्धान्त प्रत्यायोजन एवं कार्यात्मक प्रक्रियाओं में सन्तुलन होने की बात कहता है। किन्तु दूसरी ओर नवशास्त्रीय सिद्धान्त प्राधिकार एवं उत्तरदायित्व के प्रत्यायोजन और कार्यात्मक अधिकार क्षेत्र के बीच असन्तुलन होने का दावा करता है। इसके साथ ही नवशास्त्रीय सिद्धान्त कार्यात्मक अधिकार क्षेत्र के दोहराव की स्थिति होने का भी दावा करता है। यदि सत्ता एवं उत्तरदायित्व के बीच असन्तुलन होगा तो निम्नलिखित दो परिस्थितियों में से कोई एक उत्पन्न होगी:—

(a) उत्तरदायित्व की अपेक्षा प्राधिकार अधिक होगा, या

(b) प्राधिकार की अपेक्षा उत्तरदायित्व की अधिकता होगी।

पहली स्थिति में सत्ता के दुरुपयोग की सम्भावना बढ़ जाती है जबकि दूसरी स्थिति में अधिकारी अपने कार्यों करने में स्वयं को अक्षम पायेगा क्योंकि उसके पास अपने आदेशों एवं निर्देशों को मनवाने के लिए पर्याप्त सत्ता का अभाव होगा। इसी प्रकार कार्यात्मक अधिकार क्षेत्र के दोहराव से भी दो प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होंगी। प्रथम, हमें ज्ञात है कि सभी का उत्तरदायित्व किसी का भी उत्तरदायित्व नहीं होता है और इसलिए किसी भी कार्य के अपूर्ण होने या अकुशलतापूर्वक सम्पन्न होने की स्थिति में उत्तरदायित्व निर्धारण नहीं हो सकेगा। दूसरे, अधिकार-क्षेत्र के दोहराव से संगठनात्मक अन्तर्सम्बन्धों में कड़वाहट पैदा होने के साथ-2 संसाधनों का भी अपव्यय होगा। इन समस्याओं से जूझने के लिए नवशास्त्रीय विचारकों ने कुछ "मानवीय यन्त्र" (Human tools) सुझाए हैं।

नवशास्त्रीय विचारकों के अनुसार सत्ता एवं उत्तरदायित्व के वास्तविक क्रियान्वयन से ज्येष्ठ-कनिष्ठ के मध्य कड़वाहट पैदा होना स्वाभाविक है। वास्तव में जहां भी और जब भी विभिन्न व्यक्ति आपस में एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं रोधक तत्त्व या गतिरोधक स्वतः हरकत में आ जाते हैं। इन रोधक तत्त्वों या गतिरोधकों की समस्या से निपटन के लिए प्रबन्धकीय भागीदारी, संयुक्त समितियाँ, मानवीय स्वाभिमान का पर्याप्त आदर, तल से उपरिगामी प्रबन्ध तथा ज्येष्ठ-कनिष्ठ के बीच बेहतर संचार व्यवस्था इत्यादि नवशास्त्रीय विचारकों ने सुझाए हैं।

आलोचना

आलोचकों ने नवशास्त्रीय सिद्धान्त को "दिवालिया" सिद्धान्त कहकर सम्बोधित किया है। संगठन के यांत्रिक सिद्धान्त की भाँति नवशास्त्रीय सिद्धान्त को भी अपूर्ण तथा अदूरदर्शी कहा गया है। इसके साथ ही इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए यह भी कहा, गया है कि इसमें मानवीय आचरण या व्यवहार के विभिन्न पहलूओं का उपयुक्त एकीकरण नहीं किया गया है।

शास्त्रीय तथा नवशास्त्रीय द ष्टिकोणों के बीच अन्तर

नवशास्त्रीय द ष्टिकोण यांत्रिक द ष्टिकोण में मात्र सुधार का एक प्रयास था न कि शास्त्रीय विचारधारा के विरूद्ध एक आन्दोलन। वास्तव में नवशास्त्रीय सिद्धान्त संगठन के शास्त्रीय द ष्टिकोण के पूरक के रूप में विकसित करने का प्रयासमात्र था तथापि इन दोनों में अनेकों अन्तर पाए जाते हैं। दोनों सिद्धान्तों में विभिन्न अन्तरों को नीचे सुस्पष्ट करने का प्रयास किया गया है:—

	आधार	शास्त्रीय द ष्टिकोण	नवशास्त्रीय द ष्टिकोण
1.	संरचना (संगठनात्मक)	अवयक्ति एवं यांत्रिक	एक सामाजिक व्यवस्था
2.	संगठनात्मक व्यवहार	नियम आधारित	भावनाओं पर आधारित
3.	केन्द्रबिन्दु	कर्मचारियों की आर्थिक आवश्यकताएं और कार्य	
4.	बल	अधिकतम तार्किकता और व्यवस्था तथा कार्मिकों का अधिकतम मानदेय	व्यक्तिगत सुरक्षा और संगठनात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति करते हुए कार्मिकों की सामाजिक आवश्यकताएँ
5.	प्रव त्तियाँ	तानाशाही; उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विस्त त नियम और उपनियम	लोकतान्त्रिक; कार्मिकों का मनोबल बढ़ाने के लिए निर्णयन में उनकी भागीदारी; मानवीय मूल्यों का आदर।
6.	परिणाम	मकान, अलगाव, कार्य के प्रति अरूचि, असंतुष्टि	संतुष्ट कार्मिक जो अधिक उत्पादन के लिए प्रयासरत हों।

संगठन के नवशास्त्रीय सिद्धान्त में सुश्री एम० पी० फोलेट का योगदान

एम० पी० फोलेट प्रशासन जगत में एक प्रमुख नवशास्त्रीय विचारक के रूप में जानी जाती हैं। ऐसा इसलिए है कि सुश्री फोलेट संगठन के शास्त्रीय विचारों के मानने के साथ-साथ संगठन में मानवीय तत्त्व को भी महत्त्व देती हैं। चाहे रचनात्मक संघर्ष की बात हो, चाहे आदेश, नियन्त्रण और समन्वय की फोलेट हर अपने विचार में मानवीय सम्बन्धों को महत्त्व देती हैं। फोलेट वास्तव में शास्त्रीय सिद्धान्त तथा मानवीय सम्बन्ध उपागम के बीच एक कड़ी का काम करती हैं तथा जहाँ एक ओर जहाँ फोलेट मितव्ययता एवं कार्यकुशलता की बात करती हैं वहीं साथ ही वह मानवीय तत्त्व या सम्बन्धों को भी महत्त्व देती हैं।

अमेरिका के बोस्टन शहर में सन् 1868 में जन्मी सुश्री मेरी पार्कर फोलैट की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा बोस्टन, की थाचेर अकादमी में हुई। इसके पश्चात् फोलेट रैडक्लिफ कॉलेज और न्यूहैम कॉलेज, कैम्ब्रिज में पढ़ीं। फोलेट की रुचि इतिहास, राजनीति शास्त्र, कानून और दर्शनशास्त्र पढ़ने में अधिक थी। 1912 में फोलेट बोस्टन के पदस्थापना ब्यूरो समिति की सदस्या बन गई। इस प्रकार वे उद्योग से सम्पर्क में आई। आपने इनके प्रबन्ध पर काफी कुछ लिखा। 65 वर्ष की आयु में मिस फोलेट का 1933 ई० में देहावसान हो गया और प्रबन्ध ने वह विचारक खो दिया जिसके कार्यों ने उसे गहरे रूप से प्रभावित किया। फोलेट की अन्तर्दष्टि इतनी तीक्ष्ण थी कि उन्होंने जो विचार काफी पहले ही प्रकट कर दिए थे वे 1930 के बाद के होर्थोन प्रयोगों से पुष्ट हुए। इसी कारण वे प्रबन्ध की भविष्यवक्ता कहलाती हैं।

फोलेट ने कई पुस्तकें लिखीं। उनके कुछ प्रमुख लेखन-कार्य इस प्रकार हैं:

- The Speakers of the House of Representatives (1896)
- The New States (1918)
- Cratives Experiences (1924)
- Dynamic Adminstration: The Collected Papers of Marry Parker Follet [उरविक व मेटकॉफ द्वारा सम्पादित]

फोलेट ने इतना कुछ लिखा कि यह सम्भव नहीं है कि उनके सभी विचारों को जाना जा सके। फोलेट की प्रथम रचना "दी स्पीकार ऑफ द हाउस ऑफ रिप्रजेन्टेटिव्ज़" 1896 में प्रकाशित हुई। यह इतनी उत्क ष्ट रचना थी कि अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इसे सभी द्वारा पढ़ा जाना अपरिहार्य बताया। 1918 में उनकी पुस्तक "द न्यू स्टेट्स" प्रकाशित हुई। इस पुस्तक को भी काफी ख्याति प्राप्त हुई और बहुलतावाद की वकालत करने वालों के रूप में फोलेट को पहचाना गया। 1924 में "क्रिएटिव एक्सपीरियेन्स" प्रकाशित हुई जिसमें संगठन से संघर्षों पर ध्यान केन्द्रित किया गया। फोलेट की पुस्तक "डायनेमिक एडमिनिस्ट्रेशन" का प्रकाशन उनके मरणोपरान्त 1941 में हुआ। इसका सम्पादन उरविक और मेटकॉफ ने किया। फोलेट के विचारों में सभी को जानना यहाँ सम्भव नहीं है, अतः स्थान की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए फोलेट के अति-महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक विचारों को ही अध्याय में शामिल जा सका है।

रचनात्मक संघर्ष (Constructive Conflict)

मैरी पार्कर फोलेट का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान संघर्षों के रचनात्मक पहलुओं पर विचारों के रूप में माना गया है। यहाँ संघर्षों से तात्पर्य संगठन में उत्पन्न संघर्षो से है। संघर्ष की स्थिति व्यक्ति के जीवन में कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। आज हम संघर्ष के युग में जी रहे हैं। संगठन केवल व्यक्ति के जीवन तक ही सीमित नहीं है अपितु संगठनों में भी संघर्ष व्याप्त है। संघर्ष एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति या इकाई किसी उद्देश्य के लिए दूसरे को रोकने का प्रयास करती है जिसके परिणामस्वरूप दूसरा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में या अपने हितों के संवर्द्धन में सफल नहीं हो पाता है। साधनों की सीमितता, लक्ष्यों की विविधता, व्यक्तित्वों में भेद, परिवर्तन, संचार की कमी आदि के कारण संगठनों में संघर्षों का जन्म होता है। सामान्यतया संघर्षों को नकारात्मक द ष्टि से देखा जाता है परन्तु फोलेट ने संघर्ष के रचनात्मक पहलुओं की ओर प्रबन्ध का ध्यान आकर्षित किया।

मैरी पार्कर फोलेट 'रचनात्मक संघर्ष' का विचार प्रस्तुत करती हैं और संघर्षों को संगठन की प्रत्येक क्रिया में एक सामान्य प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करती हैं। उनका विचार है कि संघर्ष न तो अच्छा है और न ही बुरा। बल्कि यह तो एक सामान्य घटना है जिसको बिना किसी भावना और नैतिक पूर्व निर्णय के रूप में स्वीकार करना चाहिए। "डायनेमिक एडमिनिस्ट्रेशन" में फोलेट कहती हैं कि संघर्ष कोई युद्ध की स्थिति नहीं होती। यह तो सिर्फ मतभेदों की उपस्थिति को दर्शाता है। ये मतभेद

राय अथवा हितों के हो सकते हैं। राय और हितों के मतभेद संगठन में केवल नियोक्ता और कर्मचारी के बीच निदेशकों के बीच भी उपस्थित हो सकते हैं। चूँकि व्यक्तिगत मतभेद कभी भी समाप्त नहीं किए जा सकते अतः संगठनों से संघर्षों को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। जब संघर्ष अपरिहार्य और न टाला जाने वाला होता है तो इसकी आलोचना करने और इसे बुरा बताने के बजाए इसका सकारात्मक उपयोग लेने की कोशिश करनी चाहिए। यही फोलेट का रचनात्मक संघर्ष का विचार था। फोलेट कहती हैं–

"हर चमक घर्षण से पैदा होती है। जब हम वायलिन पर घर्षण पैदा करते हैं तभी संगीत प्राप्त होता है और जब हमने घर्षण से अग्नि का आविष्कार किया तो हमने असभ्य अवस्था को छोड़ दिया।"[4]

जब संघर्ष अपरिहार्य है तो इसे किस प्रकार रचनात्मक बनाया जाए? फोलेट ने संघर्षो को सुलझाने की तीन विधियों का उल्लेख किया-प्रभुत्व, समझौता तथा एकीकरण।

(i) **प्रभुत्व** (Domination): प्रभुत्व का फोलेट संघर्ष के समाधान का प्रथम तरीका बताती हैं। प्रभुत्व का आशय एक पक्ष द्वारा एक दूसरे पक्ष पर जीत प्राप्त करना है। प्रभुत्व संघर्ष समाधान का सबसे आसान तरीका है परन्तु यह थोड़े समय के लिए ही सुविधाजनक हो सकता है। चूँकि प्रभुत्व में एक पक्ष दूसरे पक्ष पर विजय प्राप्त करता है अतः स्वाभाविक है कि इसमें दबाव, बल प्रयोग तथा दूसरे के हितों का अतिक्रमण शामिल है अतः यह संघर्ष के समाधान का स्थाई तरीका नहीं हो सकता क्योंकि पराजित पक्ष सदैव बदला लेने की फिराक में रहता है। संघर्ष को प्रभुत्व केवल थोड़े समय के लिए दबा तो सकता है परन्तु उसे समाप्त नहीं कर सकता। यह बात हम प्रथम विश्वयुद्ध के सन्दर्भ में समझ सकते हैं। इसमें विजेता पक्ष का पराजितों पर प्रभुत्व स्थापित हो गया और संघर्ष कुछ समय के लिए दब गया परन्तु पुनः अवसर आते ही पराजित पक्ष ने पुनः संघर्ष (द्वितीय विश्वयुद्ध) प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार प्रभुत्व संघर्ष के समाधान का एक अल्पकालीन साधन ही हो सकता है।

(ii) **समझौता** (Compromise): समझौता संघर्ष समाधान का वह तरीका है जिसमें प्रत्येक पक्ष अपनी कुछ माँगों को छोड़ देता है और इस प्रकार शान्ति स्थापित करने के लिए अपनी कुछ माँगों का परित्याग करके संघर्ष से समझौता कर लेता है। संघर्ष के समाधान का समझौते का तरीका प्रभुत्व की तुलना में अधिक प्रभावी होता है क्योंकि समझौते में किसी पक्ष को दबाया नहीं जाता और स्वेच्छा से दोनों पक्ष अपनी कुछ इच्छाएँ त्यागने की तैयार हो जाते हैं। चूँकि इसमें प्रत्येक पक्ष को कुछ इच्छाएँ त्यागनी पड़ती हैं अतः कोई भी पक्ष इसे पसन्द नहीं करता है वरन् समझौते मजबूरी में किए जाते हैं। उदाहरण के लिए भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर संघर्ष के समाधान के लिए 'ताशकन्द सन्धि' या 'शिमला समझौते' जैसी समझौतात्मक कार्रवाई हुई परन्तु ये दोनों ही कश्मीर संघर्ष का स्थाई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके और संघर्ष पुनः पैदा हो गया। समझौता तभी सफल रह सकता है जबकि दोनों पक्ष ईमानदारी से समझौते का सम्मान करें, जो कि वस्तुतः काफी कठिन होता है।

(iii) **एकीकरण** (Integration): संघर्ष समाधान के तीसरे तरीके के रूप में फोलेट एकीकरण का जिक्र करती हैं। फोलेट संघर्ष समाधान के सबसे सन्तोषजनक और प्रभावी उपाय के रूप में एकीकरण की पहचान करती हैं। एकीकरण में दोनों पक्षों की इच्छाओं को एकीक त कर दिया जाता है और किसी भी पक्ष को अपनी इच्छाओं का परित्याग नहीं करना पड़ता। फोलेट समझौते से अधिक प्रभावी एकीकरण को मानती हैं क्योंकि समझौते में कुछ भी नया रचित नहीं किया जाता बल्कि यह उपस्थिति स्थिति से ही सम्बन्ध रखता है जबकि एक एकीकरण कुछ नया बनाता है, आविष्कार करने को प्रेरित करता है तथा नए मूल्यों का इससे जन्म होता है। एकीकरण संघर्ष की जड़ों तक जाता है और इसके स्थाई समाधान का प्रयास करता है। यदि हम किसी संघर्ष का समाधान समझौते से करते हैं तो संघर्ष किसी दूसरे रूप में प्रकट हो सकता है क्योंकि लोगों को अपनी कुछ इच्छाएँ त्यागनी पड़ती हैं। फोलेट औद्योगिक और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करती है। इसक विपरीत एकीकरण संघर्ष का स्थाई समाधान प्रस्तुत करता है। एकीकरण का उदाहरण देते हुए फोलेट कहती हैं–

"हॉवर्ड विश्वविद्यालय के एक छोटे से कमरे की खिड़की को एक महाशय खोलना चाहते थे जबकि मैं उसे बन्द ही रखना चाहती थी। हमने अगले कमरे की खिड़की खोल दी जिसमें कोई भी नहीं था। यह समझौता नहीं था क्योंकि हम दोनों को बिना कोई इच्छा छोड़े वह मिल गया जो हम चाहते थे। मैं बन्द कमरा चाहती थी क्योंकि मैं नहीं चाहती थी कि उत्तरी वायु सीधे मेरी ओर बहे, इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति भी किसी विशिष्ट खिड़की को नहीं खोलना चाहता था। वह तो सिर्फ कमरे में अधिक वायु चाहता था।"

फोलेट जहाँ एकीकरण के लाभों का जिक्र करती हैं वहीं इसकी प्राप्ति में आने वाली कठिनाइयों से भी अनभिज्ञ नहीं हैं। हर तरह के संघर्ष का समाधान एकीकरण से सम्भव नहीं हो सकता। फोलेट उदाहरण देते हुए कहती हैं कि जब दो व्यक्ति किसी एक ही महिला से विवाह करना चाहते हों तो वहाँ एकीकरण की कोई गुंजाइश नहीं होती। कुछ मामलों में तो एकीकरण असम्भव ही होता है पर फिर इसके लाभों के कारण वह प्रभुत्व और समझौते से अधिक प्रभावी और स्थाई तरीका है।

फोलेट एकीकरण प्राप्त करने के चरणों का उल्लेख करते हुए इसके निम्न चरण बताती हैं:

(1) एकीकरण के प्रथम चरण के रूप में फोलेट कहती हैं कि हमें सर्वप्रथम अपने मतभेदों को स्पष्ट करना चाहिए। जब तक हम यह नहीं जानते कि हमारे मतभेद क्या हैं तब तक हम एकीकरण की आशा नहीं कर सकते। इसलिए सर्वप्रथम हमें संघर्ष में निहित वास्तविक मुद्दों की स्पष्ट पहचान करनी आवश्यक है।

(2) दूसरे चरण में हमें संघर्ष की समस्या के समग्र को कुछ भागों में तोड़ना पड़ता है इसके लिए हमें संघर्ष में निहित माँगों को पहचान कर उनको संघटक भागों में बाँटना पड़ता है। इस चरण में उन माँगों को अन्य माँगों से अलग कर लिया जाता है जिनकी कि पूर्ति आवश्यक होती है। इस प्रकार हम समस्या से सम्बन्धित मुख्य माँगों तक ही अपने आपको केन्द्रित कर पाते हैं जो कि संघर्ष समाधान के लिए आवश्यक होती है।

(3) संघर्ष समाधान का तीसरा चरण संघर्ष का पूर्वानुमान है। इसमें संघर्ष के प्रति भिन्न तरीके से जवाब दिया जाता है। इसके लिए फोलेट एक उदाहरण देती हैं। वे कहती हैं कि एक व्यक्ति को कार चलाना अच्छा लगता है जबकि उसकी पत्नी पैदल चलना पसन्द करती है। वह व्यक्ति अपनी पत्नी के उस प्रत्युत्तर को अच्छी तरह जानता है जब रविवार को सुबह खूब देर तक टेनिस खेलने के बाद काफी थक जाने के कारण उसकी पत्नी का होता है। फोलेट केवल प्रत्युत्तरों के पूर्वानुमान को ही पर्याप्त नहीं मानतीं अपितु उनके निर्माण की भी वकालत करती हैं। प्रत्युत्तर रेखीय या चक्रिक हो सकते हैं। चक्रिक प्रत्युत्तर संघर्ष पर अधिक अच्छे से प्रकाश डालता है। फोलेट के मत में चक्रिक व्यवहार (Circular Behaviour) रचनात्मक संघर्ष की कुँजी है।

यद्यपि एकीकरण संघर्ष के समाधान की प्रभावी विधि है फिर भी इसमें कई बाधाएँ हैं। ये बाधाएँ इस प्रकार हैं:

(1) एकीकरण के लिए उच्च बुद्धि, गहन बोध तथ श्रेष्ठ खोजी प्रव त्ति की आवश्यकता होती है। जब तक बुद्धिमत्ता और खोजी प्रव त्ति नहीं होगी संघर्षों का एकीकरण से समाधान मुश्किल होता है।

(2) एकीकरण की दूसरी बाधा यह है कि लोग प्रभुत्व की स्थिति का आन्नद लेते हैं और जब तक प्रभुत्व रहता है एकीकरण मुश्किल होता है।

(3) समस्याओं को सैद्धान्तिक जामा पहना देना भी एकीकरण की एक बाधा है।

(4) उपयोग में ली गई भाषा एकीकरण के मार्ग में चौथी बाधा है। फोलेट के मत में भाषा मेल कराने वाली होनी चाहिए न कि संघर्षो को और बढ़ाने वाली। कई बार भाषा नए विवाद खड़े कर देती है।

(5) नेताओं द्वारा पैदा किया गया अनावश्यक प्रभाव एकीकरण की पाँचवीं बाधा है।

(6) प्रशिक्षण का अभाव एकीकरण की सबसे बड़ी बाधा है। वे कहती हैं कि संगठन के प्रबन्धकों और श्रमिकों को सहकारी सोच के विकास की शिक्षा देनी चाहिए।

इस प्रकार फोलेट के विविध आयामों का उल्लेख करते हुए रचनात्मक संघर्ष का विचार प्रस्तुत करती हैं और संघर्षो के रचनात्मक उपयोग की वकालत करती हैं।

संगठन में आदेश (Orders in Organization)

आदेश देना संगठन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। मेरी पार्कर फोलेट संगठन में आदेश देने के विविध पहलुओं का परीक्षण करती है तथा "निर्वैयक्तिक आदेश" का विचार प्रस्तुत करती हैं। वे इस बारे में "स्थिति के नियम" का भी प्रतिपादन करती हैं।

फोलेट आदेश देने के चार महत्त्वपूर्ण चरण बताती हैं-प्रथम, एक सचेत अभिव त्ति जो उन सिद्धान्तों को व्यवहार मे लाती है जिसके जरिए किसी मामले पर कार्रवाई करना सम्भव होता है। द्वितीय, एक जिम्मेदाराना अभिव त्ति जिससे यह तय हो कि किन सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। त तीय, एक प्रयोगात्मक अभिव त्ति जिससे प्रयोग किए जाएँ और परिणाम देखे जाएँ तथा चतुर्थ, परिणामों को एकत्रित करना।

प्रायः लोग आदेश देने सम्बन्धी सिद्धान्तों को जाने बिना ही आदेश देते हैं। सर्वप्रथम आदेश देने वाले को उन सिद्धान्तों की जानकारी होनी आवश्यक है जिनके आधार पर आदेश दिए जाते हैं। इन सिद्धान्तों को पहचानने के बाद ही व्यक्ति को उनके अनुसार ही आदेश देने चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि दिए गए हर आदेश का पालन किया जाएगा। आदेश की पालन कई कठिनाइयों से घिरी हैं। कई बार अपनी पुरानी आदतों के कारण लोग आदेशों का पालन नहीं करते क्योंकि वे अपनी आदतों के विपरीत आदेश पालन नहीं करना चाहते। आदेश देने से पहले नियोक्ता को आदेशों की पालना सुनिश्चित करने के लिए कर्मचारियों की 'आदतों' के निर्माण के साधनों और तरीकों पर विचार करना चाहिए। इसके लिए फोलेट निम्न सुझाव देती हैं:

(i) अधिकारियों को नई विधियों की वांछनीयता देख लेनी चाहिए।

(ii) दूसरे ऑफिस के नियमों को इस प्रकार परिवर्तित किया जाए ताकि अधिकारी नई विधियों को अपना सकें।

(iii) पहले ही कुछ लोगों को नई विधियाँ अपनाने के लिए विश्वास में ले लिया जाना चाहिए ताकि एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सके।

(iv) अन्तिम बात अभिव्यक्त किए जाने वाले व्यवहार को तीव्र बनाना कहते हैं! यह आदेशों की स्वीक ति का रास्ता तैयार करता है।

फोलेट कहती हैं कि आदेशों के प्रत्युत्तर उन स्थानों और परिस्थितियों पर निर्भर रहता है जिनमें आदेश दिए जाते हैं। फोलेट कहती हैं:

"किसी आदेश के प्रति अनुकूल प्रत्युत्तरों को शक्ति उस दूरी व्युत्क्रमानुपाती (inverse ratio) होती है जो कि आदेशों द्वारा तय की जाती है।"

अर्थात् यदि आदेश लम्बी दूरी तय करके किसी व्यक्ति तक पहुँचता है तो उसके अनुकूल प्रत्युत्तर की शक्ति कम हो जाती है यानि कि उसकी पालना की सम्भावना कम हो जाती है। इसी प्रकार आदेश देने का तरीका भी आदेशों की पालना को प्रभावित करता है।

'आदेश देने' तथा 'आदेश न देने' के मामले में मालिकानापन (bossiam) से बचने के लिए फोलेट "आदेशों के निर्वैयक्तिकरण" का सुझाव देती हैं तथा "स्थिति के नियम" का प्रतिपादन करती हैं। फोलेट कहती हैं कि किसी को अन्यों को आदेश नहीं देना चाहिए बल्कि दोनों की "स्थिति" (situation) से ही आदेश ग्रहण करने चाहिए। जब सभी व्यक्ति स्थिति से ही आदेश ग्रहण करें तो आदेश देने तथा आदेश के पालन करने का सवाल ही पैदा नहीं होता है। उनके मत में जैसी स्थिति माँग करती है उसी के अनुसार निर्णय लेना चाहिए। इस बात का सम्बन्ध सिर्फ इस बात से है कि सत्ता 'स्थिति' से जुड़ी होती है। वह एक उदाहरण देती हैं कि अपनी माँ के कहने पर उसका लड़का पहले तो पानी की बाल्टी लाने से मना कर देता है पर बाद में ले आता है। इस मामले में वह आदेश गुस्सा होता है पर स्थिति की माँग को पहचानता है। फोलेट यह भी कहती हैं कि चूँकि स्थिति सदैव परिवर्तनशील होती है अतः आदेश भी कभी स्थिर नहीं रह सकते।

इस प्रकार फोलेट संगठन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या-आदेश देने का विस्तार से परीक्षण करती हैं और 'स्थिति' को आदेशों का मूल मानती हैं।

समन्वय (Coordination)

समन्वय प्रबन्ध अति महत्त्वपूर्ण कार्य है। फोलेट के मत में समन्वय का अभाव किसी भी संगठन की मुख्य कमजोरी होती है। उनके मत में समन्वय संगठन के विभिन्न भागों को सामंजस्यपूर्ण तरीके से व्यवस्थित करना है। फोलेट प्रभावी समन्वय के निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित करती हैं:

(i) **प्रत्यक्ष सम्पर्क का सिद्धान्तः** संगठन में समन्वय स्थापना के सचेत प्रयास किए जाते हैं। कुछ व्यक्तियों को समन्वय स्थापना की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। फोलेट के प्रत्यक्ष सम्पर्क के सिद्धान्त के अनुसार समन्वय की जिम्मेदारी रखने वाले व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क रखने चाहिए। यह समन्वय की प्रक्रिया को सुगम बनाता है। इसके लिए फोलेट क्षैतिज संचार अर्थात् समस्तरीय अधिकारियों के बीच संचार को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण मानती हैं जितना की उर्ध्वाधर।

(ii) **प्रारम्भिक अवस्थाओं का सिद्धान्तः** समन्वय संगठन का सार है अतः फोलेट सुझाव देती हैं कि समन्वय की स्थापना नीति निर्माण की प्रक्रिया के साथ ही शुरू हो जानी चाहिए। प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही समन्वय की स्थापना करने का प्रयास किया जाना चाहिए क्योंकि बाद में इसकी स्थापना काफी कठिन हो जाती है।

(iii) **पारस्परिक सम्बन्धों का सिद्धान्तः** इस सिद्धान्त के अनुसार स्थिति के विभिन्न घटकों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। समन्वय की स्थापना करते समय इन पारस्परिक सम्बन्धों का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि ये समन्वय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

(iv) **सतत् प्रक्रिया का सिद्धान्तः** समन्वय चूँकि एक सतत् प्रक्रिया है जो संगठन में प्रारम्भ से लेकर आगे तक चलती रहती है अतः फोलेट समन्वय स्थापना की स्थाई मशीनरी की वकालत करती है। इस प्रकार की स्थाई मशीनरी काफी उपयोगी रहती है। इसके साथ-साथ फोलेट सूचना आधारित सतत् अनुसन्धान के महत्त्व पर भी जोर देती हैं।

नेत त्व (Leadership)

नेत त्व संगठन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। कोई संगठन कुशल नेत त्व के अभाव में अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। नेत त्व पर पर्याप्त अध्ययन हो चुके हैं परन्तु फोलेट का नेत त्व[12] विषयक योगदान मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। फोलेट मानती हैं कि आज मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन तथा प्रबन्ध में विकास के कारण नेत त्व की परम्परागत विचारधारा बदल रही है। फोलेट कहती हैं कि नेता ने तो संगठन का अध्यक्ष होता है और न ही विभाग का प्रमुख परन्तु वह होता है जो स्थिति के चारों ओर देख सकता है; जो इसे किन्हीं निश्चित प्रयोजनों तथा नीतियों से जोड़कर देखता हो, जो इसे आने वाली स्थितियों से जुड़ा हुआ देखता हो, तथा जो यह जानता हो कि एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक कैसे जाया जाता है। फोलेट कहती हैं–

"नेता वह व्यक्ति होता है जो अपने समूह को ऊर्जावान कर सकता है, जो यह जानता है कि कैसे पहल को प्रोत्साहित किया जाए जो यह प्रदर्शित कर सके कि आदेश स्थिति के साथ एकीक त होता है।"

फोलेट के मत मे नेता के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं:

(i) **समन्वयः** संगठन में समन्वय की स्थापना के समस्त प्रयासों को नेत त्व ही निर्देशित करता है। समन्वय चूँकि संगठन का आवश्यक तत्त्व है अतः नेत त्व की क्षमता इसकी समन्वय स्थापना की योग्यता को प्रदर्शित करती है।

(ii) **उद्देश्यों को परिभाषित करनाः** किसी भी संगठन की स्थापना बिना प्रयोजन के नहीं की जा सकती। प्रत्येक संगठन अपने निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्रयासरत रहता है। इन उद्देश्यों या प्रयोजन का निर्धारण नेत त्व द्वारा ही किया जाता है।

(iii) **पूर्वानुमानः** भावी स्थिति का पूर्वानुमान करने की नेत त्व की योग्यता संगठन के लिए उपयोगी सिद्ध होती है।

फोलेट का यह स्पष्ट रूप से मानना था कि नेता केवल जन्मजात नहीं होते अपितु संगठन और प्रबन्ध में उन्हें शिक्षण और प्रशिक्षण देकर तैयार भी किया जा सकता है। फोलेट तीन प्रकार के नेत त्व की पहचान करती हैं:

(i) **पद से सम्बन्धित नेत त्वः** फोलेट के अनुसार पद से सम्बन्धित नेत त्व किसी भी संगठन में औपचारिक सत्ता से सम्बन्धित होता है। संगठन में जिस व्यक्ति को सत्ता प्राप्त होती है उसे संगठन में नेत त्व का कार्य भी करना होता है। यह नेत त्व औपचारिक प्रक ति का होता है।

(ii) **व्यक्तित्व से सम्बन्धित नेत त्वः** इस शैली का सम्बन्ध नेता के व्यक्तित्व से है। जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है उसके नेत त्व को बड़ा आसानी से स्वीकार कर लिया जाता है। वेबर की करिश्माई सत्ता से इसका सम्बन्ध होता है।

(iii) **प्रकार्य से सम्बन्धित नेत त्वः** इसका अर्थ ज्ञान के नेत त्व से है । आधुनिक संगठनों में विशिष्ट ज्ञान रखने वाले नेता ही अधिक प्रभावशाली नेत त्व प्रदान कर सकते हैं। यद्यपि व्यक्तित्व नेत त्व में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है पर फौलेट मानती हैं कि व्यक्तित्व नेत त्व से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार्य-नेत त्व होता है। वे मानती हैं कि किसी भी संगठन की सफलता उसकी इस बात पर निर्भर करती है कि वह संगठन प्रकार्य-नेत त्व को पूर्णतः कार्य करने देने योग्य लचीलापन रखता हो। इस प्रकार फोलेट ने "परिस्थितिवादी उपागम" के उपयोग में आने से पहले ही अमरीकी जीवन में "प्रकार्य-नेत त्व" के उदय की ओर ध्यान आक ष्ट किया।

इस प्रकार फोलेट नेत त्व के नए आयाम प्रस्तुत करती हैं और ज्ञान आधारित नेत त्व के महत्त्व को उजागर करती हैं।

शक्ति एवं सत्ता (Power and Authority)

शक्ति और सत्ता दो प थक्-प थक् अवधारणाएँ हैं। शक्ति को परिभाषित करते हुए फोलेट इसे उस क्षमता रूप में परिभाषित करती हैं जिस काम करवाया जा सके, जो कारणात्मक एजेन्ट बन सके और जिससे परिवर्तन शुरू किए जा सकें। अर्थात् शक्ति एक व्यक्ति की काम करवाने, कारणात्मक एजेन्ट बनने तथा परिवर्तन शुरू करने की क्षमता को प्रदर्शित करती है। फोलेट दो प्रकार की शक्ति की पहचान करती हैं-किसी के ऊपर शक्ति (Power over) तथा किसी के साथ शक्ति (Power with)। किसी के ऊपर शक्ति दबावात्मक होती है जबकि किसी के साथ शक्ति सहयोगात्मक क्रिया को जन्म देती है। किसी के ऊपर शक्ति अपनी इच्छाओं को दूसरों पर थोंपना है। इस कारण फोलेट इसे अधिक अच्छा नहीं मानती हैं। फोलेट का विचार है कि स्थिति के नियम, चक्रिक व्यवहार तथा एकीकरण के उपयोग से 'किसी के ऊपर' शक्ति को कम किया जा सकता है। इसके विपरीत 'किसी के साथ शक्ति' का अर्थ हितों में एकता वह सहयोग पैदा करना है। फोलेट के मत में 'किसी के साथ शक्ति', 'किसी के ऊपर शक्ति' से कहीं अधिक बेहतर होती है क्योंकि यह बेहतर समझ का विकास कर सकती है, संघर्ष तथा घर्षण को कम कर सकती है और सहयोगी प्रयासों को प्रोत्साहित कर सकती है। फोलेट यह मानती हैं कि किसी के ऊपर शक्ति से पूरी तरह छुटकारा तो नहीं पाया जा सकता पर इसे कम अवश्यक किया जा सकता है। फोलेट शक्ति पर आगे अपने विचार प्रकट करती हुई कहती हैं कि शक्ति का न तो प्रत्यायोजन किया जा सकता है, न इसे किसी दूसरे को सौंपा जा सकता है और न इसे किसी से छीना जा सकता है क्योंकि यह किसी व्यक्ति की क्षमता और इच्छा का परिणाम होती है। पर वे मानती हैं कि शक्ति के विकास की स्थितियों की रचना की जा सकती है।

प्राधिकार या सत्ता पर फोलेट के विचार अन्य विचारकों से काफी भिन्नता रखते हैं। फोलेट के अनुसार सत्ता 'निहित शक्ति' को कहा जाता है अर्थात् शक्ति को विकसित करने तथा उसे लागू करने का अधिकार सत्ता कहलाता है। फोलेट कहती हैं कि सत्ता संगठन का आधार नहीं हो सकती क्योंकि इसका प्रयोग एक व्यक्ति अपने अधीनस्थों पर करने की कोशिश करता है इसलिए यह मानवीय गरिमा के खिलाफ होती है। फोलेट 'अन्तिम सत्ता' के विचार को एक भ्रम मानती हैं और कहती हैं कि सत्ता का स्रोत कार्य स्वयं होना चाहिए न कि मुख्य कार्यकारी की सत्ता से इसे निकालना चाहिए। 'कार्य की सत्ता' (authority of function) में प्रत्येक व्यक्ति उसे सौंपे गए कार्य से सत्ता प्राप्त करता है। वे कहती हैं कि एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति को सत्ता सौंपना सत्ता का प्रत्यायोजन नहीं होता। वे सत्ता के प्रत्यायोजन को एक 'विचित्र अभिव्यक्ति' (obsolete expression) कहती हैं। सत्ता के साथ-साथ फोलेट उत्तरदायित्व को भी कार्य और स्थिति से निकलने वाला मानती हैं। इसलिए 'वह किस के प्रति उत्तरदायी' है। इसी प्रकार फोलेट उत्तरदायित्व की बहुल विचारधारा या संचयी विचारधारा का समर्थन करती हैं तथा अन्तिम उत्तरदायित्व को भ्रम बताकर इसे अस्वीकार करती हैं।

नियन्त्रण (Control)

नियन्त्रण संगठन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। लगभग सभी शास्त्रीय सिद्धान्तकारों ने इसे संगठन के एक प्रमुख सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु यहाँ फोलेट के विचार अन्य शास्त्रीय विचारकों से भिन्नता रखते हैं। अन्य शास्त्रीय विचारकों के विपरीत फोलेट "तथ्य नियन्त्रण" पर "मानव नियन्त्रण" के बजाय अधिक जोर देती हैं और "अधि-आरोपित नियन्त्रण" के स्थान पर "सह-सम्बन्धात्मक नियन्त्रण" की वकालत करती हैं। चूँकि तथ्य स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं इसलिए नियन्त्रण को तथ्यों के ऊपर निर्भर होना चाहिए न कि अपने अधीनस्थों पर नियन्त्रण होना चाहिए। इसी प्रकार स्थितियाँ इतनी जटिल होती हैं कि केन्द्रीय नियन्त्रण को प्रभावी रूप से लागू करना कठिन हो जाता है। इसलिए फोलेट नियन्त्रण क्रियाविधि को संगठन के विभिन्न स्तरों से जोड़ने का सुझाव देती हैं। फोलेट कहती हैं कि एक एकीक त संगठन स्व-विनियमित और स्व-निर्देशित इकाई होता है। इस प्रकार के संगठनों में नियन्त्रण की प्रक ति स्व-नियन्त्रण की होती है।

अन्य विचार

मेरी पार्कर फोलेट ने लोक-प्रशासन को उत्क ष्ट योगदान किया। फोलेट उन विचारकों में से थीं जो लोक-प्रशासन और निजी-प्रशासन में कोई भेद न करते हुए इन्हें एक समान बताती हैं। यद्यपि फोलेट के व्याख्यान निजी उद्योगों के लिए दिए गए थे तथापि उनके निर्धारित उपाय निजी व्यापार के समान लोक-प्रशासन के क्षेत्र में भी समान रूप से लागू किए जा सकते

हैं वह मानती हैं कि लोक-प्रशासन के लिए "या/तो" (either/or) उपागम अति सरलतावादी है और इस बात की अवहेलना करता है कि मानव समाज स्वयं बहुलतावादी होता है। यह उपागम अति सत्तावादी है। फोलेट मानती हैं कि प्रशासन में 'मेलक क्रिया' (reconciliation) आवश्यक रूप से समाहित होती है जिसमें व्यक्तियों के साथ-साथ सामाजिक-समूह भी निहित होते हैं।

फोलेट संगठनात्मक मानवतावादी विचारक थीं और उन्होंने समूह-गतिशीलता, सत्ता व सहयोग, सहभागिता के महत्त्व आदि को समझने की आधारशिला रखी। फोलेट ने मेयो के होथोर्न प्रयोगों से पहले ही संगठन में मानवीय घटकों को उजागर किया था।

फोलेट के विचारों ने प्रबन्ध को एक नया द ष्टिकोण प्रदान किया। वे संगठन के शास्त्रीय उपागम को एक दिशावादी तथा मनुष्य को मशीन के रूप में मानने के कारण आलोचना करती हैं।

फोलेट व्यापारिक संगठनों के अध्ययन के मानवीय और मनोवैज्ञानिक उपागम पर जोर देती हैं। उनका द ष्टिकोण काफी मानवतावादी था। उनका मानना था कि किसी भी संगठन की प्रभावशीलता उस संगठन में व्यक्तियों और संगठन के बीच पाई जाने वाली एकीकरण की मात्रा पर निर्भर करती है। फोलेट व्यापार के 'मानवीय चेहरे' पर जोर देती हैं और कहती हैं कि हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम मानवीय पक्ष को यान्त्रिक पक्ष से कभी अलग नहीं कर सकते।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

निस्सन्देह फोलेट का प्रबन्ध को योगदान अति विशिष्ट है। उनके विचारों में नवीनता और मौलिकता थी। उनके विचार प्रशासन के लिए लाभदायक हैं परन्तु आलोचनाओं से परे नहीं हैं। फोलेट को विचारों के अति-आदर्शवादी मान कर उनकी आलोचना की जाती है। साथ ही उनके विचार प्रबन्धकीय अनुभव और वैज्ञानिक अध्ययनों के परिणाम न होना भी प्रमुख आालोचना है। डी. ग्विशियानी ने लिखा है—

"उनका दष्टिकोण विशुद्ध रूप से अनुभवमूलक था तथा उन्होंने संगठन के सामाजिक पहलुओं की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की।"

कुछ विचारक फोलेट को "शास्त्रीय विचारक" के रूप में मानते हैं जबकि अन्य उनकी यह कह कर आलोचना करते हैं कि उनके विचारों में कुछ भी 'शास्त्रीय' नहीं है। फोलेट की यह कहकर भी आलोचना की जाती है कि उन्होंने संगठनों के प्रबन्ध में सामाजिक पहलुओं को नजरअन्दाज किया है। डी. ग्विशियानीह पुनः वे लिखते हैं-

"उन्होंने समझ की कमी, गलतफहमियों तथा व्यक्तिगत गुणों में भिन्नता के कारण उत्पन्न मनोवैज्ञानिक संघर्षो पर ही ध्यान दिया है औ सभी सामाजिक और वर्गीय सम्बन्धों को एक तरफ फेंक दिया।"

एकीकरण पर फोलेट के विचारों को भी भ्रामक कहकर ग्विशियानी उनकी आलोचना करते हैं। इन आलोचनाओं के बावजूद प्रशासनिक विचारधारा को उनका योगदान श्रेष्ठ और पूर्वानुमान करने वाला माना जा सकता है। हेनरी मेटकॉफ तथा लिंडल उरविक लिखते हैं—

"उनकी अवधारणाएँ अपने समय से काफी आगे थीं। वे आज की विचारधारा से भी आगे हैं। उनके सुझाव इस व्यक्ति के लिए सोने की खदान के समान हैं जिनकी रूचि किसी उद्यम को चलाने में मानवीय सहयोग की स्थापना और उसके संधारण की समस्याओं में होती है।"

'द गोल्डन बुक ऑफ मैनेजमेन्ट' में उरविक लिखते हैं कि— "यह उनकी विशेष योग्यता थी कि परम्परागत अध्ययन विषय-राज्य या समग्र रूप से समुदाय-से वे प्रगतिशीलता की साथ उद्योग के अध्ययन की ओर ध्यान देते हुए मुड़ी। इस सन्दर्भ में उन्होंने मानवीय संघ और संगठन (विशेषतया उद्योग) के न केवल सिद्धान्त विकसित ही किए अपितु व्यवहार के बड़ी संख्या में व्यापारियों को उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिए उन सिद्धान्तों के बारे में विश्वस्त भी किया। उनका उपागम उस सहमति की प्रव त्ति का विश्लेषण करना था जिस पर कोई भी प्रजातान्त्रिक समूह आधारित होता है। उनके मनोवैज्ञानिक पहलुओं को इन्होंने रेखांकित किया। वे सुझाती हैं कि यह सहमति स्थिर नहीं है अपितु एक सतत् प्रक्रिया है जो व्यक्तियों के विचारों की विवेचना द्वारा नए और जीवन्त समूह विचारों को जन्म देती है।"

सारांश

'प्रबन्ध' की भविष्यवक्ता' मानी जाने वाली मेरी पार्कर फोलेट का प्रबन्ध जगत् में अपना अलग ही स्थान है। उनके विचार मौलिक थे तथा प्रबन्ध को एक नवीन द ष्टिकोण प्रदान करने वाले थे परन्तु दुर्भाग्य से उनको जीते-जी अधिक ख्याति प्राप्त न हो सकी। "क्रिएटिव एक्सपीरियंस" उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में से एक है।

फोलेट पहली प्रबन्ध विचारक थीं जिन्होंने संगठनों के संघर्षो का रचनात्मक उपयोग लेने की वकालत की। उनका आग्रह था कि संगठन में संघर्षों की न तो बुरा माना जाना चाहिए और न ही अच्छा, बल्कि इन्हें संगठन की सामान्य स्थिति मानकर उनका रचनात्मक उपयोग लेने का प्रयास करना चाहिए। फोलेट संगठन में संघर्षों को सुलझाने की तीन विधियों की वकालत करती हैं। प्रथम विधि है प्रभत्व, जिसके अन्तर्गत संघर्ष के निपटारे के लिए एक पक्ष दूसरे पक्ष पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। पर फोलेट इस विधि को स्थाई संघर्ष समाधान की विधि नहीं मानतीं। दूसरा तरीका है समझौता, जिसके अन्तर्गत दोनों पक्ष अपनी-अपनी माँगों में से कुछ को छोड़कर समझौता कर लेते हैं। यह विधि प्रभुत्व से बेहतर है। एकीकरण का फोलेट सबसे प्रबल विधि मानती हैं जिसके अन्तर्गत दोनों पक्ष अपनी-अपनी इच्छाओं को एकीक त करके संघर्ष का समाधान करते हैं। परन्तु फोलेट इस बात से भी सचेत थीं कि हर स्थिति में एकीकरण सम्भव नहीं हैं। साथ ही वे एकीकरण की बाधाओं की भी चर्चा करती हैं।

संगठनों में 'आदेश' के प्रश्न पर फोलेट गम्भीरता से विचार करती है। और 'स्थिति के नियम' का प्रतिपादन करती हैं। आदेश देने या आदेश न देने के मामले में 'मालिकानापन' से बचने के लिए फोलेट आदेशों के निर्वैयक्तिकरण का सुझाव देती हैं। वे कहती हैं कि किसी को न तो आदेश देना चाहिए और न ही लेना चाहिए जबकि आदेश स्थिति से ग्रहण करने चाहिए जिनसे कि इनकी अवहेलना न हो।

फोलेट समन्वय की स्थापना को संगठन का एक आवश्यक कार्य मानती हैं। वे समन्वय के चार सिद्धान्तों को रेखांकित करती हैं—प्रत्यक्ष सम्पर्क का सिद्धान्त, प्रारम्भिक अवस्था का सिद्धान्त, पारस्परिक सम्बन्धों का सिद्धान्त तथा सतत् प्रक्रिया का सिद्धान्त।

फोलेट नेत त्व के प्रश्न पर भी विचार करती हैं और नेत त्व के संगठन में तीन प्रमुख कार्य गिनाती हैं। पहला है समन्वय स्थापना, दूसरा है संगठन के उद्देश्यों को परिभाषित करना तथा तीसरा है पूर्वानुमान करना। फोलेट नेत त्व के तीन रूपों की पहचान करती हैं-पद से सम्बन्धित नेत त्व, व्यक्तित्व में सम्बन्धित नेत त्व तथा प्रकार्य से सम्बन्धित नेत त्व। फोलेट शक्ति और सत्ता मे भेद करती हैं तथा शक्ति के दो स्वरूपों-किसी के ऊपर शक्ति तथा किसी के साथ शक्ति की चर्चा करती है। फोलेट 'अन्तिम सत्ता' के विचार को एक भ्रम मानती हैं और आग्रह करती हैं कि सत्ता का स्रोत स्वयं कार्य होना चाहिए। इसी प्रकार फोलेट नियन्त्रण पर अपने विचार रखती हैं।

निस्सन्देह फोलेट ने प्रबन्ध को एक नया द ष्टिकोण प्रदान किया है। संगठनों के अध्ययन के मानवीय एवं मनोवैज्ञानिक उपागम पर जोर देने वाली फोलेट के विचारों की पुष्टि बाद के वर्षों में किए गए शोध-अध्ययनों से होती है।

(8) लोक प्रशाासन का ज्ञान रखने वाले प्रबुद्ध नेताओं की कमी।
(9) अन्तरराष्ट्रीय सीमाओं तथा लोक प्रशावन का गतिशील एवं व्यापक प्रसार।

सरकारी तंत्र में नित्य नये विभागों एवं उनके क्षेत्रीय कार्यालयों की स्थापना करने, बोर्ड, आयोग, संस्थान, निगम तथा अनय स्वयायतशासी संस्थाओं के निर्माण को प्रोत्साहन देने, कमजोर सूचना तंत्र होने, विशेषज्ञ सेवाओं का विस्तार करने, सूत्र एवं स्टाफ अभिकरणों में भेद स्पष्ट न रहने, कार्यों को दूसरों पर टाल देने, नियमों की अधिकता होने, आदेश की एकता का उल्लंघन करने तथा नित्य नई बड़ी परियोजनाओं को हाथ में लेने इतयादि के कारण भी समन्वय सम्बन्धी समस्याएँ आती हैं। संगठन में समन्वय की स्थापना के सम्बन्ध में पिफनर ने सुझाव दिये हैं कि–

(1) पदसोपान की रचना पूर्ण स्पष्ट हो तथा यह पिरामिड की तरह लगता भी हो। इसमें सत्ता एवं उत्तरदायित्व की स्पष्ट व्याख्या हो।
(2) संगठन का प्रत्येक कार्मिक अपनी इकाई क मुखिया के प्रति उत्तरदायी हो।
(3) बड़े मुख्य विभागों के अधीन उप विभागों का गठन, उद्देश्य, कार्य तथा आवश्यकता के आधार पर तुरन्त होना चाहिए।
(4) जहाँ तक संभव हो प्रत्येक विभाग स्वावलम्बी हो तथा उनकी एकीकरण प्रक्रिया समन्वय की आवश्यकताओं के अनुकूल हो।
(5) विभागों की संख्या कम ही होनी चाहिए ताकि मुख्य कार्यपालिका प्रभावी ढंग से उन पर नियंत्रण रख सके।
(6) प्रबंध तथा समन्वय के लिए सामान्य और सहायक स्टाफ सेवाएँ गठित की जानी चाहिए।
(7) बड़े संगठनों की सहायक क्रियाएँ जैसे कार्मिक प्रबंध तथा वित्त प्रत्यक्षतः मुख्य कार्यकारी के अधीन होनी चाहिए ओर वे व्यावसायिक विभागों में अपनी जैसी अन्य इकाइयों से निकट का मेल-जोल रखकर कार्य सम्पादित करें।
(8) सूत्र और स्टाफ अभिकरणों के भेद को किसी व्यावहारिक नियम के अन्तर्गत पुनर्गठित किया जाना चाहिए।

इसी तरह संगठन में समन्वय की स्थापना के लिए **न्यूमैन** ने पाँच पूर्व शर्त वर्णित की हैं–

(1) सरलीकृत संगठन
(2) सामंजस्यपूर्ण कार्यक्रम और नीतियाँ
(3) संचार के सुव्यवस्थित तरीके
(4) ऐच्छिक समन्वय की सहायता
(5) पर्यवेक्षण द्वारा समन्वय

न्यमैन का मानना है कि एकरूपी क्रियाओं से युक्त संगठन सरल प्रकृति क होते हैं जबकि एक ही संगठन में नाना प्रकार की क्रियाएँ एवं कार्य न केवल भ्रान्तियाँ उत्पन्न करते हैं बल्कि इससे समन्वय में भी बाधाएँ आती हैं, अतः एकरूपी क्रियाओं को किसी एक ही प्रशासनिक इकाई के अधीन रखा जाना चाहिए। समन्वय के लिए यह भी आवश्यक है विभिन्न कार्यक्रमों एवं नीतियों के मध्य परस्पर पूर्ण सामंजस्य हो और कार्य नियोजन के स्तर पर ही कर देना श्रेयस्कर है, अन्यथा बाद में बहुत देर हो जाती है। इसी तरह संगठन में सुस्थापित एवं त्वरित गति की संचार प्रणाली उच्च सत्ता के लिए एक सहायक अधिकारी का कार्य करती है क्योंकि बिना सूचना तो संगठन की एक भी गतिविधि का संचालन होना संभव नहीं है। इसी प्रकार **न्यूमैन** कहते हैं कि समन्वय, किसी पर लादा नहीं जा सकता बल्कि इसमें किंचित् स्वेच्छापूर्ण सहयोग आवश्यक है अतः संगठन में प्रयास किए जाने चाहिए कि कार्मिक स्वतः ही समन्वय को इच्छुक हों। ऐसा स्पष्ट एवं प्रभावशाली उद्देश्य के निर्धारण से, अनौपचारिक सम्बन्धों को विकसित करने से, मध्यस्थ व्यक्ति की नियुक्ति से, समितियों के प्रयोग से तथा परस्पर वार्तालाप एवं अधीनस्थों की समस्या सुनने एवं उनका तुरंत समाधान करने से संभव हो सकता है। पाँचवी पूर्व शर्त पर्यवेक्षण से जुड़ी है। यह आवश्यक है कि समय-समय पर कार्मिको का निरीक्षण ही न हो बल्कि उन्हें यथोचित मार्गदर्शन एवं सहायता भी प्रदान की जाए।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि संगठन तथा समन्वय का स्पष्ट सहसंबंध है। मूने के अनुसार–''संगठन में समन्वय के सभी तत्त्व होते हैं।'' अर्थात् समन्वय, उनकी द ष्टि में प्रथम सिद्धान्त तो है ही, शेष सिद्धान्त तथ संगठनात्मक प्रक्रियाएं समन्वय से ही जुड़ी होती हैं। किसी भी संगठन के निर्माण में नियंत्रण तथा निर्देशन सहित कार्यों की एक औचित्यपूर्ण व्यवस्था भी की जाती है ताकि कहीं कोई व्यवधान न हो। यदि सभी कुछ नियमानुसार तथा व्यावहारिकता के अनुरूप लोचशील ढंग से चले तो समन्वय की स्थापना बहुत कठिन भी नहीं है।

प्रर्यवेक्षण (Supervision)

किसी भी संगठन में नीतियों, कानूनों तथा योजनाओं का निर्माण जितना महत्त्वपूर्ण कार्य है, उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण एवं जटिल कार्य है, इनका संचालन तथा नियंत्रण। आधुनिक प्रशासनिक संगठनों में समन्वय के लिए अपनायी जाने वाली विधियों में नियंत्रण, पर्यवेक्षण, संचार तथा नेत त्व प्रमुख हैं। प्रशासनिक कार्यों के संचालन के लिए नियम-विनियम बना देना ही प्रर्याप्त नहीं है बल्कि क्रियान्यवन के स्तर पर दैनन्दिन निरीक्षण आवश्यक है। इसीलिए कहा जाता है कि–''जिस कार्य का निरीक्षण नहीं किया जाता, वह कार्य होता ही नहीं है।'' प्रशासनिक पदसोपान क्रम में ऊपर से नीचे तक सत्ता

तथा उत्तरदायित्वों की एक श्र ंखला होती है जिसमें प्रत्येक अधिकारी कर्मचारी का कोई न कोई पर्यवेक्षक भी होता है क्योंकि संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह अनिवार्य भी है। उच्चाधिकारी द्वारा निम्नाधिकारी के कार्य की जाँच तथा यथावश्यक परामर्श ही पर्यवेक्षण या अधीक्षण है।

अर्थ (Meaning)

पर्यवेक्षण, अंग्रेजी शब्द Super (उच्च) + Vision (द ष्टि) से बना है जिसका अर्थ है—देखने की उच्च शक्ति। शब्दकोषीय द ष्टि से सुपरवीजन का अर्थ है—''किसी वस्तु या व्यक्ति पर निगरानी रखना या यह जाँचना की कार्य विधिवत ढंग से हो रहा है या नहीं?'' लोक प्रशासन में इसका अर्थ ''**सत्ता सहित किसी कार्य या व्यक्ति की देखरेख''** से है।

रेनिंग के शब्दों में—''दूसरों के कार्यों का सत्ता के सहयोग से निर्देशन ही प्रर्यवेक्षण है।''

टैरी और फ्रेकंलिन के अनुसार—''पर्यवेक्षण का अर्थ बताए गए कार्य को पूरा करने के लिए कार्मिकों तथा अन्य साधनों के प्रयासों को दिशा और निर्देश देने से है।''

पर्यवेक्षण में मानवीय प्रक ति पर बल देते हुए **मार्गरेट विलियमसन** ने कहा है—''यह एक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत कर्मचारियों को उनकी आश्वश्कतानुसार सीखने, अपने ज्ञान तथा कौशल का सर्वोत्तम उपयोग करने तथा योग्यताओं में सुधान करने में किसी पदाधिकारी की सहायता प्राप्त होती है ताकि कर्मचारी अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकें ताकि इसमें कर्मचारियों एवं उनके संगठन को अधिकाधिक सन्तोष मिलता रहे।''[१६]

जी.डी. हेल्से ने पर्यवेक्षण की विस्त त प्रक्रिया में कई बातों को सम्मिलित किय है—

(1) प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति का चयन करना।

(2) प्रत्येक व्यक्ति में कार्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना तथा सिखाना कि वह कार्य को कैसे कर सकता है।

(3) कार्य सम्पन्न किए जाने की गति तथा कार्यक्षमता का मापन करना ताकि यह पता चल सके कि शिक्षण प्रभावशाली रहा या नहीं।

(4) जहाँ कहीं कमी या गलती रह गई हो उसे सुधारना तथा जिन कार्मिकों के लिए आवश्यकता प्रतीत हो उन्हें दूसरे कार्य पर लगा देना और काई अक्षम सिद्ध हो तो उसे हटा देना।

(5) अच्छे कार्य के लिए प्रशंसा करना तथा पुरस्कार देना।

(6) प्रत्येक व्यक्ति को व्यवस्थित रूप से एक कार्यकारी समूह में रखना।

हेल्से हिदायत देते हैं कि यह सब पूर्ण निष्पक्षता, धैर्य और चालाकी से किया जाना चाहिए ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कार्यकुशलता भली प्रकार से, उत्साहपूर्वक ढंग से एवं बुद्धिमता से पूरी कर सके।[17]

वस्तुतः पर्यवेक्षण एक कौशल युक्त विधि है जिसकी निम्नांकित **विशेषताएँ** कही जा सकती हैं—

(1) यह एक सतत् प्रक्रिया है।

(2) यह एक दोहरी प्रक्रिया भी है। एक ओर इसमें दिशा-निर्देश दिये जाते हैं तो दूसरी ओर यह दूसरों के कार्य का निरीक्षण भी है।

(3) संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति, अनुशासन एवं समन्वय की स्थापना तथा कार्मिकों की सहायता इसके प्रमुख उद्देश्य हैं।

(4) यह एक व्यापक अवधारणा से युक्त प्रक्रिया है जो संगठन के उद्देश्य, कार्य की प्रक ति तथा पदसोपान के स्तरों से प्रभावित रहती है; उदाहरण के लिए किसी कारखाने में कार्य करने वाले श्रमिकों तथा किसी कार्यालय में कार्यरत लिपिकों का पर्यवेक्षण सर्वथा प थक् प्रक ति का होगा। इसी प्रकार कुशल, व्यावसायिक तथा विशेषज्ञ का पर्यवेक्षण, एक अकुशल कार्मिक से अलग होगा। संगठन के उच्च स्तर पर किया जाने वाला पर्यवेक्षण सीमित क्षेत्र, किन्तु बहुत चतुराई की माँग करता है, जबकि निम्नतम स्तर पर किये जाने वाले में पर्यवेक्षण में निरन्तरता तथा व्यापकता होनी अपेक्षित है।

(5) पर्यवेक्षण का समन्वय, अभिप्रेरणा, नेत त्व, कार्मिक-संतुष्टि तथा निष्पादन क्षमता से सीधा सम्बन्ध है।

(6) पर्यवेक्षण, केवल एक प्रशासनिक प्रक्रिया ही नहीं बल्कि एक शैक्षिक गतिविधि भी है।

द ष्टिकोण (Views)

पर्यवेक्षण को सामान्यतः दो द ष्टिकोणों से देखा जाता है—

1. **नकारात्मक**—नकारात्मक द ष्टि से पर्यवेक्षण परम्परागत निरीक्षण का पर्याय है जिसमें कर्मियों को ढूँढना तथा अधीनस्थों में भय का वातावरण बनाना सम्मिलित है। इस प्रकार के पर्यवेक्षण में केवल सदस्यों की गतिविधयों का निर्देशन तथा जाँच सम्मिलित है।

2. **सकारात्मक**—सकारात्मक द ष्टि से पर्यवेक्षण में सदस्यों को कार्य की सर्वोत्तम दशाएँ उपलब्ध कराना, सुविधाओं का ध्यान रखना तथा मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन प्रदान करना सम्मिलित है।

वस्तुतः पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण में अंतर केवल द ष्टिकोण का ही है। **निरीक्षण** (Inspection), पर्यवेक्षण की प्रक्रिया का एक अंग का हिस्सा भर है क्योंकि पर्यवेक्षण में शिक्षण तथा प्रोत्साहन भी सम्मिलित है;

प्रकार (Types)

मिलेट ने पर्यवेक्षण के दो भेद बताये हैं–

1. **मूलभूत या वास्तविक पर्यवेक्षण** (Substantive Supervision)–मूलभूत या वास्तविक पर्यवेक्षण वह होता है जो किसी संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले वास्तविक कार्य से सम्बन्धित होता है। जैसे–सचिवालय में किसी अनुभाग के कार्य की जाँच करना।

2. **तकनीकी पर्यवेक्षण** (Technical Supervision)–तकनीकी पर्यवेक्षण वह होता है जो किसी संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनाये जा रहे तरीकों या तकनीकों से सम्बन्धित होता है। जैसे–सचिवालय में टाइपिस्टों के कार्य का पर्यवेक्षण करना।

तीसरी श्रेणी में **एकल या बहुल** पर्यवेक्षण को सम्मिलित किया जा सकता है। किसी कार्य या व्यक्ति को जब एक पर्यवेक्षक देखता है तो यह एकल (Single) पर्यवेक्षण कहलाता है। **हेनरी फेयोल** इसी के समर्थक हैं। बहुल (Plural) पर्यवेक्षण में कई पर्यवेक्षक सम्मिलित होते हैं। यह टेलर की ''कार्यात्मक फोरमैनशिप'' का परिचायक है।

चौथी श्रेणी में **सूत्र** (Line) **तथा कार्यात्मक** (Functional/Staff) पर्यवेक्षण को सम्मिलित किया जाता है। सूत्र पर्यवेक्षण पदसोपान क्ष ंखला से जुड़ा मूलभूत पर्यवेक्षण है, जबकि कार्यात्मक पर्यवेक्षण विशेषज्ञों द्वारा किए जाने वाला पर्यवेक्षण होता है।

पर्यवेक्षण की विधियाँ या तकनीकें (Methods or Techniques of Supervision)

यद्यपि किसी संगठन में पर्यवेक्षण की कौनसी विधि अपनायी जा सकती है, यह संगठन के उद्देश्यों, आकार, कार्य की प्रक ति तथा अन्य कई काराकों पर निर्भर करता है तथापि **मिलेट** द्वारा बताई गई यह छः विधियाँ पर्यवेक्षकों द्वारा प्रायः काम में ली जाती हैं।

1. पूर्व स्वीक ति–जिस प्रकार नियोजन, समन्वय के लिए प्रथम तथा कारगर विधि है, उसी प्रकार पर्यवेक्षण के लिए भी योजनाओं एवं कार्यों का पूर्व अनुमोदन (Approval) एक प्रभावी हथियार है। इस तकनीक में कार्य या योजना शुरू करने से या कोई नीति बनाने से पहले ही अधीनस्थ व्यक्ति या अभिकरण को उच्च सत्ता से स्वीक ति लेनी पड़ती है। इस तकनीक से पर्यवेक्षणक को संगठन की नीतियों, योजनाओं तथा भावी कार्यक्रमों की पहले ही जानकारी मिल जाती है। योजना या कार्य को स्वीक ति देते समय ही यह परिवर्तन एवं सुधार सुझा सकता है। पर्यवेक्षक या नियंत्रणकर्ता को यह भी पता चल जाता है कि कार्य में सम्भावित बाधाएँ क्या होगीं। कठिनाइयों, विवादों तथा भ्रान्तियों का समाधान भी समय रहते किया जा सकता है। भारत में सरकारी विभागों के कार्यक्रमों की अधिकांश पूर्व स्वीक त्तियाँ वित्त विभाग द्वारा दी जाती हैं। इस प्रकार अन्य बहुत से कार्यों की स्वीक ति विभागाध्यक्ष तथा कार्यालयाध्यक्ष भी जा जारी करते हैं।

एक कारगर नियंत्रण-निर्देशन विधि होते हुए भी इस तकनीक की यह कहकर आलोचना की जाती है कि इस कार्य में अनावश्यक विलम्ब होता है तथा लालफीताशाही पनपती है। कर्मचारियों तथा अधिकारियों में तनाव बढ़ता है तथा संगठन को बहुत हानि भी उठानी पड़ती है। यह आरोप भी लगाया जाता है यह तकनीक प्रायः औपचारिकताओं की पूर्ति करती है तथा पक्षपातपूर्ण भी है। आपालकालीन परिस्थितियों में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

2. सेवा एवं कार्यों का मानकीकरण–पर्यवेक्षण की दूसरी तकनीक यह है कि शीर्ष प्रबन्धन द्वारा अभिकरण में संचालित होने वाली सेवाओं या कार्यों का लक्ष्य, स्तर निर्धारित करना या मानकीकरण (Standardization) कर देना। इससे यह जाँचना आसान हो जाता है कि कोई कार्मिक या इकाई निर्धारित मानके के अनुसार कार्य कर रही है या नहीं। चूँकि पर्यवेक्षक के पास एक मापदण्ड होता है, अतः कार्यकुशलता तथा निष्पादन का सरलता से मूल्यांकन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए किसी टाइपिस्ट के लिए प्रतिदिन प ष्ठों की संख्या निर्धारित करना, नर्स के लिए रोगियों की संख्या निर्धारित करना अथवा कक्षा में अध्यापक के कार्य के मापन हेतु छात्र-प्रगति निश्चित करना इत्यादि सेवा या कार्य के स्तर हैं जो पर्यवेक्षण में सहायता कर सकते हैं। यद्यपि **मिलेट की नजर में** इस तकनीक से कार्य को टालने तथा विलम्ब की प्रव त्ति पर अंकुश लग सकता है किन्तु प्रत्येक सेवा एवं कार्य के मापदण्ड निष्पक्ष एवं व्यावहारिक रूप से निर्धारित करना एक कठिन कार्य है। एक आपत्ति यह भी उठायी जाती है कि कार्य की मात्रा तथा गुणवत्ता में भारी अंतर होता है अतः सेवा मानकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है।

3. कार्य-बजट–पर्यवेक्षण की यह भी एक प्रभावी तकनीक है। इस विधि से उच्च प्रबन्धकों का निम्न स्तरीय इकाइयों पर सरलता से नियंत्रण हो जाता है। बजट, अपने आप में नियंत्रण का एक प्रभावी हथियार है। इस विधि में निम्न स्तरीय इकाइयों के विभिन्न कार्यों तथा गतिविधियों के लिए आवश्यक धनराशि की मात्रा निश्चित कर दी जाती है। कोई भी इकाई आंवटित धनराशि से अधिक व्यय नहीं कर सकती है और न ही किसी दूसरे कार्य के लिए बजट का उपयोग कर सकती है। यह एक ऐसी विधि मानी जाती है जिसमें केन्द्रीय नियंत्रण की व्यवस्था पर कोई विपरीत प्रभाव डाले बिना स्थानीय स्तर की पहल को भी प्रोत्साहित किया जा सकता है।

4. कार्मिकों की स्वीक ति–सरकारी अभिकरणों में कोई भी संस्था अपने समस्त प्रकार के कार्मिकों की भर्ती एवं नियुक्ति के क्रम में स्वतंत्रता प्राप्त नहीं रहती है। कार्मिकों के चयन एवं नियुक्ति की स्वीक ति के अधिकार प्रायः उच्च स्तरीय सत्ता में निहित होते हैं। अधीनस्थ संगठनों पर नियंत्रण की इस विधि से अनावश्यक व्यय तथा पक्षपात पर अंकुश लगाया जा सकता है। कार्य संचालन से जुड़े संगठनों को केवल अधीनस्थ एवं निम्न स्तरीय कार्मिकों अभिकरणों (जैसे लोक सेवा आयोग) के माध्यम से भरे जाते हैं। जो नियुक्तियाँ, पदोन्नतियाँ तथा कार्मिक सेवा सुधार सम्बन्धी आदेश अधीनस्थ संगठनों द्वारा दिए जाते हैं उनकी स्वीक ति भी उच्च स्तर से ही जारी होती है।

5. प्रतिवेदन–उच्च स्तरीय सत्ता या प्रबन्धकों को कार्य की प्रगति तथा संगठनात्मक गतिविधियों से अवगत कराने की एक

लोकप्रिय तकनीक है—रिपोर्ट भेजना। इन दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, छमाही या वार्षिक, विशिष्ट या तदर्थ रिपोर्टों के आधार पर प्रबन्धक या पर्यवेक्षक कार्य की वास्तविक प्रगति से अवगत हो जाते हैं तथा मूल्यांकन भी कर लेते हैं। इन प्रतिवेदनों में संगठन की प्रमुख गतिविधियों, उपलब्धियों तथा कमियों की चर्चा की जाती है। इकाई से प्राप्त रिपोर्ट के विश्लेषण से पर्यवेक्षक को प्रशंसा करने या चेतावनी देने या कार्यक्रम में संशोधन सुझाने का अवसर प्राप्त होता है।

6. निरीक्षण—निरीक्षण या जाँच-पड़ताल, पर्यवेक्षण की एक प्राचीनतम तकनीक है। जब से संगठन बने हैं तब से निरीक्षण, नियंत्रण की एक प्रमुख विधि रही है। निरीक्षण का उद्देश्य यह देखना है कि अधीनस्थ इकाइयाँ निर्धारित मानकों, नियमों तथा कार्यविधियों के अनुरूप कार्य कर रही हैं या नहीं? अधीनस्थ इकाइयों का कार्य-निष्पादन, मुख्यालय या उच्च स्तर की अपेक्षाओं के अनुरूप होना चाहिए। उच्चाधिकारी अथवा पर्यवेक्षक स्वयं जाकर किसी कार्यालय एवं कार्मिकों का निरीक्षण कर वस्तुस्थिति का पता लगाते हैं। **एल.डी.व्हाईट ने निरीक्षण के अन्तर्गत निम्नलिखित को सम्मिलित माना है—**

(1) कानून या प्रशासनिक आदेशों द्वारा मानकों का निर्धारण किया जाता है।
(2) इनका पालन नहीं करने पर दण्ड देने की व्यवस्था होती है।
(3) निरीक्षण करना अनिवार्य प्रक्रिया है।
(4) आदेशों की पालन की जाँच कार्य स्थल पर जाकर की जाती है।
(5) आवश्यकता लगे तो आदेश में संशोधन किया जाता है।
(6) अनुशासनात्मक कार्यवाही हो तो अपील का अधिकार दिया जाता है।
(7) अदालतों द्वारा समीक्षा का अवसर रहता है।

मिलेट ने निरीक्षण, खोजबीन तथा पर्यवेक्षण में अंतर किया है। उनके अनुसार—''निरीक्षण का उद्देश्य सूचना प्राप्त करना है तथा निरीक्षण अपने आप में प्रबन्ध का प थक् कार्य नहीं है बल्कि पर्यवेक्षण प्रक्रिया का एक भाग है। खोजबीन या जाँच-पड़ताल (Investigation) का उद्देश्य प्रबन्धकीय सत्ता से दुरूपयोग या किसी सन्देहास्पद घटना की जाँच से सम्बन्धित है।'' इस प्रकार निरीक्षण, कार्योत्तर समीक्षा (कभी-कभी कार्य के दौरान भी) तथा नकारात्मक द ष्टिकोण का पर्याय है जबकि पर्यवेक्षण एक विस्त त सकारात्मक तथा कार्य से पूर्व या कार्य के दौरान या पश्चात् तीनों अवस्थाओं की प्रक्रिया है। निस्संदेह, निरीक्षण तो पर्यवेक्षण की एक प्रमुख तकनीक है। संगठन में पदसोपानात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत निरीक्षण का कार्य भी निश्चित रहता है।

पर्यवेक्षक (Supervisor)

सामान्यतः यह प्रश्न उठाया जाता है कि पर्यवेक्षक कौन होता है? अधिसंख्य विद्वानों की राय है कि पदसोपानात्मक व्यवस्था में उच्चाधिकारी, निम्नाधिकारी का पर्यवेक्षक होता है। कुछ संगठनों में पर्यवेक्षक या सुपरवाइजर नामक विशिष्ट पद होता है तो कुछ में अधीक्षक को यह कार्य सौंपा जाता है लेकिन अधिकांश संगठनों में पर्यवेक्षक का प थक् से कोई पद नहीं होता है। राज्य सचिवालय में मुख्य सचिव, विभाग में विभागीय सचिव, निदेशालय में निदेशक, जिले में जिला कलेक्टर या विभाग का जिलाधिकारी तहसील में तहसीलदार, पंचायत समिति में विकास अधिकारी तथा महाविद्यालय में प्राचार्य ही पर्यवेक्षक होते हैं। बहुधा किसी संगठन में एक कार्मिक के कई पर्यवेक्षक भी हो सकते हैं। यह कार्य की प्रक ति तथा संगठन की संरचना पर निर्भर करता है। आदेश की एकता के सिद्धान्त के विरुद्ध टेलर ने यह सुझाया था कि श्रमिकों को कई पर्यवेक्षकों (कार्य क्षेत्रानुसार) द्वारा निर्देशित किया जाना चाहिए

मार्क्स के अनुसार—''पर्यवेक्षक एक ऐसा व्यक्ति होता है जो किए जाने वाले कार्य तथा प्रबन्धकों द्वारा निर्धारित नीतियों और कार्यविधियों को जानता है और जो इन नीतियों और कार्यविधियों के ढाँचे में कार्मिकों को कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकता है।''

पर्यवेक्षक **दो प्रकार** के होते हैं—

1. सूत्र पर्यवेक्षक—सूत्र पर्यवेक्षक वे होते हैं जो पदसोपानात्मक व्यवस्था से जुड़े होते हैं तथा उनका सत्ता की कमान से सीधा सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए पुलिस महानिदेशक, पुलिस महानिरीक्षक का तथा पुलिस महानिरीक्षक, जिला पुलिस अधीक्षक का सूत्र पर्यावेक्षक है।

2. कार्यात्मक (स्टाफ) पर्यवेक्षक—जब किसी कार्मिक के कार्य का पर्यवेक्षण उसके मूल विभाग या इकाई के अतिरिक्त अन्य सम्बद्ध संगठन या विषय विशेषज्ञ द्वारा किया जाता है तो वह कार्यात्मक पर्यवेक्षक कहलाता है। उदाहरण के लिए जिला कलक्टर (शांति व्यवस्था के लिए), जिला पुलिस अधीक्षक का कार्यात्मक पर्यवेक्षक है या महालेखकार (सी.ए.जी. का कार्मिक) सभी विभागों का कार्यात्मक पर्यवेक्षक है।

पर्यवेक्षक के कार्य (Functions of a Supervisor)

एफ.एम.मार्क्स की द ष्टि में, सामान्यतः किसी भी संगठन में पर्यवेक्षक निम्नलिखित तीन प्रकार के कार्य करता है—

1. वास्तविक या तकनीकी पक्ष—यह कार्य पर्यवेक्षक का मूलभूत कार्य है जो संगठन के लक्ष्यों, नीतियों, कार्यक्रमों तथा अधीनस्थ द्वारा की जा रही गतिविधियों या कार्यों के पर्यवेक्षण से सम्बन्धित होता है। पर्यवेक्षक उसी अवस्था में अधीनस्थ को परामर्श तथा मार्गदर्शन दे सकता है जबकि वह स्वयं उस कार्य को सम्पादित करने की कला जानता हो। कार्य का मापन, निर्धारण, आबंटन तथा समस्या-समाधान इसी वर्ग के कार्य हैं।

2. संस्थागत पक्ष—इस श्रेणी में वे कार्य सम्मिलित किए गए हैं जो संगठन के नियमों, क्रियाविधियों की अनुरूपता के क्रम में

होते हैं। अतः पर्यवेक्षक को यह ज्ञान होना चाहिए कि इस संस्था के वास्तविक उद्देश्य क्या हैं तथा अधीनस्थों को क्या समझाना है? वस्तुतः अधीनस्थों के आचरण एवं अवज्ञा के लिए पर्यवेक्षक ही उत्तरदायी होता है क्योंकि संस्था की छवि कार्मिकों के आचरण से जुड़ी होती है।

3. कार्मिक पक्ष—यहाँ पर्यवेक्षक तथा अधीनस्थों के मध्य मानवीय सम्बन्धों की व्याख्या महत्वपूर्ण है। पर्यवेक्षक के पास, अधीनस्थों से काम लेने का अधिकार तो होता है लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसे मानवीय संवदेनाओं, समस्याओं तथा सम्बन्धों के क्रम में चेतनापूर्वक कार्य करना चाहिए।

जे.डी. मिलेट का मानना है कि पर्यवेक्षक के कार्यों में विभिन्न अंगों में समन्वय तथा प्रत्येक इकाई को दिए गए कार्य का सफल निष्पादन को सुनिश्चित करना सम्मिलित है।

एच.निसेन ने पर्यवेक्षक के निम्नांकित कार्य बताए हैं—

(1) अपने पद के कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान रखना।

(2) कार्य की योजनाएँ बनाना।

(3) अधीनस्थों में कार्यों का विभाजन करना और प्रत्येक को उक्त कर्त्तव्य पालन के लिए प्रेरित करना।

(4) कार्यप्रणाली, नियमों तथा कार्यविधियों में सुधार करना।

(5) स्वयं का ज्ञान, सूचना तथा कौशल निरन्तर बढ़ाते रहना।

(6) अधीनस्थों को प्रशिक्षित करना।

(7) अधीनस्थों के कार्यों का मूल्यकांन करना कि कार्य कितना और कैसा हुआ।

(8) गलतियों को सुधारना, कार्य की कठिनाइयाँ दूर करना तथा अनुशासन बनाए रखना।

(9) संगठन की नीतियों से अधीनस्थों को अवगत कराना तथा यह बताना कि संगठन की संरचना एवं उद्देश्य क्या हैं तथा कोई परिवर्तन आए हैं तो वे क्य हैं?

(10) सहकर्मियों तथा अधीनस्थों के साथ सहयोग भाव से कार्य करना।

(11) अधीनस्थों की शिकायतों को सहानुभूतिपूर्वक सुनना तथा उनको दूर करने का प्रयास करना। यदि कोई सुझाव अधीनस्थ दें तो उसे आदरपूर्वक प्राप्त करना एवं उस पर मनन करना।

रेन्सिस लिकर्ट ने **मिशिगन** (Michigan) अध्ययनों के आधार पर पर्यवेक्षकों को दो प्रकारों (शैलियों) में विभक्त करते हुए उनके द ष्टिकोण इस प्रकार बताए हैं—

अच्छे पर्यवेक्षक के गुण (Qualities of a Good Supervisor)

एक अच्छे पर्यवेक्षक के गुणों में **पिफनर** ने निम्नांकित को सम्मिलित किया है।

(1) कार्य से सम्बन्धित पूर्ण ज्ञान

(2) व्यक्तिगत योग्यताएँ जैसे—द ढ़ चरित्र

(3) एक अच्छे शिक्षक की योग्यताएँ

(4) उसे अपने कार्य से प्रेम हो तथा अधीनस्थों को भी प्रेरित करे

(5) साहस और सहनशीलता

(6) नैतिकता तथा सदाचार

(7) प्रबन्धकीय योग्यता तथा जिज्ञासा

(8) बौद्धिक सतर्कता एवं नवाचार प्रव त्तियाँ।

इसी प्रकार **हेल्से** ने अच्छे पर्यवेक्षक के लिए निम्नांकित गुण बताये हैं—

(1) कार्य एवं सभी मामलों की पूरी जानकारी (परिपूर्णता)

(2) निष्पक्षता, न्यायप्रियता तथा सहानुभूति (औचित्य)

(3) साहस एवं आत्मविश्वास (पहल)

(4) लोगों से कार्य करवाने की कला (चतुराई)

(5) कर्त्तव्य, आदेर्शों तथा रुचियों से भरपूर (उत्साह)

(6) भावनात्मक नियंत्रण।

सरकारी संगठनों में सभी प्रकार के व्यक्ति कार्य करते हैं तथा बहुत से व्यक्ति वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नत होकर पर्यवेक्षक

की भूमिका में आ जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक पर्यवेक्षक उन योग्यताओं तथा कुशलताओं से युक्त हो ही, जो कि एक अच्छे पर्यवेक्षक के लिए आवश्यक है। सामान्यतः यह मान्यता रही है कि अच्छे पर्यवेक्षक बनाए नहीं जाते बल्कि वे पैदा होते हैं। लेकिन प्रशिक्षण की आधुनिक तकनीक जैसे सम्मेलन विधि, कार्य के दौरान प्रशिक्षण तथा अन्य संगठनात्मक-व्यवहार सम्बन्धी प्रयोगों के माध्यम से पर्यवेक्षकीय गुणों का विकास किया जा सकता है। **हेल्से** का कहना है कि–''कई बार यह सिद्ध हो चुका है कि सामान्य बुद्धि तथा ईमानदारी से लोगों की सेवा के इच्छुक व्यक्तियों में पर्यवेक्षण का कार्य सफलतापूर्वक करने के लिए आवश्यक गुण विकसित किए जा सकते हैं; आवश्यक तकनीकें सिखाई जा सकती हैं और उनके प्रयोग की विधा को अभ्यास द्वारा स्थायी बनाया जा सकता है।''

नियंत्रण

(Control)

संगठन की व्यवस्था बनाए रखने हेतु तथा इसके समस्त अंगों को विधिवत् ढंग से संचालित करने के लिए 'नियंत्रण' आवश्यक है। वस्तुतः नियंत्रण, संगठन का वह अमूर्त्त तत्त्व तथा प्रक्रिया है जो अन्य स्वरूपों में अपना कार्य करता है तथा संगठन की प्रक्रियाओं जैसे संचार, समन्वय, पर्यवेक्षण, सत्ता तथा उत्तदायित्व इत्यादि से घुल मिल गया है। बहुधा निरीक्षण, पर्यवेक्षण, समन्वय, जाँच-पड़ताल तथा नियंत्रण एक जैसे ही प्रतीत होते हैं जबकि इनमें काफी अंतर है। **नियंत्रण संगठन की अधिकांश प्रक्रियाओं का एकउद्देश्य है जो संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।**

अर्थ (Meaning)

शब्दकोषीय द ष्टि से–''निर्देश देने, आदेश देने तथा प्रबन्ध करने की सत्ता या शक्ति, नियंत्रण है या किसी चीज का प्रबन्ध अथवा प्रतिबन्ध नियंत्रण है।''

थियो हैमेन के शब्दों में–''नियंत्रण, देखभाल करने की एक प्रक्रिया है ताकि यह पता किया जा सके कि नियोजन के अनुसार किया जा रहा है या नहीं, लक्ष्यों की दिशा में प्रगति हो रही है या नहीं और यदि आवश्यक हो तो सुधार के लिए क्या प्रयास किय जाए।'' ऐसी ही परिभाषा **हेनरी फेयोल** ने दी है।

ई.एफ.एल. ब्रेच के अनुसार–''निर्धारित प्रमापी या योजनाओं से वास्तविक निष्पादन की तुलना करने की प्रक्रिया नियंत्रण कहलाती है, जिससे इस बात का पता लग जाए कि पर्याप्त प्रगति अथवा सन्तोषजनक निष्पादन हो रहा है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार से प्राप्त किए गए अनुभव को सम्भावित भावी आवश्यकताओं कीपूर्ति हेतु योगदान के रूप में अंकित किया जा सके।''

मैक्फारलैण्ड के अनुसार–''नियंत्रण एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अधिकारी अपने अधीनस्थों के निष्पादन की तुलना निर्धारित योजनाओं, आदेशों, उद्देश्यों अथवा नीतियों के अनुसार अथवा इनकेनिकट करते हैं।''

वस्तुतः नियंत्रण संगठन की व्यवस्था को बनाए रखने तथा उसके उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक **''सुधारात्मक उपाय'' है जिसे प्रायः ''प्रबन्ध का नकारात्मक पक्ष''** भी मान लिया जाता है। यदि नियंत्रण (प्रायः कठोर) नहीं हो तो संगठन में भ्रष्टाचार, अकर्मण्यता, अनैतिकता, अनुत्तरदायित्व तथा अव्यवस्था का जन्म होता है। इन सभी जटिल समस्याओं को नियंत्रण के द्वार रोका जाता है, अतः नियंत्रण किंचित् कठोर एवं अलोकतांत्रिक प्रक ति की प्रक्रिया दिखाई देती है जबकि वह संगठन की मूलीभूत आवश्यकता भी है।

विशेषताएँ (Characteristics)

नियंत्रण की निम्नांकित विशेषताएँ कही जा सकती हैं–

(1) यह संगठन में चलने वाली सतत् एवं गतिशील प्रक्रिया है।

(2) यह संगठन के प्रत्येक स्तर पर कार्य करती है।

(3) नियंत्रण का मूलभूत या गुरुत्तर दायित्व 'सूत्र अभिकरण' का होता है।

(4) यह संगठन के लक्ष्यों, कार्यों, योजनाओं तथा प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में व्यवस्था बनाए रखने हेतु किया जाता है।

(5) नियंत्रण का प्रबंधकीय कार्य ''नकारात्मक'' प्रतीत होता है जबकि यह एक सुधारात्मकउपाय है।

(6) यह संगठन के कार्मिको से ही सम्बन्धित नहीं है बल्कि नीति, भौतिक साधनों, उत्पाद या सेवाओं, कार्य प्रणाली, लागत-लाभ तथा अन्य सभी पक्षों के नियंत्रण से सम्बन्धित है।

(7) नियंत्रण तथा दण्ड का सहसम्बन्ध होता है।

नियंत्रण के प्रकार (Types of Control)

हेनरी फेयोल ने किसी व्यापारिक संगठन के सम्बन्ध में पाँच प्रकार के नियंत्रणों को वर्णित किया है–

(1) कच्ची सामग्री, गुणवत्ता, कीमत तथा भण्डारण पर नियंत्रण

(2) कार्मिक एवं अन्य संसाधनों पर तकनीकी नियंत्रण

(3) वित्तीय नियंत्रण

(4) सम्पत्ति, संसाधन तथा कार्मिकों की सुरक्षा हेतु नियंत्रण

(5) लेखा सधारण पर नियंत्रण

नियंत्रण की आवश्यकता तथा प्रकार, सम्बन्धित संगठन के कार्य क्षेत्र पर निर्भर करते हैं। **औद्योगिक संगठनों** में नीतियों पर

नियंत्रण, संरचना पर नियंत्रण, कार्मिकों पर नियंत्रण, वेतन (मजदूरी) पर नियंत्रण, लागत पर नियंत्रण, कार्यप्रणाली एवं तकनीक पर नियंत्रण, पूँजी-व्ययों पर नियंत्रण, सेवा कार्यों पर नियंत्रण, उत्पाद पर नियंत्रण, शोध एवं विकास पर नियंत्रण, जनसम्पर्क पर नियंत्रण तथा सम्पूर्ण संगठन पर नियंत्रण प्रमुख रहते हैं तो **लोक प्रशासन के संगठनों** में प्रायः रूढ़िवादी तरीके से कुछ ही नियंत्रण किये जाते हैं। इनमें सर्वप्रमुख रूप से वित्तीय नियंत्रण, कार्मिक नियंत्रण, संसाधन नियंत्रण, परियोजना नियंत्रण, भण्डार नियंत्रण, सेवा शर्तें नियंत्रण, वैधानिक एवं राजनीतिक नियंत्रण, आचरण-नियंत्रण, जन शिकायत नियंत्रण, सरकारी सत्ता के दुरुप्रयोग पर नियंत्रण, स्वविवेकाधिकारों पर नियंत्रण तथा लेखा नियंत्रण इत्यादि सम्मिलित हैं।

नियंत्रण के साधन (Methods of Control)

किसी भी संगठन की संरचना तथा कार्यप्रणाली अपने आप में नियंत्रण का एक स्वरूप होती है। नियंत्रण तो अधिकांशतः मानव व्यवहार पर किया जाता है। कतिपय साधन इस प्रकार है–

(1) संगठन की संरचना तथा पदसोपान
(2) सत्ता एवं उत्तरदायित्व (जवाबदेयता)
(3) संगठन के नियम, कानून, प्रक्रियाएँ तथा कार्यविधियाँ
(4) आचार-संहिताएँ एवं सेवाशर्तें
(5) उच्च स्तरीय प्रबन्ध एवं मुख्यालय (सूत्र अभिकरण)
(6) निरीक्षण, जाँच पड़ताल तथा पर्यवेक्षण
(7) आन्तरिक अनुशासन तथा प्रतिबन्धात्मक नियम
(8) कार्य या सेवा का मानकीकरण
(9) निष्पादन मूल्यांकन
(10) नीति, योजना, कार्यक्रम तथा आदेशों में वर्णित प्रावधान
(11) आदेश की एकता
(12) प्रतिवेदन
(13) बजट
(14) कर्त्तव्यों की सीमाएँ
(15) अंकेक्षण

नियंत्रण के अन्य साधन (Other Methods of Control)

अवलोकन
उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध (M.B.O.)
प्रबन्ध सूचना व्यवस्था (M.I.S.)
प्रबन्धकीय अंकेक्षण
पर्ट
सी.पी.एम.

लोक प्रशासन से सम्बन्धित संगठनों पर नियंत्रण की उपुर्यक्त विधियाँ (साधन) कार्यपालिका तथा आन्तरिक नियंत्रण की पर्याय हैं। अन्य विधियों में **विधायी नियंत्रण, न्यायिक नियंत्रण, जनमत तथा मडिया** द्वारा नियंत्रण इत्यादि प्रमुख है। प्रभावशाली नियंत्रण के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व ''समय'' है, अर्थात् प्रत्येक कार्य एवं प्रक्रिया पर नियंत्रण, समय रहते किया जाना चाहिए। साँप निकलने के पश्चात् लकीर पीटने की परम्परा से नियंत्रण व्यवस्था प्रभावशाली नहीं रह पाती है। दुर्भाग्य से लोक प्रशासन से सम्बन्धित अधिकांश नियंत्रण प्रणालियाँ तथा तकनीकें ''पोस्टमार्टम'' विधि पर ही आधारित हैं। प्रभावशाली नियंत्रण के लिए प्रायः यह सुझाया जाता है कि नियंत्रण संगठनात्मक स्वरूप में किया जाना चाहिए, नियंत्रण की प्रक्रिया सरल तथा सुगम होनी चाहिए; लोचशील तथा नवाचारों से पूर्ण होनी चाहिए; भविष्यलक्ष्मी होनी चाहिए तथा परिणामोन्मुखी होनी चाहिए।

सन्दर्भ

1. हरबर्ट साइमन, द प्रोवर्ब्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन रिव्यू, वोल्यूम नं. 1, विन्टन 1946.
2. एल.डी. व्हाईट, इन्ट्रेडक्शन टू द स्टडी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, मैक्मिलन, न्यूयार्क, 1939.
3. जेम्स डी. मूने, द प्रिंसिपल ऑफ आर्गेनाइजेशन, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, 1939.
4. हेनरी फेयोल, जनरल एण्ड इण्डस्ट्रीयल मैनेजमेन्ट, इसाक पिटमैन एण्ड संस लि. लन्दन, 1957
5. मार्शल एडवर्ड डिमॉक एवं ग्लेडिस ऑगडेन डिमॉक, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, ऑक्सफोर्ड एण्ड आई.बी.एच. पब्लिशिंग कं. , नई दिल्ली, 1975
6. उपर्युक्त।
7. एल. उरविक, एलीमेन्ट्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, 1940

8. सेक्लर-हडसन, आर्गेनाइजेशन एण्ड मैनेजमेंट : थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस, द अमेरिकन यूनिवर्सिटी प्रेस, वाशिंगटन डी.सी., 1957
9. चेस्टर आई. बर्नार्ड, द फंक्शन ऑफ एक्जीक्यूटिव, फ्री प्रेस, न्यूयार्क, 1947
10. उद्ध त, एफ.एम. मार्क्स, द एडमिनिस्ट्रेटिव स्टेट, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1957
11. जे.एम. पिफनर एवं एफ.एम. शेरवुड, एडमिनिस्ट्रेटिव आर्गेनाइजेशन, प्रेन्टिस हॉल ऑफ इण्डिया प्रा.लि. नई दिल्ली, 1968
12. जेम्स डी. मूने, पूर्वोक्त।
13. जार्ज आर. टैरी, इन्ट्रोडक्शन टू द पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1964.
14. डॉ. ए. अवस्थी एवं डॉ. एस.आर. माहेश्वरी, लोक प्रशासन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1988.
15. लूथर गुलिक एवं एल. उरविक (सं.) पेपर्स ऑन द साइंस ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन सर्विस, न्यूयार्क, 1937.
16. एम. विलियमसन, सुपरविजन : प्रिंसीपल्स एण्ड मैथ्ड्स, वीमेन्स प्रेस, न्यूयार्क, 1972.
17. जी.डी. हेल्से, सुपरवाइजिंग पीपल, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, 1953.
18. जे.डी. मिलेट, मैनेजमेण्ट ऑफ पब्लिक सर्विसेज, मैक्ग्राहिल, न्यूयार्क, 1954.

UNIT-III

अध्याय-10
वैज्ञानिक प्रबन्ध
(Scientific Management)

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20वीं सदी के आरम्भिक दशकों में यूरोप तथा अमेरिका का तेजी से औद्योगिकरण हुआ, नई-नई मशीनों का आविष्कार हुआ, बड़े-बड़े कारखानों, की स्थापना हुई तथा फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन तेजी से बढ़ा। किन्तु मोटे तौर पर प्रशासकीय प्रक्रियाएं, प्रबन्धकीय तकनीकें और कार्य के तरीके आदि सभी पुरातन पद्धतियों के अनुसार ही चलते रहे और उनमें कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। इस कारण संसाधनों को अपव्यय तथा अकार्यकुशलता बड़े स्तर पर व्याप्त रही। इस समस्या से लोक तथा निजि प्रशासन दोनों ही समान रूप से जूझ रहे थे।

इन परिस्थितियों में लेखकों के एक समूह जिनको प्रायः 'वैज्ञानिक प्रशासकीय/प्रबन्धकीय स्कूल' का नाम दिया जाता है, ने यह जानने का प्रयास किया कि क्या प्रशासन के कोई सामान्य नियम होते हैं जिनको लागू करने से सरकारी संगठनों और व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में अकार्यकुशलता जैसी समस्याओं को दूर किया जा सके और उनकी क्रियाशीलता को बढ़ाया जा सके। इन विचारकों ने इस बात पर भी विचार किया कि क्या अधिक कुशल व्यापारिक प्रबन्ध की कार्य-पद्धतियाँ लोक-प्रशासन के लिए संगत हो सकती हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में शुरू हुई वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा किसी एक वर्ष या घटना का पर्याय नहीं है बल्कि यह प्रबन्ध के क्षेत्र, विशेषतः औद्योगिक संगठनों के प्रबन्धन मे हुए सुधारवादी एवं क्रांतिकारी प्रयासों की द्योतक है। प्रबन्ध के क्षेत्र में वैज्ञानिक द ष्टिकोण को अपनाने वाले एफ.डब्ल्यू. टैलर ''वैज्ञानिक प्रबन्ध'' के जन्मदाता माने जाते हैं। टेलर के अनुसार, ''वैज्ञानिक प्रबन्ध, किसी विशिष्ट संगठन या उद्योग में करने वाले कार्मिकों की द ष्टि में एक मानसिक क्रान्ति (Mental Revolution) है।'' वस्तुतः टेलर की यह मान्यता थी कि उद्योगों के मालिकों, श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं के हितों में कोई निहित मतभेद नहीं होते हैं बल्कि इनके हित परस्पर जुड़े हुए होते हैं। चूँकि प्रबन्ध का मुख्य लक्ष्य अधिकतम कार्यकुशलता तथा सम्पन्नता का स्तर प्राप्त करना होता है, अतः उन वैज्ञानिक विधियों, उपकरणों तथा सिद्धान्तों को अपनाना चाहिए जो प्रबन्ध के लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रभावी योगदान कर सकें।

यद्यपि वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा को विकसित करने का श्रेय फ्रेडरिक विन्सलो टेलर के साथ चार्ल्स बैबेज, फ्रेडरिक हेल्से, हेनरी टॉने तथा हेनरी मैटकॉफ को भी जाता है तथापि टेलर को ही इस विचारधारा का जनक माना जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि टेलर ने ही प्रबन्धकीय विज्ञान को एक व्यवस्थित विचारधारा के रूप में विकसित किया। वास्तव में सन् 1910 एक अमेरिकन वकील लुईस डी. ब्रेन्डीस ने सर्वप्रथम टेलर की विचारधारा को 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' के नाम से सम्बोधित किया। इसी कारण वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा को कई लेखक टेलरवाद के नाम से भी सम्बोधित करते हैं।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थः

पीटर ड्रकर के अनुसारः ''वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ, कार्य का संगठित अध्ययन, कार्य का सरलतम भागों में विश्लेषण तथा प्रत्येक भाग का श्रमिक द्वारा निष्पादन करने हेतु व्यवस्थित सुधार करने से है।''[1]

मार्शल के शब्दों में: ''वैज्ञानिक प्रबन्ध, मुख्य रूप से एक बड़े उद्यम के कार्मिकों की व्यवस्था की एक विधि है, जिसका उद्देश्य अपने अधिसंख्य कार्मिकों के दायित्वों की सीमा घटाकर, उनकी कार्यकुशलता बढ़ाना है तथा साधारण शारीरिक क्रियाओं के सम्बन्ध में दिए गए आदेशों का विवेकपूर्ण अध्ययन करना है।''

लॉयड डॉड एवं लिंच के अनुसार: ''विस्त त अर्थ में वैज्ञानिक प्रबन्ध की कार्यप्रणाली श्रमिकों, कच्चे माल, मशीनों तथा पूँजी के प्रयोग से अधिकतम लाभ प्राप्त करने से सम्बन्धित है।

यह उत्पादन की समस्त गतिविधियों पर उद्यम की स्थापना एवं सरंचना से लेकर वस्तुओं के अन्तिम वितरण तक नियंत्रण करती है।''

वैज्ञानिक प्रबन्ध की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक प्रबन्ध कार्य को वैज्ञानिक आधार पर छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर इस प्रकार से करवाने की रीति है कि कम से कम लागत के साथ अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त हो सके जिससे कि मजदूरों तथा मालिकों दोनों को अधिक से अधिक लाभ मिले और दोनों के बीच किसी भी प्रकार का टकराव या गतिरोध उत्पन्न न हो।

परम्परागत प्रबन्ध तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध में अन्तर: टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा परम्परागत प्रबन्ध में कुछ मौलिक एवं आधारभूत अन्तर है। इनका विवरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है:

परम्परागत प्रबन्ध	वैज्ञानिक प्रबन्ध
1. यह अंगूठा नियम पर आधारित व्यवस्था थी।	1. यह वैज्ञानिक आधार पर निर्भर करता है।
2. परम्परागत प्रबन्ध में योजनाबद्ध तरीके से कार्य नहीं होता था।	2. वैज्ञानिक प्रबन्ध में 'नियोजन' का महत्वपूर्ण स्थान है।
3. यह स्वामी-सेवक की अवधारणा को पोषित करती थी।	3. इसमें स्वामी-सेवक के सम्बन्धों के स्थान पर सौहार्द्र, सहकारिता तथा परस्पर हितों को महत्व दिया जाता है।
4. यह जड़ता पसन्द तथा भययुक्त प्रबन्ध व्यवस्था थी।	4. इसमें 'मानसिक क्रांति' को यथोचित स्थान दिया जाता है।
5. परम्परागत प्रबन्ध में श्रमिकों को बहुत कम प्रेरणाएँ प्रदान की जाती थी।	5. वैज्ञानिक प्रबन्ध में श्रमिकों को पर्याप्त प्रेरणाएँ प्रदान की जाती हैं।
6. इसमें समस्याओं का समाधान घिसी-पिटी मान्यताओं तथा नियमों के अन्तर्गत होता था।	6. इसमें पूर्णतया तार्किक, नियम सम्मत, प्रयोग-आधारित तथा नई विधियों के द्वारा समस्याएँ सुलझाई जाती हैं।
7. यह मालिकों के व्यक्तिगत हितों की पूर्ति का प्रबन्ध था।	7. यह सामूहिक हितों की न्यायोचित पूर्ति करने वाला प्रबन्ध है।
8. इसमें प्रबन्धकों का द ष्टिकोण एक सीमा तक अधिनायकवादी होता था।	8. इसमें प्रबन्धकों का नजरिया, समग्र, सहयोगी तथा लोकतांत्रिक होता है।

वास्तव में परम्परागत प्रबन्ध की मान्यताएँ आधुनिक विश्व से लगभग विलुप्त हो चुकी हैं जबकि वैज्ञानिक प्रबन्ध की मान्यताएँ किसी-न-किसी रूप में या संशोधित स्वरूप में अवश्य विद्यमान हैं। कारण स्पष्ट है कि औद्योगिक क्रांति के पश्चात् प्रवर्तित औद्योगिक प्रबन्ध की प्रकृति एकाधिकारवादी थी जो लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार, श्रमिक संगठनों की लोकप्रियता तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त की मान्यता के कारण म तप्रायः हो चुकी है।

वस्तुतः वैज्ञानिक प्रबन्ण तीन प्रमुख अवधारणाओं पर आधारित है:

1. विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति को संगठन की समस्याओं पर लागू करने के तरीके सुधर पायेंगे।
2. दूसरी पकिल्पना का विषय श्रमिक का अपने कार्य के साथ सम्बन्ध है। ''कार्य न कि कार्य करने वाला विशेष व्यक्ति ध्यान का प्राथमिक केन्द्र है। अच्छा कार्यकर्ता वह समझा जाता है जो आदेशों को स्वीकार करता है, परन्तु कार्य करने में पहल नहीं करता। किसी पद के काम के वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर श्रमिक को बताया जाता है कि वह

अपना कार्य कैसे करे। किसी साधारण उत्पादन कार्यशाला (Production Shop) में श्रमिक और उसके मूल कार्यस्तर पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है।''[16] वैज्ञानिक प्रबन्ध संगठन के उच्च स्तरों के एकीकरण और समन्वय पर बल नहीं देता।

3. कल्पना यह है कि प्रत्येक कार्यकर्ता एक ''आर्थिक व्यक्ति'' है। उसकी रुचि अपने धन की आय को अधिक से अधिक बढ़ाने में है। संगठन को उत्पादन का एक विवेकपूर्ण औजार माना जाता है।

तार्किक, वैज्ञानिक तथा मनोविश्लेषण प्रकृति के कारण ही वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त को ''मनोवैज्ञानिक संगठन विचारधारा'' भी कह दिया जाता है। दूसरी ओर हरबर्ट साइमन तथा मार्च ने इसे शरीर क्रिया विज्ञान संगठन सिद्धान्त (Physiological Organization Theory) माना है। टेलर के अनुसार प्रत्येक सफल उपक्रम के पांच सिद्धान्त हैं: अनुसंधान मानकीकरण, नियोजन, नियंत्रण तथा सहकारिता। इन्हीं पांच आधारों को केन्द्र-बिन्दु मानकर वैज्ञानिक प्रबन्ध की विचारधारा संगठन में कार्य करती है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के उद्देश्य: वैज्ञानिक प्रबन्ध के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य हैं:

1. संगठन के लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को सफलता एवं कुशलतापूर्वक प्राप्त करना;
2. समस्त प्रकार के संसाधनों, जैसे-मशीन, पूँजी, मानव तथा तकनीक का सदुपयोग सुनिश्चित करना;
3. कार्मिकों में मानसिक क्रांति उत्पन्न करना;
5. न्यूनतम लागत पर अधिक लाभ (उत्पादन) के प्रयास करना;
6. कार्य, प्रक्रिया तथा पद्धतियों में मानकीकरण को लागू कर उत्पादन में तार्किकता का समावेश करना;
7. उद्यम में मालिकों तथा श्रमिकों दोनों के हितों की रक्षा सहित सहकारिता का मार्ग प्रशस्त करना।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के क्षेत्र में संगठन, वित्त, वितरण, मानकीकरण, प्रक्रियाओं का सरलीकरण, मालिक-श्रमिक सम्बन्ध तथा सहकारिता इत्यादि सम्मिलित हैं। वैज्ञानिक प्रबन्ध की विस्त त व्याख्या से पूर्व हमें परम्परागत प्रबन्ध की मूल मान्यताओं तथा इन दोनों अवधारणाओं के मध्य अन्तर जानना आवश्यक है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की प्रमुख विशेषताएँ:

वस्तुत: फ्रेडरिक विन्सलो टेलर द्वारा विकसित एवं प्रतिपादित वैज्ञानिक प्रबन्ध की यह विचारधारा मूलत: विज्ञान की निश्चितता तथा कार्य के विश्लेषण एवं मापन में काम आती है। टेलर की मान्यता थी कि -- ''श्रेष्ठ प्रबन्ध एक वास्तविक विज्ञान है।'' एक सिद्धान्त (Theory) या द ष्टिकोण के रूप में स्थापित वैज्ञानिक प्रबन्ध की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं:

1. यह द ष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि संगठन में प्रत्येक कार्य नियोजित ढंग से किया जा सकता है तथा नियोजन-व्यवस्था करनी भी चाहिए।
2. वैज्ञानिक प्रबन्ध में तथ्यों तथा सिद्धान्तों पर आधारित वैज्ञानिक विधियों तथा कार्य-प्रक्रियाओं पर बल दिया जाता है।
3. यह द ष्टिकोण श्रमिकों या मानव के हितों के प्रति उदार है तथा संगठन के अन्दर मानवीय विकास को महत्वपूर्ण मानता है।
4. यह विचारधारा इस बात पर बल देती है कि संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सम्पूर्ण शक्ति तथा कौशल का प्रयोग करना चाहिए।
5. संसाधनों के समुचित सदुपयोग तथा उनके वैज्ञानिक आवंटन पर भी ध्यान देना अपेक्षित माना जाता है।
6. श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के गुण वैज्ञानिक प्रबन्ध के आधार पर सिद्ध होते हैं।
7. विभिन्न प्रकार की कार्य गतिविधियों, प्रक्रियाओं तथा कार्यों को वैज्ञानिक आधार पर माप कर उनका मानकीकरण या प्रमापीकरण भी इसमें आवश्यक माना जाता है।
8. संगठन या उद्यम में कार्यरत श्रमिकों को प्रेरणात्मक मजदूरी देना भी वैज्ञानिक प्रबन्धण की एक विशेषता है।

9. यह सिद्धान्त संघर्ष के स्थान पर सहकारिता पर बल देता है।

10. वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा यह मानकर चलती है कि अधिकतर (कार्य) तथा उत्तदायित्वों की सीमा स्पष्ट रूप से निर्धारित होनी चाहिए।

11. यह नियंत्रित स्थिति में एवं उचित क्रम में सुनिश्चित कदमों पर बल देती है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की प्रमुख मान्यताएँः

एफ.डब्ल्यू. टेलर द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक प्रबन्ध की निम्नलिखित प्रमुख मान्यताएँ हैंः

1. औद्योगिक कुशलता में व द्धि हेतु प्रबन्ध का उद्देश्य यह होना चाहिए कि श्रमिकों को उच्च पारिश्रमिक दे तथा उत्पादन लागत कम हो;

2. प्रबन्ध की समस्याओं के लिए प्रयोग तथा अनुसंधान आधारित वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाए;

3. वैज्ञानिक आधार पर श्रमिकों को पदस्थापन हो तथा कार्य की दशाओं का मानकीकरण किया जाए;

4. निर्धारित या प्रदत्त कार्यों का मानकीकृत उपकरणों तथा सामग्री द्वारा निष्पादन कराने के लिए श्रमिकों को औपचारिक प्रशिक्षण तथा विशिष्ट दिशा निर्देश देने चाहिए।

5. श्रम संगठन की वैज्ञानिक व्यवस्था के आधार पर श्रमिकों तथा प्रबन्ध के मध्य मित्रतापूर्ण सहयोग होना चाहिए।

योगदान

वैज्ञानिक प्रबन्ध अथवा टेलरवाद की विचारधारा बीसवीं शताब्दी के दूसरे एवं तीसरे दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका सहित अधिकांश देशों में तेजी से लोकप्रिय हुई। यहाँ तक कि इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस तथा जर्मनी ने भी टेलरवाद को मान्यता प्रदान की। वैज्ञानिक प्रबन्ध का एक अन्य स्वरूप सोवियत संघ में भी प्रचलित रहा है। इसे स्तेखानोवाद कहा जाता है। स्तेखानोवाद (Stakhanovism) वह विचारधारा है जो रसियन कार्यक्षमता विशेषज्ञ ए.जी. स्तेखानोव के नाम से सन् 1935 ई० से प्रसिद्ध हुई है। इस विचारधारा के अन्तर्गत यह माना जाता है कि उत्पादन में व द्धि के लिए व्यक्तिगत पुरस्कार तथा पहल का सहारा लिया जाना चाहिए। इस प्रकार जो श्रमिक अधिक उत्पादन करके पुरस्कृत होता है वह रूसी भाषा में स्तेखानोवाइट (Stakhanovite) कहलाता है। बहुत से विद्वानों का मानना था कि टेलर की वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा, न्यूटन, लुई पाश्चर, कोपरनिक्स तथा डारविन के सिद्धान्तों की भाँति क्रांतिकारी कदम है। टेलर का यहां तक मानना था कि - ''उत्पादकता को जानबूझकर सीमित (कम) करने से बढ़कर, इस विश्व में अन्य कोई जघन्य अपराध नहीं है।'' स्पष्ट है कि टेलर ने औद्योगिक विकास तथा मानव कल्याण की दिशा में सार्थक चिन्तन की पहल की थी।

मैक्फारलैण्ड के शब्दों में - ''वैज्ञानिक प्रबन्ध, एक द ढ़ सूत्र नहीं है और न ही एक विशेष करमों की श्रेणियों का परिचायक है बल्कि यह एक दर्शन, एक विचारधारा तथा मानव व्यवहार का एक द ष्टिकोण है। यह औद्योगिक क्रांति की ओर एक मानसिक क्रांति है।'' वास्तव में प्रबन्ध तथा औद्योगिक विकास के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रबन्ध एक आन्दोलन के रूप में उभरा तथा लोकप्रिय हुआ। वैज्ञानिक प्रबन्ध के लाभों या उपयोगिता के क्रम में यह कहा जा सकता है किः

1. एक विचारधारा या द ष्टिकोण या सिद्धान्त (Theory) के रूप में वैज्ञानिक प्रबन्ध ने प्रबन्ध विषय को वैज्ञानिक आध ाार दिलवाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। स्वयं टेलर का मानना था कि वैज्ञानिक विधियों, तकनीकों तथा कार्य के मानकीकृत प्रयासों से प्रबन्ध क्षेत्र की समस्त गतिविधियों को तार्किक आधार प्रदान किया जा सकेगा। आज न्यूनाधिक मात्रा में वैज्ञानिक प्रबन्ध का प्रचलन दिखाई देता है तो केवल इसलिए कि यह विचारधारा न केवल वैज्ञानिक चिन्तन पर टिकी है बल्कि व्यावहारिक रूप में इसे प्रशासनिक संगठनों में क्रियान्वित भी किया जा सका है। टेलर की मान्यता थी कि प्रबन्ध के ऐसे अनेक सिद्धान्त होते हैं जिन्हें निजी एवं सरकारी, दोनों प्रकार के संगठनों में लागू किया जा सकता हैं यद्धपि वैज्ञानिक प्रबन्ध के अधिकांश प्रयोग एवं मान्यताएँ, औद्योगिक संगठनों के परिप्रेक्ष्य में हैं तथापि उनका परीक्षण सरकारी क्षेत्र के सेवा संगठनों में भी किया जा सकता है।

2. वैज्ञानिक प्रबन्ध की उपादेयता के सम्बन्ध में टेलर ने लिखा है कि-''इसके अनुसरण से औद्योगिक कार्यों में लगे प्रत्येक व्यक्ति की उत्पादकता लगभग दुगुनी हो जाएगी। सम्पूर्ण राष्ट्र तथा विश्व इसका लाभ उठाएँगे। श्रमिकों के कार्य के

घण्टों में कमी होगी तथा श्रमिक एवं प्रबन्ध के परम्परागत संघर्षों का अन्त होगा। इससे कम्पनियाँ भी लाभ उठाएंगी और श्रमिक भी। जो लोग यह सोचते हैं कि वैज्ञानिक प्रबन्ध को अपनाने से बेरोजगारी बढ़ेगी, वे भ्रम में है क्योंकि उत्पादकता बढ़ने से बेरोजगारी नहीं बल्कि सम द्धता बढ़ती है। टेलर के शब्दों में - 'धनी तथा निर्धन देशों में एक अंतर यह भी है कि धनी देशों के सभ्य कर्मचारी, निर्धन देशों के असभ्य कार्मिकों की तुलना में 5 या 6 गुणा अधिक उत्पादन करते हैं फिर भी निर्धन या पिछड़े देशों की तुलना में धनी देशों में बेरोजगारी कम है।''[4]

3. वैज्ञानिक प्रबन्ध को अपना लेने के बाद औद्योगिक उपक्रम में श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण, वस्तु की गुणवत्ता, लागत में कमी तथा श्रम विवादों का अन्त हो सकता है।

4. यह विचारधारा श्रमिकों के कल्याण, विकास तथा उनके हितों की रक्षा हेतु प्रबन्ध को बाध्य करती है कि वे श्रमिकों की आवश्यकताओं को समझें तथा उनसे सहयोग लेने का प्रयास करें। चूँकि इस पद्धति में 'मानसिक क्रांति' पर बल दिया गया है जो नयी द ष्टि से सोचने को विवश करती है।

5. वैज्ञानिक प्रबन्ध ही वह विचारधारा है जिसने आधुनिकीकृत प्रशासन, परिचालन अनुसंधान, कार्य पद्धति अध्ययन, व्यवस्था विश्लेषण तथा प्रबंध में अपवाद के सिद्धान्तों की दशा में नया चिंतन करने का मार्ग प्रशस्त किया है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त की मूलभूत मान्यताएँ अंगूठा-नियम के स्थान पर विज्ञान एवं तार्किकता को, संघर्ष के स्थान पर भाईचारे को, कम उत्पादन के स्थान पर अधिक उत्पादन को, व्यक्तिवाद के स्थान पर सहकारिता को प्रमुखता देते हुए प्रत्येक कार्मिक की उसकी अधिकतम कार्यकुशलता तथा सम द्धि में विकसित करने पर ध्यान केन्द्रित करती हैं। इस प्रकार यह विचारधारा तुलनात्मक रूप से अधिक लोकतांत्रिक तथा कल्याणकारी प्रतीत होती है। निग्रो एवं निग्रो का मानना है कि-''आधुनिक प्रबन्धकीय सिद्धान्तों तथा व्यवहार में जो अमर योगदान वैज्ञानिक प्रबन्ध ने दिया है, वह यह है कि कार्यकुशलता और लक्ष्यों की प्राप्ति, व्यवस्थित खोज तथा मूल्यांकन के द्वारा ही सम्भव है।''

टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध की आलोचना
(Critiism of Taylor's Scientific Management)

फ्रेडरिक टेलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त का जिस काल में प्रतिपादन किया था उस समय यह माना जा रहा था कि प्रबन्ध के क्षेत्र में यह विचार एक नवीन क्रान्ति है। ''टेलरवाद'' नाम की चर्चा पूरे औद्योगिक जगत में होने लगी थी परन्तु दूसरी तरफ समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त की आलोचनाएं भी होने लगी थीं और सर्वाधिक आश्चर्य की बात तो यह थी कि एक तरफ श्रमिकों ने इस सिद्धान्त को अनुपयुक्त बताकर विरोध किया तो दूसरी तरफ उद्योगपतियों और नियोक्ताओं ने भी इसकी जमकर आलोचना की। श्रमिकों और उद्योगपतियों द्वारा फ्रेडरिक टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त की जो आलोचनाएँ की जाती हैं; उसे निम्नलिखित ढंग से वर्गीकृत किया जा सकता है:

श्रमिकों द्वारा आलोचना
(Workers Criticism)

1. **रोजगार के अवसरों में कमी (Reduction of Employment Opportunities):** फ्रेडरिक टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध को संगठन में मान्यता देने और उसे लागू करने से श्रमिकों में रोजगार के अवसरों में कमी आएगी। वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रमुख ध्यान इस बात पर दिया जाता है कि नए व आधुनिक मशीनों का प्रयोग कर उत्पादन की क्षमता को विकसित किया जाए तथा श्रमिकों की निर्भरता और आवश्यकता को कम किया जाए। इसके लिए श्रम बचत उपायों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है। इससे श्रमिकों की जरूरत कम हो जाती है। श्रमिकों को बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ता है। अतः श्रमिकों के लिए रोजगार के अवसर का कम होना किसी भी हालत में उपयोग नहीं कहा जा सकता।

2. **नीरसता की समस्या (Problems of Monotony):** एक ही प्रकार के कार्य करते-करते श्रमिकों में सम्बन्धित कार्य के प्रति अरुचि तथा नीरसता हो जाती है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण (Divison of Labour and Specialization) को उत्पादन का प्रमुख आधार माना जाता है। फलतः श्रमिकों का कार्यक्षेत्र एक सीमित दायरे में बँध जाता है। श्रमिकों को अन्य कार्य में संलग्न नहीं करने से उनके व्यक्तित्व और क्षमता का सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाता। उनकी उदासीनता और नीरसता का प्रतिकूल प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है।

3. **श्रम-संघों को कमजोर करना (Weakening of Trade Union):** फ्रेडरिक टेलर द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त के अन्तर्गत कार्यरत श्रमिकों की कार्यदशाएँ, कार्य का आबंटन एवं मजदूरी की दर आदि की शर्तों का निर्धारण वैज्ञानिक अध्ययनों के द्वारा किया जाता है। श्रमिकों में मानवीय भावनाओं को उभार कर उन्हे प्रबन्धन के साथ मधुर सम्बन्ध बनाने के लिए प्रेरित किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में उन्हें श्रम संघों (Trade Unions) की आवश्यकता कम पड़ने लगती है। श्रमिक अपने संघीय नेताओं की अपेक्षा अपने प्रबन्धकों को ज्यादा महत्व देने लगते हैं।

4. **श्रमिकों का शोषण (Exploitatin of Workers):** टेलर द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत उत्पादकता की व द्धि पर विशेष बल दिया जाता है इसके लिए श्रमिकों से अधिक काम लिया जाता है। श्रमिकों के अतिरिक्त परिश्रम से जिस अनुपात में उत्पादकता में व द्धि होती है उस अनुपात में उन्हें पारिश्रमिक अथवा आर्थिक लाभ नहीं दिया जाता है। अतः यह एक प्रकार से शोषण है।

5. **अलोकतांत्रिक व्यवस्था (Undemocratic System):** वैज्ञानिक प्रबन्ध की व्यवस्था के अन्तर्गत एक श्रमिक को अनेक टोली नायकों के अधीन रहकर कार्य करना पड़ता है तथा उनकी आज्ञा माननी पड़ती है। कभी-कभी उनके आदेशों मे एकरूपता नहीं होती। आदेशों की विविधता की वजह से श्रमिकों के विकास के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं और उनके आरम्भिक शक्ति व प्रेरणा शक्ति की हानि होती है। दूसरी तरफ प्रबन्धकों को विकास के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं। अतः एक ही समय में कार्य करने वाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मध्य अवसरों की असमानता का होना प्रजातान्त्रिक नहीं कहा जा सकता। अतः यह व्यवस्था अलोकतांत्रिक है।

उद्योगपतियों और नियोक्ताओं द्वारा आलोचना
(Criticism by Industrialists and Employers)

1. **अधिक खर्च (Heavy Investment):** फ्रेडरिक टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत नयी योजनाओं को तैयार करने नए यन्त्र और उपकरण खरीदने, प्रमाणीकरण करने, प्रशिक्षण देने तथा पर्यवेक्षकों की नियुक्ति आदि करने में अत्यधिक भारी खर्च का वहन करना पड़ता है। जिस मात्रा में अतिरिक्त धन का व्यय होता है उतनी मात्रा में लागत की वापसी (Return on Investment) नहीं हो पाती है। अतः वैज्ञानिक प्रबन्ध की व्यवस्था अनावश्यक खर्च का बोझ संगठन पर डालती है।

2. **छोटे संगठनों के लिए अनुपयुक्त (Unsuitable for Small Organisation):** फ्रेडरिक टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध की अवधारणा को छोटे संगठनों अथवा लघु व कुटीर उद्योगों में कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत जो तकनीक, आर्थिक व्यय और समय लगता है उसे झेल पाना छोटे संगठनों के लिए संभव नहीं है। लघु व कुटीर उद्योगों के उत्पादन खर्च में इससे काफी बढ़ोत्तरी होगी।

3. **पुनर्गठन के कारण हानि (Loss due to Reorganisation):** वैज्ञानिक प्रबन्धों को जिन संस्थानों में लागू किया जाता है उन संस्थानों के संगठन की संरचना में काफी परिवर्तन करने पड़ते हैं। संगठन में परिवर्तन के कारण कुछ समय के लिए कार्य को रोक देना पड़ता है। नयी व्यवस्था के साथ पुनः जब दुबारा कार्य प्रारम्भ किया जाता है तो कार्य की सामान्य गति वापस आने में काफी लंबा समय लग जाता है। अतः पुरानी व्यवस्था और नयी वैज्ञानिक व्यवस्था के मध्य के संक्रमण काल (Transition Period) में सम्बन्धित संस्थान को काफी हानि उठानी पड़ती है। इस दौरान उत्पादन लागत पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

4 **कार्यशील व्यय में व द्धि (Increase in Working Expenses):** प्रत्येक संगठन की अपनी एक निर्धारित कार्यशील पूंजी होती है जिसकी सूद दर को लाभ-हानि में सम्मिलित किया जाता है। विभिन्न प्रकार के नए प्रयोगों, कर्मचारियों की नियुक्ति एवं विस्तार इत्यादि की वजह से कार्यशील व्यय में काफी बढ़ोत्तरी होती है जो किसी भी संस्था के हित में नहीं है।

5. **अस्थायी व्यवस्था (Temporary Arrangement):** टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध का सिद्धान्त बहुत दिनों तक समयानुकूल और स्थायी नहीं रह सकता क्योंकि आधुनिक तकनीकी में निरन्तर प्रगति की वजह से नयी-नयी मशीनों और उपकरणों का आगमन होने लगता है। नयी कार्य-पद्धतियों का विकास होता हैं इस तरह टेलर का वैज्ञानिक प्रबन्ध का सिद्धान्त भी पुराना, अस्थायी और अनुपयुक्त साबित होकर पीछे छूटने लगा और उसका स्थान नयी तकनीकों

और सिद्धान्तों ने ले लिया।

फ्रेडरिक विन्सलों टेलर द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त की उपयोगिताओं, विशेषताओं तथा साथ ही साथ आलोचनाओं की भी विवेचना की जाए तो परिणाम के रूप में हम पाते हैं कि इस सिद्धान्त की उपयोगिता और विशेषताओं का पलड़ा भारी है। टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त का प्रभाव उस समय के औद्योगिक जगत के विकास पर अत्यधिक पड़ा, श्रम तथा उत्पादन लागत की बर्बादी काफी कम हो गई। वैज्ञानिक प्रबन्ध की वजह से ज्यादा सफलतापूर्वक कार्य करने वालों को प्रोत्साहन स्वरूप आर्थिक लाभ देकर पुरस्कृत किया जाने लगा। श्रमिकों की कार्य-दशाओं (Working Conditions) में भी सकारात्मक सुधार हुआ जिसकी वजह से उन्हें कार्य सन्तुष्टि का अनुभव होने लगा। टेलरवाद के परिणामस्वरूप शासन प्रबन्ध एवं उसकी प्रक्रियाओं के प्रति सर्वत्र नया द ष्टिकोण अपनाया जाने लगा। चार्ल्स ए, बियर्ड (Charles A. Beard), लूथर गुलिक (Luther Gulick), जे.एम. गॉस (J.M. Gauss), ई. मोथर (E. Mothar), इत्यादि विद्वानों ने भी प्रत्यतः और अप्रत्यक्षतः प्रबन्ध को वैज्ञानिक बनाने पर बल दिया। टेलर के अन्य साथियों हेनरी एल.गैण्ट (Henry L. Gaunt) तथा फ्रैंक बी. गीलबैथ (Frank B. Geelbath) ने उसके कार्यों को और आगे बढ़ाया। हालांकि फ्रेडरिक टेलर का विचार मूलतः औद्योगिक क्षेत्रो से सम्बन्धित था परन्तु इसकी सफलता को देखते हुए अन्य क्षेत्रों जैसे सरकारी और असैनकि संगठनों में भी इसे अपनाने का प्रयास किया गया।

आलोचनाओं के बावजूद भी वैज्ञानिक प्रबन्ध के समर्थकों में श्रमिकों की संख्या सबसे अधिक थी। श्रमिक यह मानते थे कि उत्पादन लागत कम होने से उनकी मजदूरी में व द्धि हुई है और इस प्रबन्ध के परिणामस्वरूप उनके जीवन-स्तर में उन्नति होगी। श्रमिकों के लिए निःशुल्क प्रशिक्षण की व्यवस्था होने से उनके व्यक्तित्व व क्षमता का पर्याप्त विकास हो सकेगा। उपयुक्त और स्वच्छ कार्य वातावरण से कार्य करने के प्रति उनकी रुचि बनी रहेगी।

दूसरी तरफ उद्योगपतियों एवं नियोक्ताओं में भी फ्रेडरिक टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध में अनेक लाभ नजर आए। एक तरफ जहाँ उत्पादनों की गुणवत्ता में सुधार हुआ तो दूसरी तरफ प्रति इकाई वस्तु की उत्पादन लागत भी काफी कम हो गई। श्रमिकों द्वारा अधिकतम परिश्रम से उन्हें लाभ भी अधिक होने लगा। उपभोक्ताओं को भी इससे अतिशय लाभ हुआ। वस्तुओं की कीमतें कम होने से उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति में विकास हुआ। श्रेष्ठ किस्म की वस्तुएँ उपलब्ध होने लगीं और उनके रहन-सहन में भी सुधार हुआ। हालांकि टेलर का कार्यकुशलता सम्बन्धी सिद्धान्त अमेरिका की समानतापूरक माँगों के साथ मेल नहीं खा सका, किन्तु उसे लुई डी.ब्रेण्डिस जैसे आर्थिक राजनयिकों ने व्यापक आधार प्रदान किया और उसे थियोडोर रूजवेल्ट, बुडरो विल्सन, राबर्ट लाफालेट, आदि विद्वानों द्वारा स्वीकार किया गया। धीरे-धीरे व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्र में प्रयुक्त इस व्यवस्था का समावेश अन्य क्षेत्रों में भी होने लगा तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध की समस्त धाराएँ अमेरिकी तकनीकी से जा मिलीं। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि फ्रेडरिक टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया। एक ऐसे परिवेश में जब भौतिक विज्ञान की उपलब्धियाँ विकसित हो रही थीं तब इस टेलरवाद ने औद्योगिक समस्याओं के समाधान हेतु उद्देशात्मक सिद्धान्तों के प्रयोग पर बल देकर सबको आश्चर्यचकित कर दिया।

टेलर का वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त के विकास में योगदान

वैज्ञानिक प्रबन्ध और एफ.डब्ल्यू टेलर एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं क्योंकि समस्त विसंगतियों और आलोचनाओं के बाद भी कटु सत्य यही है कि प्रबन्ध क्षेत्र को वैज्ञानिक स्वरूप देने में टेलर की अहम भूमिका रही।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त का स जन करने वालों में फ्रेडरिक विन्सलों टेलर का नाम सबसे अग्रणी है। टेलर का जन्म 20 मार्च, 1856 ई० को जर्मनी में पेन्सिलवेनिया के एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। उन्होंने अपनी शिक्षा फ्रांस और जर्मनी में पूरी की। उनका प्रवेश फिलिप्स एक्सटर अकादमी (Philips Exeter Academy) में हुआ था। 1874 ई. में टेलर ने 18 वर्ष की अवस्था में फिलाडेल्फिया में 'इण्टरप्राइज हाइड्रालिक वर्क्स' (Enterprise Hydraulic Works) नामक कम्पनी में चार वर्षों तक प्रशिक्षार्थी एवं टर्नर के रूप में कार्य किया। सन् 1878 में 'मिडवेल स्टील वर्क्स कम्पनी' (Midwale Steel Works Company) में एक श्रमिक के रूप में अपना योगदान दिया, दो वर्ष बाद वे उसी कम्पनी के में ग्रुप नायक बने। अपनी योग्यता, क्षमता एवं परिश्रम के बदौलत वे चार वर्ष पश्चात् उसी कम्पनी के मुख्य अभियन्ता (Chief Engineer) बने। सायंकालीन कक्षाओं में प्रवेश लेकर 'स्टिवेन्स इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, न्यू जर्सी' (Stevens Institute of Technology, New Jersy) से यान्त्रिक

अभियन्ता की डिग्री प्राप्त की। इसके पश्चात् उन्होंने तीन वर्ष तक फिलाडेल्फिया के 'मैन्युफैक्चरिंग इनवेस्टमेण्ट कम्पनी' (Manufacturing Investment Company) में महाप्रबन्धक के रूप में कार्य किया। तत्पश्चात् उन्होंने 'बेथलेहम स्टील कम्पनी' (Bethleham Steel Company) में भी अपना योगदान दिया। 1901 में पश्चात् टेलर ने अपना सारा समय वैज्ञानिक प्रबन्ध के तकनीकों के विकास के लिए शोध-कार्यों में लगाया। टेलर ने अपने जीवन काल में अनेक शोध-पत्र एवं पुस्तकें लिखीः उनकी कुछ प्रमुख कृतियां इस प्रकार हैंः 1. 'नोट्स ऑन बेल्टिंग' (Notes on Belting, 1893), 2. दि इडजस्टमेण्ट ऑफ वेजेज टु एफिसियन्सी' (The Adjustment of Wages to Efficiency, 1896) 3. 'ए पीस रेट सिस्टम' (A Piece Rate System, 1895), 4. 'शॉप मैनेजमेण्ट' (Shop Management, 1903), 5. 'ऑन दी आर्ट ऑफ कटिंग मेटल्स' (On the Art of Cutting Metals, 1906), 6. 'दि प्रिंसीपल्स ऑफ साइण्टिफिक मैनेजमेण्ट' (The Principles of Scientific Management, 1911), 7. दि गॉस्पेल ऑफ एफिसिएन्सी' (The Gospel of Efficiency, 1911) 8. 'कान्क्रीट कास्ट्स विद एस.एफ. थाम्पसन' (Concrete Costs with S.F. Thompson, 1912).

टेलर ने सर्वप्रथम अपनी रचना 'ए पीस रेट सिस्टम' के माध्यम से विभिन्न कल-कारखानों में काम कर रहे मजदूरों के मजदूरी सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए यह बताया कि श्रमिकों को मजदूरी उनके पद के अनुसार नहीं बल्कि उनके कार्यों के अनुसार दी जानी चाहिए।

अपनी कृति 'शॉप मैनेजमेण्ट' के द्वारा फ्रेडरिक टेलर ने यह बताने का प्रयास किया कि किसी भी प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य अधिकाधिक उत्पादन होना चाहिए और इसको प्राप्त करने के लिए प्रबन्धकों को श्रमिकों के मध्य अधिक मजदूरियों का भुगतान किया जाना चाहिए। टेलर ने कर्मचारियों की कार्यक्षमता को विकसित करने के लिए उनके प्रशिक्षण पर भी बल दिया तथा यह बताया कि प्रबन्धक और श्रमिकों के बीच बेहतर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए निरन्तर प्रयास करने चाहिए।

''टेलर सिर्फ अपने कार्यों के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं था वरन् उसका व्यक्तित्व, कार्यकुशलता, क्षमता और कार्यशैली के प्रति उसकी दीवानगी भी रोचक थी। रोचकता और उत्साह से भरे उसके अतुलनीय चरित्र ने सबको आश्चर्यचकित कर दिया।''[1]

टेलर के प्रयोगों में निम्नांकित प्रमुख हैंः

1. कच्चे लोहे को हटाने के प्रयोग (Pig Iron Handling Experiment)
2. फावड़े का प्रयोग (The Shovelling Experiment)
3. धातु कटाई प्रयोग (Metal Cutting Experiment)
4. मिडवेल प्रयोग (Midvale Experiment)

इन प्रयोग के माध्यम से टेलर ने यह पता लगाया कि किस प्रकार किसी कार्य को ''एक सर्वोत्तम ढंग'' से किया जा सकता है। चूँकि टेलर ने स्वयं एक श्रमिक से लेकर इंजीनियर तथा सभी पदों पर कार्य करके अनुभव प्राप्त किया हुआ था। अतः वे प्रत्येक समस्या को सर्वांगीण द ष्टि से आँकते थे। टेलर की मान्यता थी कि - ''कठोर और नीरस (एकरूपी) श्रम के द्वारा ही जीवन में गौरव एवं गरिमा प्राप्त की जा सकती है।''

जीवन को परिश्रम, चिन्तन तथा वैज्ञानिक द ष्टिकोण से आँकने वाले टेलर का यह भी मानना था कि ''जीवन में कार्य को आनन्ददायक बनाना, आनन्ददायक कार्य करने से अधिक महत्वपूर्ण है।'' टेलर ने अपने वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त में प्रबन्ध को विज्ञान बनाने, प्रबन्ध के सिद्धान्तों की व्याख्या करने, मानसिक क्रांति की वकालत करने, कार्यात्मक फोरमैनशिप तथा विशेषीकरण को बढ़ावा देने, प्रबन्धकों के दायित्व स्पष्ट करने, मानकीकरण एवं नियोजन की शुरूआत करने पर बल प्रदान किया है। टेलर ने अपने प्रथम शोधकार्य ''ए पीस रेट सिस्टम'' मे सुझाया है कि मजदूरी भुगतान के तीन आधार होने चाहिएः

1. समय अध्ययन के माध्यम से कार्य का अवलोकन तथा विश्लेषण किया जाए ताकि 'दर' या 'मापदण्ड' निर्धारित हो सकें;
2. कार्य के लिए विभेदात्मक दर निर्धारित हों;
3. 'पद' के बजाय 'व्यक्ति' को भुगतान किया जाए।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हुए टेलर ने निम्न बिन्दुओं पर बल दिया हैः

1. कार्य के सही विज्ञान का विकास

टेलर उन विद्वानों में अग्रणी हैं जो प्रबन्ध को व्यवस्थित ज्ञान या विज्ञान का पर्याय मानते हैं। संगठन या उद्यम में प्रत्येक कार्य को वैज्ञानिक द ष्टिकोण से आँका जाना चाहिए। प्रत्येक इकाई तथा श्रमिक के कार्य, दायित्व, पद्धति, समय, गति तथा कार्मिकों के चयन एवं पदस्थापन से लेकर उच्च प्रबन्धकीय कार्यों तक उन वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जा सकता है या किया जाना चाहिए जो संगठनात्मक कुशलता एवं मितव्ययता के लिए आवश्यक हैं। इन विधियों के माध्यम से हम प्रबन्ध को विज्ञान बना सकते हैं। यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि ''कार्य का कोई एक सर्वोत्तम तरीका'' होता है, उसे ही आदर्श कार्य पद्धति कहा जा सकता है।

(2) श्रमिकों का वैज्ञानिक चयन तथा उनका उत्तरोत्तर विकास

किसी भी कार्य के सफल, प्रभावी तथा कुशल निष्पादन के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिकों का चयन शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं के आधार पर किया जाए। किस कार्य हेतु कौन सा श्रमिक उपयुक्त रहेगा, इसके निर्धारण हेतु कार्य का वैज्ञानिक अध्ययन तथा श्रमिक की क्षमताओं का निष्पक्ष आकलन किया जाना चाहिए। टेलर की यह मान्यता भी थी कि प्रत्येक श्रमिक में असीम सम्भावनाएँ या क्षमताएँ विद्यमान रहती है। अतः प्रबन्ध को यह देखना चाहिए कि वह प्रत्येक श्रमिक को ऐसे अवसर तथा प्रोत्साहन प्रदान करे कि श्रमिक उत्तरोत्तर विकास करता रहे। साथ ही यह भी आवश्यक है कि श्रमिक नई पद्धतियों, नए उपकरणों तथा परिवर्तित परिस्थितियों में स्वेच्छा तथा उत्साह से कार्य करें।

(3) कार्य के विज्ञान तथा वैज्ञानिक रूप से चयनित एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों को साथ लाना

टेलर की यह द ढ़ मान्यता थी कि कार्य को वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट करने तथा उसके निष्पादन की विधियाँ तय करने के पश्चात् उन श्रमिकों या व्यक्तियों का भी वैज्ञानिक ढंग से चयन एवं प्रशिक्षण आयोजित करना चाहिए जो उस कार्य को करेंगे; लेकिन कार्य तथा व्यक्ति के बीच व्याप्त बाधाओं का निराकरण बहुत आवश्यक है। टेलर का विश्वास था कि वैज्ञानिक प्रबन्ध से समस्त विश्व धन-धान्य से परिपूर्ण होगा, कार्य के घंटों में कमी होगी तथा लोगों को शिक्षा, संस्कृति एवं मनोरंजन के अधिक अवसर प्राप्त होंगे। टेलर यह भी मानते थे कि प्रबन्ध तथा श्रमिकों के बीच व्याप्त दूरी के लिए प्रबन्ध अधिक उत्तरदायी है क्योंकि वह श्रमिको की सहभागिता का प्रायः विरोध करता रहा है। अतः मानसिक क्रांति के द्वारा समस्याओं का समाधान हो सकता है।

(4) प्रबन्ध तथा श्रमिकों के कार्य एवं उत्तरदायित्व मे विभाजन

वैज्ञानिक प्रबन्ध का यह सिद्धान्त मानता है कि प्रबन्धकों तथा श्रमिकों के मध्य कार्य एवं उत्तरदायित्वों का स्पष्ट विभाजन होना चाहिए जबकि परम्परागत प्रबन्ध या शास्त्रीय प्रबन्ध में कार्य की सारी जिम्मेदारी श्रमिको पर लाद दी जाती थी। टेलर की मान्यता थी कि यदि वैज्ञानिक आधारों पर कार्य का विभाजन हो तो प्रबन्ध एवं श्रमिकों में संघर्ष नहीं बल्कि सहमति एवं सहकारिता का भाव उत्पन्न होगा।

1. वैज्ञानिक प्रबन्ध के इन सभी सिद्धान्तों का सार इस प्रकार दिया जाता है:
2. विज्ञान का प्रयोग, न कि अंगूठा-नियम (Rule of Thumb) या काम चलाऊ तरीका;
3. समरसता एवं शांति, न कि संघर्ष या मनमुटाव;
4. सहयोग, न कि व्यक्तिवाद;
5. अधिकतम उत्पादन, न कि सीमित उत्पादन;

प्रत्येक व्यक्ति की अधिकतम कार्यकुशलता तथा सम द्धि तक विकास।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त इस प्रकार हैं:

(5) कार्यात्मक फोरमैनशिप

टेलर ने सैनिक संगठनों या एकरेखीय प्रणाली का विरोध किया है जिसमें आदेश की एकता के सिद्धान्त का कठोरता से पालन

किया जाता है। कार्यात्मक फोरमैनशिप (Functional Formanship) के माध्यम से टेलर ने प्रत्येक श्रमिक के लिए आठ **विशेषीकृत पर्यवेक्षक** निर्धारित किए हैं। टेलर ने कार्य को केवल श्रमिक के स्तर पर ही नहीं बल्कि पर्यवेक्षक के स्तर पर भी विभाजित किया है। टेलर के अनुसार प्रथम चार पर्यवेक्षक यथा- गुट नेता (Gang Boss), मरम्मत नेता (Repair Boss), गति नेता (Speed Boss) तथा निरीक्षक (Inspector) को योजना-निर्माण के लिए उत्तरदायी होना चाहिए तथा शेष चार पर्यवेक्षकों यथा - कार्य की व्यवस्था और मार्गलिपिक (Order of Work & Route Clerk), निर्देशन कार्ड लिपिक (Instruction Card Clerk), समय और लागत लिपिक (Time & Cost Clerk) तथा कारखाना अनुशासक (Shop Disciplinarian) को क्रियान्वयन के दायित्वों का निर्वहन करना चाहिए। प्रत्येक श्रमिक को इन आठों पर्यवेक्षकों से आदेश एवं परामर्श प्राप्त करना चाहिए ताकि कार्य का विशेषीकरण एवं कुशल सम्पादन हो सके। इसे क्रियात्मक संगठन सिद्धान्त भी कहा जाता है। सूत्र एवं स्टाफ अभिकरणों में यह अवधारण स्टाफ (विशेषज्ञों) की पर्याय है।

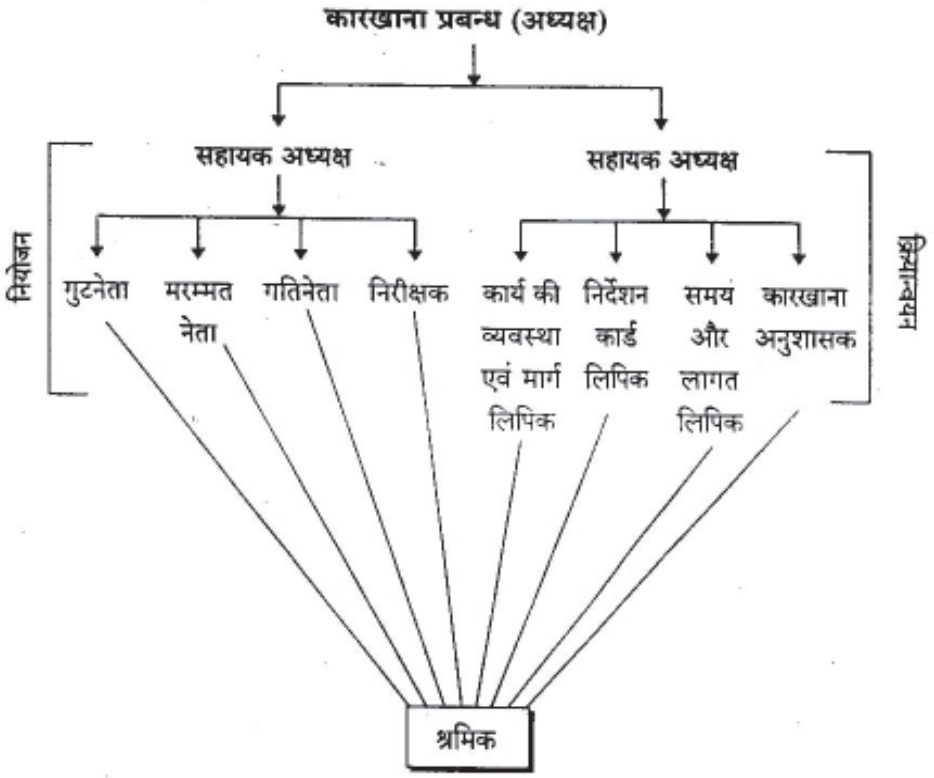

एक अच्छे फोरमैन या पर्यवेक्षक के लिए टेलर ने नौ गुण, यथा-शिक्षा, तकनीकी (विशेषज्ञ) ज्ञान, हस्तकौशल एवं ताकत, चतुराई, ऊर्जा, धैर्य, ईमानदारी, विवेक तथा अच्छा स्वास्थ्य आवश्यक बताए हैं।

6. मानसिक क्रांति

टेलर ने वैज्ञानिक प्रबंध को प्रबन्धकों तथा श्रमिकों के लिए मानसिक क्रांति के रूप में देखा है। टेलर की मान्यता है कि प्रबंधकों तथा श्रमिकों को एक दूसरे पर सन्देह या अविश्वास नहीं करना चाहिए बल्कि एक दूसरे के सहयोग से अपने हितों की पूर्ति का प्रयास करना चाहिए। प्रबन्ध एवं श्रमिकों के मध्य टकराव टालने, संगठन के लक्ष्यों की कुशलता एवं मितव्ययतापूर्वक प्राप्ति करने तथा उद्यम में वैज्ञानिक परिवेश स्थापित करने का नाम ही मानसिक क्रांति है।

टेलर के अनुसार प्रबन्धकों के निम्नांकित दायित्व हैं:

(i) श्रमिकों के कार्य का निर्धारण।

(ii) कार्य हेतु श्रमिकों का चयन।

(iii) कार्य में उच्चस्तरीय कुशलता एवं निष्पादन हेतु श्रमिकों को अभिप्रेरणा देना।

(iv) कार्यों एवं उत्तरदायित्वों का विभाजन।

(7) प्रबन्ध के सिद्धान्त

टेलर ने प्रबन्ध के परम्परागत सिद्धान्तों के स्थान पर निम्नांकित सिद्धान्त वर्णित किए हैं जो वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रमुख तत्व भी हैं:

(i) प्रयोग का सिद्धान्त

(ii) कार्यानुमान का सिद्धान्त

(iii) कार्य-नियोजन का सिद्धान्त

(iv) कार्मिकों के वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण का सिद्धान्त

(v) कार्य के वैज्ञानिक आवंटन का सिद्धान्त

(vi) मानकीकरण का सिद्धान्त

(vii) सामग्री के वैज्ञानिक चयन एवं उपयोग का सिद्धान्त

(viii) आधुनिकतम एवं प्रभावी उपकरणों का सिद्धान्त

(ix) प्रेरणात्मक मजदूरी का सिद्धान्त

(x) कुशल लागत लेखा प्रणाली का सिद्धान्त

(xi) सन्तोषजनक कार्यदशाओं का सिद्धान्त

(xii) मानसिक क्रांति का सिद्धान्त

(xiii) कार्यात्मक फोरमैनशिप (कार्यात्मक संगठन) का सिद्धान्त

(xiv) अपवाद का सिद्धान्त

टेलर द्वारा प्रतिवादित अपवाद का सिद्धान्त (Exception Principle) की मान्यता यह है कि अपवाद स्वरूप कुछ ही मामले उच्च प्रबन्धकों तक पहुँचने चाहिए अर्थात् अधिकांश प्रकरणों का निपटारा अधीनस्थों द्वारा कर देना चाहिए। अधीनस्थों को अपने अधिकार एवं कार्यक्षेत्र के बाहर के तथा गम्भीर प्रकृति के मामले ही उच्च प्रबन्धकों तक भेजने चाहिए ताकि प्रबन्धकों का मूल्यवान समय उद्यम की महत्वपूर्ण गतिविधियों में काम आ सके। अर्थात् जिन कार्यों का मानकीकरण हो चुका है उनका पर्थवेक्षकों द्वारा दैनन्दिन रूप से मूल्यांकन हो सकता है, किन्तु अमानकीकृत कार्यों विवाद ही उच्च प्रबन्धकों तक जाने चाहिए।

(8) वैज्ञानिक प्रबन्ध की विधियां या पद्धतियां

टेलर द्वारा वर्णित उपर्युकत सिद्धान्तों की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि कुछ ऐसी वैज्ञानिक विधियाँ या पद्धतियाँ अपनायी जाएं जो तार्किक एवं प्रभावी सिद्ध हो सकें। इनमें से कतिपय प्रमुख विधियां हैं:

- समय अध्ययन
- गति अध्ययन
- थकान अध्ययन
- नियोजन विभाग की स्थापना
- कार्यात्मक संगठन (कार्यात्मक फोरमैनशिप)
- प्रत्येक कार्य का मानकीकरण
- श्रम बचत यंत्रों तथा तकनीकों का उपयोग

- श्रमिकों के लिए संकेत कार्य
- कुशल लागत लेखा पद्धति
- प्रेरणात्मक मजदूरी तथा बोनस
- कार्य का तार्किक (वैज्ञानिक) आवंटन
- प्रबन्ध में अपवाद का सिद्धान्त
- कार्यक्रम निश्चित करने की प्रणाली
- कार्यों का अनुमान लगाना
- मानसिक क्रांति।

टेलर द्वारा वर्णित वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों का विश्वभर में तेजी से विकास एवं प्रसार हुआ क्योंकि इन सिद्धान्तों से न केवल परम्परागत प्रबन्ध की कमियों की पूर्ति हो रही थी बल्कि एक सीमा तक ये सिद्धान्त श्रमिक विकास, उद्यमों की कुशलता, मितव्ययता तथा तार्किकता से ओत-प्रोत थे। वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा ने संगठन में विवेकशीलता, पूर्वानुमान क्षमता, विशेषीकरण तथा तकनीकी योग्यता पर बल प्रदान किया। स्पष्ट है वैज्ञानिक प्रबन्ध की संगठन में स्थापना के लिए समुचित वैज्ञानिक विधियाँ अपनाना आवश्यक है। इन विधियों में निस्संदेह मानसिक क्रांति सर्वप्रमुख रूप से अनिवार्य है क्योंकि संगठन स्वयं एक मानवीय क्रिया है जो कार्मिकों के चिन्तन से सर्वाधिक प्रभावित होती है। जहाँ तक मानकीकरण या प्रमापीकरण (Standardization) का प्रश्न है वह वैज्ञानिक प्रबन्ध का मूलाधार सिद्ध होती है। मानकीकरण के द्वारा कार्य निष्पादन का मूल्यांकन तो सम्भव होगा ही, साथ में औजारों, उपकरणों, मशीनों, सामग्री तथा अन्य साधनों सहित कार्य की दशाएँ (रोशनदान, रोशनी, नमी, तापमान, हवा, सुरक्षा) समय तथा वस्तु की गुणवत्ता भी मानकीकृत होनी चाहिए। वैज्ञानिक प्रबन्ध की यह मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु एवं कार्य मानकीकृत होने से ही वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण सम्भव हो सकता है।

कार्यों के अनुमान (Task Idea) से तात्पर्य उस विधि से है जिसमें यह देखा जाता है कि श्रमिक अपनी योग्यतानुसार कार्य कर रहा है या नहीं? यह कार्य, दी हुई मानकीकृत कार्य दशाओं में एक औसत श्रमिक द्वारा पूरा किया जाना चाहिए। टेलर ने इसे एक उचित दिन का कार्य (A Proper Day's Work) नाम दिया है। गति अध्ययन (Motion Study) में यह देखा जाता है कि कार्य का निष्पादन करते समय श्रमिक के हाथ-पैर तथा अन्य अंग क्या गतिविधियाँ करते हैं। गति अध्ययन की शुरुआत का श्रेय गिलब्रेथ दम्पत्ति (फ्रेंक गिलब्रेथ तथा लिलियन गिलब्रेथ) को जाता है। उनके अनुसार - ''गति अध्ययन, वह विज्ञान है जो अनावश्यक, अनिर्देशित तथा अकुशल गतियों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाली समस्याओं (थकान इत्यादि) को समाप्त करता है।'' गति अध्ययन में कार्य को कई क्रियाओं एवं चरणों में विभक्त करके उसमें लगने वाले समय, गति तथा हरकतों का आकलन किया जाता है। गिलब्रेथ ने मूलभूत शारीरिक गतियों को 18 वर्गों में विभक्त कर इन्हें ''थर्बलिग (Therblig)'' नाम दिया है।

थकान अध्ययन (Fatigue Study) में कार्य के कारण, कार्य क्षमता में आने वाली गिरावट तथा शारीरिक शिथिलता का अध्ययन किया जाता है। स्टेनले 'केन्ट के शब्दों में- ''थकान, शारीरिक अंगों की घटती हुई वह कार्यक्षमता है जो श्रम के पश्चात् उत्पन्न होती है और आंशिक तौर पर उस पर निर्भर करती है।'' कार्य की प्रकृति, अवैज्ञानिक कार्य-वितरण, विश्राम की कमी, भारी कार्य, गर्मी, शारीरिक दुर्बलता, कार्य की पुरनराव त्ति कार्यदशाएँ तथा कार्य की गति इत्यादि थकान उत्पन्न करते हैं और थकान के कारण अंततः श्रमिकों में झुँझलाहट तथा कुंठा बढ़ती है तथा उत्पादन का स्तर कम हो जाता है। समय अध्ययन (Time Study) में यह देखा जाता है कि प्रत्येक कार्य को पूरा करने के लिए कितना समय लगता है। किम्बाल तथा किम्बाल के अनुसार - ''एक औद्योगिक कार्य के तत्व के रूप में उसमें लगे समय का अवलोकन तथा अभिलेख करने की कला ही ''समय अध्ययन'' की पर्याय है।'' समय अध्ययन के द्वारा न केवल एक श्रमिक के द्वारा लिए गए समय का अध्ययन किया जाता है बल्कि सामूहिक प्रयासों एवं बहु इकाई आधारित कार्य गतिविधियों के निष्पादन समय को भी विश्लेषित किया जाता है क्योंकि आज 'समय' अपने आप में एक बहुमूल्य संसाधन है। कार्य का नियोजन, वैज्ञानिक प्रबन्ध का हृदय माना जाता है क्योंकि इसमें यह निर्धारित किया जाता है कि क्या कार्य करना है, कैसे करना है, कहाँ करना है तथा कार्य कब करना है। समय रहते नियोजन प्रणाली

को अपना लेने के कारण भविष्य की समस्याओं पर नियंत्रण करना आसाान हो जाता है। टेलर का मानना था कि कार्य को वैज्ञानिक ढंग से आवंटित किया जाना चाहिए। कार्य का वितरण करते समय श्रमिक या कार्मिक की योग्यता, कौशल, आयु, रुचि, अभिव त्ति तथा अनुभव इत्यादि का ध्यान रखना आवश्यक है अन्यथा श्रमिकों में अनुपस्थितिवाद, अकर्मण्यता, अकार्यकुशलता तथा **श्रम आव त्ति** (Labour Turnover) की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। श्रमिकों को 'आर्थिक मनुष्य' के रूप में देखते हुए टेलर प्रेरणात्मक मजदूरी की अनुशंसा करते हैं। वैज्ञानिक प्रबन्ध के क्षेत्र में यह एक व्यावहारिक तथा प्रभावी तकनीक है कि अधिक मजदूरी की आशा में श्रमिक अधिक उत्साह तथा प्रेरणा से कार्य करते हैं। टेलर ने विभेदात्मक मजदूरी दरों (Differntial Wage Rates) का महत्व समझाते हुए कहा है कि श्रमिकों को दैनिक मानकीकृत कार्य के अतिरिक्त कार्य निष्पादित करने पर अतिरिक्त भुगतान दिया जाना चाहिए ताकि उत्पादन बढ़े। इस पद्धति में कुशल श्रमिको को 30-35% अधिक मजदूरी प्राप्त होती है जबकि अकुशल श्रमिकों का वैज्ञानिक प्रबन्ध में कोई स्थान नहीं है। इस क्रम में टेलर यह भी सुझाव देते हैं कि कार्य की अच्छी दशाएँ भी उत्पादन तथा प्रेरणाओं में व द्धि करती है। श्रमिकों को कार्य के निश्चित घण्टे, विश्राम, रोशनी, हवा, तापमान, सफाई, कैन्टीन, पेयजल, पुस्तकालय, वाचनालय, खेलकूद, क्रेच (बच्चों के लिए अस्थाई घर) तथा आनुषंगिक लाभ देने से उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। कार्यात्मक या क्रियात्मक फोरमैनशिप (या संगठन) के अन्तर्गत आठ विशेषज्ञ पर्यवेक्षकों द्वारा श्रमिक के कार्य का पर्यवेक्षण करना भी टेलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध की महत्वपूर्ण तकनीक या विधि बताया है। प्रत्येक श्रमिक को कार्य के नियोजन से सम्बन्धित निर्देश देने के लिए गुट नेता, मरम्मत नेता, गति नेता तथा निरीक्षक होने चाहिए जबकि क्रियान्व्यन से सम्बन्धित निर्देशों के लिए कार्य की व्यवस्था एवं मार्ग लिपिक, निर्देशन कार्ड लिपिक, समय और लागत लिपिक तथा कारखाना अनुशासक पदस्थापित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रबन्ध की विधियों में कुशल **लागत लेखा व्यवस्था** (Efficient Cost Accounting System) भी महत्वपूर्ण है जिसकी सहायता से उत्पादन में लागत को कम करने तथा उत्पादन की कीमत को नियंत्रित करने का सार्थक प्रयास किया जा सकता है। अन्य विधियों में आधुनिक मशीनों, उपकरणों तथा तकनीकों का उपयोग, श्रमिकों के लिए सांकेतिक रूप में कार्य करने की प्रणाली एवं कार्यक्रमों को सुनिश्चित करना प्रमुख हैं।

अध्याय-11

मानव सम्बन्ध उपागम
(Human Relation Theory)

यद्यपि शास्त्रीय विचारकों ने संगठन के सिद्धान्त (Principals) को उजागर करते हुए यह दावा किया कि इन्हें लागू करने पर संगठन की सभी समस्याओं को हल किया जा सकता है तथापि बहुत सी संगठनात्मक समस्याएँ अनसुलझी तथा अविश्लेषित रह गई। इसका प्रमुख कारण यह था शास्त्रीय सिद्धान्त मे मानवीय तत्व का समावेश न किया जाना। शास्त्रीय सिद्धान्त ने मानव को एक पुर्जा मानते हुए उसका यांत्रिकरण कर दिया। इस सिद्धान्त में मानवीय तत्व, मानवीय भावनाओं, मानवीय परिस्थितियों के लिए कोई स्थान नहीं था। फलस्वरूप, सन् 1920 ई० के पश्चात् संगठन के अनौपचारिक पक्ष को स्पष्ट करने हेतु मानव-सम्बन्ध विचारधारा का जन्म हुआ।

यद्यपि औद्योगिक जगत में मानव-सम्बन्धों का महत्व बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में उजागर हो चुका था, उदाहरणार्थ ह्यूगों मस्टरबर्ग द्वारा रचित ''औद्योगिक मनोविज्ञान''से सम्बन्धित पुस्तक ''मनोविज्ञान और औद्योगिक कार्यक्षमता'' का प्रकाशन 1913 में हो चुका था, तथापि एक व्यवस्थित द ष्टिकोण के रूप में इस उपागम का उदय 1920 के दशक से ही माना जाता हैं नियोक्ता और कार्मिक के बीच अनौपचारिक सम्बन्धों की व्याख्या करने वाले इस उपागम का सम्बन्ध संगठन के कानूनी तत्वों से नहीं बल्कि नैतिक और मनोवैज्ञानिक पक्षों से है। परम्परागत विचारधारा के समर्थक संरचना तथा सिद्धान्त पर बल देते हैं। इसके विपरित मानव-सम्बन्ध उपागम व्यक्तियों और उनकी अभिप्रेरणाओं पर केन्द्रित रहता है। मानव-सम्बन्ध उपागम के जनक माने जाने वाले एल्रन मेपो के अतिरिक्त रोथलिसबर्गर, विलियम जे. डिक्सन, टी.नार्थ वर्हाइटहैड, ई. वारनर, डब्ल्यू लॉयड, एल. जे. हेन्डरसन, वाल्टर रादेनाव तथा ओलिवर शैल्डन इत्यादि इस विचारधारा के प्रबल समर्थक हैं। मानव सम्बन्ध उपागम को अनौपचारिक संगठन उपागम भी कहा जाता है। कुछ विचारक इसे सामाजिक-आर्थिक उपागम के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। एल्टन मेयो ने इसे डॉक्टरी विधि (Clinical Method) भी कहा है। संगठन में मानवीय सम्बन्धों के सैद्धान्ति तथा व्यावहारिक पक्ष के अध्ययन को प्रभावित करने वाले कई सामाजिक-आर्थिक तत्व उत्तरदायी माने जाते हैं जिनमें से निम्नाकिंत प्रमुख है।

1. **आर्थिक मन्दी**: औद्योगिकीकरण या मशीनीकरण के फलस्वरूप अधिक उत्पादन होने के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् 1929-32 ई० तक अभूतपूर्व आर्थिक संकट छा गया था। इसी प्रकार की स्थिति अन्य पूँजीवादी देशों की थी। यद्यपि मशीनीकरण के कारण मानव-श्रम मे कमी अवश्य आई थी किन्तु मानसिक तनावों में व द्धि हो गई थी। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में बढ़ती विशेषज्ञता, केन्द्रीकरण तथा कार्यकुशलता के दबावों के कारण उन मानवीय तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों को समझना आवश्यक हो गया था जो उत्पादन तथा नियोक्ता-श्रमिक सम्बन्धों को प्रभावित कर रहे थे।
2. **पूँजी आधारित उद्योग**: बीसवीं सदी के प्रथम दो-तीन दशकों में उद्योगों पर पूँजी का आधिपत्य बढ़ चुका था। उपकरणों तथा मशीनों में होने वाली खराबी, श्रमिक आन्दोलनों तथा संघर्षों से निरंकुश उद्योगपतियों को हानि पहुँचने लगी थी। ऐसी स्थिति में पूँजीपतियों ने उन कारकों को जानना आवश्यक समझा जो श्रमिकों में अपने कार्य तथा कम्पनी के हितों के प्रति निष्ठा उत्पन्न कर सकते थे।
3. **तकनीकी प्रगति**: विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में हुई उल्लेखनीय खोजों ने केवल उत्पादन की प्रकृति एवं गति को प्रभावित किया बल्कि इससे श्रमिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण के नए आयाम भी स्थापित हुए। शिक्षा एवं प्रशिक्षण के कारण व्यावसायिक ज्ञान एवं कौशल का स्तर उच्च हो जाने से श्रमिकों में व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का भाव जाग त हुआ तथा वे भौतिक-अभौतिक सुख-सुविधाओं की माँग के साथ-साथ नियोक्ताओं से मानवीय अधिकार भी माँगने लगे। स्पष्ट

है इस परिवर्तित परिस्थिति ने एक नए चिन्तन को जन्म दिया।

4. **टेलरवाद की प्रतिक्रिया**: सामान्यतः यह कहा जाता है कि मानव-सम्बन्ध विचारधारा न्यूनाधिक मात्रा में टेलर के वैज्ञानिक प्रबंध की एक पक्षीय प्रकृति के विरुद्ध, एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। कतिपय आलोचकों का कहना था कि टेलरवाद, श्रमिकों की शारीरिक क्षमता के अधिकतम उपयोग तथा उत्पादन के उन्नत संगठन के माध्यम से किसी उपक्रम की कुशलता सिद्ध करना महज एक षड़यंत्र है जो श्रमिकों का शोषण करता है। टेलर के अनुसार - ''प्रतयेक व्यवसाय का अस्तित्व अपने मालिकों को अधिक लाभांश देने में ही निहित है।'' यद्यपि टेलरवाद के कारण उत्पादकता में व द्धि तो हुई किन्तु यह शीघ्र अप्रासांगिक भी हो गया क्योंकि श्रमिकों में व्याप्त उदासीनता, कुंठा तथा अवसाद ने कार्य के प्रति उनमें अरुचि उत्पन्न कर दी। अनुपस्थितिवाद, असहयोग तथा श्रम आन्दोलननों ने नियोक्ताओं को गम्भीरतापूर्वक सोचने पर विवश कर दिया।

5. **वर्ग विरोध**: पूँजीपतियों या उद्योगपतियों ने अपने हितों की रक्षा के लिए एकजुट होना प्रारम्भ किया तो श्रमिक संगठन (Trade Unions) भी द ढ़ता से सामने आए। साम्यवाद की लहर ने सोवियत संघ में क्रांति ला दी तथा अन्य देशों में श्रमिक संगठनों का तेजी से विकास हुआ। वर्गीय हितों के प्रति एकजुटता ने स्वाभाविक रूप से संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न कर दीं। मजबूर होकर पूंजीपतियों ने संगठन के अन्दर विद्यमान अनौपचारिक सम्बन्धों को जानने का प्रयास किया।

संगठन में मानव-सम्बन्धों का महत्व

होथोर्न प्रयोगों के पश्चात् लोकप्रिय हुए मान-सम्बन्ध उपागम या द ष्टिकोण का केन्द्रबिन्दु 'मानव-व्यवहार है। मानव-सम्बन्धों का प्रशासनिक कुशलता तथा संगठनात्मक गतिशीलता पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। मानव-सम्बन्धों को परिभाषित करते हुए कीथ डेविस कहते हैं- ''मानवीय सम्बन्ध, मनुष्यों की कार्यदशाओं के साथ इस प्रकार का एकीकरण है जिसमें उन्हें आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा समाजिक संतोष सहित उत्पादकता एवं सहयोगात्मक रूप से कार्य करने की प्रेरणा मिलती है।''

मैक्फारलैण्ड के अनुसार: ''मानव सम्बन्ध, कार्यरत व्यक्तियों की क्रियाओं, प्रव त्तियों, भावनाओं तथा अन्तरसम्बन्धों के ज्ञान एवं समझ द्वारा मानवीय साधनों के सदुपयोग का अध्ययन एवं व्यवहार है।'' इस प्रकार मानव-सम्बन्ध उपागम वह विचारधारा है जो संगठन के अध्ययन के क्रम में ''मानव-सम्बन्धों'' को महत्वपूर्ण मानती है तथा मुख्यतः नियोक्ता एवं कार्मिकों के मध्य सहयोग पर बल देती है। इस विचारधारा का मुख्य सार यही है कि ''उद्योग व्यक्तियों के लिए है न कि व्यक्ति उद्योग के लिए।''

वस्तुतः संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के मध्य व्याप्त 'मानव-सम्बन्ध' सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं क्योंकि ये सम्बन्ध वे हैं जो सामान्यतः कम ही दिखाई देते हैं। पूँजी, मशीन, तकनीक, सामग्री इत्यादि संसाधनों की तुलना में मानव-सम्बन्ध गौण ही माने गए हैं, अतः उत्पादन या संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति में मानव-सम्बन्धों का महत्व भी कम ही आँका जाता है लेकिन संगठन में मानव-सम्बन्धों का सर्वाधिक महत्व है। इसे निम्नांकित बिन्दुओं के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं:

1. मानव सम्बन्धों के द्वारा मानवीय आकांक्षाओं की पूर्ति होती है।
2. इससे मानव-संसाधन (कार्मिक) की पूर्ण क्षमता का सदुपयोग हो पाता है।
3. कार्मिकों के मनोबल तथा अभिप्रेरणा में व द्धि होती है।
4. प्रबंधकों या नियोक्ता का यह सामाजिक तथा नैतिक दायित्व है कि वह संगठन में मधुर मानव-सम्बन्धों का निर्माण करे।
5. अच्छे मानव-सम्बन्ध औद्योगिक शांति के लिए आवश्यक हैं।
6. परिवर्तित परिस्थितियों (जैसे श्रमिक या कार्मिक चेतना) का सामना करने के लिए मानव-सम्बन्ध महत्वपूर्ण हैं।
7. प्रबंधकीय कार्यों (जैसे निर्णयन) में मानव-सम्बन्ध सहायता प्रदान करते हैं।
8. मानव-सम्बन्धों के निर्माण से मितव्ययता तथा श्रेष्ठ उत्पादन के लक्ष्य प्राप्त होते हैं।
9. मानव-सम्बन्धों के माध्यम से कार्मिक संतुष्टि पाते हैं।

10. इनसे मानवीय समस्याओं का मानवीय समाधान हो सकता है।
11. मानव-सम्बन्धों के द्वारा संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति होती है।
12. अनौपचारिक संगठनों का निर्माण तथा संचालन इन्हीं मानव-सम्बन्धों से होता है।

मानव सम्बन्ध उपागम उपरोक्त तथ्यों को आधार बनाकर ही संगठन का अध्ययन करता है।

यांत्रिक एवं मानव-सम्बन्ध उपागम में अन्तर: मानव सम्बन्ध उपागम इस बात को उजागर किया कि किसी भी संगठन में मानव सर्वाधिक महत्वपूर्ण संसाधन हैं। यदि मानवीय तत्व को उसका सही स्थान नहीं मिल पाता तो वह संगठन उन्नति नहीं कर सकता। इसके विपरित यांत्रिक विचारधारा में मानवीय तत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। इस कारण दोनों विचारधाराओं में मूलभूत अन्तर हैं। दोनों विचारधाराओं के मध्य अन्तर को हम निम्न प्रकार से अधिक स्पष्ट कर सकते हैं:

परम्परागत (शास्त्रीय) उपागम	मानव-सम्बन्ध उपागम
1. संगठन की औपचारिक संरचना पर बल	1. अनौपचारिक संगठनों पर बल
2. संगठन को तार्किक एवं अव्यक्तिगत व्यवस्था मानना	2. संगठन को भावनात्मक तथा सामजिक व्यवस्था मानना।
3. कार्मिकों को ''आर्थिक मानव'' मानना	3. कार्मिकों को ''सामाजिक मानव'' मानना
4. संगठन के मशीन तथा क्रिया प्रणाली पक्ष पर जोर	4. संगठन के सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जोर
5. प्रबन्ध द्वारा निर्मित कानूनों तथा विनिमयों को संगठनात्मक व्यवहार का आधार मानना	5. भावनाओं, अभिव त्तियों तथा इच्छाओं को संगठनात्मक व्यवहार का आधार मानना
6. कार्मिकों को एकरूपी (Homogenous) मानना	6. कार्मिकों को विविधता से परिपूर्ण (Heterogenous) मानना।
7. ''निरकुंश पर्यवेक्षण'' शैली का समर्थक	7. ''लोकतांत्रिक पर्यवेक्षण'' शैली का समर्थक
8. मनुष्य को ''आणविक'' रूप में देखना	8. मनुष्य को ''सामाजिक'' रूप में देखना
9. सिद्धान्तों पर आधारित संगठन की संरचना को कार्यदक्षता का आधार मानना	9. कार्मिकों की संतुष्टि तथा मानवीय सम्बन्धों को संगठनात्मक कार्यक्षमता का आधार मानना
10. कार्य के ''भौति पर्यावरण'' पर बल	10. कार्य के ''सामाजिक पर्यावरण'' पर बल

मानव सम्बन्ध उपागम की विशेषताएँ:

मानव सम्बन्ध उपागम की प्रमुख विशेषताएँ हैं:

1. यह उपागम यह मानकर चलता है कि मानव एक मशीन या मशीन का कोई पुर्जा नहीं है, अपितु वह सजीव संवेदनशील तथा विचारवान प्राणी है जो समूह के नियमों से प्रभावित होता है।
2. प्रत्येक संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के एकीकरण, सामूहिकीकरण तथा अन्तरसम्बन्धों की प्रक्रिया ही मानव-सम्बन्ध हैं जो प्रत्येक संगठन में विद्यमान होते हैं।
3. संगठन में कार्यरत मनुष्य ''सामाजिक मनुष्य'' है जो समूह के द्वारा निर्धारित मापदण्डों तथा प्रतिमानों से प्रभावित होता है तथा स्वयं की समस्याओं के कारण संगठन के कार्यकरण को प्रभावित करता है।
4. यह उपागम मानता है कि नियोक्ता एवं कार्मिकों के मध्य सम्बन्ध हमेशा कानूनों या नियमों से निर्धारित संचालित नहीं होते हैं बल्कि ये सम्बन्ध कानूनी तत्वों की अपेक्षा नैतिक और मनोवैज्ञानिक तत्वों से सम्बन्धित होते हैं।
5. मानव-सम्बन्ध विचारधारा, ''औद्योगिक सम्बन्धों'' की पर्याय नहीं है बल्कि यह संगठन में कार्यरत कार्मिकों को आदर्शोन्मुखी बनाने के लिए ठोस पद्धतियाँ ढूंढने से सम्बन्धित है।
6. यह उपागम व्यक्तियों तथा उनकी अभिप्रेरणाओं पर बल देता है ताकि संगठन के समस्त संसाधनों का सदुपयोग हो सके।

7. संगठन के कार्यकलापों को समझने के लिए यह उपागम मानव की बहुआयामी प्रकृति तथा उनकी पारस्परिक प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करने में विश्वास करता है।
8. मानव-सम्बन्ध उपागम के समर्थकों की मान्यता है कि औपचारिक संगठनों के कार्यकलापों को समझने के लिए अनौपचारिक संगठनों का अध्ययन आवश्यक है।
9. यह उपागम कार्मिकों की संतुष्टि, उनकी समस्याओं, प्रबंध में सहभागिता, अनौपचारिक सम्बन्ध तथा संगठन के आन्तरिक सामाजिक मनोवैज्ञानिक पर्यावरण को समझने पर बल देता है।
10. इसमें केवल आर्थिक अभिप्रेरणाओं के स्थान पर अनार्थिक एवं अन्य विशिष्ट अभिप्रेरणाओं का पता करने का प्रयास किया जाता है।
11. यह उपागम मानव समूहों को अव्यवस्थित, स्वार्थी तथा निरुद्देश्य मानने के बजाय सकारात्मक द ष्टिकोण से विश्लेषण करता है।
12. यह उपागम स्वीकार करता है कि कोई भी फैक्ट्री या प्रशासनिक संगठन केवल कार्यस्थल मात्र नहीं है बल्कि वह एक ''सामाजिक संगठन'' है जिसमें सभी व्यक्ति सामूहिक रूप से कार्य करते हैं।
13. यह उपागम संगठन में कार्यरत कार्मिकों के व्यक्तिगत हितों तथा संगठनात्मक उद्देश्यों के मध्य समन्वय स्थापित करने पर बल देता है।
14. इसमें अनुशासन, कार्य-संचालन, संतुष्टि के साथ-साथ कार्मिकों की कार्यक्षमताओं में सकारात्मक व द्धि की दिशा में प्रयास करने की अनुशंसा की जाती है।

इसी प्रकार के विचार चेस्टर बर्नार्ड के हैं। उनके अनुसार - ''किसी भी संगठन में मानवीय व्यवहार के दर्शन तब तक नहीं किए जा सकते जब तक कि अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों तथा आर्थिक हितों (यद्यपि वे अपरिहार्य है) को दूसरे स्थान पर नहीं धकेल दिया जाता।''

आधारभूत मान्यताएँ तथा सिद्धान्त
(Basic Assumptions and Principles)

मानव-सम्बन्ध उपागम में भी परम्परागत तथा आधुनिक मान्यताएँ प्रचलित हैं। परम्परागत मान्यताएँ उन नियमों पर आधारित हैं जो मानव को केवल 'आर्थिक मानव' के रूप में देखते हुए वित्तीय प्रेरणाएँ देने की सिफारिश करती हैं। प्राचीन अर्थशास्त्री उत्पादन के पांच प्रमुख साधनों में भूमि, श्रम, पूंजी, साहस तथा संगठन को समाहित करते थे लेकिन मानव-सम्बन्ध उपागम ने ''मानव श्रम शक्ति'' तथा प्रबन्ध को प्राथमिक चिन्तन के रूप में आँकते हुए प्रबंधकों और श्रमिकों के मध्य समस्त प्रकार के मानवीय सम्बन्धों को उत्पादन के साथ जोड़ दिया है।

हेराल्ड जे. लेविट के अनुसार मानव-सम्बन्ध के विश्लेषण के क्रम में निम्नांकित मान्यताएँ प्रचलित हैं:

1. परम्परागत मान्यताएँ

1. कार्मिकों की आवश्यकताएँ बहुआयामी तथा उन्नत होती हैं। वे अपने कार्य से अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते हैं बल्कि एक सीमा तक ही कुछ आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति (संतुष्टि) की जा सकती है।
2. नियोक्ता तथा कार्मिकों के हितों में पारस्परिक निर्भरता होती है। इनके हित एक दूसरे से प थक् या विपरीत होने के बजाए एक जैसे ही होते हैं।
3. कार्मिक अपने द्वारा किए गए कार्यों का अधिकतम आर्थिक पारितोषिक चाहते हैं, अतः ऐसा प्रयास भी करते हैं।

2 आधुनिक मान्यताएँ

आधुनिक मान्यताएँ संगठन में मानव व्यवहार को केवल आर्थिक आधार पर ही नहीं बल्कि सामाजिक मनोवैज्ञानिक आधार पर विश्लेषित करती हैं:

(i) मनोवैज्ञानिक मान्यताएँ

- मनुष्य आत्मनिर्भर बनना चाहता है अतः उसके व्यक्तिगत व्यवसाय को उसकी सामाजिक प ष्ठभूमि के अन्तर्गत समझने का प्रयास किया जाए।
- मनुष्य कार्य करने हेतु अनेक प्रकार से अभिप्रेरित हो सकता है।
- बहुत बार मनुष्य विवेकशून्य होकर भी कार्य करता है।
- संगठन में सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों के लिए प्रबन्धकों को प्रशिक्षित किया जा सकता है।

(ii). सामाजिक मान्यताएँ

- कार्य के सामाजिक वातावरण को केवल प्रबंधक ही नहीं बल्कि अन्य कई परिस्थितियाँ भी प्रभावित करती हैं।
- औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।
- कार्मिक के कार्य पर उसके सामाजिक तथा व्यक्तिगत घटकों का बहुत प्रभाव पड़ता है।

(iii) सामाजिक-मनोवैज्ञानिक मान्यताएँ

- निर्णयन-प्रक्रिया में कार्मिकों को सम्मिलित करने से उनका मनोबल बढ़ता है तथा उत्पादन में भी व द्धि होती है क्योंकि कार्मिक 'प्रबन्ध में सहभागिता' निभाकर आत्मीय सम्बन्धों को अनुभव करते हैं।
- प्रत्येक कार्मिक, संगठनात्मक हितों एवं उद्देश्यों की ओर नहीं सोचता है। उसे तो इस ओर प्रेरित करना पड़ता है।
- कार्मिकों में समूह भावना का विकास किया जा सकता है।
- प्रभावी संचार व्यवस्था द्वारा प्रत्येक कार्मिक की मनोभावनाओं को समझा जा सकता है।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर मानव-सम्बन्ध उपागम के कुछ सिद्धान्त (Principles) विकसित हो चुके हैं जो सकारात्मक द ष्टि से कार्मिक का आकलन करते हैं। ये हैः-

1. **व्यक्ति के महत्व का सिद्धान्त** (व्यक्ति की भावनाओं को समझा जाए तथा उनका आदर हो)।
2. **पारस्परिक मान्यता का सिद्धान्त** (सभी एक दूसरे का आदर-सम्मान करें तथा सद्भावना रखें)।
3. **सामान्य हित का सिद्धान्त** (नियोक्ता-श्रमिक एक दूसरे को अपना विरोधी न मानें बल्कि सामान्य हितों पर सहमत रहें)।
4. **संचार का सिद्धान्त** (अफवाहों, भ्रान्तियों से बचने के लिए सही सूचना का शीघ्र सम्प्रेषण हो)।
5. **कर्मचारी सहभागिता का सिद्धान्त** (निर्णयन प्रक्रिया में कार्मिकों की भागीदारी हो)।
6. **अनुकूल प्रव त्तियों का सिद्धान्त** (कार्मिक की मनोव त्ति के अनुरूप कार्य वातावरण का विकास हो)।
7. **अभिप्रेरणा का सिद्धान्त** (कार्य के प्रति रुचि एवं प्रोत्साहन पैदा किया जाए)।
8. **दलीय कार्य तथा सामूहिक प्रयत्नों के प्रोत्साहन का सिद्धान्त** (संगठन मे कार्य सामूहिक प्रयत्नों से किए जाएँ)।
9. **लोकतांत्रिक वातावरण का सिद्धान्त** (दमनात्मक व्यवस्था के स्थान पर भाईचारा तथा लोकतंत्रात्मक व्यवस्था रहे)।
10. **स्वनियंत्रण का सिद्धान्त** (कार्मिकों को अपने ऊपर स्वयं नियंत्रण करने की क्षमता होनी चाहिए)।

उपर्युक्त वर्णित सिद्धान्त ही किसी संगठन में अच्छे मानव-सम्बन्ध विकसित कर सकते हैं। इन्हीं के द्वारा संगठन में कुशलता आ सकती है और संगठनात्मक उद्देश्य की सफलतापूर्वक प्राप्ति हो सकती है। संगठन में कुशलता, सुधार तथा मानव-सम्बन्धों की स्थापना के लिए शिक्षण-प्रशिक्षण, कुशल नेत त्व, नवाचार, शिकायत, निवारण, व त्तिका विकास के अवसरों, कार्मिक नीति, निष्पक्ष व्यवहार, सत्यनिष्ठा, सुरक्षा एवं कल्याणकारी योजनाओं, गतिशीलता, अपनत्व तथा द ढ़ इच्छाशक्ति का सहारा भी लिया जा सकता है। निस्संदेह मानव-सम्बन्ध उपागम में अनौपचारिक संगठन तथा अनौपचारिक सम्बन्ध महत्वपूर्ण बिन्दु हैं। इस क्रम में रोथलिसबर्जर का कथन है- ''हम अधिकाशंतः मानवीय समस्याओं का समाधान, गैर मानवीय साधनों द्वारा गैर मानवीय तथ्यों तथा आँकड़ों के सन्दर्भ में करते हैं। मेरा यह सामान्य मत है कि मानवीय समस्याओं का मानवीय सामाधान होना चाहिए। प्रथमतः

हमें देखते ही मानवीय समस्या को समझना चाहिए और समझने के पश्चात् उसे उसी रूप में हल करना चाहिए, न कि किसी अन्य प्रकार से। मानवीय समस्या के मानवीय समाधान के लिए मानवीय तथ्यों तथा मानवीय साधनों की आवश्यकता होती है।'' इसी प्रकार एल्टन मेयो का कहना था - ''यदि हमारी तकनीकी कुशलताओं के साथ-साथ सामाजिक कुशलताएँ भी विकसित हो गई होती तो द्वितीय विश्वयुद्ध नहीं होता।''

आलोचना (Criticism)

मानव-सम्बन्ध उपागम जो कि मानवतावादी विचारों का समर्थक है एक लोकप्रिय उपागम है किन्तु इसकी भी पीटर एफ. ड्रकर, शैपर्ड, एलेक्स कैरी, लारेन बारिज, स्कॉट, रौजमेन, एटिजियोनी, डेनियल सेल, बेन्डिक्स, ईबी तथा मेक्नेयर द्वारा पर्याप्त आलोचना हुई है। आलोचना के प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं।

1. मानव-सम्बन्ध उपागम मूलतः होथोर्न प्रयोगों की देन है, अतः एल्टन मेयो तथा उसके साथियों की खूब आलोचनाएँ हुई हैं। अमेरिका के यूनाइटेड ऑटोवर्क्स ने मेयोवादियों को भीरू समाजशास्त्री (Cow Sociologist) बताया है जो केवल श्रमिकों या कार्मिकों को पुचकारने में विश्वास करते हैं। इससे कार्मिकों की वास्तविक समस्याएँ शायद ही कभी हल हो पाती हैं।
2. लारेन बारिज तथा अन्य के अनुसार मेयोवादी श्रमिक संघों के विरोधी तथा प्रबंधकों के पक्षधर रहे हैं अर्थात् मानव-सम्बन्ध उपागम के अन्तर्गत कर्मचारी संघों की भूमिका को उपेक्षित द ष्टि से देखा गया है।
3. एलेक्स कैरी जैसे आलोचकों का मानना है कि होथोर्न प्रयोगों के निष्कर्ष, सामान्यीकरण के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि 'महान प्रकाश व्यवस्था' प्रयोग में चुनी गई लड़कियाँ सहर्ष प्रयोग में सहयोग कर रही थी, अतः निष्पक्ष निष्कर्ष कैसे प्राप्त हो सकते हैं? साथ ही प्रयोग में कम लड़कियां चुनी गई थी।
4. प्रबन्ध चिंतन के पितामह पीटर एफ ड्रकर का कहना है कि मानव सम्बन्ध उपागम में आर्थिक आयाम को छोड़ दिा गया है तथा होथोर्न प्रयोगों में सारा ध्यान व्यक्तिगत सम्बन्धों पर लगाया गया है न कि कार्य की प्रकृति पर।
5. यह उपागम सामूहिक सम्बन्धों तथा प्रयासों पर अधिक बल देता है तथा व्यक्तिगत सम्बन्धों को छोड़ देता है। वस्तुस्थिति यह है कि व्यक्तिगत सम्बन्धों को विकसित किए बिना सामूहिकता का विकास करना निरर्थक है।
6. मानव-सम्बन्ध उपागम में सहयोग तथा समन्वय को ही महत्वपूर्ण माना है जबकि ''संघर्षों'' को बुरा मानकर छोड़ दिया गया है। आलोचकों का कहना है कि संघर्ष ही संगठन को नवजीवन प्रदान करते हैं तथा संघर्षों से ही प्रतियोगिता एवं प्रगति का मार्ग खुलता है।
7. मानव-व्यवहार की क्षणिकता-प्रकृति को देखते हुए कुछ विद्वान् चेतावनी देते हैं कि मानव-सम्बन्धों के निर्माण को लेकर जितना श्रम और धन व्यय किया जा रहा है वह किसी भी क्षण निरर्थक सिद्ध हो सकता है क्योंकि कोई भी यह गारंटी नहीं दे सकता है कि मानव-सम्बन्ध स्थायी रह सकते हैं। वास्तव में इस संसार को सबसे बड़ा आश्चर्य स्वयं मानव तथा उसकी बुद्धि ही है।
8. मानव-सम्बन्ध उपागम, शिक्षण-प्रशिक्षण, सभा-संगोष्ठी का पक्ष तो लेता है किन्तु यह भी मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक नजरिया होता है। यदि ज्ञान, कौशल, अभिव त्ति तथा व्यवहार स्वतः स्फूर्त हैं तो मानव-सम्बन्धों की स्थापना या निर्माण के प्रयासों से क्या अंतर पड़ सकता है?
9. यह उपागम न तो सर्वथा नए विचारों का विकास कर पाया है और न ही कार्य संस्कृति का विकास कर पाया है, अतः इसकी मान्यताएँ सर्वांगीण नहीं कहीं जा सकती हैं।

इसी प्रकार बेन्डिक्स, फिशर तथा डेनियल सेल इत्यादि ने होथोर्न प्रयोगों और मानव-सम्बन्ध उपागम की आलोचना की है जो मूलतः इसके वैज्ञानिक आधार को स्वीकार न करने के सम्बन्ध में हैं।

जार्ज एल्टन मायोः मानवीय सम्बन्ध
(George Elton Mayo: Human Relation)

जार्ज एल्टन मायो का जन्म आस्ट्रेलिया के ऐडिलेट शहर में 1880 ई. में हुआ था। उन्होंने ऐडिलेट विश्वविद्यालय, आस्ट्रेलिया से तर्कशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र मे स्नातकोत्तर तक की शिक्षा ग्रहण की। अध्ययन और अनुभव की तलाश में एल्टन मायों को काफी भ्रमण करना पड़ा। इसी क्रम मे उन्होंने एडिनबर्ग, स्कॉटलैण्ड (Edinbargh, Scotland) में मेडिसिन का भी अध्ययन किया और स्कॉटलैण्ड प्रवास के दौरान ही उन्होंने 'साइको पैथोलोजी' का भी अध्ययन किया। इस अध्ययन ने बाद के वर्षों में उसे औद्योगिक शोधकर्ता बनने में मदद की। कुछ देशों का भ्रमण करने के पश्चात् एल्टन मायो पुनः अपने शहर वापस आए और एक प्रिण्टिग प्रेस के कार्य से अपना व्यवसाय प्रारम्भ किया। मायो ने ऐडिलेड विश्वविद्यालय में ही मनोविज्ञान का अध्ययन किया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान घायल एवं भयभीत सैनिकों के लिए एक मनोवैज्ञानिक जाँच कैम्प का आयोजन कर उन्हें मनोवैज्ञानिक सलाह देकर आशातीत सफलता पायी। इसी प्रसिद्धि का यह परिणाम था कि जार्ज एल्टन मायो को 1919 में क्वीन्सलैण्ड विश्वविद्यालय (Queensland University) में दर्शनशास्त्र विभाग का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। इस विश्वविद्यालय में कार्य करते समय एल्टन मायो दर्शनशास्त्र विभाग के साथ-साथ नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्र भी पढ़ाया करते थे। कुछ समय के पश्चात् एल्टन मायो आस्ट्रेलिया छोड़कर अमेरिका चले गए और वहाँ उन्होंने पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय (Pennsylvania University) में अपना योगदान दिया। पुनः 1926 में एल्टन मायो हार्वर्ड विश्वविद्यालय (Harvard University) के ग्रेजुएट स्कूल ऑफ बिजनेस एडमिनिस्ट्रेशन के औद्योगिक शोध (Industrial Research) विभाग के प्रोफेसर बने। एल्टन मायो ने बाद के वर्षों में अपना सारा ध्यान निजी औद्योगिक संस्थानों में औद्योगिक शोध में केन्द्रित किया और उनके इस कार्य में रॉक फेलर एण्ड कार्नेगी फाउण्डेशन ग्रान्ट्स (Rocke Feller and Carnegie Foundation Grants) ने आजीवन मदद पहुँचायी।

जार्ज एल्टन मायो के औद्योगिक समाजशास्त्र और औद्योगिक मनोविज्ञान पर अध्ययन इतने गहन और प्रभावी हैं कि उन्हें मानवीय सम्बन्ध उपागम (Human relation aproach) के स जनकर्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है।[1]

आज के आधुनिक युग मे संगठन चाहे औद्योगिक हो, व्यावसायिक हो या प्रशासनिक सभी में यह महसूस किया जाता है कि प्राथमिक रूप से मानवीय एवं मनोवैज्ञानिक सम्बन्धों पर ध्यान देकर अनौपचारिक समूह व्यवहार द्वारा उसकी उत्पादकता एवं कार्यक्षमता को विकसित किया जा सकता है। मानव सम्बन्ध सिद्धान्त समर्थकों का यह स्पष्ट मत है कि प्रबन्ध एवं प्रशासन में लोगों का सामूहिक प्रयास होता है। इसलिए प्रबन्ध का अध्ययन अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों (Inter-Personal Relation) पर आधारित होना चाहिए। इन तमाम बातों को ध्यान में रखते हुए मानवीय सम्बन्धों के प्रति लोगों में रुचि बढ़ती गई। फ्रेडरिक टेलर तथा हेनरी फेयोल ने संगठन में वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा प्रबन्धकीय व्यवस्था पर अवश्य ध्यान दिया था। उनके सिद्धान्तों से उत्पादकता में भी व द्धि हुई थी परन्तु मजदूरों का शोषण बढ़ गया था और प्रबन्धकों एवं श्रमिकों के मध्य कटुता का विकास हुआ था। ऐसी परिस्थिति में मानवीय सम्बन्धों मे विकास की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी। एल्टन मायो द्वारा प्रस्तुत मानवीय सम्बन्ध उपागम ने संगठन को एक नई दिशा दी। मानवीय सम्बन्धों की द ष्टि से एल्टन मायो द्वारा किए गए अनेक कार्यात्मक प्रयोगों ने काफी प्रसिद्धि पायी।

1 "His studies on Industrial Sociology and Industrial Psychology are so profound that he has been considered as one of the pioneers of the human relations approach to the organisation." —M. Kistaiah—Administrative Thinkers, p. 122, Edited by Prasad and Prasad, Sterling Publishers Pvt. Ltd.

होर्थान प्रयोग

मानव-सम्बन्ध उपागम को भलीभाँति समझने के लिए होथोर्न प्रयोगों को जानना आवश्यक है, जिनके परिणामस्वरूप मानव-सम्बन्ध सिद्धान्त स्थापित हुआ। यह प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका की वेस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी के शिकागो शहर के समीप होथोर्न नामक स्थान पर स्थित विशाल संयंत्र (Plant) में किए गए थे। आस्ट्रेलिया के जॉर्ज एल्टन मेयो तथा अमेरिका की रोथलिसबर्जर, होथोर्न प्रयोगों से जुड़े हुए प्रमुख शोधकर्ता थे। इन प्रयोगों का विस्त त विवरण रोथलिसबर्जर तथा विलियम जे.डिकसन द्वारा रचित पुस्तक "Management and The Worker" में उपलब्ध है।[5] होथोर्न प्रयोगों में तीन प्रयोग प्रमुख हैंः

महान् प्रकाश व्यवस्था प्रयोग (1924-27)
(The Great Illuminatino Experiment)

यह प्रयोग राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी की राष्ट्रीय शोध परिषद् तथा होथोर्न फैक्ट्री के निरीक्षक जार्ज पेनॉक तथा अन्य साथियों द्वारा शुरू किए गए थे। प्रयोग के अन्तर्गत 6-6 लड़कियों के दो समूह बना दिए गए। दोनों समूहों के पास एक समान कार्य था। यह प्रयोग दो कमरों में इन लड़कियों के समूहों के कार्य निष्पादन तथा प्रकाश व्यवस्था के सह सम्बन को जानने के लिए किया गया था। प्रारम्भ में कमरों का प्रकाश तथा अन्य सुविधाएँ स्थिर रखी गईं। शनैःशनैः प्रकाश को कम या ज्यादा करके यह देखा गया कि इससे उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ता है। डेढ़ वर्ष तक शोध करने के बावजूद यह निष्कर्ष निकला कि प्रकाश को या अन्य सुविधाओं को कम-ज्यादा करने से उत्पादन में कमी नहीं बल्कि दोनों समूहों के उत्पादन में बढ़ोत्तरी हुई। अतः शोधकर्ताओं ने प्रकाश-सिद्धान्त छोड़कर दिहाड़ी, विश्राम के क्षण तथा काम की अवधि को नियंत्रित कर प्रयोग किए। इसके बाद समूह प्रोत्साहन योजना के स्थान पर प्रति व्यक्ति दर योजना शुरू की। परन्तु उत्पादन निरन्तर बढ़ता ही रहा। इसी तरह काम के घंटों, प्रति सप्ताह काम की अवधि, कॉफी एवं सूप की सुविधा समाप्त कर (केवल प्रति व्यक्ति दर को छोड़कर) परिणाम देखने चाहे किन्तु आश्चर्यजनक रूप से केवल कुछ ही दिन उत्पादन गिरा लेकिन शीघ्र ही उत्पादन का स्तर बहुत अधिक बढ़ गया। इतना उत्पादन तो पहले भी कभी नहीं रहा था। स्पष्ट है प्रकाश व्यवस्था, प्रोत्साहन योजना, विश्राम के क्षण उत्पादकता से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नहीं थे।

सन् 1927 में न्यूयार्क के हार्वर्ड क्लब में जॉर्ज पेनॉक की मुलाकात एल्टन मेयो से हुई उन्होंने मेयो को अपनी समस्या बताई तथा होथोर्न आने का निमंत्रण दिया। इन प्रयोगों में मेया को जॉर्ज पेनॉक, विलियम जे. डिकसन, हेराल्ड राइट (सभी कम्पनी के अधिकारी) तथा शैक्षिक क्षेत्र में टी.नार्थव्हाईट हैड, डब्ल्यू, लॉयड, ई. वार्नर तथा एल.जे. हेन्डरसन सहित फ्रिट्ज ज्यूल रोथलिसबर्जर का सहयोग मिला। शोध के परिणामों को देखकर मेयो ने यह निष्कर्ष निकाला कि सम्भवतः श्रमिकों (लड़कियों) की प्रव ति (Attitude) उनके व्यवहार के लिए उत्तरदायी है तथा इन श्रमिकों ने मिलकर अपना एक समाज बना लिया है। श्रमिकों ने अपने ऊपर हो रहे प्रयोगों के कारण योजना में भागीदारी की दर भी बढ़ा दी होगी। इस प्रकार मेयो ने ''सामाजिक मनुष्य'' की व्याख्या की। इस सम्बन्ध में मेयो ने पांच प्रकार की उपकल्पनाओं की चर्चा की तथा अतः में निष्कर्ष दिया कि कार्य-संतुष्टि मूलतः समूह की अनौपचारिक सामाजिक रचना पर निर्भर करती है, अतः निरीक्षकों को ऐसा व्यवहार करना चाहिए ताकि श्रमिक अपनी बात खुलकर कह सकें। पर्यवेक्षेण तथा मनोबल प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं।

मानवीय प्रव त्तियाँ तथा भावनाएँ प्रयोग (1928-31)
(Human Attitudes & Sentiments Experiments)

होथोर्न प्लांट के 25 हजार कार्मिकों में से 21126 श्रमिकों से साक्षात्कार करके एक प्रश्नावली (अनुसूची) भरवाई गई। हार्वर्ड अध्ययन दल ने इस शोध में मानवीय व्यवहार तथा भावनाओं को जानने का प्रयास किया। प्रत्येक श्रमिक से यह कहा गया कि वह प्रबंध की नीतियों, कार्यक्रमों, कार्य के माहौल तथा मालिकों के व्यवहार के बारे में अपने विचार खुलकर प्रकट करे। इस प्रयोग ने श्रमिकों की कल्पना शक्ति को बढ़ावा दिया तथा लगभग सभी श्रमिकों ने अपना ''दिल का गुबार'' निकाला । परिणाम यह निकला कि बिना फैक्ट्री के माहौल, भौतिक सुविधाओं तथा वेतन में परिवर्तन किए ही, कुछ उत्पादन बढ़ गया, तथा श्रमिकों के व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन भी आया। श्रमिकों की शिकायतें दो प्रकार की थीः

1. प्रत्यक्ष एवं भौतिक शिकायतें
2. अप्रत्यक्ष एवं मनोवैज्ञानिक शिकायतें

हार्वर्ड अध्ययन दल से निष्कर्ष निकाला कि श्रमिकों द्वारा वर्णित शिकायतों तथा तथ्यों मे कोई रिश्ता नहीं है। श्रमिकों की पारिवारिक त्रासदियाँ, बीमारियाँ तथा व्यक्तिगत समस्याएँ ही उनकी कार्यक्षमता को बाधित करती हैं। इन समस्याओं को मेयो ने निराशावादी खयालीपुलाव (Pessimistic Reseries) कहा है। इस प्रयोग से तीन बातें स्पष्ट हुईः

1. श्रमिकों ने कम्पनी द्वारा समस्याएँ जानने की पहल की सराहना की तथा श्रमिकों को लगा कि वे प्रबंध में अपना योगदान दे रहे हैं।
2. इससे पर्थवेक्षकों के व्यवहार में परिवर्तन हुआ क्योंकि उन्हें लगा कि उनकी कार्यप्रणाली पर शोधदल की नजर है तथा श्रमिक खुलकर बात कह सकते हैं।

3. इससे श्रमिकों में अपने साथियों को बेहतर ढंग से समझने की सोच उत्पन्न हुई तथा व्यवहार के नए तरीके सीखे।

सामाजिक संगठन प्रयोग या बैंक वायरिंग प्रयोग (1931-32)
(Social Organization Experiment or Bank Wiring Experiment)

यह प्रयोग जॉर्ज एल्टन मेयो द्वारा होथोर्न संयंत्र में किया गया अंतिम प्रयोग था जो समूह के व्यवहार के विश्लेषण पर आधारित था। अध्ययन दल ने अवलोकन के द्वारा समूह-व्यवहार को जाँचा था। श्रमिकों का चयन तीन ऐसे समूहों से किया गया था जो एक-दूसरे से कार्य के आधार पर जुड़े हुए थे। ये काम धातु को सोल्डर करना, टर्मिनल लगाना तथा तार लगाना थे। इन श्रमिकों को वेतन, समूह-प्रोत्साहन योजना के अन्तर्गत दिया जाता था अर्थात् प्रतयेक सदस्य को समूह के कुल उत्पादन के आधार पर उसका अंश मिलता था। प्रयोग के दौरान यह पाया गया कि समूह ने उत्पादन का अपना एक मानक निश्चित कर लिया था जो प्रबंध द्वारा निर्धारित मानक से बहुत कम था। समूह अपने किसी भी सदस्य को उत्पादन घटाने या बढ़ाने की अनुमति नहीं देता था। यद्यपि यह समूह (श्रमिक) अधिक उत्पादन में सक्षम था किन्तु उत्पादन दर को स्थिर बनाए रखने के लिए पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं करता था। समूह में अत्यधिक एकता थी तथा समूह ने निम्नांकित नियम बना लिए थेः

1. किसी को भी बहुत अधिक कार्य नहीं करना चाहिए वरना वह शेखीखोर (Rate Buster) कहलाएगा।
2. किसी को बहुत कम काम भी नहीं करना चाहिए वरना वह कामचोर या धोखेबाज (Chiseler) कहलाएगा।
3. किसी को भी अपने साथियों की चुगली पर्थवेक्षक से नहीं करनी चाहिए वरना वह भेदिया (Squealer) कहलाएगा।
4. किसी को भी साथियों से सामाजिक दूरी नहीं बनानी चाहिए और न ही कार्यालयी व्यवहार करना चाहिए। अर्थात् यदि कोई 'निरीक्षक' है तो वह निरीक्षक जैसा व्यवहार न करे।

मेयो तथा हार्वर्ड अध्ययन दल ने निष्कर्ष निकाला कि समूह के व्यवहार का, प्रबन्ध या संयंत्र (Plant) की सामान्य आर्थिक परिस्थितियों से कोई लेना देना नहीं था। श्रमिकों का मानना था कि विशेषज्ञता तथा कुशलता के तर्क, मानवीय एवं सामूहिक गतिविधियों को बाधित करते हैं।

परिणाम
(Results)

होथोर्न प्रयोगों के पश्चात् मानव-सम्बन्ध विचारधारा के सम्बन्ध में कतिपय बाते स्पष्ट हुई, जैसेः

1. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे मशीन की भाँति न तो समझा जाना चाहिए और न कठोरता से निर्देशित किया जा सकता है।
2. तकनीकी प्रगति तथा भौतिक पक्ष पर इतना अधिक बल नहीं देना चाहिए कि सामाजिक-मानवीय जीवन ही प्रभावित हो जाए।
3. इन प्रयोगों ने डेविड रिकार्डो की रेब्बल (यह मानना कि बड़े असंगठित समूह केवल अव्यवस्था फैलाते हैं) परिकल्पना को ध्वस्त कर दिया जो मनुष्य को असंगठित लोगों का ऐसा झुंड मानती है जो केवल स्वार्थ से संचालित होता है। मेयो ने रॉबर्ट ओवन की उस मान्यता को पुनः जीवित कर दिया जो उद्योगपतियों से यह अपेक्षा करती थी कि मशीनों से अधिक ध्यान श्रमिकों पर दीजिए।
4. मेयो ने यह भी स्पष्ट किया कि सहयोग प्राप्त करने के लिए सत्ता तथा विशेषज्ञता की अपेक्षा सामाजिक कौशल अधिक महत्वपूर्ण है।
5. इन प्रयोगों ने औपचारिक संगठन में अनौपचारिक संगठनों की महत्ता को सिद्ध कर दिया।
6. होथोर्न प्रयोगों ने श्रमिकों के व्यवहार पर समूह के प्रभाव के महत्व को स्पष्ट तथा प्रभावी ढंग से वर्णित किया।

होथोर्न प्रयोगों का संगठन के सिद्धान्तों पर प्रभाव तथा प्रशासनिक संगठन में उपयोगिता

एल्टन मेयो तथा उनके साथियों द्वारा होथोर्न संयंत्र में किए गए प्रयोगों के पश्चात् संगठन की परम्परागत विचारधारा को ठेस लगी जो संरचना, कानून, नियम तथा औपचारिकता को महत्वपूर्ण मानती थी। इसी प्रकार मनुष्य को केवल मशीन या मशीन का पुर्जा मानकर उसका वैज्ञानिक ढंग से प्रबन्धन करने के तरीके पर भी सहसा प्रश्नचिन्ह लग गया। संगठन के औपचारिक

स्वरूप को महत्वपूर्ण मानने के बाजाय उसमें कार्यरत अनौपचारिक संगठनों तथा मानव-सम्बन्धों की व्याख्या भी इन्हीं प्रयोगों से सम्भव हुई। मानव को केवल 'आर्थिक मानव' के बजाय सामाजिक मानव तथा सामूहिक निष्ठाओं में जीने वाला जीव इन्हीं प्रयोगों ने सिद्ध किया था। होथोर्न प्रयोगों ने यह भी सिद्ध किया कि मनुष्य तथा मानव समूह असंगठित, स्वार्थी तथा अव्यवस्थित नहीं बल्कि वह पूर्णतया सामाजिक प्राणी है जो संगठनों के भीतर भी अपना एक समाज बनाता है। यहीं से मानव सम्बन्ध सिद्धान्त का उदय हुआ।

होथोर्न प्रयोगों का प्रशासनिक संगठन पर प्रभाव यह है कि :

1. इन प्रयोगों ने रॉबर्ट ओवन की उस मान्यता को पुनः बल दिया जिसमें मशीनो के बजाय मानव की ओर चिन्तन करने की सिफारिश है। अर्थात् मानव सबसे बड़ा संसाधन है अतः इसे विकसित करना शुरू हुआ।
2. प्रशासनिक संगठनों में अनौपचारिक संगठनों तथा सम्बनधों को मान्यता मिली।
3. संचार तथा पर्यवेक्षण में लोकतांत्रिक पद्धतियों का महत्व समझा गया।
4. प्रशासनिक संगठनों की कार्यकुशलता को कार्मिकों की संतुष्टि के साथ जोड़कर देखा गया तथा मानव के लिए अनार्थिक अभिप्रेरणाएँ महत्वपूर्ण मानी गई।
5. कठोर कानूनों, नियमों, संरचना तथा परम्परागत ढर्रे के द्वारा प्रशासन के संचालन के स्थान पर मानव-सम्बन्धों को आधार बनाकर लोचशीलता लाई गई।
6. कार्मिकों की परिवेदनाओं के निवारण की व्यवस्था शुरू हुई।
7. अनुपस्थिति, उदासीनता तथा थकान के कारणों को जानने के पश्चात् मानवीय समस्याओं का मानवीय समाधान ढूँढा जाने लगा।

एल्टन मेयो के इन होथोर्न प्रयोगों के अतिरिक्त दो अन्य प्रमुख प्रयोग, प्रथम जाँच (1923, फिलाडेलफिया) तथा उद्योगों में अनुपस्थितिवाद (1943) भी प्रमुख हैं, जिन्होंने मानव-सम्बन्ध विचारधारा को द ढ़ आधार प्रदान किया।

मेयो के अन्य प्रयोग
(Mayo's Other Experments)

प्रथम शोध (First Enquiry) 1923

हार्वर्ड विश्वविद्यालय में कार्य सम्भालने के पश्चात् जॉर्ज एल्टन मेयो ने यह प्रथम शोध कार्य किया था, अतः उन्होंने इसे 'प्रथम शोध' का नाम दिया। यह प्रयोग भी उन दिनों किया गया जब अमेरिकी कल-कारखानों में श्रमिकों की थकान, दुर्घटनाएँ, उत्पादन स्तर में कमी, विश्राम की समस्या तथा कार्य करने का माहौल मुख्य समस्याएँ थीं। इन्हीं आयामों पर मेयो सहित अधिसंख्य विद्वान् चिन्ता कर रहे थे। सन् 1923 में मेया ने फिलाडेलफिया के निकट स्थित एक कपड़ा मिल में यह शोध कार्य किया। यह मिल एक आदर्श मिल मानी जाती थी जो अपने श्रमिकों को पर्याप्त सुख-सुविधाएँ प्रदान करती थी। मिल के अध यक्ष प्रथम विश्वयुद्ध मे कर्नल रह चुके थे तथा अधिकाँश श्रमिक इस कर्नल के अधीन सैनिक रहे थे। प्रबंधक वर्ग भी प्रगतिशील तथा मानवीय था फिर भी मिल के एक विशेष खण्ड में गम्भीर समस्या बनी हुई थी। यह खण्ड (Mule Spinning Department) मिल के कार्यों का मुख्य हिस्सा था तथा कार्य निष्पादन की द ष्टि से पिछड़ रहा था। इस खण्ड के श्रमिकों को वित्तीय प्रोत्साहन सहित अन्य सभी उपाय करके देखे जा चुके थे, किन्तु समस्या हल न होने पर प्रबन्धकों ने यह समस्या हार्वर्ड विश्वविद्यालय का सौंप दी। मिल में आकर मेयो ने समस्या का भौतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक, सभी द ष्टियों से विश्लेषण किया तथा सहभागी अवलोकन के पश्चात् पाया कि इस खण्ड में छेद करने वाला प्रत्येक श्रमिक पैरों की पीड़ा से पीड़ित था जिसका तुरंत कोई उपचार उपलब्ध न था। श्रमिकों को यह पीड़ा 30 गज लम्बे गलियारे में बार-बार ऊपर-नीचे जाने से होती थी। प्रत्येक श्रमिक 10-14 मशीनों के धागे पर ध्यान रखता था तथा शोर एवं अधिक दूरी के कारण दूसरे श्रमिक से बतिया भी नहीं पाता था। इसी कारण इस खण्ड के श्रमिक थकान तथा कुंठा से ग्रस्त थे। चूँकि वे मिल के अध्यक्ष (कर्नल)के अधीन सैनिक रह चुके थे, अतः अनुशासन के कारण अपनी पीड़ा बता भी नहीं पाते थे। मेयो ने यह सब बातें वहाँ कार्यरत एक नर्स के माध्यम से पता की थी क्योंकि श्रमिक अपनी सरी व्यथा नर्स को बताते थे।

नर्स से प्राप्त जानकारी के पश्चात् मेयो ने श्रमिकों हेतु कार्य के दौरान विश्राम की व्यवस्था करवाई। इसके नतीजे बहुत उत्साहजनक रहे। कालान्तर में विश्राम की योजना सभी खण्डों तथा निरीक्षकों के लिए भी कर दी गई तथा मनोबल, उत्साह एवं उत्पादन में व द्धि हुई। मेयों ने बाद में बोनस की एक नई नीति घोषित करवाई जो एक निश्चित प्रतिशत से अधिक उत्पादन पर देय था। इस प्रयोग ने मानवीय आवश्यकताओं को स्पष्ट कर दिया।

उद्योगों में अनुपस्थितिवाद, 1943 (Absenteeism in Industries)

यह प्रयोग एल्टन मेयो का अंतिम शोध-प्रयोग माना जा सकता है। सन् 1943 में यह प्रयोग हवाई जहाजों का सामान बनाने वाली एक फाउंड्री में किया गया। दरअसल द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मची अफरा-तफरी से उद्योग भी अछूते नहीं रहे तथा श्रमिकों की अदला-बदली और अनुपस्थिति की दर यकायक बढ़ गई। पुराने एवं दीर्घ अनुभव के आधार पर मेयो तथा उनकी टीम ने पाया कि चिन्ताजनक श्रमिक अदला-बदली तथा अनुपस्थितिवाद उस उपक्रम में था जहाँ न तो कोई अनौपचारिक संगठन था और न कोई ऐसा सहज नेत त्व था जो श्रमिकों को एक समूह के रूप में संगठित कर सके। अतः मेयो ने सुझाव दिया कि जहाँ तक हो सके प्रबन्धकों को अनौपचारिक संगठनों का निर्माण करवाना चाहिए। श्रमिको के साथ मानवीय एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। श्रमिकों में यह भावना नहीं आनी चाहिए कि प्रबन्ध उनका शोषण करता है। इस प्रकार मेयो के प्रयोगों से संगठन में मानवीय तत्वों का महत्व समझा गया तथा नियोक्ता-श्रमिक सम्बन्ध प्रगाढ़ होने शुरू हुए।

होथोर्न अध्ययन और टेलरवादः

ये दोनों अध्ययन औद्योगिक मनोविज्ञान एवं लोक प्रशासन के मनोवैज्ञानिक उपागम के आधारभूत अध्ययन माने जाते हैं। दोनों का उद्देश्य लगभग समान रहा है अर्थात् उत्पादन को किस तरह से बढ़ाया जाए। परतु इनके बावजूद दोनों में कुछ अन्तर हैः-

1. टेलर के अध्ययन 1910 के लगभग किए गए थे। होथोर्न अध्ययन 1927 से 1932 तक पांच वर्ष लगातार हुए। अतः टेलरवाद पहले तथा होथोर्न बाद में। औद्योगिक मनोविज्ञान के विकासकाल में टेलरवाद का जन्म हुआ जबकि होथोर्न अध्ययन औद्योगिक मनोविज्ञान के परिपक्वकाल में आरम्भ हुआ।
2. टेलरवाद में उत्पादन से संबंधित केवल एक प्रकार के कारकों पर ही विचार किया गया, जबकि होथोर्न अध्ययन में सभी संभावित कारकों का अध्ययन किया गया।
3. टेलरवाद में केवल काम करने की विधियों पर अधिक बल दिया गया है, जबकि होथोर्न अध्ययन में मानवीय द ष्टिकोण को मूलभूत माना गया है।
4. टेलरवाद में मनोवैज्ञानिकों का द ष्टिकोण Atomic है जबकि होथोर्न अध्ययन में मनोवैज्ञानिक का द ष्टिकोण समग्रता के नियम पर आधारित है।
5. टेलरवाद का प्रधान उद्देश्य काम की परिस्थितियों में पाए जाने वाले कारकों को ज्ञात करना है जबकि होथोर्न अध्ययन का उद्देश्य उन कारकों को मालूम करना भी है जो काम की परिस्थितियों के बाहर भी पाए जाते हैं। अतः होथोर्न अध्ययन को अधिक प्राकृतिक, सफल तथा ईमानदारी से परिपूर्ण कहा गया है।
6. टेलरवाद ने उद्योग के केवल आर्थिक उद्देश्य को पूरा करने का प्रयत्न किया है जब कि होथोर्न प्रयोग ने आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तीनों उद्देश्यों की प्राप्ति में हाथ बंटाया है।
7. टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध का मजदूरों ने डट कर विरोध किया है और टेलर को उद्योगपतियों एवं पूंजीपतियों का पक्षधर बताया है। जबकि होथोर्न अध्ययन का विरोध नाम मात्र से ही किया गया है और इसे श्रमिकों के हित में बताया गया है।
8. टेलर ने उद्योग की उन्नति को मशीन तथा समयगति अध्ययन तक ही सीमित रखा है जबकि होथोर्न प्रयोग ने मजदूरों के वेतन और सामाजिक प्रतिष्ठा को महत्व दिया है।

अध्याय-12
नौकरशाही उपागम

सरकार की कार्यपालिका शाखा को दो भागों विभक्त किया जाता है-राजनैतिक कार्यपालिका और स्थाई कार्यपालिका। राजनैतिक कार्यपालिका के सदस्य राजनैतिक आधारों पर नियुक्त होते हैं। इसका कार्यकाल अस्थाई होता है तथा सत्ता-परिवर्तन के साथ ही इसमे भी परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ, अगस्त 2003 में उत्तर प्रदेश में सत्ता परिवर्तन हुआ और मायावती की बसपा-भाजपा गठबन्धन सरकार के स्थान पर मुलायम सिंह यादव की समाजवादी पार्टी कांग्रेस पार्टी के समर्थन से सतारूढ़ हुई। इस सत्ता परिवर्तन के साथ ही राज्य में नए मंत्रिमंडल का गठन हुआ और इसीलिए वहाँ की राजनैतिक कार्यपालिका (विभिन्न राजनैतिक विभागध्यक्ष) भी परिवर्तित हुई। इसके विपरित स्थाई कार्यपालक निर्धारित योग्यता के आधार पर नियुक्त होते हैं और उनका वेतन, कार्याविधि तथा सेवा-शर्ते पूर्व निर्धारित होती है। राजनैतिक सत्ता परिवर्तन का इनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और केवल कदाचार के आधार पर ही इन्हें पद से हटाया जा सकता है। कार्यपालिका की इस दूसरी श्रेणी को हम असैनिक सेवा या नौकरशाही के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। नौकरशाही शब्द को व्यापक और संकुचित दोनों अर्थो में प्रयुक्त किया जाता है। व्यापक अर्थ मे नौकरशाही के अन्तर्गत वे सभी कर्मचारी, अधिकारी व अभिकरण सम्मिलित जो सरकार के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक हैं। संकुचित अर्थ में नौकरशाही के अन्तर्गत पदसोपान प्रणाली के वे उच्च पदाधिकारी आते हैं जो प्रभावशाली सार्वजनिक नियन्त्रण से परे हैं तथा ये नियमों और कानूनों के अनुसार कार्य करते हुए राजनैतिक कार्यपालिका को भी प्रभावित करते हैं।

नौकरशाही: अर्थ एवं अवधारणा

नौकरशाही (कर्मचारी तंत्र) अर्थात् ब्यूरोक्रेसी एक विश्वव्यापी विशेषता है। मूलतः फ्रांसिसी शब्द ''ब्यूरो'' (Bureau) से ब्यूरोक्रेसी बना है। **फ्रांसी भाषा में ब्यूरो का अर्थ लिखने की मेज या डेस्क।** (Cracy) शब्द की उत्पति ग्रीक शब्द Kratein से हुई है जिसका अर्थ है-सशक्त होना। इस प्राकर ब्यूरोक्रेसी का अर्थ हुआ-डेस्क सरकार। ब्यूरोक्रेसी शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रेंच अर्थशास्त्री विन्सेंट डी गार्ने ने किया था। उन्होंने तत्कालीन फ्रांस की अर्थव्यवस्था को नौकरशाही की असफलता मानते हुए कहा था कि फ्रांस को ब्यूरोमेंनिया (Bureaumania) रोग हो गया है। कालान्तर में कर्मचारी तंत्र में व्याप्त कमियाँ तथा नौकरशाही एक दूसरे के पर्याप्त बनते चले गए। **जॉन ए. विग (John. A Vieg)** कहते हैं कि ''विक ति एवं परिहास के कारण नौकरशाही शब्द का अर्थ काम में घपला, मनमानी, अविव्यय, हस्तक्षेप तथा वर्गीकरण माना जाने लगा है। **लास्की (Laski)** ने अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहा है कि ''नौकरशाही शब्द का प्रयोग उस शासन के लिए किया जाता है जिसके अन्तर्गत अधिकारियों के हाथों में नियन्त्रण इतना पूर्ण होता है कि उनकी सत्ता सामान्य नागरिकों की स्वतन्त्रताओं को संकट में डाल देती है।

हैनरी मोनियर (Henry Monhier) ने नौकरशाह की एक दिन की दिनचर्या को इस प्रकार व्यक्त किया है-''नौ बजे कर्मचारी मन्त्रालय में पहुँचते हैं और एक अत्यन्त ही गरम चूल्हे के चारों ओर बैठकर अपने आपको गरम करते हैं दस बजे वे चाय पीते हैं और अपनी लेखनियों को तेज करते हैं, साढ़े 10 बजे वे गप्प लड़ाते हैं, एक बजे का समय उनका खाने का समय होता है, दो बजे वे मन्त्रालय के भीतर घूमने जाते हैं। उनका काम करने का समय केवल दोपहर का होता हैं, जब उनका उच्च अधिकारी निरीक्षण के लिए आता है। **किंग्सले और स्टाल (Kingsley and Stahi)** ने कुछ सकारात्मक द ष्टिकोण अपनाते हुए यह बताया है कि ''नौकरशाही एक पदसोपानात्मक प्रशांसकीय संरचना है, जिसमें हर व्यक्ति प्रशासन की जटिल मशीन मे पुर्जे की तरह फिट होता है। इस संरचना में सन्देह पर कोई बात नहीं छोड़ी जाती है। सभी प्रशासकीय सम्बन्धों की पहले से ही व्याख्या कर दी जाती है और प्राधिकार की मीनार दायित्व के स्तरों मे समानान्तर रूप से विभाजित होती है। **बैण्ट अब्राहम्सन (Bengt Abrahamsson)** ने नौकरशाही के सन्दर्भ में सात पर्यायवाची शब्द इस प्रकार बताए हैं-(1) राज्य

प्रशासन, (2) अधिकारियों का समूह, (3) प्रशासनिक निरंकुशता, (4) विवेकशील संगठन, (5) संगठनात्मक अकुशलता, (6) आधुनिक संगठन, एवं (7) आधुनिक समाज।''[3]

सामान्यः नौकरशाही एक नकारात्मक अवधारणा है तथा इसका प्रयोग दोषपूर्ण प्रशासनिक संस्थाओं एवं निरंकुश अधिकारी के सन्दर्भ में किया जाता है। **एफ. एम. मार्क्स (F. M. Marks)** ने अपनी पुस्तक *'The Administrative State'* में नौकरशाही को चार अर्थो में प्रयुक्त करने की बात कहीः

1. नौकरशाही एक विशेष प्रकार का संगठन है, विशेषतः यह लोक प्रशासन के कार्य करने की एक संरचना है।
2. संगठन के अच्छे प्रबन्ध में नौकरशाही एक व्याधि के रूप में बाधक होती है।
3. नौकरशाही का व्यापक अर्थ ''बड़ी सरकार'' है।
4. नौकरशाही बुराई पैदा करने वाला अभिशाप है जो स्वतन्त्रता को पंगु कर देता है।

उपर्यक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि नौकरशाही एक ऐसी प्रशासकीय व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत मानवीयता का अभाव पाया जाता है। जनता के हितों पर ध्यान दिए बिना शासन करने, आज्ञा देने तथा अनावश्यक हस्तक्षेप करने की चिन्ता बनी रहती है। इसका सम्बन्ध भ्रष्टाचार लालफीताशाही, अनधिकार हस्तक्षेप, ढीलापन, कार्य के बेढंगेपन, अकुशलता और उदासीनता से है परन्तु कुछ विद्वानों ने इसे सामान्य असैनिक सेवा तथा लोक प्रशासन के कार्मिक प्रशासन के सन्दर्भ में सकारात्मक द ष्टिकोण भी बताया है।

नौकरशाही का विस्त त अध्ययन जर्मनी के सुविख्यात समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने किया और उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए 'नौकरशाह क आदर्श प्रतिमान' को लोक प्रशासन में सिद्धान्त या विचारधारा का दर्जा दिया गया है। वास्तव में 'नौकरशाही शब्द मैकस वेबर के नाम से इतने अन्योन्याश्रित रूप में जुड़े गया है कि दोनों एक दूसरे के पर्याय बन गए हैं। वेबर का योगदान समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा इतिहास के क्षेत्र में भी है परन्तु लोक प्रशासन के क्षेत्र में नौकरशाही पर उनका विचार 'मील का पत्थर' माना जाता है। वेबर के अतिरिक्त कार्ल मार्क्स ने भी नौकरशाही पर अपने विचार प्रकट किए हैं। नौकरशाही के सन्दर्भ में इन दोनों विद्वानो के विचार नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

मैक्स वेबर का नौकरशाही उपागम

मैक्स वेबर ने नौकरशाही या कर्मचारी तंत्र का जो आदर्श प्रारूप प्रतिमान निर्मित किया था वह आधुनिक लोक प्रशासन का मुख्य अध्ययन बिन्दु बन चुका है। वेबर के अनुसार नौकरशाही का उनका प्रतिमान किसी संगठन के नौकरशाहीकरण को मापने का एक उपकरण या आधार है जो भविष्य में किसी भी संगठन को समझने, विश्लेषण करने तथा अनुसंधान में मूलाधार का कार्य करेगा। वेबर ने नौकरशाही को प्रशासन में एक तर्कपूर्ण व्यवस्था मानते हुए इसे संस्थागत मानव व्यवहार में वैज्ञानिकता लाने का साधन भी माना था। उनका मानना था कि उनके नौकरशाही के आदर्श/प्रारूप/प्रतिमान/या उपागम की विशेषताएँ किसी संगठन में न हों तो वह इस आदर्श प्रतिमान की कमी नहीं होगी अपतु यह तथ्य इस बात का परिचायक होगा कि उस संगठन का उतने ही अंशों में नौकरशाहीकरण नहीं हो सका है। नौकरशाही का यह वेबेरियन मॉडल (प्रतिमान) आज सभी प्रकार की प्रशासनिक संरचनाओ में दिखाई देता है।

वेबर के अनुसा नौकरशाही का निर्माण कई कारणो से प्रभावित हुआ है जिनमें अग्रांकित प्रमुख है-

1. मानव सभ्यता के प्रांरभिक दिनों में वस्तु-विनिमय (Barter) व्यवस्था प्रचलित थी। कालान्तर में मुद्रा के आधार पर अर्थव्यवस्था के संचालन में नौकरशाही की आवश्यकता अधिक अनुभव की गई।
2. मुद्रा के प्रचलन से कर्मचारियों को वेतन भी मुद्रा के रूप में दिया जाने लगा जो कि पूर्व के "सेवा के बदले वस्तु'' के नियमों से अधिक सरल एवं तार्किक था।
3. शनैःशनैः प्रशासनिक कार्यकलापों मे जटिलता बढ़ती गई, अतः प्रशासनिक तंत्र में नौकरशाही कीअपरिहार्यता भी बढ़ गई।
4. गुणात्मक आधार पर भी प्रशासनिक कार्यो के विकास के परिणामस्वरूप नौकरशाही का विकास होता चला गया।

मैक्स वेबर ने नौकरशाही को घ णित रूप में नही बल्कि कुशल संगठन के रूप में रेखाकित किया है। **मार्टिन एल्ब्रो** के अनुसार वेबर ने नौकरशाही की अवधारणा को स्पष्टतः परिभाषित नहीं किया है बल्कि **वेबर ने नौकरशाही के अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है-**''यह नियुक्त किए गए कर्मचारियो का प्रशासनिक समूह है। वेबर द ष्टि में नौकरशाही एक कानूनी तार्किक प्राधिकार को निष्पादित करने का संस्थागत तरीका है। वेबर ने नौकरशाही को दो प्रकारों-(1) पारम्परिक और चमत्कारिक प्राधिकारों से बनी पैत क नौकरशाही, एवं (2) केवल कानूनी प्राधिकारो से बनी वैध तार्किक नौकरशाही में विभक्त किया है।

वेबर ने नौकरशाही को दो द ष्टिकोणों में बाँटा हैः

1. **नौकरशाहीः एक संगठन के रूप में**-मैक्स वेबर के अनुसार नौकरशाही स्वयं एक संगठनात्मक ढाँचे में कार्य करती है। जिस प्रकार संगठन के लिए व्यक्तियों, स्थान, उद्देश्य तथा प्रक्रियाओं का आधार माना जाता है उसके अनुरूप तो नौकरशाही भी एक संगठन है क्योंकि इसमें एक संगठन के भी लक्षण स उपलब्ध है। वेबर के अनुसार कर्मचारी तंत्र में जितने लक्षण हो सकते हैं उन्हें एक स्थान पर रख कर समझा जाना चाहिए ताकि नौकरशाही को समझने के लिए ''एक आदर्श प्रारूप'' (Ideal Type) विकसित हो सके। वेबर द्वारा बनाया गया नौकरशाही का आदर्श प्रारूप ही कई दशकों से तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययनों का आधार बना हुआ है।
2. **नौकरशाहीः एक वैध विवेकपूर्ण प्राधिकार के रूप में**-प्राधिकार या सत्ता के प्रकारों को वर्गीक त करते समय मैक्स वेबर ने नौकरशाही को एक ऐसे संस्थागत स्वरूप में देखा है जो वैध विवेकपूर्ण प्राधिकार को निष्पादित करने का माध्यम हैवेबर के अनुसार नौकरशाही कोई ऐतिहासिक नियम या परम्परा नहीं है बल्कि यह कानूनी शक्ति प्राप्त प्राधिकार है जिसे लोग श्रद्धा, चमत्कार, भय या संस्कारो के कारण नहीं बल्कि इसकी कानूनी एवं तार्किक स्थिति को देखकर स्वीकारते हैं।

   मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही प्रतिमान, तार्किक रूप से अत्यंत उच्च कोटि का है। ऐसा माना जाता है कि वेबर को नौकरशाही की विस्त त तर्कपूर्ण व्याख्या करने में निम्नंकित कारकों ने प्रभावित किया था-

   1. पश्चिमी देशों में नौकरशाहीकरण की प्रक्रिया के ऐतिहासिक, तकनीकी और प्रशासनिक कारण।
   2. नौकरशाही संगठन की कार्यप्रणाली पर कानूनी नियमों का प्रभाव।
   3. नौकरशाही द्वारा स्वयं को विशिष्ट मानने, अहंग्रस्त होने तथा उनके व्यावसायिक द ष्टिकोण का प्रभाव।
   4. विश्व में नौकरशाही, विशेषकर सरकारी तंत्र में इसके महत्वपूर्ण गुण तथा परिणाम।

नौकरशाही के वेबेरियन मॉडल मे स्वाभाविक रूप से उन्नीसवीं सदी की जर्मनी एवं अन्य पश्चिमी देशों की प्रशासिनक व्यवस्था तथा ऐतिहासिक सन्दर्भो का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। फिर भी वेबर का नौकरशाही प्रतिमान आधुनिक राज्यों की नौकरशाही राज्यों की नौकरशाही के लक्षणों एवं विशेषताओं को विश्लेषित करने में सक्षम है।

नौकरशाही की विशेषताएँ

Characteristics of Bureaucracy

नौकरशाही अवधारणा आज नयी नहीं है बल्कि यह सर्वव्यापी सत्य बन गया है। विभिन्न देशों क विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इसकी विशेषताओ का वर्णन किया है। नौकरशाही का तात्पर्य प्रशासन के दोषों की तरफ इंगित करना है। प्रशासकीय अधिकारियों की लालफीताशाही प्रव ति जब जन-हित की उपेक्षा करके अपने को अधिक महत्त्व देने लगती है तो अनायास ही नौकरशाही शब्द जुबान पर आ जाता है।

मैक्स वेबर (Max Weber) ने नौकरशाही की आठ विशेषताएँ बतायी हैं।

1. लोक-सेवा के संगठन के प्रत्येक व्यक्ति को विशेष कार्य सौपे जाते हैं।
2. सभी सदस्यों में सत्ता विभाजित होती है, ताकि प्रत्येक सदस्य सौंपे गए कार्यो को पूरा कर सकें।
3. सौंपे गए कार्यों के नियमित पालन के लिए एक व्यवस्थित प्रबन्ध होता है।
4. संगठन का निर्माण पदसोपान के सिद्धान्त पर किया जाता है।

5. लेन-देन तथा आय-व्यय पर नियन्त्रण रखने के लिए नियमों का निर्माण किया जाता है।
6. सेवी-वर्ग की भर्ती तथा प्रशिक्षण के लिए विशेष व्यवस्था की जाती है।
7. अधिकारियों को निर्धारित पारिश्रमिक दिया जाता है।
8. नियमों को कठोरता से पालन किया जाता है।

कार्ल जे. फ्रेडरिक (Carl J. Friedrich) ने नौकरशाही की छह विशेषताओं की चर्चा की है:

1. कार्यो का विभाजन
2. पदों के लिए निर्धारित योग्यताएँ
3. पदसोपान का संगठन एवं अनुशासन
4. कार्य-रीति का वस्तुनिष्ठता
5. लालफीताशाही
6. कुछ महत्वपूर्ण मामलों में स्वविवेकी शक्ति का प्रयोग।

फैरल हैडी (Farrel Heady) ने इसकी तीन विशेषताएँ मानी हैं:

1. पदसोपान
2. विभेदीकरण तथा विशेषीकरण
3. योग्यता अथवा गुण

आर. एच. हॉल (R. H. Hall) ने नौकरशाही की छह विशेषताओं का उल्लेख किया है:[1]

1. सत्ता का स्पष्ट पदसोपानात्मक व्यवस्था में होना
2. कार्यो के आधार पर विशेषीक त श्रम-विभाजन
3. निर्धारित कार्यविधियाँ
4. अधिकारियों के मध्य पारस्परिक अवैयक्तिक सम्बन्ध
5. तकनीकी योग्यता पर आधारित नियुक्ति तथा पदोन्नति व्यवस्था
6. विभागीय नियम, जरे अधिकारियों के कर्त्तव्यों और क्षेत्राधिकारियों का वर्णन करते हैं।

विभिन्न विद्वानों द्वारा उपर्युक्त ढंग से जो विशेषताएँ बतायी जाती हैं उनके आधार पर नौकरशाही की विशेषताओं का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है:

1. **कार्य की निरन्तरता**: वेबर के अनुसार शासकीय तंत्र अस्थायी प्रक ति का नहीं होता है बल्कि राज्य के कार्यों को निरन्तर रूप से संचालित करने के लिए नौकरशाही एक गतिशील संगठन होता है जो लगातार कार्य करता रहता है क्योंकि सरकारी कार्यो में निरन्तरता का गुण समाहित रहता है।
2. **निश्चित नियम**: नौकरशाही मे अथवा प्रशासकीय संगठनों में सभी कार्य निश्चित नियमों के अन्तर्गत निष्पादित होते हैं। इन नियमों में तीन गुण पाए जाते हैं-
   (i) प्रशासनिक कार्यो को करने के लिए प्रत्येक कार्मिक का कर्त्तव्य अव्यक्तिगत सिद्धान्तों से सीमित रहता है।
   (ii) निर्दिष्ट कार्यो को सम्पादित करने के लिए कार्मिकों को आवश्यक प्राधिकार प्रदान किए जाते हैं।
   (iii) प्रत्येक कार्मिक को प्रदत्त प्राधिकारों की भी सीमाएँ होती है। जिन प्राधिकारों के माध्यम से अधिकारी, जनता को वैध तरीकों से बाध्य कर सकते हैं, उन प्राधिकारों की व्याख्या पहले से कर दी जाती है।
3. **प्राधिकारों की समुचित व्यवस्था**: प्रशासनिक संगठन मे कार्यरत प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी को प्राधिकार या सत्ता प्रदान की जाती है। यह सत्ता सम्बन्धित कार्मिक के उत्तरदायित्व सम्बन्धी विभाग के प्राधिकारों के अधीन होती है। उच्च पदाधिकारियों को निरीक्षण, निर्देशन तथा पर्यवेक्षण के प्राधिकार दिए जाते हैं तो अधीनस्थ कार्मिकों को कार्य निष्पादन

लायक प्राधिकार दिए जाते हैं। निम्न स्तरीय कार्मिक प्रायः याचक या प्रार्थना करने की पदस्थिति में रहते हैं।

4. **सरकारी साधनों पर कार्मिक-अस्वामित्व**: संगठन के कार्यो को पूरा करने के लिए प्रत्येक कार्मिक को अनेक प्रकार के साधन उपकरण तथा सम्पत्ति प्रदान की जाती है लेकिन इस सरकारी सम्पत्ति एवं साधनों पर कार्मिकों का स्वामित्व नहीं होता है। वे इन साधनों का प्रयोग केवल उपने उत्तरदायित्वों के सफल निर्वहन के लिए करते है। सरकारी तथा व्यक्तिगत कार्यों एवं सरकारी एवं व्यक्तिगत राजस्व तथा आय को प थक्-प थक् माना जाता है।

इसी प्रकार सरकारी सम्पत्ति को कार्मिक निजी सम्पत्ति में परिवर्तित नहीं कर सकते हैं और न ही स्वेच्छा से उसका क्रय-विक्रय कर सकते हैं।

5. **लिखित प्रलेख**: नौकरशाही की एक प्रमुख विशेषता ''कागजी कार्यवाही'' से सम्बन्धित है। नौकरशाही में प्रत्येक कार्य एवं निर्णय लिखित दस्तावेजों के रूप में होता है। सरकारी कार्यो की निरन्तरता, निश्चित नियमों का प्रावधान तथा प्राधिकारों की सीमाएँ, क्रियान्वयन का निरीक्षण, पद और पदाधिकारी का प थक्कण तथा वैधानिक सत्ता इत्यादि से सम्बन्धित तथ्य लिखित प्रलेख में सुरक्षित रहते हैं।

6. **पदसोपान**: प्रत्येक नौकरशाही तंत्र में पदों की एक श्रंखला या पदक्रम व्यवस्था होती है। इसमें अधिकारियों तथा उनके प्राधिकारों का एक संस्तरण वर्णित होता है। उच्च तथा निम्न प्रस्थिति (Status) के बहुत सारे पद, प्राधिकारों की तथा सम्बन्धित पद की व्याख्या करते हैं। पदसोपान व्यवस्था से ही संगठन में नियंत्रण, निर्देशन तथा भर्ती कार्य निर्धारित होते हैं। उच्च पदाधिकारियों द्वारा आदेश देना तथा अधीनस्थों द्वारा उन्हें स्वीकार करना पदसोपान का एक लक्षण है।

7. **कार्य-विभाजन**: कार्मिकों की पदसोपानात्मक व्यवस्था ने केवल प्राधिकारों की व्याख्या करती है बल्कि इससे कार्यो का स्पष्ट विभाजन भी हो जाता है। प्रत्येक अधिकारी-कर्मचारी के कार्यक्षेत्र को तार्किक आधार पर विभक्त किया जाता है। यह विभाजन वैधानिक आधार पर टिका होता है। इस सिद्धान्त के तीन मुख्य घटक होते हैं-
   (i) निर्धारित प्रशासनिक कार्यकलापों को निश्चित ढंग से पूरा करने के लिए इन्हें कार्मिकों के बीच ''राजकीय कर्त्तव्य'' के रूप में बाँटा जाता है।
   (ii) इन राजकीय कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक निर्देश देने के अधिकार भी सुनिश्चित आधारों पर बँटे हुए होते हैं। प्रत्येक कार्मिक के प्राधिकार भी कानून द्वारा सीमांकित होते हैं।
   (iii) इन कर्त्तव्यों को नियमित तथा कुशलतापूर्वक निर्वाहित करने के लिए कार्मिकों की उचित व्यवस्था रहती है। नौकरशाही में वे ही व्यक्ति पद धारण करते हैं जो निर्धारित योग्यता रखते हैं।

8. **औपचारिकता**: नौकरशाही में कार्यालयों द्वारा कार्य संचालन औपचारिक आधार पर किया जाता है अर्थात् प्रत्येक कार्य लिखित या अन्य प्रमाणों के रूप में सुरक्षित रखना कानूनन अनिवार्य है क्योंकि प्रशासन में अनौपचारिक वक्तव्यों या कथनों का महत्त्व नहीं होता है बल्कि कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया तथा नियम उसे औपचारिकता का जामा पहनाते हैं। यही औपचारिकता, वैधानिकता का आधार बनती है।

9. **कार्यकुशलता**-वेबर ने आधुनिक प्रशासनिक संगठनों में प्रवर्तित नौकरशाही को कार्यकुशलता का पर्याय माना है। उनके अनुसार विशुद्ध रूप से नौकरशाही प्रतिमान का संगठन, तकनीकी द ष्टि से अधिकतम कार्यकुशलता के लक्ष्य प्राप्त करने मे सक्षम होता है क्योंकि नौकरशाही में प्रत्येक कार्य विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है, कार्यों में निष्पक्षता रहती है तथा नियंत्रण एवं समन्वय की उचित व्यवस्था पायी जाती हैं।

10. **विशेषीकरण**: आधुनिक नौकरशाही में कार्यों की जटितला तथा विशेषज्ञता दोनों में व द्धि हो रही है, अतः प्रत्येक प्रकार के पद एवं कार्य के लिए तकनीकी योग्यताओं एवं क्षमताओं से युक्त कार्मिकों का चयन किया जाता है तथा आवश्यकतानुसार प्रशिक्षण भी प्रादन किया जाता है।

11. **योग्यता-आधारित चयन**-नौकरशाही में प्रत्येक पद के लिए योग्यताएँ निर्धारित होती हैं ताकि प्रशासनिक कुशलता के लक्ष्य प्राप्त किए जा सकें। नौकरशाही में प्रवेश के इच्छुक अभ्यर्थी को नियमानुसार योग्यता परीक्षा या भर्ती प्रक्रिया का समाना करना होता है। कार्मिक की योग्यता से ही संगठन में उसकी प्रस्थिति निर्धारित होती है।

12. **आजीविका की व्यवस्था**: नौकरशाही के सदस्य के रूप में संगठन में कार्यरत व्यक्ति अपने रोजगार को ही आजीविका या व त्तिका (Career) बना लेता है। उस पद पर या सेवा में रहते हुए कर्मिक उच्च से उच्चतर की ओर उन्नति करना चाहता है। पदोन्नति की आशा में वह नौकरशाही में बना रहता है। पदोन्नति की व्यवस्था कार्यकुशलता में व द्धि की परिचायक मानी जाती है। स्थायी आधार पर नियुक्त कार्मिक को बिना गम्भीर त्रुटि के संगठन से नहीं निकाला जाता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण की भी व्यवस्था होती है।

13. **निश्चित पारिश्रमिक**: प्रत्येक कार्मिक को उसके पद, योग्यता तथा अनुभव के आधार पर निश्चित वेतन के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता है। वेतन के अतिरिक्त नौकरशाही के सदस्यों को अन्य लाभ जैसे-पेंशन, भत्ते, चिकित्सा व्यय पुनर्भरण इत्यादि वित्तीय सुविधाएँ भी दी जाती हैं।

14. **तटस्थता**: नौकरशाही में सभी कार्मिकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे व्यक्तिग पसंद या नापसंद को महत्त्व दिए बिना सभी निर्धारित कार्य पूर्ण ईमानदारी, तटस्थता तथा अव्यक्तिगत भाव एवं अनुशासित ढंग से पूर्ण करें। कार्मिक जो भी काय्र करता है वह पद की हैसियत से करता है, न कि व्यक्तिगत आधार पर।

इस प्रकार मैक्स वेबर द्वार बताए गए नौकरशाही के लक्षणो में स्पष्ट श्रम विभाजन, नियमबद्धता, सत्ता का प्रदत्तीकरण, स्थायी जीविका, योग्यता एवं कुशलता, औपचारिकता तथा पदसोपान इत्यादि महत्त्वपूर्ण आयाम है। संक्षेम में वेबर ने अपने नौकरशाही मॉडल में व्यक्ति निरपेक्ष व्यवस्था, नियमबद्धता, कार्यकुशलता, पदसोपान, व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक हित में अन्तर, लिखित अभिलेख तथा एकतंत्रीय व्यववस्था (Monocratic) सात तत्त्व वर्णित किए थे।

गुण
(Advantages)

वेबेरियन मॉडल के द्वारा नौकरशाही की व्याख्या-विश्लेषण कार्य सरल हुआ है। इस प्रतिमान के अनेक गुण तथा लाभ हैं, जै से-

1. वेबर के प्रतिमान का सर्वाधिक प्रशंसनीय भाग उसकी तकनीकी योग्यता प्राप्त कार्मिकों के चयन पर बल देना है। जो प्रशासनिक कार्यकुशलता या दक्षता का आधार बनता है।

2. वैध विवेकपूर्ण प्राधिकार की स्थापन तथा जनता द्वारा उसकी स्वीक ति के क्रम में नौकरशाही एक श्रेष्ठ विकल्प है। नौकरशाही के अभाव में कानूनी तार्किक सत्ताओं के निष्पादन की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

3. तुलनात्मक लोक प्रशासन के साहित्य एवं अनुसंधान को सम द्ध करने में वेबर का नौकरशाही प्रतिमाना निर्णायक सिद्ध हुआ है। निमरोद रैफली के अनुसार-''वेबर के अधिकारीतंत्र का आदर्श प्रारूप प्रतिमान लोक प्रशासन के साहित्य में सर्वाधिक प्रभावशाली प्रतिमान है।

4. वेबर द्वार बतायी गई नौकरशाही की विशेषताएँ, संगठन में कर्मचारी तंत्र के एक तार्किक स्वरूप को प्रस्तुत करती है। जैस संगठन में पदसोपानात्मक व्यवस्था अधीनस्थों को निर्देशित करने के लिए आवश्यक मानी गई है तो निर्देशन को सरल बनाने के लिए आधिकारिक नियमों का निर्माण अपरिहार्य है। आधिकारिक नियमों तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के उपरान्त भी निजी पूर्वाग्रहों से संगठन को बचाने के लिए तटस्थता एवं निष्पक्षता पर बल दिया गया है। कुंठा एवं निराशा से बचाने के लिए नौकरशाही में व त्ति का विकास के अवसर वर्णित किए गए हैं। इस प्रकार वेबर के नौकरशाही प्रतिमान में उन्हीं यथार्थ विशेषताओं का वर्णन है जो प्रशासनिक संगठनों के लिए आवश्यक भी हैं।

5. वेबर का यह प्रतिमान विकसित तथा विकासशील दोनों प्रकार के राष्ट्रों की प्रशासनिक प्रणालियों की व्याख्या करने में सक्षम है। यह प्रतिमान नौकरशाही के संरचनात्मक तथा क्रियातमक दोनों रूपों को स्पष्ट करता है।

6. कार्ल मार्क्स तथा लेनिन के अनुसार नौकरशाही पूँजीवाद से जुड़ी हुई है अतः यह (नौकरशाही) पूँजीवाद की समाप्ति के साथ ही नष्ट हो जाएगी, किन्तु वेबर ऐसा नहीं मानते हैं। वेबर के अनुसार-''नौकरशाही एक स्वतंत्र इकाई है जो पूँजीवाद हो या समाजवाद, हमेशा जीवित रहेगी।'' यह समाज का एक अभिन्न हिस्सा है जो जटिल श्रम विभाजन, केन्द्रीक त प्रशासन तथा मुद्रा आधारित अर्थव्यवस्था पर बनी है। विकसित नौकरशाही की अनिवार्यता आधुनिक युग का केन्द्रीय राजनीतिक सत्य है। वेबर के अनुसार सामान्य सांस्क तिक पतन के काल को छोड़ कभी भी कर्मचारी तंत्र का पतन नहीं हुआ है। लोकतंत्र में भी नौकरशाही आवश्यक है लेकिन सम्भावना यह भी है कि समाजवाद में सर्वहारा वर्ग

के अधिनायकवाद की बजाय नौकरशाही का अधिनायकवाद स्थापित हो जाए। इतनी आशंका होते हुए भी वेबर एवं अन्य विचारक मानते है। कि स्वयं नौकरशाही तथा इसका वेबेरियन प्रतिमान दोनों ही उपयोगी है।

दोष या आलोचना
(Disadvantages)

मैक्स वेबर के नौकरशाही प्रतिमान को आधार बनाकर विद्वानों ने तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किए हैं, अतः इस प्रतिमान की आलोचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई है। जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1 वेबर द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही के आदर्श प्रारूप में कई विसंगतियाँ व्याप्त हैं। टालकॉट पारसंस के अनुसार संगठन मे तकनीकी क्षमता से युक्त नवागन्तुक कर्मचारी केवल इस आधार पर उच्चाधिकारी के आदेशों का पालन नहीं करेगा कि उच्चाधिकारी वरिष्ठ है। अतः जो तत्त्व प्रशासन की कार्यकुशलता बढ़ाते हैं वे ही कार्यकुश्लता को चुनौती भी देते हैं।

2 वेबर का प्रतिमान केवल औपचारिकता, नियमबद्धता तथा अनुशासन पर बल देता है जबकि संगठन में अनौपचारिक सम्बन्ध, अनौपचारिक संगठन, नियम एवं मूल्य भी प्रभावी भूमिका निभाते हैं। वास्तव में नौकरशाही में जो अनौपचारिक शक्ति संघर्ष पाया जाता है, उसकी वेबर ने पूर्ण उपेक्षा की है।

3 कार्ल जे. फ्रेडरिक के अनुसार, वेबर द्वारा प्रयुक्त ''आदर्श प्रारूप'' शब्द ही दुर्भाग्यपूर्ण है क्योंकि नौकरशाही में कुछ भी आदर्श नहीं होता हैं।

4 वेबर के प्रतिमान में विश्लेषणात्मक तथ्यों का अभाव व्याप्त है। यही कारण है कि इस प्रतिमान से संगठनात्मक अंगों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का आकलन असम्भव है।

5 वेबर ने कार्यकुशलता के मूल में तार्किक व्यवहार, पदसोपान, श्रम विभाजन, विशेषज्ञता तथा व त्ति का विकास को महत्त्वपूर्ण माना है जबकि संगठन में भाईचारा एवं मानव सम्बन्धों का प्रसार कार्यकुशलता में निर्णायक व द्धि करता है।

6. वेबर ने नौकरशाही के विकार्यों (Dysfunctions) की अवहेलना की है। मर्टन, गौल्डनर तथा सेल्जेनिक के अनुसार सामान्य रूप से जो तत्त्व कार्यकुशलता बढ़ाने में सहायक माने जाते हैं वे विशिष्ट परिस्थितियों में कार्यकुशलता घटाने का कार्य भी कर सकते हैं। मर्टन के अनुसार, नौकरशाही के कठोर अनुशासन के कारण भय, रूढ़िवादिता तथा अनावश्यक नियमबद्धता की भावना उत्पन्न होती है। गोल्डनर के अनुसार, किसी भी संगठन में सेवा तथा कार्य से सम्बन्धित नियमो की जानकारी पाकर कर्मचारी न्यूनतम अपेक्षित कार्य का मापदण्ड निर्धारित कर लेते हैं। इसी कारण उनकी कार्य क्षमता न्यून हो जाती है। सेल्जनिक के विचार में अधीनस्थ इकाइयाँ या शाखाएँ सम्पूर्ण व्यवस्था के लक्ष्यों की अपेक्षा अपने सीमित लक्ष्यों पर अधिक बल देती हैं। वेबर क प्रतिमान में इन तथ्यों को समाहित नहीं किया गया है।

7. वेबर ने विशेषज्ञों की नौकरशाही में महत्ती भूमिका स्वीकार की है जबकि आधुनिक विशाल प्रशासनिक संगठनों मे सामान्यज्ञ अधिकारियों का वर्चस्व है।

8. मैक्स वेबर ने अपने प्रतिमान तटस्थ तथा निष्पक्ष नौकरशाही की कल्पना की है जबकि वस्तुस्थिति यह है कोई भी नौकरशाही शासक वर्ग की विचाराधारा से विमुख नहीं रह सकती है।

9. नौकरशाही का वेबर द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त विकासशील देशों के सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के कार्यों के संतोषजनक ढंग से पूरा नहीं करता है क्योंकि इन कार्यों के लिए शीर्घ परिवर्तनों की आवश्यकता है जबकि वेबर के प्रतिमान में अनुकूलन क्षमता बहुत कम है।

10. नियमों के प्रति अधिक मोह रखने से कार्यकुशलता तीव्रता से घटती है तथा एक विशिष्ट प्रक ति की अयोग्यता उत्पन्न हो जाती है। वेबलेन इसे ''प्रशिक्षित अयोग्यता'' नाम दिया१ है जबकि माइकल क्रोजियर के अनुसार ''इससे नौकरशाही एक जड़ संगठन बन जाती है जो अपना गलतियों से सीखकर अपना व्यवहार नहीं सुधार पाती है।''

11. पीटर ब्लाऊ का मानना है कि वेबर का यह प्रतिमान सभी स्थानों तथा सभी समयों के प्रशासन के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। ब्लाऊ के अनुसार, बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप संगठन एवं कार्मिक दोनों परिवर्तित हों तभी कुशलता में व द्धि हो सकती है।

12 बहुत से विद्वानो का मानना है कि वेबर का आदर्श प्रारूप, एक अवधारणात्मक उपकरण तो है जिसकी सहायता से नौकरशाही के आदर्श स्वरूप एवं मूर्त्त स्थिति का किंचित् विश्लेषण किया जा सकता है किन्तु नौकरशाही की वास्तविकता को समझने के लिए आदर्श प्रारूप की नहीं बल्कि आदर्श प्रारूप बनाने के लिए वास्तविकता को समझना या उसका ज्ञान रखना अधिक आवश्यक है।

यद्यपि वेबर के नौकरशाही प्रतिमान की व्यापक आलोचना हुई है तथापि यह भी सत्य है कि यह प्रतिमान अपने आप में अद्वितीय है क्योंकि जितनी आलोचनाएँ इस प्रतिमान की हुई हैं वे इस प्रतिमान के द्वारा किए गए अनुसंधानों या विश्लेषण के आधारों पर ही हुई हैं अर्थात् वेबेरियन मॉडल आज भी नौकरशाही की व्याख्या करने का एकमात्र विश्वसनीय प्रतिमान है। नौकरशाही के स्वरूप में आज जो परिवर्तन दिखाई दे रहे हैं उनका 19 वीं सदी या 20 वीं सदी की शुरुआत में मैक्स वेबर या कोई भी अन्य विद्वान् कल्पना कैसे कर सकता था? मार्टिन एल्ब्रो का यह मानना अधिक उचित प्रतीत होता है कि वेबर ने अपने जर्मन लेखों में तार्किकता (विवेकपूर्ण) तथा कुशलता का प्रयोग सम्भवतः अन्य सन्दर्भों में किया होगा। औपचारिक तार्किकता आज के युग में अपने चरमोत्कर्ष पर है, अतः इस सम्बन्ध में वेबर का योगदान प्रशंसनीय है। वेबर ने आलोचनाओं का पूर्वानुमान करते हुए स्पष्ट कर दिया था कि उन्होंने नौकरशाही का आदर्श प्रारूप, अनुसन्धान में सहायता देने हेतु निर्मित किया है और इसे किसी विद्यमान अनुभव सम्बन्धी वास्तविकता का वर्णन करने में सक्षम समझने की भूल नहीं की जानी चाहिए। वस्तुतः वेबर का नौकरशाही प्रतिमान केवल सैद्धान्तिक प्रारूप नहीं रह गया है बल्कि नौकरशाही के व्यावहारिक स्वरूप में भी हमारे सामने है अतः भ्रान्तियाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

मार्क्स का नौकरशाही सिद्धान्त
Marxian Theory of Bureaucracy

कार्ल मार्क्स को सामाजिक विचाराधारा का प्रवर्तक, गरीबो का मसीहा, पूँजीवाद का शत्रु, सहित अनेक विशेषणों से सम्बोधित किया जाता है। कार्ल माक्स्र का जन्म एक मध्यमवर्गीय यहूदी परिवार में पश्चिम जर्मनी के ट्रायर नामक शहर (Trier City of West Germany) में 5 मई, 1818 ई० में हुआ था। उसका पूरा नाम कार्ल हेनरिच मार्क्स (Karl Henirich Marx) था परन्तु कालान्तर में कार्ल मार्क्स और मार्क्स नाम ही ज्यादा प्रचलित हुआ। उनके पिता एक साधारण वकील और देशभक्त पर्शियन थे। माता एक यहूदी महिला थी। मार्क्स बाल्यावस्था से ही काफी मेधावी और कुशाग्र बुद्धि का था। 1836 ई० में मार्क्स को न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिए बर्लिन विश्वविद्यालय (University of Berlin) में भेजा गया। वहाँ पर मार्क्स हीगेलवादी दर्शन (hegelin Philosophy) की तरफ ज्यादा आकर्षित हुआ। 1841 ई० में जेना विश्वविद्यालय (University of Jena) से उन्होंने डॉक्टरेट की उपधि प्राप्त की। वहीं पर उसने प्राध्यापक बनने का भी असफल प्रयास किया। यदि मार्क्स को प्राध्यापक का पद मिल जाता तो निश्चित ही मार्क्स एक महान् प्राध्यापक एवं दर्शनशास्त्र का ज्ञाता बनता लेकिन इसका परिणाम के महत्वपूर्ण योगदानों से विश्व वंचित रह जाता है। 1848 ई० में वह पेरिस गया जहाँ उसने क्रान्ति में भाग लिया और 1849 ई० में उसे पेरिस से निष्कासित कर दिया गया। अगस्त 1849 ई० में वह लन्दन गया। मार्क्स ने अपने जीवन के शेष 34 वर्ष लन्दन में ही बिताए जहाँ उसे घोर दरिद्रता एवं अभावपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ा। 14 मार्च, 1883 ई० को अत्यन्त ही दयनीय अवस्था में लन्दन में कार्ल हेनरिच मार्क्स का देहावसान हो गया। मार्क्स ने अपने जीवन में अनेक साहित्यों की रचनाएँ की जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार है[1]:

1. The Poverty of Philosophy (1847)
2. The Communist Manifesto (1848)
3. Wage, Labour and Capital (1849)
4. The Class Struggle in France (1850)
5. The Eighteenth Brunaire of Louis Bonapart (1850)
6. A Contribution to the Critique of Political Economy (1859)
7. First Volume of Das Capital (1867) (Incomplete).

कार्ल मार्क्स ने अपने जीवन में अनके विचारों का प्रतिपादन किया जिसने पूरे विश्व के राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक क्षेत्रों पर व्यापक रूप से प्रभाव डाला। कार्ल मार्क्स विश्व के करोड़ों लोगों के जुबान पर हैं; विश्व की एक बहुत

बड़ी जनसंख्या के मसीहा हैं और इनके द्वारा रचित, स जित पुस्तकों के विचारों को करोड़ों लोग श्रद्धा एवं सम्मान से पढ़ते हैं। हालाँकि मार्क्स की नौकरशाही पर केन्द्रित कोई विशेष प्रकार की अलग से पुस्तक नहीं है। कार्ल मार्क्स के राज्य सिद्धान्त, वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त तथा अनेक अन्य क्राान्तिकारी विचारों का अध्ययन करने के दौरान उसके नौकरशाही सम्बन्धी विचारों का पता चलता है जो नौकरशाही के अध्ययन में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

यह विश्व विदित है कि कार्ल मार्क्स पूँजीवाद का प्रबल विरोधी रहा है। इसलिए उसने राज्य का भी विरोध किया है तथा एक राज्यविहीन समाज की परिकल्पना की है। मार्क्स की यह मान्यता है कि जब तक राज्य रहेगा पूँजीपति वर्ग श्रमिकों पर शासन करता रहेगा। पूँजीवादी शासन व्यवस्था में काम करने वालो का कोई अधिकार नहीं होता; यहाँ तक कि अपने श्रम का पारिश्रमिक भी वे अधिकारपूर्वक नहीं माँग सकते यही कारण है कि मार्क्स ने ''श्रमिको एक हो जाओ'' का नारा दिया है कि क्रान्ति के द्वारा ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत राज्य में वर्ग-संघर्ष का अन्त होगा और समाज में प्रत्येक व्यक्ति का विकास होगा।

कार्ल मार्क्स के अनुसार, औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप अनेक बड़े-बड़े कल-कारखाने अस्तित्व में आए जिनके मालिक पूँजीपति थे। हाथ की कारीगरी से बनने वाली चीजें उद्यागों और मशानों से बनी वस्तुओं की बराबरी नहीं कर सकती थीं। इसलिए बुनकर, चर्मकार, शिल्पकार, बढ़ई, लुहार तथा इसी प्रक ति के कार्य करने वाले दूसरे कारगीर बेकार और बेरोजगार हो गए। पेट पालने के लिए वे उद्यागों में कार्य करने लगे। एक पूँजीपति अथवा उद्योगपति इतने अधिक मात्रा में आए मजदूरों को अकेला नहीं सँभाल सकता। अतः वह इस कार्य के लिए प्रबन्धक नियुक्त करता है। ये प्रबन्धक तथा उनकी सहायता से लिए रखे गए अधिकारियों का वर्ग ही नौकरशाह है। मार्क्स के अनुसार, ''नौकरशाही का अर्थ है वे अधिकारी जो मालिकों या शासकों की ओर से श्रमिकों एवं कर्मचारियों पर नियन्त्रण करते हैं; नौकरशाही का दायित्व पूँजीवाद की शोषणपूर्ण परिस्थितियो में श्रमिकों से काम लेना है।'' मार्क्स की यह मान्यता है कि राज्य पूँजीपतियों का संगठन है जिसका उद्देश्य श्रमिाकों का शोषण करना है। समाजवादी घोषणा-पत्र में राज्य को ''पूँजीपतियों की कार्यकारिणी समिति'' कहा गया है; और नौकरशाही को उसका साधन माना है। पूँजीवाद के हितों की रक्षा के लिए राज्य न केवल पुलिस और सैनिक शक्ति रखता है बल्कि राज्य की न्याय प्रणाली भी इसी काम में प्रयुक्त होती है। मार्क्स आगे कहता है कि वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति के द्वारा पूँजीवादी वर्ग को नष्ट कर दिया जाएगा और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जाएगा और इस प्रकार नौकरशाही प्रणाली का भी अन्त हो जाएगा।

मार्क्स के नौकरशाही की विशेषताएँ
Features of Marxian Bureaucracy

कार्ल हेनरिच मार्क्स ने अपनी विचारों की बगिया में जो खुशबू बिखेरी है उसमें नौकरशाही की गन्ध भरी पड़ी है। मार्क्स की द ष्टि में नौकरशाही की जो विशेषताएँ होती हैं जो अग्रलिखित ढंग से श्रेणी बद्ध किया जा सकता हैः

1 **श्रम-विभाजन** (Division of Labour): कार्ल मार्क्स की यह मान्यता है कि पूँजीवादी समाज में श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के संगठनों की उत्पादकता में काफी व द्धि होती है किन्तु उनकी यह मान्यता है कि श्रम का बुनियादी विभाजन जिसको हम अनदेखा कर देते हैं वह बौद्धिक और भौतिक कार्य व्यापार के मध्य होता है। उसके अनुसार, श्रमिकों के द्वारा उत्पादन कार्य व्यापार होता है जबकि पूँजीपति तथा नौकरशाह लोग केवल बौद्धिक कार्य व्यापार करते हैं। इस प्रकार श्रम के बँटवारे के नाम पर परिश्रम का सारा बोझ मजदूरों के सिर पर लाद दिया जाता है; परन्तु बढ़ी हुई उत्पादकता के अधिकतर लाभ मालिकों की झोली में चला जाता है। इस बढ़े हुए लाभ का हिस्सा वे नौकरशाहों में भी बाँटते हैं इसलिए नौकरशाहों को मोटे वेतन तथा भरपूर सुविधाएँ मुहैया कराई जाती है। मार्क्स यह मानता है कि ''नौकरशाहों को उनके उत्पादक कार्य के लिए वेतन नहीं दिया जाता बल्कि वे श्रमिकों के शोषण का पुरस्कार पाते हैं। श्रम-विभाजन में प्रत्येक द ष्टिकोण से श्रमिक ही घाटे में रहते हैं।''

2 **पदसोपान परम्परा** (Hierarchy Tradition): कार्ल मार्क्स के संगठन के अन्तर्गत पदसोपानात्मक व्यवस्था को भी अनावश्यक एवं अनुपयुक्त माना है। उसके अनुसार पदसोपान परम्परा नौकरशाही की ही विशेषता है जिसमें अनेक बुराइयाँ हैं। जब कोई अधिकारी किसी आम जनता के साथ शोषणपूर्ण और नकारात्मक व्यवहार करता है तो उसके ऊपर के अधिकारियों की प्रव ति उसका बचाव करने की रहती है। दूसरी ओर जब कोई अधिकारी अपने उच्च अधिकारी

की गलती का विरोध करता है तो उसे दण्डित किया जाता है। कार्ल मार्क्स आगे यह भी कहता है कि पदसोपानात्मक व्यवस्था में सर्वोच्च अधिकारी एवं निम्न अधिकारी दोनों एक-दूसरे की आँखों में धूल झोंकते है। उच्च अधिकारी किसी समस्या की बारीकियों और गहराई को समझने का कार्य निचल स्तर के अधिकारियों पर छोड़ देते हैं। जबकि निचले अधिकारी यह मानते हैं कि बारीकियाँ और गहराई समझने का कार्य उच्च अधिकारी का है। इस तरह दोनों एक-दूसरे से धोखा खाते हैं। एक तरफ कार्य की असफलता का उत्तरदायित्व उच्च अधिकारी निम्न अधिकारियों पर थोपते हुए कहते हैं नीति तो अच्छी बनाई थी परन्तु उसका कार्यान्वयन उचित ढंग से नहीं किया गया; तो दूसरी तरफ निम्न अधिकारी असफलता का दायित्व उच्च अधिकारियों पर थोपते हुए यह कहते हैं कि नीति का निर्माण ही दोषपूर्ण और अनुपयुक्त था।

3. **स्वतन्त्रता ह्रास** (Decline of Liberty): कार्ल मार्क्स की यह मान्यता है कि नौकरशाही की वजह से स्वतन्त्रता का ह्रास होता है। संगठन में जहाँ कहीं भी शोषण होता है वहाँ शोषक एवं शोषित दोनों अलगाव की भावना से ग्रसित होते हैं। श्रमिकों को मजूदरी में आजीविका के लिए नौकरी का सहार लेना पड़ा क्योंकि स्वतन्त्र कारीगर के रूप में कार्य करना उनके लिए सम्भव नहीं रहा। उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के लागत खर्च एवं गुणवत्ता कारखाने द्वारा उत्पादित वस्तुओं की तुलना में अपना आस्तित्व कायम नहीं कर सके। कारखाने में भर्ती हो जाने के बाद उन्हें प्रबन्धकों के तानाशाही नियन्त्रण में कार्य करना पड़ता है। उनका दमन होता है। और उन्हें दण्डित करने की धमकियाँ मिलती है। प्रबन्धक अथवा नौकरशाह भी अलगाव की भावना से ग्रसित रहते हैं क्योंकि वे अपने को श्रमिकों से श्रेष्ठ, उच्चस्तरीय और विशिष्ट अधिकारी समझते हैं।

4. **स जनात्मकता का ह्रास** (Decline of Creativity): कार्ल मार्क्स यह मानता है कि नौकरशाही के अनेक दुष्परिणाम हैं और उसमें एक महत्त्वपूर्ण बुराई यह है कि नौकरशाही मजदूरों की स जनात्मक शक्ति को प्रभावित करती है। इसे कभी-कभी दुष्क्रिया का नाम भी दिया जाता है। किसी भी कारखाने में जब श्रम का विभाजन होता है तो कार्यरत श्रमिकों का दायरा सिमट कर जाता है। श्रम-विभाजन के कारण कोई भी कर्मचारी अपने पूरे सामर्थ्य का उपयोग नहीं कर पाता है। इस प्रकार जिस तरह का स जनात्मक सन्तोष कलाकार, शिल्पकार, अथवा संगीतज्ञ को मिलता है; जिसमें वे अपनी क्षमता का बेहतर ओर अधिकतम उपयोग करते हैं वैसा सन्तोष मजदूरों को नहीं मिल पाता है। पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में कोई भी श्रमिक यह नहीं कह सकता है कि उसने स्वतन्त्र रूप से किसी भी वस्तु का उत्पादन किया है। इसमे श्रमिका एवं कर्मचारी स्वयं एक औजार मात्र बनकार रह जाता है। प्रशासन भी अपनी स जनात्मकता से हाथ धो बैठता है क्योंकि ऐसी प्रशासन व्यवस्था में प्रशासक भी अनाम ही रहता है। आखिर वह संगठन किस काम का वैसी नौकरशाही से क्या फायद जिसमें संगठन के श्रमिक और कर्मचारियों की स जनात्मक शक्ति में विकास की बजाय ह्रास हो।

5. **नैतिक मूल्यों का ह्रास** (Decline of Moral Value): नौकरशाही की एक महत्त्वपूर्ण बुराई यह है कि इसकी वजह से नैतिकता का ह्रास होता है। मार्क्स यह मानता है कि जिन संगठनों में नौकरशाही अपनी जड़े गहरी जमा चुका है। वहाँ संगठन में कार्यरत अधिकारियो के नैतिक मूल्यों में भी भारी गिरावट आता है। नौकरशाही संगठनों में यदि इंजीनियर और डॉक्टर अच्छे पुल बनाने या रोगियों की बेहतर चिकित्सा करने की अपेक्षा धन कमाने में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं तो वे अनैतिक बन जाते हैं। नौकरशाही व्यवस्था के अन्तर्गत उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों के साथ शोषणपूर्ण व्यवहार करते हुए उनकी समस्याओं और परिस्थितियों की अनदेखी करते हैं। उनके लिए प्रारम्भ किए जाने वाली कल्याणकारी योजनाओं में अनावश्य अड़ंगा डालकार अपने निम्नस्तरीय नैतिक मूल्य का परिचय देते हैं। यह किसी संगठन के उद्देश्य प्राप्ति में बाधक तत्त्व बनकर सामने आता है।

6. **मानवीय मूल्यों का ह्रास** (Decline of Human Value): नौकरशाही के अवगुणों की चर्चा करते हुए कार्ल हेनरिच मार्क्स ने कहा है कि नौकरशाही की वजह से स्वतन्त्रता, स जनात्मकता और नैतिक मूल्यों का ही ह्रास नहीं होता बल्कि इससे मानवीय मूल्यों में भी गिरावट आती है। बड़े-बड़े करखानों में श्रमिकों से मशीनों की तरह कार्य कराए जाते हैं और स्थिति यह हो जाती है कि वे स्वंय यन्त्रवत रूप से मशीन का एक हिस्सा बन कर रह जाते है। श्रमिकों की मानवीय भावनाओं का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। उनकी प्रेरणा, सहयोग, सहानुभूति, उत्साह, आशा, निराशा तथा मानवीयता जैसी भावनाओं का कोई स्थान नहीं रह जाता है। संगठन में यान्त्रिक और औपचारिक व्यवहार (Mechanical and Formal

Behaviour) ही सर्वोपरि बन जाता है। श्रम के बँटवारे के कारण संगठन के लक्ष्य के निर्धारण एवं उन लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रक्रिया निर्धारित करने में श्रमिकों और कर्मचारियों की कोई भूमिका नहीं रह जाती है। कार्यालय का स्वरूप भी एक बड़ी मशीन की तरह बनकर रह जाता है। कार्यालय हो या कारखाना श्रमिक व कर्मचारी स्वचालित मशीन की भाँति कार्य करते रहते हैं। अतः मार्क्स के अनुसार, नौकरशाही की चपेट में मानवीय मूल्यों की बलि चढ़ जाती है। कार्ल हेनरिच मार्क्स ने हालाँकि नौकरशाही को केन्द्रित कर कोई सकीकृत रचना तैयार नहीं की है परन्तु अपने विभिन्न स जित ग्रन्थों में जेा विचार दिए हैं उनमें नौकरशाही के प्रति उसकी अवधारणा स्पष्ट रूप से द ष्टिगोचर होती है। कार्ल मार्क्स की यह मान्यता है कि नौकरशाही किसी भी समाज, संगठन, कार्यलय अथवा कारखाने के लिए उपयुक्त नहीं है। नौकरशाही की वजह से एक तरफ जहाँ श्रमिकों और कर्मचारियों के स जनात्मक, स्वतन्त्रतात्मक, मानवीय एवं नैतिक मूल्यों का ह्रास होता है तो दूसरी तरफ संगठन के निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में भी नौकरशाही अवरोधक का कार्य करती है। कार्ल मार्क्स ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक *"A Contribution to the Critique of political Economy "1859 ई० की प्रस्तावना में भी इस बात का जिक्र किया है कि "Bueaucracy is* 'Parasites' designed to mentain status quo and the privileges of the dominant section of the society" मार्क्स की यह मान्यता है कि पूँजीवादी समाज में पूँजीपति और श्रमिक के हित एक दूसरे से टकराते हैं और उनका संघर्ष जारी रहता है नौकरशाही पूँजीवाद को पुष्ट करती है। दूसरी तरफ बड़े-बड़े संगठन बनने से मजदूरों में एकता कायम रहती है। परिवहन एवं संचार सुविधा विकसित हो जाने से श्रमिकों के संगठनो का स्वरूप राष्ट्रव्यापी होकर शक्तिशाली होने लगा है। मजदूरों की संगठित शक्ति क्रान्ति के जरिए पूँजवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने में सफल होगी। पूँजीवाद के साथ-साथ नौकरशाही का भी सफाया हो जाएगा क्योंकि नौकरशाही का मुख्य कार्य श्रमिकों का नियन्त्रण करना होता है जिसकी आवश्यकता नहीं रह जाएगी। मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही का सिद्धान्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। एविनरी[1] (Avineri) ने मार्क्स की नौकरशाही का उस समय की वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में तो उपयुक्त माना है परन्तु आधुनिक राज्य में उसकी उपयोगिता को अपर्याप्त और असमयानुकूल माना है। पी.के. दत्ता (P. K. Datta)[2] भी यह मानते हैं कि मार्क्स ने नौकरशाही को राज्य से न अलग होने वाली बुराई के रूप में स्वीकार किया है और इसकी प्रक ति और शक्ति का आकलन राज्य की विस्फोट स्थिति के सन्दर्भ में किया है परन्तु उसका यह आकलन धीरे-धीरे कमजोर पड़ता गया। नौकरशाही के सन्दर्भ में मार्क्स द्वारा दिए गए उपर्युक्त विचारों का विश्लेषण करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि ''कार्ल मार्क्स की नौकरशाही की अवधारणा श्रमिक हित के पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध मात्र थी जो कि आधुनिक प्रशासनिक राज्यों में मौजूद नौकरशाही की प्रक ति और प्रव ति से मेल नहीं खाने की वजह से अपना महत्त्व खो बैठा।''

UNIT-IV

अध्याय-13
निर्णमन द ष्टिकोण
(Opinion Attitude)

एक सामान्य व्यक्ति की दैनिक पारिवारिक गतिविधियों से लेकर बड़े-बड़े सरकारी संगठनों अथवा उद्योगों तक, सभी में प्रति क्षण कोई न कोई 'निर्णय' होता रहता है। वस्तुतः निर्णय करना अथवा निर्णयन, मानव की स्वाभाविक आवश्यकता तथा विशेषता है। चूँकि हमारी अधिकांश दैनन्दिन गतिविधियाँ हमारे व्यवहार तथा परिवेश में इस प्रकार घुलमिल जाती हैं कि हमें पता ही नहीं रहता है कि हमने कब निर्णय ले लिया। केवल जटिल तथा गम्भीर प्रकृति के प्रकरणों में हम यह जानते हैं कि कोई निर्णय लिया जा रहा है या लेना है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आयु, लिंग, वंश, परिवार, पद, भूमिका तथा दायित्वों इत्यादि के अनुरूप निर्णय लेता है, लेकिन निर्णयन की क्षमता सभी व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न होती है।

प्रशासनिक व्यवहार के अध्ययन के क्षेत्र में अग्रणी चिंतक हरबर्ट साइमन ने माना है कि ''निर्णयन, प्रशासन का ह्रदय है।'' इसी प्रकार के विचार जॉर्ज आर. टैरी के हैं। उनके अनुसार, ''प्रबन्धकों (प्रशासकों) का जीवन ही निर्णय लेना है।'' निर्णय लेना जितना सरल, दूसरों को प्रतीत होता है, उससे कहीं अधिक जटिल तथा भारी निणर्यकर्ता को लगता है। इसीलिए कहा जाता है कि लोग निर्णय करने की अपेक्षा, तोप का सामना करना अधिक अच्छा समझते हैं। ऐसा इसीलिए है कि अधिकांश अव्यक्तिगत तथा संगठनात्मक निर्णयों के सम्बन्ध में व्यापक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। कभी प्रशासकों के सम्मुख समस्याओं का अम्बार लगा होता है तो कभी समयाभाव होता है। कुछ लोग निर्णय के परिणामों से आशंकित रहते हैं तो कुछ आलोचनाओं से डरते हैं। कुछ व्यक्तियों को स्वयं पर ही भरोसा नहीं रहता है तो कतिपय व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो दूसरों पर विश्वास नहीं करते हैं। इन सब व्यावहारिक समस्याओं के चलते निर्णयन प्रक्रिया बाधित रहती है तथा प्रशासक किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति में बैठे रहते हैं। उच्च प्रबन्धन में व्याप्त निर्णयन की शिथिलता तथा अपरिपक्वता के कारण सम्पूर्ण संगठन की कार्यशैली विपरीत एवं व्यापक रूप से प्रभावित होती है। प्रबन्ध चिन्तन के पितामह पीटर एफ. ड्रकर मानते हैं कि - ''प्रबन्धक जो कुछ भी करता है वह निर्णयों के द्वारा ही करता है।'' वास्तव में निर्णय, कई विकल्पों में से किसी एक विकल्प का चुनाव करने का पर्याय है लेकिन कौन सा विकल्प तत्कालीन परिस्थितियों, भावी सम्भावनाओं, उपलब्ध संसाधनों तथा संगठन के लक्ष्यों के अनुरूप सर्वाधिक उपयुक्त है, इसका निर्णय करना भी सरल नहीं है। एक कुशल नेत त्व, नियंत्रण, समन्वय तथा मनोबल व द्धि से सम्बन्धित कृत्य, निस्संदेह कुशल निर्णयन पर आधारित हैं। किसी एक निर्णय से सभी को प्रसन्न कर देने की कल्पना करना ही व्यर्थ है, क्योंकि विशुद्धता तथा सर्वस्वीकार्यता, मानव समाज में सम्भव नहीं है। हां, तुलनात्मक रूप से श्रेष्ठतर तथा व्यावहारिक निर्णय अवश्य लिए जा सकते हैं।

निर्णयन का अर्थः

शब्दकोषीय द ष्टि से निर्णयन का अर्थ है - ''किसी कार्य या कार्यवाही के सन्दर्भ में अपना मत (Opinion) या मन निश्चित करना।''

टैरी के अनुसार-''दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से किसी एक व्यावहारिक विकल्प को चुनना ही निर्णय लेना है।'' (ऐसी ही परिभाषा मेनले जोन्स, ग्लोवर, किलियन्स तथा कूंट्ज एवं ओ' डोनेल ने दी है)

मैक्फॉरलैण्ड के शब्दों में - ''निर्णय लेना चयन की एक क्रिया है जिसमें कोई प्रबन्धक किसी विशिष्ट (दी हुई या मिली हुई) परिस्थिति में इस मत पर पहुँचता है कि क्या किया जाना चाहिए? निर्णय, किसी व्यवहार का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका चयन, अनेक संभव विकल्पों में से किया जाता है।''

जी.एल.एस. शेकल के अनुसार - ''निर्णय लेना, रचनात्मक मानसिक क्रिया का वह केन्द्रबिन्दु है जहां कार्यपूर्ति के लिए ज्ञान, विचार, भावना तथा कल्पना का संयोग होता है।''

बर्नार्ड के अनुसार- "निर्णयन, मुख्यतः विकल्पों को सीमित करने की तकनीक है।"

अर्नेस्ट डेल के शब्दों में - ''प्रबंधकीय निर्णयों से आशय उन निर्णयों से है जो प्रबन्धकीय क्रियाओं, जैसे-नियोजन, संगठन, कार्मिक-प्रशासन, नियंत्रण, नवाचार तथा प्रतिनिधित्व के दौरान लिए जाते हैं।''

लुण्डबर्ग के अनुसार - ''प्रशासनिक निर्णय एक प्रक्रिया है, जिसमें एक व्यक्ति संगठन के दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करने के लिए एक निर्णय करता है ताकि वे व्यक्ति संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने में अपना योगदान दे सकें।''

हैमेन के अनुसार - ''निर्णय, निर्धारित की गई एक स्थिति है जो कार्य के वास्तविक निष्पादन से पूर्व आती है।''

''निर्णय'' का महत्व

'निर्णय' एक सर्वव्यापक एवं सभी से सम्बन्धित प्रक्रिया है। प्रायः प्रत्येक ाकर्य के किए जाने से पूर्व, प्रगट अथवा अप्रगट रूप से, कोई न कोई निर्णय लिया जाता है। निर्णय का वर्तमान परिस्थितियों, दशाओं, घटनाओं, प्रक्रियाओं, गतिविधियों तथा परिणामों एवं लक्ष्य-प्राप्ति की दृष्टि से उनके भावी स्वरूप से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ''यही सेवि-वर्ग को जीवित रखता है, व्यवस्थापिकाओं पर छाये रहता है, मुख्य कार्यपालों को घेरे रहता है, तथा न्याय-निकायों को विशिष्टत्व प्रदान करता है। इसी से नीति-निर्माण, द्वन्द्व सहयोग आदि उत्पन्न होते है। स्थानीय व संघीय सरकारें, सेनाएं संगठन आदि सभी इसी के माध्यम से कार्य करते हैं।[7] निर्णय ही वह केन्द्रीय बिन्दु है जहाँ योजनाएँ, नीतियाँ तथा लक्ष्य मूर्त क्रियाओं मे रूपांतरिक किए जाते हैं। महत्वपूर्ण निर्णय कर सकने वाला व्यक्ति ही शक्तिशाली माना जाता है। हरबर्ट साइमन ने इसे 'प्रशासन का हृदय' और 'संगठनों का मूलभूत संयन्त्र' कहा है।

अन्य कई अनुशासन तथा उपागम भी निर्णयन (decision making) या निर्णय लेने की प्रक्रिया का विश्लेषण करते है। इसके कई रूप एवं पकार पाए जाते हैं, जैसे, प्रतियोगितापूर्ण परिस्थितियों में , अपने निर्णय-व्यूह के परिणामों के परिमाणन पर जोर देने वाला क्रीड़ा-सिद्धांत; निर्णय से अधिकतम लाभ की धारणा वाले अर्थशास्त्रीय उपागम; अर्थशास्त्र तथा राजविज्ञान के निर्णय-निर्माणों के मध्य साद श्यताएं आदि। संचार-सिद्धांत , संचार-नियन्त्रण-विज्ञान, प्रतिसम्भरण आदि इससे पर्याप्त निकटता रखते हैं। स्वयं इस विचारधारा को विभिन्न स्रोतो एवं अनुशासनों से विकसित किया गया है, जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, प्रशासनिक सिद्धांत, संगठन-सिद्धांत, अर्थशास्त्र, गणित एवं सांख्यिकी, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि। 'निर्णय' प्रक्रिया को अनेक रूपों में अध्ययन किया गया है, जैसे, निर्णय-निर्माताओं की सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक प ष्ठभूमि; संचार; स्थानीय, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का अन्वेषण; संगठन और संस्थाओं में निर्णयन-संरचनाओं तथा विनिश्चियों के प्रकार एवं शैलियों का अध्ययन, आदि।

साइमन के अपनी पुस्तक (Administrative Behaviour) के प्रकाशित करते समय ही इस बात की पूर्व घोषणा कर दी कि यह पुस्तक शीघ्र ही पुरानी पड़ जाएगी। लगभग दस वर्षों से भी कम समय में, दूसरे संस्करण ञ(1157) की भूमिक में उसे लिखना पड़ा कि 'निर्णय-निर्माण, समाजविज्ञान क सर्वाधिक लोकप्रिय शब्दों - 'व्यवहार', ''निर्णय-निर्माण'' और ''संगठन'' में एक स्थान बन चुका है। प्रशासन की इस सर्वाधिक छोटी इकाई, में प्रशासकों और कार्यपालों के अतिरिक्त अर्थशास्त्री, राजवैज्ञानिक, समाज-मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री भी घनिष्ठ रूप से रुचि लेने लगे है, और उन्होंने अपने-अपने परिप्रेक्ष्य में निर्णय' पर आधारित 'सिद्धांत' विकसित कर लिए है।[8] वास्तव में 'निर्णयवाद' विशुद्ध रूप से लोकप्रशासन का मौलिक योगदान है, यद्यपि यहां अभी तक वह वह एक विचारधारा ही के रूप में पाया जाता है और एक वैज्ञानिक सिद्धांत के रूप में विकसित नहीं हो सका है। इसे औपचारिक बौद्धिक सिद्धांत के रूप में वॉन, न्यूमैन, मार्गेस्टार्न, अर्नेस्ट जर्मेलो, फैन्क रैम्से आदि ने द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ही विकसित कर लिया था। उसे प्रशासन की आवश्यकता के अनुरूप ढालने तथा प्रयोगात्मक एवं अनुभाविक बनाने का प्रयास सर्वप्रथम साइमन ने किया। किन्तु सूचना-सिद्धांत, संचार-विज्ञान और स्वचालन के क्रांतिकारी प्रभावों के परिणामस्वरूप यह 'निर्णयवादी' विचारधारा वैज्ञानिकों और प्राविधिज्ञों द्वारा भी अपना ली गई है और विभिन्न क्षेत्रों में निर्णय लेने वाले संगणक विकसित कर लिए गए हैं निर्णयवाद प्रयोग और सिद्धांत की दृष्टि से एक वास्तविकता बनता जा रहा है। प्रशासनिक निर्णयवाद, जो साइमन के हाथों में एक विचारधारा था, अब एक वैज्ञानिक, आनुभविक, यांत्रिक एवं उपयोगी कार्यव्यवहार बन रहा है।

निर्णयों के प्रकार

(Types of Decisions)

व्यक्ति, संगठन, नीति तथा कार्य इत्यादि की प्रकृति के आधार पर निर्णय कई प्रकार के हो सकते हैं, जिन्हे निम्नांकित शीर्षकों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:

1. **कार्यक्रमिक एवं अकार्यक्रमिक निर्णय:** हरबर्ट साइनम ने सभी प्रकार के निर्णयों को दो श्रेणी, यथा-कार्यक्रमिक (Programmed) तथा अकार्यक्रमिक (Non Programmed) निर्णयों में विभक्त किया है। साइमन के अनुसार कार्यक्रमिक या दैनन्दिन निर्णय वे होते हैं जो दिन-प्रतिदिन के कार्यों से सम्बन्धित होते हैं तथा जिनकी एक प्रक्रिया पहले से ही निश्चित की हुई होती है। नैत्यिक तथा पुनराव त्ति प्रकृति के निर्णय सरल प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनकी एक निश्चित तथा सुव्यवस्थित प्रणाली निर्धारित रहती है। प्रशासनिक संगठनों में कार्मिकों को वेतन देना, अवकाश स्वीकृत करना तथा रिपोर्ट भेजना इत्यादि कार्यक्रमिक निर्णय हैं जबकि अकार्यक्रमिक निर्णय वे होते हैं, जो किसी परिस्थिति विशेष के कारण एक नई समस्या के रूप में सामने आते हैं तथा जिनका पूर्वानुमान नहीं रहता है। स्पष्ट है अकार्यक्रमिक निर्णयों के लिए अधिक स जनात्मकता, धैर्य तथा विश्लेषण क्षमता की आवश्यकता होती है। इस अकार्यक्रमिक निर्णयों कीनिश्चित प्रक्रिया नहीं रहती है। संगठन के नए कार्य तथा योजना इसी श्रेणी में सम्मिलित हैं।

2. **व्यक्तिगत एवं संगठनात्मक निर्णय:** चेस्टर बर्नार्ड ने निर्णयों को व्यक्तिगत तथा संगठनात्मक श्रेणी में विभक्त किया है। उनके अनुसार व्यक्तिगत निर्णय वे होते हैं, जो कोई अधिकारी अपनी व्यक्तिगत स्थिति में लेता है तथा इन निर्णयों मं किसी का हस्तक्षेप नहीं रहता है। ऐसे निर्णयों का अधिकार प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता है। संगठनात्मक निर्णय वे हैं जो अधिकारी द्वारा अपनी पदस्थिति के कारण लिए जाते हैं तथा इन निर्णयों क अधिकार का प्रत्यायोजन भी किया जा सकता है।

3. **नियोजित एवं अनियोजित निर्णय:** आर.ए. किलियन्स के निर्णयों को नियोजित तथा अनियोजित रूप में बांटा है। किलियन्स की द ष्टि में नियोजित निर्णय वे हैं, जो तथ्यों पर आधारित होते हैं तथा इनमें प्रायः वैज्ञानिक रीति का प्रयोग किया जाता है जबकि अनियोजित निर्णय अवसर आने पर लिए जाते हैं। इन निर्णयों की प्रक्रिया सरल नहीं रहती है और न ही ये संस्था के उद्देश्यों को पूरा कर सकते हैं, क्योंकि अनियोजित निर्णय उलझन तथा समन्वय की कमी को बताते हैं।

4. **नीति, प्रशासनिक तथा कार्यकारी निर्णय:** अर्नेस्ट डेल के अनुसार प्रशासन में तीन प्रकार के निर्णय होते हैं। संगठन के उच्च स्तर पर लिए जाने वाले निर्णय, वित्तीय व्यवस्था, विपणन, संरचना तथा सामान्य उद्देश्य से सम्बन्धित निर्णय, नीतिगत निर्णय होते हैं। शासन सचिवालय या लोक उपक्रमों तथा निजी उद्यमों में संचालन मंडल या प्रबंध मंडल इसी प्रकार के निर्णय लेते हैं। संगठन के मध्य स्तर पर प्रशासनिक निर्णय लिए जाते हैं जो नीति सम्बन्धी निर्णयों के प्रभावी क्रियान्वयन हेतु आवश्यक हैं। जबकि कार्य को मूर्त्तरूप देने के लिए निम्न स्तर पर लिए जाने वाले निर्णय कार्यकारी निर्णय कहलाते हैं। अर्नेस्ट डेल के शब्दों में - ''नीति सम्बन्धी निर्णय, सामान्य उद्देश्य एवं कार्यविधि को निर्धारित करते हैं, प्रशासनिक निर्णय उन साधनों को निर्धारित करते हैं, जिनका प्रयोग किया जाता है तथा कार्यकारी निर्णय वे हैं जो दिन-प्रतिदिन अवसरानुसार लिए जाते हैं।''

5. **एकाकी एवं सामूहिक निर्णय:** प्रशासन में एक व्यक्ति या अधिकारी द्वारा लिया गया निर्णय एकाकी (Individual) निर्णय कहलाता है जबकि एकाधिक व्यक्तियों या समूह द्वारा लिए गए निर्णय सामूहिक निर्णय कहलाते हैं। आधुनिक सहभागी प्रबंध तथा विशेषीकरण के युग में सामूहिक निर्णयों की संख्या बढ़ रही है। मैक्फारलैण्ड की मान्यता है कि - ''समूह द्वारा लिए गए निर्णय एक व्यक्ति द्वारा लिए गए निर्णय से बेहतर होते हैं।''

6. **सामान्य एवं विशिष्ट निर्णय:** पीटर एफ. ड्रकर की पुस्तक "The Practice of Management" के अनुसार संगठन में दो प्रकार के निर्णय लिए जाते हैं। सामान्य (Generic) निर्णयों की प्रकृति व्यापक तथा दैनन्दिन प्रकृति की होती है, जबकि विशिष्ट (Unique) निर्णय सीमित, तात्कालिक तथा गम्भीर मंथन की प्रकृति से जुड़े हुए माने जाते हैं। निर्णयों का यह विभाजन साइमन के कार्यक्रमिक तथा अकार्यक्रमिक निर्णयों से मिलता-जुलता है।

निर्णय की विशेषताएं (Characteristics of Decision-making)

यद्यपि निर्णयन का कार्य प्रत्येक व्यक्ति तथा स्थान पर सम्पादित होता है तथापि यहां, वर्णित विवरण में प्रशासनिक संगठनों में किए जाने वाले निर्णयों को ही सम्मिलित किया जा रहा है, जिनकी प्रमुख विशेषताएं तथा लक्षण इस प्रकार हैः

1. हरबर्ट साइमन के अनुसार निर्णयन का कार्य संगठन के प्रत्येक स्तर तथा प्रत्येक कार्मिक द्वारा किया जाता है। यह हो सकता है कि कोई गम्भीर एवं उच्च प्रकृति के निर्णय करे तो कोई कार्मिक साधारण निर्णय करे। अधिसंख्य निर्णय सहकारी प्रयासों के परिणाम होते हैं।
2. निर्णयन एक ऐसी प्रक्रिया है जो निरन्तर जारी रहती है। यद्यपि देखने में ऐसा लगता है कि निर्णयन अंतिम क्रिया है तथापि सत्य है कि निर्णय के पश्चात् ही संगठन्त की अनय क्रियाएं शुरू हो पाती हैं। पूर्व के निर्णय आज के लिए तथा आज के निर्णय भविष्य के लिए विचार एवं आधार बनते हैं।
3. प्रत्येक निर्णय किसी एक मुद्दे से सम्बन्धित होता है। उस मुद्दे पर निर्णय हो जाने के पश्चात् दूसरा मुद्दा सामने आ जाता है, अतः निर्णयन का कार्य सतत् रूप से जारी रहता है।
4. कोई भी निर्णय हो, वह निर्णयकर्ता के ज्ञान, व्यवहार तथा संगठन की प्रकृति से सर्वाधिक प्रभावित होता है।
5. निर्णयन का मूल आधार विवेकशीलता (Judgement) है।
6. निर्णयन में दो या कई सम्भावित विकल्पों में से किसी एक विकल्प का चयन किया जाता है।
7. किसी प्रकरण में यह सोचना कि अभी निर्णयन नहीं करना है तो यह भी एक निर्णय है।
8. प्रत्येक निर्णय उद्देश्य युक्त होता है अर्थात् बिना किसी उद्देश्य के कोई निर्णय नहीं किया जा सकता है।
9. निर्णय अपने आप में साध्य (लक्ष्य) न होकर साध्य तक पहुंचने का एक साधन होता है।
10. निर्णयन में ''समय-तत्व'' महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि समय अपने आप में एक संसाधन तथा प्रभावकारी कारक है।
11. निर्णय का स्वरूप तथा प्रभाव सकारात्मक अथवा नकारात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है।
12. प्रत्येक निर्णय में वचनबद्धता, द ढ़ता तथा स्पष्टता दिखाई दे यह हमेशा आवश्यक नहीं है तथापि इस प्रकार के निर्णयों का प्रयास अवश्य किया जाता है।
13. अधिकांश निर्णय वास्तविकता से मिलते-जुलते होते हैं।
14. निर्णय, मूल्यांकन तथा विश्लेषण पर आधारित होता है तथा निर्णयों का भी मूल्यांकन एवं विश्लेषण हो सकता है।
15. संसाधन, मानसिकता, तात्कालिकता तथा संगठन के अन्य आयाम निर्णयन को व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं।
16. प्रत्येक निर्णय किसी विशिष्ट समस्या या मुद्दे से सम्बन्धित होता है। यह समस्या बारम्बार आने वाली या कभी कभार आने वाली हो सकती है। स्पष्ट है इससे निर्णयन भी प्रभावित होता है।

सामान्यतः निर्णयन का अर्थ किसी एक निष्कर्ष पर पहुंचना होता हैं। प्रशासनिक संगठनों में निर्णयों को 'नीति' सर्वाधिक प्रभावित करती है। नीति, अपने आप में किसी निर्णय का ही परिणाम होती है तथापि निर्णय, नीति-निर्धारण प्रक्रिया में एक क्षण होता है। चूंकि नीति एक विस्त त तथा सुविचारित आधार होती है, अतः वह निर्णयों को अधिक प्रभावित करती है। निर्णय की प्रकृति विशिष्टता से युक्त होती है। प्रशासनिक संगठनों में नीति तथा निर्णय का यह सहसम्बन्ध व्यापक तथा गहन प्रभाव रखता है। नीति तथा निर्णय दोनों ही संगठनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति मे सहायक साधन हैं। निर्णयों में किसी प्रकार की पवित्रता तथा स्थायित्व की गंध ढूंढ़ना असम्भव है, क्योंकि निर्णय एक मानवीय-बौद्धिक प्रक्रिया का परिणाम है। स्पष्ट है नीति भी इसी का एक उत्पाद है, अतः समयानुसार उसे परिभाषित करना पड़ता है। वस्तुतः निर्णय एक घटना भी है, प्रक्रिया भी है तथा परिणाम भी है जो निरन्तरता के रूप में संगठन में दिखाई देता है।

सभी निर्णयों की प्रकृति एक समान नहीं होती है। बर्नार्ड के अनुसार व्यक्ति जब अपने स्तर पर अपने लिए निर्णय लेता है तो

वह व्यक्तिगत निर्णय कहलाता है जिनका धरातल सीमित तथा प्रभाव क्षेत्र भी कम होता है जबकि प्रशासनिक अथवा संगठनात्मक निर्णय व्यापक प्रभाव वाले निर्णय होते हैं। गोरे एवं डायसन के अनुसार- ''प्रशासनिक निर्णय, व्यक्तियों के सामूहिक प्रयासों के ऐसे परिणाम होते हैं जो संगठन की स्थिति को सामूहिक रूप से प्रभावित करते हैं।'' प्रशासनिक या संगठनात्मक निर्णयों को प्रत्यायोजित भी किया जा सकता है। ऐसा व्यक्तिगत निर्णयों में प्रायः नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार प्रशासनिक निर्णयों की क्रियान्विति भी सामूहिक होती है। प्रशासनिक निर्णयों से सम्बन्धित एक आयाम राजनीति निर्णयों का भी है। चूंकि लोक प्रशासन का कार्यकारी स्वरूप राजनीति से जुड़ा हुआ है तथा राजनीतिक कार्यपालिका के अधीन ही, प्रशासनिक कार्यपालिका कार्य करती है, अतः प्रशासनिक निर्णयों को राजनीतिक निर्णय व्यापक रूप से प्रभावित एवं निर्देशित करते हैं। जहां राजनीतिक निर्णयों में अस्पष्टता तथा संकीर्णता दिखाई दे सकती है, वहीं प्रशासनिक निर्णयों में प्रायः स्पष्टता तथा व्यापकता का पुट समाहित रहता है।

निर्णयन के आधार तथा सिद्धान्त
(Bases and Principles of Decision-making)

संगठनात्मक स्तर पर लिए जाने वाले निर्णय, केवल व्यक्तिगत मान्यताओं तथा क्षमता पर ही आधारित नहीं होते हैं बल्कि निर्णयों के सम्बन्ध में कतिपय ऐसे सुस्थापित सिद्धान्त (Priniples) तथा आधार बने हुए हैं, जो निर्णय-प्रक्रिया में या तो ध्यान में रखे जाते हैं अथवा उन्हें ध्यान में रखा जाना चाहिए।

1. **वैधानिकताः** प्रशासनिक संगठनों का प्रमुख आधार कानून होता है, अतः कोई भी निर्णय लेने से पूर्व यह देखना अत्यावश्यक है कि वह निर्णय निर्धारित कानून तथा नियमों की सीमाओं का उल्लंघन न करे। निर्णयकर्त्ता के पास उस निर्णय की सत्ता या वैधानिक सक्षमता होनी अनिवार्य है।

2. **उद्देश्यः** प्रत्येक निर्णय, किसी न किसी उद्देश्य अथवा लक्ष्य की पूर्ति के लिए लिया जाता है। यह उद्देश्य, सम्बन्धित संस्था या संगठन के मूलभूत लक्ष्यों के विपरीत नहीं होना चाहिए। निरुद्देश्य निर्णयों की सम्भावना बहुत कम होती है, फिर भी निर्णयन के समय उद्देश्य की स्पष्टता तथा वस्तुनिष्ठता को ध्यान में रखना चाहिए।

3. **उचित समयः** निर्णयन में ''समय तत्व'' बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि कतिपय निर्णय तात्कालिक प्रकृति के होते हैं तो कुछ निर्णय दूरगामी परिणामों के आधार पर अधिक सोच-समझकर लिए जाते हैं। यद्यपि निर्णयों में देरी करना संगठन के हित में नहीं है तथापि जल्दबाजी में लिए गए निर्णय भी घातक सिद्ध हो सकते हैं। अतः निर्णय करते समय मामले की गम्भीरता, तात्कालिकता, संगठन के संसाधनों की स्थिति तथा समय-सीमा को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

4. **पूर्णताः** प्रशासनिक अधिकारी अथवा अन्य कोई कार्मिक जब निर्णय ले तो उसे चाहिए कि वह उस निर्णय से सम्बन्धित सभी घटकों, तत्वों तथा आयामों पर स्पष्ट रूप से विचार कर ले। आधे-अधुरे या अस्पष्ट निर्णय किसी उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते हैं। निर्णयों की पूर्णता तथा स्पष्टता से, उनका क्रियान्वयन कार्य सरल हो जाता है।

5. **व्यावहारिकताः** निर्णय ऐसा होना चाहिए जिसे व्यावहारिक रूप में लागू किया जा सके, अर्थात् संगठन में उपलब्ध संसाधनो, नियमों, प्रक्रियाओ तथा सामाजिक, आर्थिक-राजनीतिक परिवेश में वह निर्णय क्रियान्वित हो सकता हो। संगठन में कार्यरत मानव संसाधन तथा उसके कार्य व्यवहार को भी निर्णयन में ध्यान रखा जाना चाहिए। दूसरी ओर निर्णय की स्वीकार्यता भी महत्वपूर्ण पक्ष है अर्थात् जिन लोगों के लिए निर्णय लिया गया है तथा जिन लोगों के द्वारा निर्णय क्रिान्वित किया जाना है, उन्हे निर्णय स्वीकार होना चाहिए।

6. **अधिकमतम लाभः** कोई भी निर्णय क्यों न हो, उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव संगठन की आर्थिक स्थिति पर अवश्य पड़ता है। अतः निर्णय लेते समय मितव्ययता तथा अधिकतम लाभ को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि 'वित्त' आधुनिक प्रशासनिक तंत्र का प्राण बन चुका है। कम लागत में अधिक उत्पादन तथा अच्छी गुणवत्ता की वस्तुएं या सेवाएं देने वाला निर्णय ही संगठन के हित में होता है।

7. **सामाजिकः** राजनीतिक तथा आर्थिक कारक लोक प्रशासन से सम्बद्ध अथवा निजी क्षेत्र, दोनों के ही संगठनों को एक विशेष पारिस्थितिकी में कार्य करना पड़ता है। जो संगठन अपने आस-पास के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक

सन्दर्भों के विपरीत व्यवहार करता है अथवा कोई निर्णय ऐसा लिया गया हो, जो इन बाह्य कारकों की विपरीत प्रकृति का हो, तो निस्संदेह वह निर्णय, एक अच्छा निर्णय नहीं कहला सकता है।

8. **तार्किकता:** संगठन में जो भी निर्णय लिया जाता है, उसे औचित्यपूर्ण होना चाहिए, क्योंकि इसी से निर्णयन की वैज्ञानिक प्रकृति सिद्ध हो सकती है। बिना किसी तार्किक आधार के लिया गया निर्णय न तो क्रियान्वयन करने वालों के गले उतर सकता है और न ही निर्णयकर्ता स्वयं उससे संतुष्टि अनुभव कर सकता है। तार्किकता या बुद्धिमतापूर्ण निर्णयों में व्यक्तिगत इच्छाएँ, भावनाएँ, मूल्य तथा अभिमत के स्थान पर तथ्यों तथा तटस्थता का समावेश अधिक रहता है, अतः इस प्रकार के निर्णय स्वीकार्य होते हैं।

9. **गतिशीलता:** परिवर्तन एक आवश्यक तथा स्वाभाविक प्रक्रिया है, अतः संगठन के आन्तरिक तथा बाह्य वातावरण तथा संरचना में आने वाले परिवर्तनो या सुधारों के अनुरूप निर्णयन भी गतिशीलता से युक्त होना चाहिए। पूर्व में लिए गए निर्णय, निस्संदेह आज के निर्णयों के लिए आधार बनते हैं, किन्तु यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि संगठन के उद्देश्य, कार्यकरण, संस्कृति, कार्मिक संघों, सेवाशर्तों, उपभोक्ताओं, तकनीक तथा संसाधनों के सम्बन्ध में आए परिवर्तन सम्बन्धित निर्णय से संगत हों। दूसरे शब्दों में कहें तो परिस्थितियां बदलने पर निर्णयन भी बदलना उपयुक्त रहता है।

10. **प्रतिक्रियाओं का पूर्वानुमान:** संगठन में चाहे किसी भी स्तर पर तथा किसी भी व्यक्ति द्वारा निर्णय लिया जाए, उस निर्णय पर अन्य व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएँ अवश्य होती हैं, क्योंकि संगठनात्मक निर्णयों की प्रकृति 'सामूहिकता' को प्रभावित करती है। एक अच्छे निर्णय में उन प्रतिक्रियाओं का पूर्वानुमान लगा लेना चाहिए जो सम्भावित रूप में निर्णयन के पश्चात् सामने आ सकती हैं। इस पूर्वानुमान के द्वारा प्रतिक्रियाओं का उत्तर देना तो सरल हो ही जाता है, साथ में निर्णयन के समय, श्रेष्ठ विकल्प का चयन भी आसान हो जाता है।

11. **स्वहित (संगठन) पर बल:** प्रशासनिक संगठनों में लिए जाने वाले निर्णयों में संगठन के मूल लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को केन्द्र बिन्दु मानना चाहिए। संगठन के हितों की रक्षा करने वाले निर्णय न केवल उपयोगी सिद्ध होते हैं बल्कि इससे निर्णयकर्ता को भी संतुष्टि मिलती है। व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति कई प्रकार की प्रेरणाओं तथा लालसाओं से अभिभूत होकर निर्णय लेता है, किन्तु संगठनात्मक या प्रशासनिक मानव को संगठन के हितों के साथ अपने हितों का सामंजस्य बैठा कर निर्णय लेना चाहिए।

12. **सीमाओ का ज्ञान:** किसी भी प्रशासनिक संगठन के पास उपलब्ध संसाधनों की एक निश्चित सीमा होती है, अतः निर्णय लेते समय यह ध्यान रहना चाहिए कि संगठन के पास संसाधनों की उपलब्धता कितनी है। साथ ही उस निर्णय को क्रियान्वित करने या उस निर्णय से प्रभावित होने वाले दोनों संतुष्ट हो जाएँ, यह भी सहज नहीं है। अतः यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि कोई भी निर्णय अपने आप में सम्पूर्ण, विशुद्ध तथा सर्वस्वीकार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि निर्णय करने वाले व्यक्ति, संगठन, विधि तथा परिस्थितियाँ बहुत-सी सीमाओं से आबद्ध रहती हैं।

उपर्युक्त वर्णित निर्णयन के आधार तथा सिद्धान्त किसी पूर्णता के परिचायक नहीं हैं बल्कि यह केवल अच्छे निर्णय के लिए कुछ मूलभूत बिन्दु भर हैं। निर्णयन को समय, स्थान, परिस्थितियां तथा अन्य कई कारक प्रभावित करते हैं।

निर्णयन में बाधाएँ
(Obstacles in Decision-making)

प्रशासनिक संगठनों में निर्णयों को विवेकशील बनाने तथा व्यावहारिक रूप में क्रियान्वित करने के सम्बन्ध में असंख्य समस्याएं तथा बाधाएँ विद्यमान हैं। प्रो. मार्च ने निर्णयन के सम्बन्ध में तीन समस्याओं की व्याख्या की है जो एक प्रबंधक के सामने उपस्थित रहती है:

1. बहुत सी समस्याओं या प्रकरणों मे से वह पहले किसे निपटाए?
2. किसी समस्या की अनिश्चितता को समाप्त करने के लिए कितना प्रयत्न, समय और धन लगाए?
3. समस्या के समाधान के लिए वह किस विकल्प को अपनाए?

निर्णयन की अन्य बाधाएँ इस प्रकार हैं:

1. **निर्णयन तंत्र की सीमाः** संगठनात्मक स्तर पर प्रवर्तित निर्णय प्रक्रिया की व्यवस्था में भी अनेक प्रकार के दोष व्याप्त रहते हैं। किस अधिकारी को कितनी सत्ता तथा अधिकार दिए जाएं तथा उसी के अनुरूप उत्तरदायित्व निर्धरित किए जाएं, इत्यादि का निर्धारण, संगठन में सरलता से नहीं हो पाता हैं कुछ व्यक्तियों के पास कार्य का बोझ रहता है तो दूसरी ओर कुछ व्यक्ति तुलनात्मक रूप से अधिक आराम करते हैं। विडम्बना यह है कि नाकारा व्यक्ति के बजाएँ कर्मठ व्यक्ति के पास कार्य बोझ अधिक बढ़ाया जाता रहता है। एक कहावत हैः ''पत्थर उसी पेड़ पर फेंके जाते हैं जिस पर फल लगते हैं।'' इसी प्रकार संगठन की पदसोपान, नियंत्रण, आदेश की एकता, संचार एवं समन्वय प्रणाली तथा प्रत्यायोजन इत्यादि निर्णयन में सहायक तकनीक होते हुए भी कई बार बाधा उत्पन्न करते हैं। लोक प्रशासन में निर्णयन तंत्र को प्रभावित करने वाले कारकों में सत्ता, वित्त, मापदण्ड, समय, कानून, मूल्य तथा नियंत्रण इत्यादि की सीमाएं एवं राजनीतिक दल, दबाव समूह, सामाजिक परिवेश अर्थव्यवस्था, भौगोलिक परिस्थितियाँ, सांस्कृतिक प्रतिमान तथा राजनीतिक निर्णयों की प्रकृति निर्णायक भूमिका निभाती है। निर्णय के लिए आवश्यक विकल्पों का न मिलना या बाध्यताआं का घेरा अथवा सूचनाओं (तथ्यों) की कमी भी इस प्रक्रिया को बाधित करती है।

2. **मानव व्यवहार की सीमाएँः** निर्णयन वास्तविक रूप में मानव व्यवहार का मूर्त्तरूप होता है, जो अन्य किसी के व्यवहार को प्रभावित करता हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक पारिवारिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक प ष्ठभूमि होती है, जिसके अनुरूप व्यक्ति के विचार, मूल्य एवं संस्कार पल्लवित होते हैं। आयु, जाति, धर्म, नस्ल, लिंग, भाषा, देश, काल बुद्धि तथा चरित्र निर्णयन को व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं। इस संसार में न तो दो व्यक्ति एक समान हो सकते हैं और न ही मानव व्यवहार की गुत्थी सुलझायी जा सकती है। वास्तविकता यह है कि मानव अपनी कुल मानसिक क्षमताओं में से मात्र 20-25 प्रतिशत भाग को ही पहचानता है एवं उपयोग में ला पाता है। शेष तीन चौथाई क्षमताएं अप्रकट रूप में ही विद्यमान रहती हैं। कटु यथार्थ यही है कि व्यक्ति वैसा ही होता है जैसा वह सोचता है, लेकिन दिखावा कुछ और करता है। वास्तविकता तथा दिखावा के मध्य व्याप्त दूरी अंततः समाज एवं संगठन के लिए घातक सिद्ध होती है।

3. **अभिनति (Bi1ses) की समस्याः** अभिनति या बायस का अर्थ हैः कुछ तिरछा या एक ओर झुका हुआ। जब किसी व्यक्ति का मत या विचार सशक्त ढंग एवं पक्षपातपूर्ण रूप में एक ओर झुके हुए प्रतीत हों, तो इसे अभिनति कहा जाता है। कई बार यह झुकाव जानबूझकर तो कई बार अनजाने में ही अभिनति का शिकार रहता है। अभिनति के कारण निर्णयन में विवेकशीलता का समावेश कठिन हो जाता है। अभिनति की समस्या वंश, परिवार, जाति, भाषा, क्षेत्र, लिंग, आयु, धर्म से लेकर शिक्षा एवं अनौपचारिक समूहों तक किसी के भी प्रभाव के कारण आ सकती है। निर्णयन में अभिनति का क्या प्रभाव दिखाई देता है। इसे स्पष्ट करते हुए मैक्स एच. बैजरमैन ने तीन उदाहरण प्रश्नों के रूप में रखे हैं[9]

1. अंग्रेजी भाषा में 'R' से शुरू होने वाले शब्द अधिक हैं या ऐसे शब्द अधिक हैं जिनमें 'R' तीसरे स्थान पर आता है (जैसे Car, Cure, Sure)?

2. एक दिन एक शहर के बड़े अस्पताल में आठ बच्चों का जन्म हुआ। यदि लड़के के लिए '2' कोड तथा लड़की के लिए 'G' कोड हो तो बच्चों के जन्म (लड़के तथा लड़कियों) का क्रम क्या रहा होगा?

   (अ) 2222 2222 (ब) 2222 GGGG (स) 2G 22 GG G2

   एक कम्प्यूटर संस्थान में एक योग्य, प्रतिभावान तथा चार वर्ष कार्य का अनुभव रखने वाले इंजीनियर को नौकरी दी गई। उस संस्थान के एक स्टाफ सहायक ने अनुमान लगाया कि एक प्रतिभावान कम्प्यूटर इंजीनियर को प्रतिमाह 50 हजार रुपए वेतन के मिलने चाहिए। आपका क्या अनुमान है?

   प्रथम उदाहरण का उत्तर सामान्यतः यह दिया जाएगा कि 'R' नाम से शुरू होने वाले शब्द अधिक हैं जबकि सत्य यह है कि तीसरे नम्बर पर 'R' के शब्द अंग्रेजी में अधिक हैं। यह उपलब्धता आधारित व्याख्या (Availability Heuristicc) है, क्योंकि हम दैनन्दिन रूप में यह अधिक ध्यान रखते हैं कि 'R' नाम से शुरू शब्द कितने हैं न कि 'R' किसी शब्द में किस स्थान पर आता है। दूसरे उदाहरण का कोई वास्तविक उत्तर नहीं है फिर भी अधिकांश लोग ''स'' तीसरे विकल्प को बताएँगे। ऐसा इसलिए कि हम मान कर चलते हैं कि लगातार लड़के या लगातार लड़कियाँ पैदा नहीं होती हैं बल्कि निदर्शन स्वरूप में जन्म होता है। वास्तव में उत्तर तो तीनों ही ठीक हो सकते हैं, लेकिन हम

अभिनति से ग्रस्त रहते हैं। इसे प्रतिनिध्यात्मक व्याख्या (Representativeness Heuristic) कहा गया है। तीसरा उदाहरण आधारात्मक एवं समायोजन व्याख्या (Achoring & Adjustment Heuristic) का है। अधिकांश व्यक्ति इंजीनिर के वेतन का अनुमान 50 हजार रुपए के आस-पास (कम या अधिक) का लगाएंगे, क्योंकि प्रश्न में 50 हजार एक आधार है। यदि यही राशि 20 हजार रुपए बताई जाती तो लोग 20 हजार के आसपास का उत्तर देते अर्थात् हमारे कुछ विचार दूसरे के विचार या आधार पर समायोजित (निश्चित) हो जाते हैं। जहां तक पूर्वाग्रह (Prejudice) का प्रश्न है, वह भ्रान्त धारणाओं या नापसंदगी पर आधारित विचारों का पर्याय है। पूर्वाग्रह के कारण भी प्रायः निर्णयन प्रभावित होते रहते हैं।

प्रशासनिक संगठनों में अभिनति का सर्वाधिक दुष्प्रभाव वहाँ पड़ता है जहां अधिकारी के पास स्वविवेकीय शक्तियां हों; परम्पराएं या नियम या प्रक्रियाएं निश्चित न हों; समाज से सम्बन्धित सीधी सेवाएं देनी हों; एक वर्ग का समूह का लाभ हेतु चयन करना हो तथा कार्मिक का चयन, पदोन्नति या निष्कासन करना हो। ऐसी परिस्थितियों में निर्णय लेते समय व्यक्ति अनजाने में ही अभिनति का शिकार हो जाता है।

4. **दिनचर्या की समस्याः** प्रो. मार्च एवं साइमन का मानना है कि दैनिक कार्यप्रणाली तथा समस्याएं कई बार व्यक्ति पर इतनी हावी हो जाती हैं कि वह महत्वपूर्ण, दीर्घकालीन तथा तात्कालिक महत्व के निर्णयों को भी टालता रहता है। कारनेगी इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी में शोध कार्य करने के पश्चात् प्रो. मार्च ने इस स्थिति को ''योजना सम्बन्धी नियम'' (Gresh1m's Law of P1anning) करार दिया है। अधिकांश प्रबन्धकों का समय घर एवं कार्यालय में रोजमर्रा के कार्यों के निष्पादन में ही व्यतीत हो जाता है अर्थात् रोजमर्रा के इन कार्यों में वास्तविक, दूरगामी तथा महत्वपूर्ण निर्णयन बहुत कम हो पाते हैं। केवल पत्रों के उत्तर देना, फाइलों पर टिप्पणी लिखना या अधीनस्थों को निर्देश देने में ही यदि सारा दिन व्यतीत हो जाए तो निर्णयों के लिए समय कैसे दिया जा सकता है? समय की सीमा या गति निश्चित होती है, किन्तु संगठन में कार्य का बोझ अनिश्चित होता है।

5. **अन्य समस्याएं:** निर्णयन के क्रम में प्रायः प्रबंधक यह निर्धारित नहीं कर पाते हैं कि कौन सी समस्या पहले सुलझाई जाए? इसी प्रकार ठीक निर्णय क्या है, इसका निर्णय करना भी टेढ़ी खीर सिद्ध होता है। प्रत्येक संगठन में तथ्यों, सूचनाओं, आँकड़ों का एकत्रण तथा संग्रहण की अपनी सीमाएँ होती हैं। कई बार समस्या अपने आप में इतनी जटिल, अस्पष्ट या बहुआयामी होती है कि उसका ओर-छोर ढूंढना मुश्किल हो जाता है। लोक प्रशासन में राजनीतिक हस्तक्षेप तथा संसाधनों की कमी भी निर्णयन को प्रायः प्रभावित करती रही है।

निर्णयन के आधार तथा विचारणीय तत्वों के क्रम में सेक्लर-हडसन ने 12 तत्व गिनाए हैं। इन तत्वों की अवहेलना होने पर भी निर्णयन प्रभावित होता है। ये तत्व हैं।

1. कानूनी सीमाएं
2. बजट
3. लोकाचार
4. तथ्य
5. इतिहास
6. मनोबल
7. अनुमानित भविष्य
8. उच्चाधिकारी
9. दबाव समूह
10. स्टाफ सदस्य
11. कार्यक्रम की प्रकृति
12. अधीनस्थ कार्मिक

मिलेट ने निर्णय-प्रक्रिया के तीन पक्षों को बहुत ही विचारणीय ढंग से सामने रखा है:

1. व्यक्तिगत अंतर जो कुछ को निर्णायक तथा दूसरों को अनिर्णायक बनाता है अर्थात् कुछ लोग निर्णय देरी से करते हैं, कुछ अस्थायी निर्णय करते हैं, तो कुछ पीछा छुड़ाना चाहते हैं। कई लोग अपने ही निर्णयों पर द ढ़ नहीं रहते हैं, तो कुछ जानबूझकर निर्णयों में कमी छोड़ देते हैं ताकि स्वयं बचकर निकल सकें। सामाजिक, शैक्षिक तथा व्यावसायिक प ष्ठभूमि भी निर्णयन को प्रभावित करती हैं वकीलों के बजाए न्यायाधीश अधिक निर्णयात्मक प्रव त्ति के माने जाते हैं तो दूसरी ओर विषय विशेषज्ञ या बुद्धिजीवी प्रायः अधिक ज्ञान के कारण भ्रमित रहते हैं एवं सार्थक निर्णय नहीं कर पाते हैं। नेत त्व करने तथा लोगों का विश्वास जीतने में भी बुद्धिजीवी प्रायः असफल रहते हैं।
2. निर्णय करने में ज्ञान का महत्व अर्थात् निर्णयन के लिए मूलभूत ज्ञान, कौशल तथा सूचना आवश्यक है। इसका अभाव अच्छे निर्णयन को प्रभावित करता है। मिलेट के शब्दों में - ''विस्त त तथ्यों का सावधानी से एकत्रण, उनका विश्लेषण तथा व्याख्या, भावी प्रभावों का पूर्वानुमान, मानवीय तथा भौतिक आचरण की सामान्य अवधारणाओं का प्रयोग ऐसे तत्व हैं, जो निर्णय लेने में ज्ञान का प्रयोग करते समय भिन्न भिन्न मात्रा में प्रभाव दिखाते हैं।''
3. निर्णय में प्रतिबंध लगाने वाली व्यक्तिगत तथा संस्थागत सीमाओं को वर्णित करते हुए मिलेट कहते हैं कि ''एक ओर निर्णयन में उच्च आकांक्षाओं, परम्पराओं तथा कार्य को सम्पन्न करने वाले संगठन के द ष्टिकोण को समझना आवश्यक है, तो दूसरी ओर प्रशासकों में निहित व्यक्तिगत रुचि एवं भावना को सीमित कर देती है।''

समाधान

(Solutions)

टैरी ने निर्णयन को सफल बनाने के लिए कुछ सुझाव दिए हैं:

1. सर्वप्रथम समस्या को वास्तविक रूप में पहचानें;
2. समस्या की सामान्य प ष्ठभूमि से सम्बन्धित सूचनाएँ एवं द ष्टिकोण एकत्र करें;
3. कार्य-साधन के सर्वोत्तम मार्ग को बनाएँ;
4. नियोजन तथा कामचलाऊ निर्णय निश्चित करने का प्रयास करें;
5. इस कामचलाऊ निर्णय का मूल्यांकन करें;
6. इस चरण में वास्तविक या स्थायी निर्णय करें तथा उसे क्रियान्वित करें; तथा
7. प्राप्त परिणामों के आधार पर भावी कदम निश्चित करें और यदि आवश्यक हो, तो निर्णय में संशोधन कर लें।

निर्णयन को प्रभावी तथा लोकप्रिय बनाने के लिए यह सुझाव भी दिया जाता है कि यह लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर आधारित होना चाहिए। प्राचीन एवं मध्यकाल में निर्णयन का कार्य शासन के शीर्ष स्तर पर ही होता था तथा शेष सभी उसका क्रियान्वयन करते थे, किन्तु 20 वीं सदी में औद्योगिक विकास के साथ-साथ लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार से निर्णयन मे अधीनस्थों की सहभागिता भी बढ़ी हैं साइमन की मान्यता थी कि एक व्यक्ति का निर्णय पूर्णतया बौद्धिकतायुक्त नहीं कहा जा सकता है। सेक्लर-हडसन, गोरे एवं डाइसन तथा टैनिनबाम एवं मासारिक इत्यादि विद्वान् सहभागी निर्णयन को आवश्यक मानते हैं, क्योंकि इसके कई लाभ हैं जैसे अधीनस्थों की रुचि बढ़ती है; संगठन मे उदासीनता का वातावरण समाप्त होता है; पर्थवेक्षण एवं प्रत्यायोजन कार्य सरल हो जाता है; संगठन में शांति एवं मनोबल को बढ़ावा मिलता है; अधीनस्थों में पहल क्षमता का विकास होता है तथा उच्चाधिकारियों को निम्न स्तरीय कार्मिकों या कार्य के निष्पादन की वास्तविक समस्याओं का पता चलता है। विकेन्द्रीकरण, प्रत्यायोजन, अभिप्रेरणा, मनोबल तथा संगठनात्मक प्रभावशीलता के लक्ष्य करने में भी निर्णयन की लोकतांत्रिक प्रक्रिया सहायक सिद्ध होती है। संगठन में लोकतांत्रिक निर्णयन को बढ़ावा देने के लिए कुछ सुधारात्मक प्रयास आवश्यक हैं। जापान में सहभागिता पर आधारित निर्णयन का बहुत प्रचलन है। प्रत्येक स्थिति में प्रजातांत्रिक निर्णयन सम्भव भी नहीं है, क्योंकि कुछ निर्णय आपातकालीन एवं गम्भीर प्रकृति के होते हैं, जबकि अधीनस्थों का सहयोग घातक भी सिद्ध हो सकता है, लेकिन इस प्रक्रिया का पालन लाभदायक अधिक है।

हर्बर्ट साइमन का निर्णयन में योगदान

हर्बर्ट ए. साइमन का जन्म 1916 ई० में विसकोन्सीन में हुआ। वे एक श्रेष्ठ अमेरीकन राजनीतिक तथा समाजशास्त्रीय विद्वान हैं। उन्होंने शिकागो विश्वविद्यालय से राजनीति शास्त्र में पी.एच.डी. किया। अपने जीवन की शुरूआत म्युनीसीपल गर्वमेंट से की। वे समाज विज्ञान रिसर्च कोंसिल (Social Science Research Council) तथा न्यूक्लियर साइन्स और इन्जीनियरिंग कॉरपोरेशन (Nuclear Science and Engineering Corporation) के निदेशक भी थे। बाद में वे पीट्सबर्ग के कार्नेगी-मेलोन विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान तथा कम्प्यूटर विज्ञान के प्रोफेसर के रूप में नियुक्त किए गए।

साइमन ने विभिन्न प्रशासनिक विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनका अनुवाद विभिन्न भाषाओं में भी किया गया है। उनकी कुछ मौलिक रचनाएं Administrative Behaviour (1947) Fundamental Research in Administrative (1953) Organisations (1958). The New Science of Management Decision (1969) तथा Human Problem solving (1972). है। इसका सन् 1957 ई. में प्रकाशित द्वितीय संस्करण अधिक उपयोगी है। साइमन को 1978 ई. में नोबेल पुरस्कार द्वारा पुरस्कृत किया गया।

'प्रशासनिक व्यवहार' नामक पुस्तक में साइमन ने शास्त्रीय विचारधारा के प्रतिपादक कर्नल डर्विल के विचारों का विस्तारपूर्वक खंडन किया है। 'प्रशासनिक व्यवहार' पुस्तक का उपशीर्षक है- ''प्रशासकीय संगठनों मे निर्णयन प्रक्रियाओं का अध्ययन'' (A study of decision-making processes in Administrative organisation). उसने चेस्टर बनार्ड से प्रेरणा ग्रहण करते हुए, प्रशासनिक संगठनों का व्यवहारपरक या व्यवहारवादी अध्ययन कि। अपने व्यवहारवादी अध्ययनों के आधार पर साइमन ने बताया है कि निर्णयन या निर्णय-निर्माण (Decision-making) प्रशासनिक संगठनों का हृदय है। निर्णयन संगठनों का आधारभूत संयंत्र है, और उसका अध्ययन किया जाना चाहिए। समस्त कार्यों को करने से पूर्व 'चयन' किया जाता है।

अतः प्रशासन एवं प्रबन्ध क्षेत्र में हर्बर्ट ए. साइमन के योगदान को एक महान युगान्तर माना जाता है। वास्तव में, वह परम्परागत अथवा शास्त्रीय सिद्धांतों के औपचारिक मशीनी पदसोपान प्रधान या रूपात्मक युग को आधुनिक युग में लाने हेतु मुख्य द्वार है। वह लोकप्रशासन एवं प्रबंध के विकास को नवशास्त्रीय अथवा मानव संबंधवादी युग से आगे ले जाता है। उसे लोक प्रशासन के विषय को 'विज्ञान' बनाने का श्रेय दिया जा सकता है। लोक प्रशासन के क्षेत्र में व्यवहारवाद एवं अनुभववाद का उसे प्रमुख प्रवक्ता या प्रयोक्ता माना जाता है। वह एक ऐसे आंदोलन का प्रणेता है, जिसे 'ज्यूडिश शक्लर' ने 'निर्णयवाद' या 'विनिश्चयवाद' कहा है।

साइमन का निर्णय प्रक्रिया मॉडल
(Simon's Decision Making Model)

हर्बर्ट साइमन प्रशासनिक प्रक्रियाओं को निर्णयात्मक प्रक्रिया मानते हैं। साइमन की यह मान्यता रही है कि संगठन की संरचना और कार्य की विशेषताएँ मानवीय समस्या निवारण प्रक्रियाओं तथा बौद्धिक मानवीय चुनाव के लक्षणों से ग्रहण की जाती है।

जब यह कहा जाता है कि निर्णय लिया गया तो इसका अर्थ यह होता है कि एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरते हुए यह तयकर लिया गया कि क्या किया जाए। इस द ष्टि से निर्णय लेने पर निर्णय प्रक्रिया का स्थान विशेष होता है। वह एक घटना भी है और निरन्तरता के लिए निर्मित हुई प्रक्रिया भी। उसे एक निष्कर्ष भी कहा जा सकता है किन्तु वह एक ऐसा निष्कर्ष होता है जिससे भावी निष्कर्ष या निर्णय भी निकलते हैं। यदि इन निर्णयों के आधारों से संबद्ध अज्ञात निर्णयों का पूर्वकथन किया जा सकता हैं निर्णय को हम पूर्व विचारों या आधारों से निकाले गए निष्कर्ष मान सकते हैं। निष्कर्ष बड़े निर्णयों में लिए पूर्व विचार या पूर्व आधार बन जाते हैं।

मूल्य दो प्रकार के होते हैं (1) अन्तिम या परम मूल्य (2) इन्हें प्राप्त करने वाले साधनात्मक या उपकरणात्मक मूल्य। इन्हें अर्न्तवर्ती या मध्यस्थ मूल्य भी कहा जाता है। परममूल्य मानवीय इच्छा, संकल्प या आत्मगत अथवा अबौद्धिक भावनाओं से प्राप्त होते हैं। प्रशासन को ये राजनीतिज्ञों, नीति निर्माताओं, संविधान विधान मंडलों या मुख्य कार्यपालकों से प्राप्त होते हैं। प्रशासकीय संगठनों के लिए वे निर्दिष्ट या प्रदत्त होते हैं। प्रशासकीय संगठनों का संबंध अंर्तवर्ती अथवा उपकरणात्मक मूल्यों से होता है। उपकरणात्मक मूल्यों का उनके वस्तुगत् परिणामों के संदर्भ में विश्लेषण किया जा सकता है। प्रशासन के सम्मुख जो विभिन्न प्रकार के विकल्प आते हैं; उन पर वह सम्भावित परिणामों को सामने रखकर तुलना कर सकता है। वह अपने

लिए कामचलाऊ या पर्याप्त रूप से अच्छे विकल्प को चुन लेता है। विकल्प का यह चयन 'निर्णय' बन जाता है। इस निर्णय को पुनः उपकरणात्मक मूल्य मानकर अगले निर्णय या निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इससे 'मूल्य साधन' अथवा 'मूल्य-तथ्य' की निरन्तरता का तारतम्य बंध जाता है। इन सभी उपकरणात्मक मूल्यों को तथ्य या आंकड़े मानकर परिणामों की द ष्टि से वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है। ऐसे विश्लेषण से निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, उन निष्कर्षों से सिद्धांत प्राप्त करने की दशा में ठोस प्रयास किए जा सकते हैं। किन्तु प्रशासनिक निर्णय की प्रक्रिया कभी भी पूर्णतः 'बौद्धिक' नहीं होती और उसमें सदैव कुछ न कुछ नैतिक, भावनात्मक अथवा मूल्यात्मक तथ्यों का समावेश बना रहता है।

व्यापकता लिए हुए निर्णय प्रायः उच्च स्तर पर लिए जाते हैं। प्रायः उनका संबंध संगठन के उद्देश्यों, नीतियों से होता है। निर्णय जितना अधिक व्यापक होगा, उतना ही मूल्यों की ओर झुका हुआ होगा। किन्तु उसकी व्यावहारिक उपयोगिता एवं लोकप्रियता इस बात पर निर्भर होगी कि वह कहां तक तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। प्रशासकीय निर्णय व्यक्तिगत निर्णयों की अपेक्षा अधिक बौद्धिकता लिए हुए होते हैं। उनके परिणाम दूरगामी, अच्छे या बुरे हो सकते हैं। अतः उनको अधिकाधिक मात्रा में वैज्ञानिक निर्णयों पर आधारित किया जाना चाहिए। संगठनात्मक द ष्टि से संगठन का निर्णयन यंत्र जिस प्रकार का तंत्र स्थापित कर देता है, वह निर्णय प्रक्रिया की वैज्ञानिकता एवं निर्णयों की गुणात्मकता को गंभीर रूप से प्रभावित करता है। उस यंत्र के माध्यम से संगठन के अधिकारीगण निर्णय लेते रहते हैं। संगठन में कुछ निर्दिष्ट तत्व या कारण होते हैं। साथ ही, नीतियों और नेत त्व के रूप में कुछ 'चाहिए' भी होते हैं। इन निर्दिष्टों एवं 'चाहिए' में तारतम्य बैठाना पड़ता है। संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए इस तारतम्य या तालमेल बैठाने की प्रक्रिया को निर्णयन कहा जाता है।

साइमन के अनुसार निर्णयन-प्रक्रिया के तीन चरण या अवस्थाएं होती हैं:

(i) **अन्वेषण कार्य** (Intelligence activity)

(ii) **स्वरूप निर्धारण** (Designing activity)

(iii) **विकल्पों का चयन** (Choice activity)

निर्णयन प्रक्रिया का प्रथम चरण अन्वेषण कार्य कहलाता है। इसे आवश्यक मूल्यांकन भी कहा जा सकता है। समस्या को पहचानने तथा समझने के लिए यह आवश्यक है कि जिस समस्या पर निर्णय लेना है उसे अनुसंधानात्मक द ष्टि से देखा जाए। इस स्तर पर आवश्यक है कि भूतकालीन अनुभव के आधार पर समस्या की समग्रता को ध्यान में रखा जाए, तथा वर्तमान के संदर्भ में भविष्य की तस्वीर खड़ी की जाए।

इस चरण मे निम्न उपकरण हो सकते हैं।

1. इस अवस्था में उत्पन्न समस्या के क्षेत्र, स्तर और प्रकृति को पहचाना एवं समझा जाता है। सबसे पहले यही जानना महत्वपूर्ण है कि समस्या है अथवा नहीं है। यह आवश्यक होता है कि समस्या के क्षेत्र स्तर और प्रकृति को निष्पक्षता या निरपेक्षता के साथ पहचाना जाए। प्रशासन की जटिल दुनिया में यह कार्य इतना सरल नहीं होता, जितना कि साधारणतया समझा जाता है। संगठन में विभिन्न समस्याएं एक दूसरे के साथ संबंधित एवं उलझी हुई होती हैं। उन्हें यदि संपूर्णता के परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा गया, तो उन्हें समझने में भूल हो सकती है।
2. फिर उस समस्या के पूर्व इतिहास को देखा जाता है। ऐसी कितनी ही समस्याएं होती हैं जो अपने पूर्व निर्णयों और निष्कर्षों से जन्म लेती है। उनका इतिहास उनसे संबंधित स्थितियों के पूर्व अनुभव तथा स्थिति के निरंतर विकास एवं बदलती हुई स्थिति को समझने में सहायता करता है।
3. साथ ही उस समस्या से उत्पन्न स्थिति का अवलोकन एवं सर्वेक्षण किया जाना चाहिए। ऐसा सर्वेक्षण निर्णयकर्ता को इस द ष्टि से सहायता देता है कि वह यह समझ सके कि स्थिति किस प्रकार की है। स्थिति को वैचारिक रूप से समझते समय संगठन के मूल्यों, उद्देश्यों और नीतियों का ज्ञान हो जाता है। इससे स्थिति की अस्पष्टता समाप्त हो जाती है और उसका सही रूप सामने आ जाता है।

   अगला कदम समस्या की भावी दिशाओं और नए क्षितिजों का अन्वेषण कहा जा सकता है। ऐसा करते समय

निर्णयकर्ता स्थिति का विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है और उसमें स्वयं सक्रिय रूचि एवं भाग लेने लगता है।

स्वरूप निर्धारण
(Designing Activity)

निर्णय प्रक्रिया के दूसरे चरण को साइमन अभिकल्पना या स्वरूप निर्धारण कहता है। इसे तथ्यों की खोज एवं खोज की कसौटी कहा जा सकता है। इसमें दो उपचरण हैः

1. तथ्यों को संगतिपूर्ण ढंग से समस्या के वातावरण से चुनना।
2. तथ्यों का मूल्याकंन करना।

तत्यों का मूल्यांकन करते समय किसी भी निर्णयकर्ता के लिए यह भी आवश्यक है कि तथ्य-संग्रह की समस्त विशेषताएं निम्न संदर्भ में देखे।

1. क्या तथ्यों में परस्पर सामंजस्य है?
2. क्या तथ्य किसी सीमा तक गलत भी हो सकते हैं?

तथ्यों का मूल्यांकन निर्णयकर्ता की स्थिति को समझने की क्षमता, समस्या के आकार तथा संगठन की नीतियों के संदर्भ में किया जा रहा है। इस दौरान समाधान के कुछ विकल्प भी सामने आते हैं। कुछ विकल्प तो ऐसे होते हैं जिन्हें सहज, तर्कपूर्ण और अवश्यभावी माना जाता है। कुछ विकल्प इस प्रकार के होते हैं जिनके विषय में तर्क-वितर्क करना पड़ता है। तदन्तर वे संभावना के रूप में प्रकट होते हैं। कतिपय विकल्प प्रछन्न होते हैं जिनकी संभावना कुछ कठिन एवं दूरगामी आशंकाओ पर आधारित होती है।

निर्णयन प्रक्रिया का यह चरण इस द ष्टि से निर्णायक है कि इस स्तर पर पहुँचते-पहुँचते निर्णयक्रम एक ऐसा मोड़ ले लेता है कि निर्णयकर्ता का विवेक क्षेत्र सीमित, निश्चित एवं तुलनात्मक बन जाता है।

विकल्पों का चयन
(Choice Activity)

इस चरण में विभिन्न विकल्पों में से एक विकल्प का चयन किया जाता है। निर्णयकर्ता विकल्पों का इस प्रकार श्रेणीयन करते हैं कि सर्वोत्तम विकल्प उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता के अनुसार चुना जा सके। एक सर्वोत्तम विकल्प का चयन करने क लिए निम्नलिखित कार्य अपेक्षित हैंः

(1) अधिकतम लाभों और कम दोषों वाले विकल्प का चयन करना चाहिए।

(2) विकल्प दीर्घकाल तक प्रभावी रहने वाला होना चाहिए।

(3) विकल्प चयन करते समय संस्था में उपलब्ध साधनों को भी द ष्टिगत करना चाहिए।

(4) विकल्प ऐसा होना चाहिए जो न्यूनतम प्रयासों पर अधिकतम लाभों की उपलब्धि करा सके।

अतः निर्णय लेते समय प्रबन्धकों या प्रशासकों को अपने अनुभव , परीक्षण, अन्तर्ज्ञान आदि तकनीकों को काम में लेना चाहिए। जब एक संगठन का अघ्यक्ष निर्णय की प्रक्रिया के इन सभी सोपानों से परिचित रहता है तो भूल की गुंजाइश कम हो जाती है। उनके द्वारा लिए गए निर्णय बुद्धिमत्ता पूर्ण और वैज्ञानिक प्रकृति के होते हैं।

तथ्य एवं मूल्य
(Fact and Value)

साइमन ने लोकप्रशासन के क्षेत्र में, विशेषतः निर्णयों के मामलें में तथ्य मूल्य का प थक्करण करके अपार योगदान किया है। इस विषय मे साइमन ने बताया है कि तथ्यात्मक कथन प्रेक्षणीय विश्व के विषय में ऐसे वक्तव्य होते हैं जिनसे पता चलता है कि वह किस प्रकार परिचालित होता है। किन्तु प्रशासनिक निर्णय तथ्यात्मक कथन मात्र नहीं होते। उनमें तथ्य और मूल्य दोनों निहित होते हैं। वह स्पष्ट स्वीकार करता है कि मूल्यों को तथ्यों में नहीं बदला जा सकता। इसी कारण प्रशासकीय निर्णय का विशुद्ध वैज्ञानिक वैज्ञानिक साधनों से मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

निर्णय प्रक्रिया में एक बौद्धिक गतिविधि तथा एक तार्किक मार्ग का अनुसरण करने के साथ-साथ अन्य कई अतार्किक, भावनात्मक एवं रहस्यात्मक तत्व भी होता है। निर्णय प्रक्रिया में तथ्य मूल्य विभाजन का आधार लेकर चलना कठिन है। मूल्य अथवा तथ्य दोनों में से यदि किसी एक पर बल दिया जाएगा तो निर्णय की वैज्ञानिकता नष्ट होने की संभावना रहेगी। निर्णय प्रक्रिया के विभिन्न चरण होते हैं। उन चरणों की विभिन्न क्रियाएं यह दर्शाती हैं कि निर्णयकर्ता एक प्रकार की रणनीति (Strategy) तैयार करता है। प्रथम चरण पर समस्या की माप की जाती है जिसमें मूल्य (values) और तथ्यों (Fact) का स्पष्ट संघर्ष होता हैं। मूल्य वे हैं जो नीति और संगठन के उद्देश्य की व्याख्या के अन्तर्गत निर्णयकर्ता की समझ में आते हैं और तथ्य अनुमानित होते हैं तथा मूल्य आदतों और परम्पराओं से सुद ढ़ होते हैं अतः यह संभव है कि मूल्य तथ्यों को दबा दें।

तथ्यों की खोज में दूसरी समस्या निष्पक्षता की आती है। यह निष्पक्षता निर्णयकर्ता के समक्ष एक चुनौती है। तथ्यों की खोज विभिन्न चरणों में होती है। प्रथम यह है कि संग्रहकर्ता कितना स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं समस्या के समाधान में निष्ठावान है। दूसरे, उसे समस्या के विभिन्न द ष्टिकोणों का कितना ज्ञान है जो तथ्यों से सम्बद्ध है। तीसरे, तथ्यों में कितनी गहराई है कि उन्हें नीति के संदर्भ में देखा जा सके तथा तथ्यों मे ऐसे कितने तथ्य हैं जो नए तथ्यों को पहचानने में सहायक सिद्ध हो सकें। यह समस्त प्रश्न एक निर्णयकर्ता की क्षमता को झकझोरते हैं। यदि निर्णयकर्ता तथ्य खोजने की कला में दक्ष नहीं है तो वह समस्या का समाधान करने के लिए कोई निर्णय नहीं ले पाएगा।

निर्णय प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण अवस्था तथ्य मूल्यांकन की भी होती है। तथ्यों का मूल्यांकन करते समय निर्णयकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि पूर्ण सावधानी बरतने के बाद वह अपने तथ्यों को प्रश्नों के संदर्भ में देखे कि क्या तथ्यों में परस्पर सामन्जस्य है, क्या वे किसी सीमा तक गलत हो सकते हैं क्या व पूर्ण विश्वसनीय हैं तथा क्या उनके आधार पर निर्णय प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जा सकता है। तथ्य मूल्यांकन निर्णयकर्ता की स्थिति समझने की क्षमता, समस्या के आकार तथा नीति संबंधी मूल्यों के संदर्भ में किया जाता है।

निर्णय नियम सापेक्ष होते हुए भी मूल्य निरपेक्ष हो सकते हैं। इनमें तथ्यों की वास्तविकताएं मूल्य की अपेक्षाओं के साथ समझौता कर सकती हैं। इस प्रकार निर्णय प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जा सकता हैं तथ्य मूल्यांकन निर्णयकर्त्र की स्थिति समझने की क्षमता, समस्या के आकार तथा नीति संबंधी मूल्यों के संदर्भ में किया जाता है।

निर्णय नियम सापेक्ष होते हुए भी मूल्य निरपेक्ष हो सकते हैं इनमें तथ्यों की वास्तविकताएं मूल्य की अपेक्षाओं के साथ समझौता कर सकती हैं। इस प्रकार निर्णय प्रक्रिया में तीनो स्तरों पर ही तथ्य मूल्य विभाजन की समस्या का सामना निर्णयकर्ता को करना पड़ता है। यदि वह तथ्य अथवा मूल्य किसी एक के आधार पर निर्णय लेता है तो निर्णय में वैज्ञानिकता का अभाव उत्पन्न हो सकता है। अतः निर्णयकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना निर्णय तथ्यों तथा मूल्यों के संदर्भ में करे।

निर्णयन के प्रतिमान
(Models of Decision-Making)

निर्णयन के सम्बन्ध में मानव-व्यवहार तथा संगठनात्मक परिस्थितियों को आधार बनाकर दो प्रकार के प्रतिमान या प्रारूप प्रचलित हैंः

1. आर्थिक मानव प्रतिमान या पूर्ण विवेकशीलता प्रतिमान
2. प्रशासनिक मानव या सीमित विवेकशीलता प्रतिमान

तीसरा प्रतिमान सामाजिक मानव प्रतिमान है। वस्तुतः हरबर्ट साइमन ने पूर्ण औचित्य या विवेकशीलता पर आधारित प्रतिमान को आर्थिक मानव प्रतिमान नाम दिया है, जिसमें व्यक्ति को आर्थिक मानव के रूप में विवेकी माना गया है। दूसरे छोर पर मनोविज्ञान से लिया गया सामाजिक मानव प्रतिमान है, जो मनोविज्ञानी सिगमंड फ्रायड की इस मान्यता का पोषक है कि व्यक्ति की अपनी भावनाएं, इच्छाएं, मूल्य तथा विचार होते हैं, अतः वह तर्क या विवेक से प्रभावित न होकर केवल इच्छा प्रधान निर्णय लेता है। आर्थिक मानव तथा सामाजिक मानव के बीच वाले व्यवहार को साइमन ने प्रशासनिक मानव या सीमित विवेकशीलता (Bounded Rationality) नाम दिया है।

आर्थिक मानव प्रतिमान

यह प्रतिमान दो मान्यताओं पर आधारित है:

1. कि मनुष्य, आर्थिक रूप से विवेकशील होता है।
2. कि मनुष्य, क्रमबद्ध तरीके से लाभ या उपयोगिता की प्राप्ति के अधिकाधिक प्रयास करता है।

हरबर्ट साइमन ने आर्थिक मानव प्रतिमान के पांच आयाम बताए हैं:

1. इस प्रकार के निर्णय पूर्णतया विवेकयुक्त तथा साधन-साध्य (Means End) सम्बन्ध पर आधारित होते हैं।
2. विकल्पों में से प्राथमिकतानुसार विकल्प चुनने हेतु पूर्ण तथा नियमित व्यवस्था होती है।
3. सभी सम्भावित विकल्पों के प्रति पूर्ण सजगता रहती है।
4. सर्वश्रेष्ठ विकल्प के चयन हेतु गणनाओं की कोई सीमा नहीं होती है।
5. सम्भाव्यता की गण्ना हेतु कोई आशंका या रहस्य नहीं होता है।

अतः आर्थिक मानव, निर्णय लेने के लिए पर्याप्त सूचना एवं तथ्य एकत्र करता है; यह सूचनाएँ स्थायी तौर पर मानसिक स्तर पर एकत्र की जाती हैं; उपलब्ध सूचना तथा जानकारी की कुशलतापूर्वक गणना करके आशातीत मूल्य का ढाँचा बनाया जाता है तथा अन्तिम विकल्प चुनने या निर्णय करने के लिए व्यक्ति परिणामों को एक प्राथमिकता आधारित सूची में रखता है। आर्थिक मानव या पूर्ण विवेकशील प्रतिमान में निर्णय के यह चरण होते हैं:

(i) समस्या या प्रकरण के उद्देश्य या लक्ष्य जानना या समस्या की पहचान करना।

(ii) समस्या को परभिाषित करना या जो लक्ष्य प्राप्त करता है उसे निश्चित करना।

(iii) वैकल्पिक साधनों के मूल्यांकन के लिए प्रमाण विकसित करना।

(iv) समस्त वैकल्पिक कार्यविधियों (Course of Actin) को खोजना।

(v) प्रत्येक विकल्प के सम्भावित परिणामों पर विचार करना।

(vi) प्रत्येक विकल्प के परिणामों को समग्र रूप से जानकर श्रेष्ठ विकल्प चुनना।

(vii) निर्णय को क्रियान्वित करना।

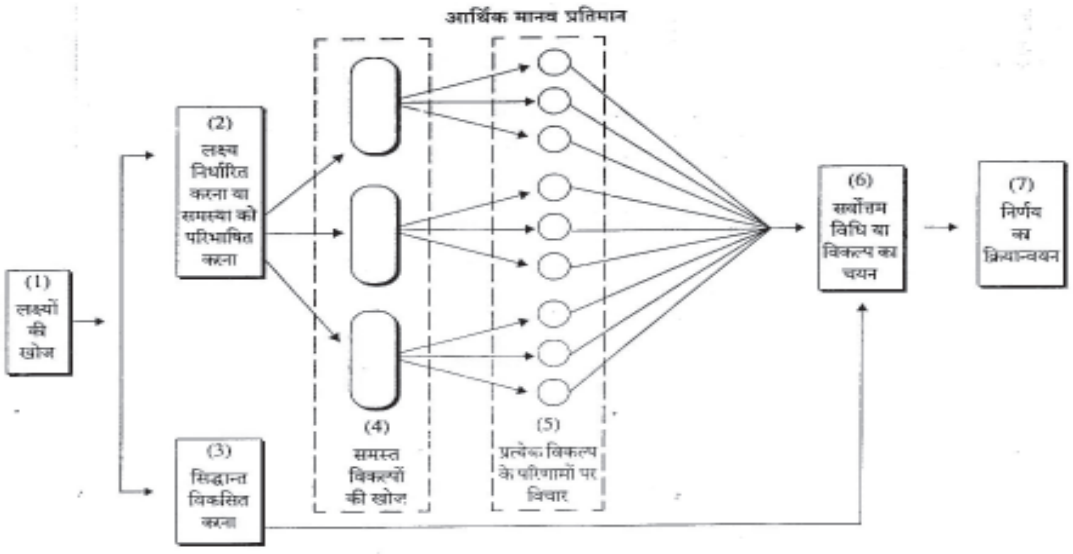

वस्तुतः आर्थिक मान प्रतिमान, ''निर्णय कैसे लेना चाहिए'' का आदर्श रूप तो प्रस्तुत करता है, जो अधिकतम लाभ, उपयोगिता तथा विवेक पर आधारित माना जाता है, किन्तु ''वास्तव में निर्णय कैसे लिए जाते हैं'' का वर्णन नहीं करता है। साइमन के अनुसार मनुष्य के लिए पूर्ण विवेकी होना अनिवार्य नहीं है, अतः आर्थिक मानव के प्रतिमान का व्यावहारिक प्रयोग भी नहीं है।

प्रशासनिक मानव या सीमित विवेकशीलता प्रतिमान

(Administrative Man or Bounded Rationality Model)

यह प्रतिमान मध्यमार्गी है जिसमें व्यक्ति न तो पूर्ण तार्किकता और न ही पूर्ण भावुकता के आधार पर निर्णय लेता है। साइमन के अनुसार जहाँ आर्थिक मानव अधिकतम लाभ के लिए सर्वश्रेष्ठ विकल्प को निर्णय में चुनता है, वहीं प्रशासनिक मानव ऐसे निर्णय को तलाशता है, जो सन्तोषजनक या ठीक-ठाक हो। ऐसे निर्णय व्यक्ति की नजर में ''पर्याप्त रूप से अच्छे'' होते हैं, अतः वह सन्तुष्टिदायक विकल्प चुन लेता है। ऐसा इसलिए होता है कि व्यक्ति क्षमता में अधिक सूचना तथा तथ्यों की आवश्यकता होने के कारण सर्वोत्तम विकल्प तक पहुंचने से पहले ही किसी निम्न स्तर पर निर्णय ले लेता है अर्थात् सीमित विवेकशीलता का प्रयोग किया जाता है। साइमन की द ष्टि में निर्णय में तथ्य (Fact) तथा मूल्य (Value) का समावेश रहता है। 'तथ्य' का आशय वस्तु तथा ''मूल्य'' का आशय पसंद से है। मूल्य वरीयता की अभिव्यक्ति होते हैं, तो तथ्य सच्चाई को प्रकट करते हैं। हरबर्ट साइमन ने प्रशासनिक मानव के निर्णयों के चार आयाम वर्णित किए हैं:

1. प्रशासनिक मानव (व्यक्ति) विभिन्न विकल्पों का चयन करते समय केवल सन्तोषजनक या ठीक-ठाक या पर्याप्त रूप से अच्छे विकल्प से ही संतुष्ट हो जाता है। उसकी नजर में 'उचित कीमत' या ''पर्याप्त लाभ'' इत्यादि मापदण्ड संतुष्टिदायक हैं।
2. प्रशासनिक मानव यह मानकर चलता है कि वास्तविक संसार लगभग रक्ति (विकल्पों से विहीन) है, अतः सरलीकरण के द्वारा संतुष्टि पा लेता है।
3. अधिकतम के बजाय संतोषजनक का चयन प्रशासनिक मानव की विशेषता है, अतः वह सम्भवित विकल्पों का निर्धारण किए बिना ही, संतुष्टिदायक विकल्प चुन लेता है।
4. चूंकि प्रशासनिक मानव संसार को रिक्त मानता है, अतः वह अपने सामान्य ज्ञान, अंगूठा-नियम या व्यापार के दांव-पेचों के अनुरूप निर्णय ले लेता है।
5. प्रशासनिक मानव प्रतिमान या सीमित विवेकशीलता में तीन प्रकार के प्रयास किए जाते हैं:

(i) किसी भी समस्या का समाधान करने के लिए अनुक्रमात्मक ध्यान (Sequential Attnetion) से विकल्पात्मक समाधान (Alternative Solution) की ओर जाते हुए यह प्रयास किया जाता है कि कोई काम चलाऊ विकल्प मिल जाए। जो साधन या विकल्प ठीक ठाक लगे, उसे ही अपना लिया जाता है।

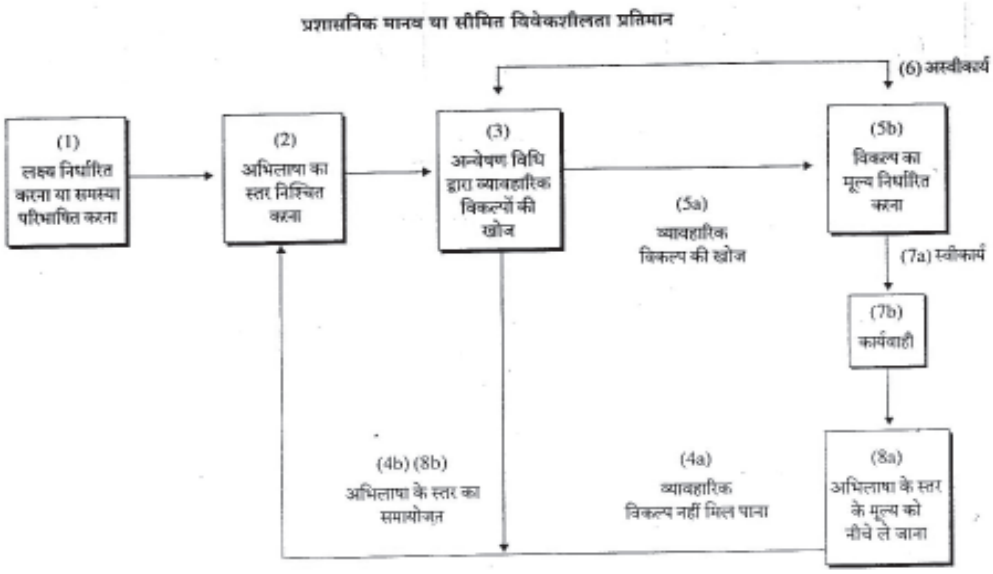

(ii) स्वतः शोध करके सीखने के तरीके (Heuristic) के माध्यम से भी निर्णय लिए जाते हैं, जो मुख्यः वैज्ञानिक नियम ने होकर, व्यक्ति के पूर्व अनुभवों या सोच पर आधारित होते हैं। इन्हें रणनीतियों का सरलीकरण या अँगूठा नियम कह सकते हैं। पूर्व के निर्णय इसमें सहायता करते हैं।

(iii) संतोषजनक हल या विकल्प की प्राप्ति ही इस प्रकार के निर्णयों का मुख्य उद्देश्य होता है अर्थात् सर्वोत्तम विकल्प तक पहुंचने का प्रयास ही नहीं किया जाता है, क्योंकि बीच में ही ठीक-ठाक विकल्प मिल जाता है।

प्रशासनिक मानव प्रतिमान में निर्णयन के आठ चरण होते हैं:-

1. लक्ष्य निर्धारित करना या समस्या को परिभाषित करना।
2. अभिलाषा का उपयुक्त स्तर निर्धारित करना।
3. एक एकल आशाजनक विकल्प की सूक्ष्म समस्या क्षेत्र अन्वेषण विधि का उपयोग करना।
4. यदि कोई व्यावहारिक विकल्प नहीं मिल सके तो:
   (i) अभिलाषा के स्तर को नीचे की ओर ले जाना।
   (ii) एक नए वैकल्पिक समाधान की खोज करना।
5. व्यावहारिक विकल्प की खोज के पश्चात इसकी स्वीकार्यता निश्चित करने के लिए मूल्यांकन करना।
6. यदि चयनित विकल्प स्वीकार योग्य नहीं है, तो नए विकल्प को खोजना।
7. यदि खोजा गया विकल्प स्वीकार योग्य है, तो समाधान को क्रियान्वित करना।
8. इस निर्णय के क्रियान्वयन के आधार पर भविष्य में इससे मिलती-जुलती समस्याओं का समाधान या अभिलाषा के स्तर को अन्य या निम्न करने का आधार बनाना।

प्रशासनिक मानव प्रतिमान में ऐसे कई तत्व हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि आखिर क्यों कोई प्रशासनिक अधिकारी ''सीमित विवेकशीलता'' से बँध जाता है। इन तत्वों में संगठन के लक्ष्यों की प्रकृति, सूचना तत्वों की कमी या उलझन, समय तथा लागत तत्व, पर्यावरणीय शक्तियाँ, विकल्पों की प्रकृति, विकल्पों की जानकारी तथा व्यक्तिगत कारक इत्यादि सम्मिलित हैं:

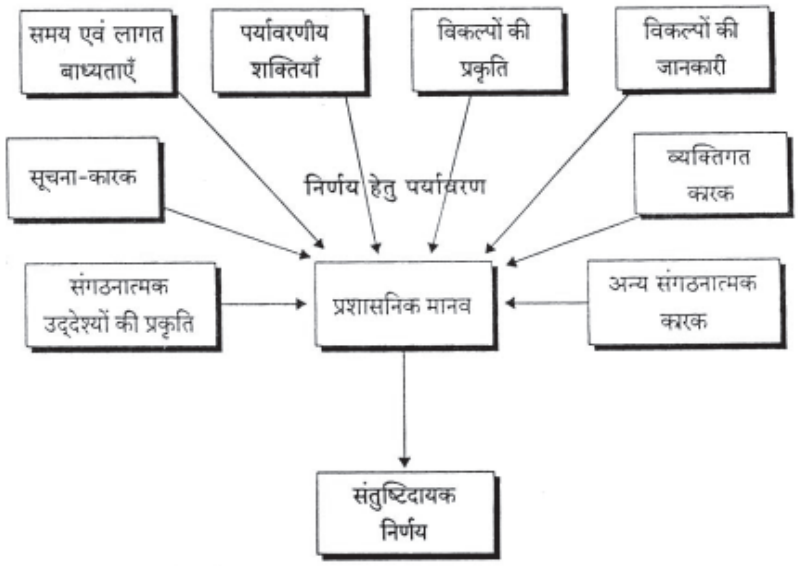

सीमित विवेकशीलता के लिए उत्तरदायी कारक

इसके अतिरिक्त क्लेनेंस रिडले के साथ लिखी गई "Measuring Municipal Activities", थॉम्पसन तथा स्मिथबर्ग के साथ लिखी "Public Administration" तथा अन्य कृतियों में "Models of Man: Social and Rational" तथा "Models of Science" प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त साइमन के संगठन, निर्णयन, मानव व्यवहार तथा प्रौद्योगिकी पर कई लेख भी प्रकाशित हुए हैं।

साइमन के लेख में समूह गतिशीलता पर मेरी पार्कर फॉलेट, एल्टन मेयो तथा मानव सम्बन्ध पर चेस्टर बर्नार्ड के विचारों का बहुत प्रभाव माना जाता है। लोक प्रशासन के सिद्धान्तों को कड़ी चुनौती देने वाले साइमन ने प्रशासनिक सिद्धान्तों को महज कुछ लोकोक्तियाँ या कहावतें बताकर प्रशासनिक विद्वानों में खलबली उत्पन्न कर दी थी। साइमन की यह द ढ़ मान्यता है कि सिद्धान्त एवं व्यवहार में व्यापक भेद नहीं बल्कि साम्यता होनी चाहिए। इसी प्रकार वैज्ञानिक स्वरूप प्राप्त करने के लिए मूल्य निर्णयों के स्थान पर तथ्यों पर ध्यान केन्द्रित करना होगा, क्योंकि प्रशासनिक विज्ञान भी अन्य विज्ञानों की भाँति तथ्यों पर टिका है, जहां मूल्य आधारित कथनों की कोई जगह नहीं है। संरचनावादी वैज्ञानिकों की साइमन ने यह कहकर आलोचना की है कि वे प्रशासन को वैज्ञानिक आधार नहीं दे पाए हैं, क्योंकि प्रशासनिक सिद्धांत परस्पर एक-दूसरे को काटते है।

अध्याय-14
अभिप्रेरणा के सिद्धान्त
(Theories of Motivation)

संगठन में लोगों को कार्य के लिए अभिप्रेरित करने के प्रयास प्रारम्भ से ही किए जा रहे हैं किन्तु अभी तक इसका कोई सर्वमान्य एवं सन्तोषप्रद उत्तर नहीं मिल पाया है। जिन प्रशासनिक चिन्तकों ने इस दिशा में प्रयास किया उनमें **एफ० डब्ल्यू० टेलर** का नाम सर्वप्रथम स्मरण हो जाता है। **टेलर** का मानना था कि संगठनात्मक प ष्ठभूमि में लोगों को कार्य के लिए अभिप्रेरित करने में आर्थिक कारक महत्त्वपूर्ण हैं और इसलिए उन्होंने 'Differential Piece Rate System' की अवधारणा का विकास किया। इसके पश्चात् मानव-सम्बन्ध उपागम से सम्बन्धित विचारकों ने भी इस दिशा में प्रयास किया। मानव-सम्बन्धित विचारकों के अनुसार केवल कुछ कार्यों के बार-बार किए जाने से अभिप्रेरणा में कमी आती है। दूसरी ओर सामाजिक सम्बन्ध (कार्मिक के मध्य) तथा आपस में बातचीत के अवसर उन्हें अभिप्रेरित करने का महत्त्वपूर्ण साधन हैं। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि यह उपागम मानता है कि प्रबन्धक कार्मिकों की सामाजिक आवश्यकताओं का पता लगाकर एवं ऐसा वातावरण पैदा करके जिसमें कार्मिक स्वयं को महत्त्वपूर्ण समझें, कार्मिकों को अभिप्रेरित कर सकते हैं।

किन्तु इन दोनों ही उपागमों- वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा मानव-सम्बन्ध- ने अभिप्रेरणा को अत्यन्त सरल अवधारणा समझा और यह माना कि कार्मिकों को प्रबन्धकों के प्राधिकार से अभिप्रेरित किया जा सकता है। इसके लिए पहला उपागम अधिक मजदूरी और दूसरा उपागम कार्मिकों के साथ सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाने को अपना हथियार बनाता है।

अभिप्रेरणा के सम्बन्ध में आधुनिक विचारधारा परम्परागत द ष्टिकोण के विपरीत कार्मिक-केन्द्रित तरीके अपनाने की सिफारिश करता है। आधुनिक विचारधारा में जिन विद्वानों ने अभिप्रेरणा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं उनमें मैस्लो, मैकग्रेगर, हर्जबर्ग प्रमुख हैं। इन तीनों विद्वानों द्वारा अभिप्रेरणा के सिद्धान्त (Theories) नीचे दी जा रही हैं।

मैस्लो की अभिप्रेरणा विचारधाराः आवश्यकता-क्रमिकता विचारधारा

अब्राहम मैस्लो का अभिप्रेरणा का सिद्धान्त "आवश्यकताओं की क्रमिकता/सोपानिकता" या Need Hierarchy Theory कहलाता है। मैस्लो ने अपने अध्ययन द्वारा मानवीय आवश्यकताओं की पहचान की और उनको एक पैमाने पर क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित किया। पैमाने के निचले सिरे पर उन्होंने निम्न स्तरीय आवश्यकताओं को रखा जिन्हें वे शारीरिक आवश्यकताएँ कहते हैं। पैमाने के शिखर पर उच्च स्तरीय आवश्यकता को रखा जिन्हें वह "आत्म-विश्लेषण/प्रबोधन" (Self-actualization) की आवश्यकता कहते हैं। इन दोनों सिरों के बीच वे क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ती हुई सुरक्षा आवश्यकताओं, सामाजिक आवश्यकताओं और सम्मान आवश्यकताओं की पहचान करते हैं। आवश्यकताएँ निम्न स्तरीय तथा उच्च स्तरीय दोनों प्रकार की हैं। निम्न स्तरीय आवश्यकताओं का सम्बन्ध अस्तित्व (Survival) से है तथा उच्च स्तरीय आवश्यकताएँ मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि से जुड़ी हैं। मैस्लो की इन आवश्यकताओं की क्रमिकता/सोपान को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता हैः

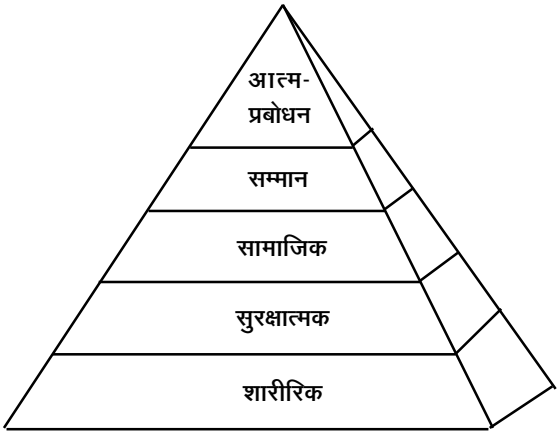

चित्र-1: मैस्लो की 'आवश्यकताओं' की क्रमिकता (पदसोपान)

मैस्लो आवश्यकताओं की क्रमिकता/सोपानिकता की अपनी इस अवधारणा के पीछे तीन प्रज्ञप्तियाँ पहचानते हैं:

1. मनुष्य एक चाहने वाला प्राणी है। वह कार्य करने के लिए सदैव कुछ आवश्यकताओं को रखता है।
2. आवश्यकताओं की एक क्रमिकता होती है। इनको प्राथमिकता के साथ व्यवस्थित किया जाता है और सबसे आधारभूत आवश्यकता को सबसे पहले सन्तुष्ट किया जाना चाहिए।
3. एक सन्तुष्ट हो चुकी आवश्यकता उसे कभी भी अभिप्रेरित नहीं करती है।

मैस्लो द्वारा आवश्यकताओं की क्रमिकता/सोपान का नीचे से क्रम इस प्रकार है:

शारीरिक आवश्यकताएँ (Physiological Needs): मैस्लो व्यक्तियों की सर्वप्रथम और आधारभूत आवश्यकता के रूप में शारीरिक आवश्यकताओं की पहचान करते हैं। शारीरिक आवश्यकताएँ व्यक्ति की जैविकीय आवश्यकताएँ होती हैं जैसे खाने के लिए भोजन, पानी, शारीरिक सुख सम्बन्धी आवश्यकताएँ आदि। ये मनुष्य की आधारभूत जरूरतें होती हैं और जब तक इन्हें पूरा नहीं किया जाता अन्य आवश्यकताओं का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। जब तक व्यक्ति का पेट ही खाली रहेगा तो वह सम्मान और अन्य आवश्यकताओं के बारे में कैसे सोच सकता है। अतः सर्वप्रमुख आवश्यकताओं के रूप में पहले व्यक्ति की भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। जब इन आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है तभी व्यक्ति आगे की आवश्यकताओं के बारे में सोचना प्रारम्भ करता है। जब शारीरिक आवश्यकताएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं तो आवश्यकताओं की क्रामिकता इस प्रकार रहती है:

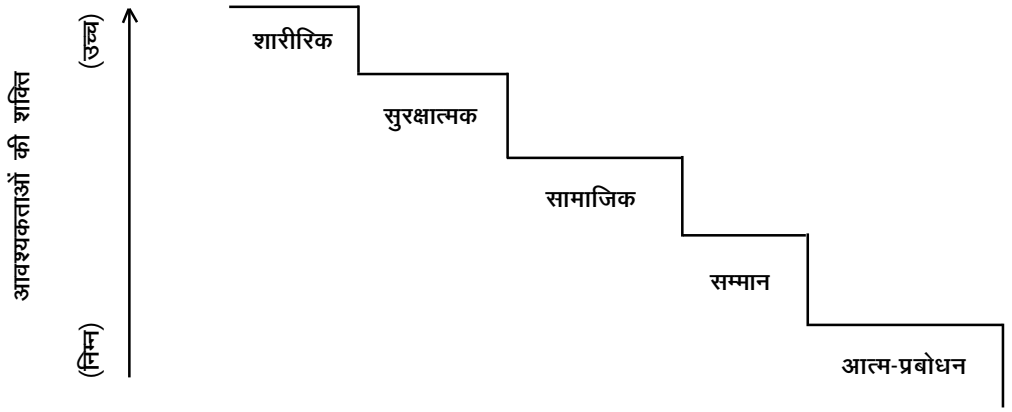

चित्र-2: शारीरिक आवश्यकताएँ प्रभावी रहती हैं।

सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ (Safety/Security Needs): शारीरिक आवश्यकताओं के पश्चात् सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ आती हैं। मनुष्य सदैव प्राकृतिक विपदाओं, खतरों और वंचनों से सुरक्षा चाहता है। निस्सन्देह मनुष्य एक सुरक्षा चाहने वाला प्राणी है। जब व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं तो अब वह अपनी सुरक्षात्मक आवश्यकताओं के बारे में सोचना प्रारम्भ करता है। सुरक्षात्मक आवश्यकताओं को बच्चों में अधिक अच्छी तरह से देखा जा सकता है। व्यस्कों में भी सुरक्षा की आवश्यकता काफी महत्त्व रखती है। जब तक व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित महसूस नहीं करता तब तक वह अपना कार्य प्रभावी ढंग से नहीं कर पाता और उसका सारा ध्यान अपनी सुरक्षा आवश्यकताओं पर रहता है। जिन समाजों में सुरक्षा की समुचित व्यवस्था सरकार द्वारा ही कर दी जाती है उनमें सुरक्षा की आवश्यकता अधिक अभिप्रेरणात्मक आवश्यकता नहीं रहती। निस्सन्देह हर व्यक्ति सुरक्षा चाहता है। आज हर व्यक्ति ऐसी नौकरी में जाने की चाह रखता है जो वेतन, कार्यकाल आदि की द ष्टि से सुरक्षित हो। जब व्यक्ति की सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ आवश्यकता-क्रमिकता में प्रभुत्व रखती है तो यह क्रमिकता निम्न स्वरूप में रहती है:

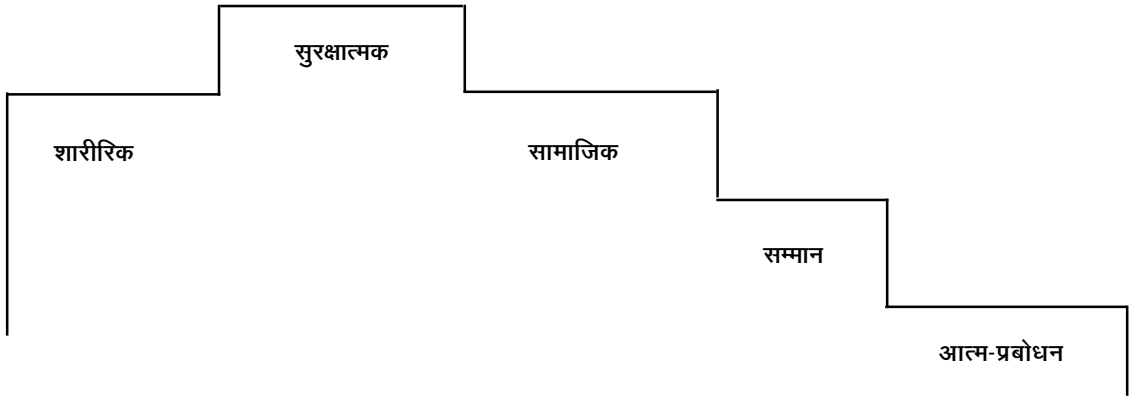

चित्र-3: आवश्यकता क्रमिकता में सुरक्षा आवश्यकताएँ प्रभुत्व रखती हैं।

सामाजिक आवश्यकताएँ (Social Needs): जब व्यक्ति की शारीरिक और सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ सन्तुष्ट हो जाती हैं तो सामाजिक या लगाव (affiliation) की आवश्यकताएँ महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः अधिकांश व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तःक्रिया करना चाहते हैं और चाहते हैं कि समाज उनको स्वीकार करे। यद्यपि यह एक सामान्य आवश्यकता है तथापि किसी-किसी के लिए और किन्हीं परिस्थितियों में यह अन्यों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। अपनत्व, कार्य समूह द्वारा स्वीकार किया जाना, मित्रता, स्नेह प्राप्त करना आदि मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताएँ हैं। जिन बच्चों का सम्बन्ध टूटे-परिवारों से होता है या जिन बच्चों को उनके परिजनों का स्नेह नहीं मिला हो वे स्नेह और अपनत्व की ज्यादा आवश्यकता महसूस करते हैं। ये आवश्यकताएँ उनको अभिप्रेरित करने में सहायक होती हैं। जब आवश्यकता-क्रमिकता संरचना में सामाजिक आवश्यकताएँ प्रभुत्व में होती हैं तो इसकी संरचना निम्न प्रकार की होती है:

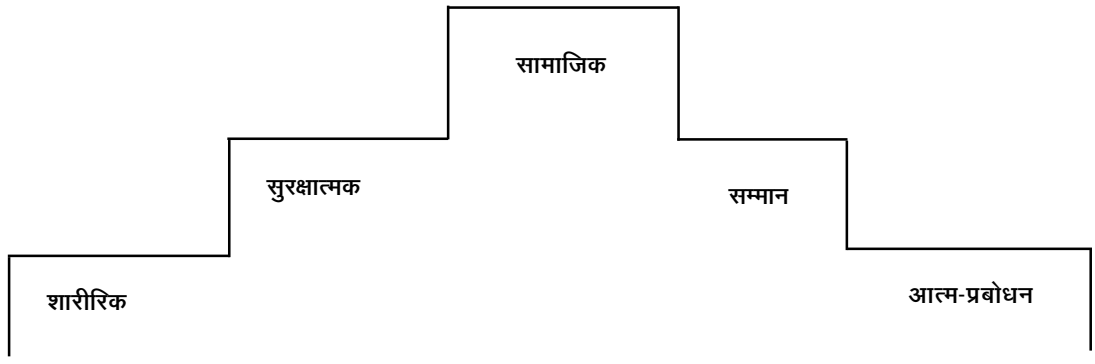

चित्र-4: जब सामाजिक आवश्यकताएँ प्रभुत्व में होती हैं।

सम्मान आवश्यकताएँ (Esteem Needs): सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हो जाने पर व्यक्ति की सम्मान की आवश्यकताएँ महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। सम्मान और पहचान की आकांक्षा हर व्यक्ति करता है। लोग सामान्यतया अपने आपका मूल्यांकन काफी बढ़ा-चढ़ा कर करने की प्रव त्ति रखते हैं। वे अन्यों से सम्मान और पहचान की अपेक्षा रखते हैं। व्यक्ति की सम्मान की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से वह आत्म-विश्वास, प्रतिष्ठा, शक्ति और नियन्त्रण की भावना महसूस करता है। लोग यह सोचने लगते हैं कि वे समाज के लिए उपयोगी हैं और पर्यावरण पर उनका कुछ प्रभाव है। जब व्यक्ति की सम्मान की आवश्यकताएँ अपूरित रहती हैं तो वह अपने आपको कमजोर, असहाय और अधीनस्थ समझने लगता है। अतः सम्मान की आवश्यकता व्यक्ति को अभिप्रेरित करने वाली प्रमुख शक्ति है। जब आवश्यकता-क्रमिकता संरचना में 'सम्मान आवश्यकताएँ' प्रभुत्व में होती हैं तो संरचना का स्वरूप इस प्रकार का होता है:

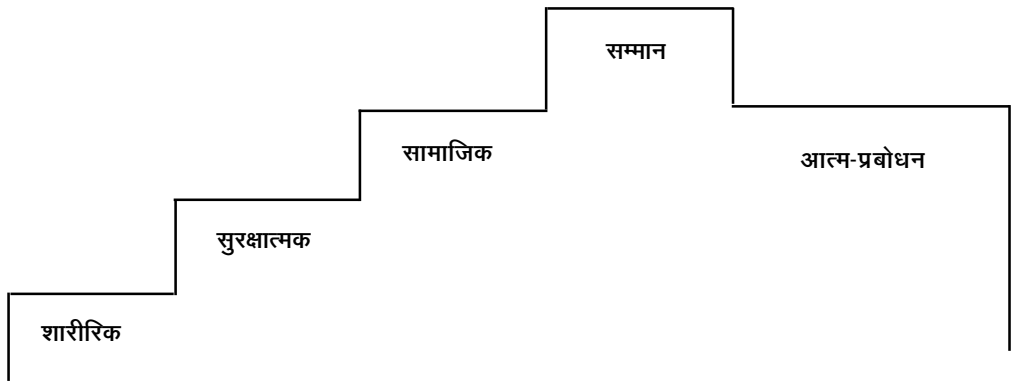

चित्र-5: जब 'सम्मान आवश्यकताएँ' प्रभुत्व में होती हैं।

आत्म-प्रबोधन की आवश्यकताएँ (Self-actualization): मैस्लो ने अपनी आवश्यकता-क्रमिकता विचारधारा में सबसे अन्तिम आवश्यकता के रूप में आत्म-विश्लेषण/प्रबोधन की आवश्यकताओं की पहचान की है। जब व्यक्ति की सम्मान आवश्यकताएँ सन्तुष्ट हो जाती हैं तो व्यक्ति की आत्म-विश्लेषण की आवश्यकताएँ प्रभुत्व में आ जाती हैं। 'आत्म-विश्लेषण' पद का सर्वप्रथम प्रयोग गोल्डस्टीन ने किया था। आत्म-विश्लेषण व्यक्ति की अपनी क्षमताओं (potentials) को अधिकतम करने की आवश्यकता है।" एक संगीतकार को अवश्य संगीत बजाना चाहिए, एक कवि को अवश्य लिखना चाहिए, एक जनरल को अवश्य लड़ाइयाँ जीतनी चाहिए, एक प्रोफेसर को अवश्य पढ़ाना चाहिए।" जैसे कि मैस्लो कहते हैं-"एक मनुष्य क्या हो सकता है, उसे अवश्य होना चाहिए।" (What a man can be, he must be) इस प्रकार आत्म-विश्लेषण वह बनने की इच्छा है जो वह बनने की क्षमता रखता है। "व्यक्ति इस आवश्यकता की सन्तुष्टि कई तरीकों से कर सकता है। किसी में यह एक आदर्श माँ बनने की इच्छा के रूप में अभिव्यक्त हो सकती है, किसी अन्य में यह किसी संगठन के प्रबन्धन के रूप में अभिव्यक्त हो सकती है।" मैस्लो स्वयं लिखते हैं कि आत्म-प्रबोधित "व्यक्ति की आत्म-पूर्ति (Self-fulfilment) की इच्छा से सम्बन्ध रखता है, इस प्रव त्ति को व्यक्ति जो वह है को और अधिक बनने की इच्छा के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, क्षमता के अनुसार से अधिक सब कुछ बनना।" आत्म-प्रबोधित व्यक्ति की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए मैस्लो ने अध्ययन किए और बताया कि एक आत्म-प्रबोधित (Self-actualizated) व्यक्ति निम्न विशेषताएँ रखता है-मिथ्या, नकली और बेइमानों को पहचानने की असाधारण क्षमता रखता है और लोगों का अधिक सही और प्रभावशाली तरीके से मूल्यांकन कर सकता है। उनमें अपराध भावना, शर्म और चिन्ता का अभाव होता है, व्यवहार में स्वतः प्रव त्ति होती है, वे समस्या पर केन्द्रित होते हैं न कि 'अहम्' पर, उनका जीवन का प्रयोजन और मिशन होता है, वे एकाकीपन और निजत्व पसन्द करते हैं, साथ ही वे अगरिमामयी परिस्थितियों में भी गरिमा बनाए रखते हैं, जीवन और कार्य में अपने प्रयासों के लिए वे स्वायत्तता और स्वतन्त्रता को पसन्द करते हैं, वे जीवन के अनुभव से आनन्द, प्रेरणा और शक्ति प्राप्त करते हैं, वे व्यक्तियों को पहचानने की गहरी भावना रखते हैं, वे लोकतान्त्रिक होते हैं और साधनों व साध्यों, अच्छे व बुरे में भेद करना जानते हैं, उनमें मजाकिया भावना होती है तथा वे रचनात्मकता और मौलिकता रखते हैं। ऐसे लोगों के बारे में मैस्लो कहते हैं कि-"वे काम करते हैं, वे प्रयास करते हैं, और वे असामान्य अर्थ में भी महत्त्वाकांक्षी होते हैं। उनके लिए अभिप्रेरणा सिर्फ चरित्र व द्धि है। चरित्र अभिव्यक्ति है, अभिप्रेरणा और विकास; केवल एक शब्द है

आत्म-विश्लेषण।" जब आत्म-विश्लेषण की आवश्यकताएँ प्रभुत्व में होती हैं तो आवश्यकता क्रमिकता-संरचना इस प्रकार होगी:

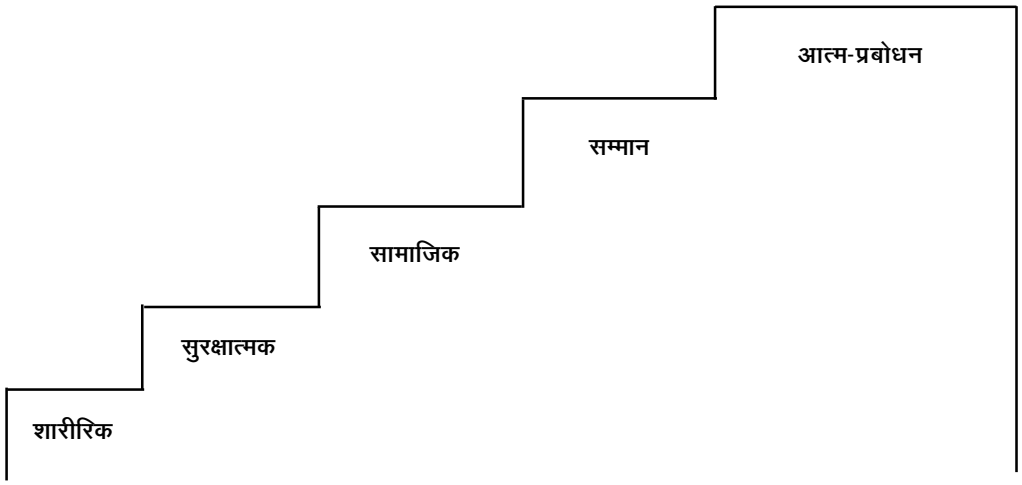

चित्र-6: आत्म-विकास की आवश्यकताएँ प्रभुत्व में होती हैं।

गैस्लो की आवश्यकताओं की व्यवस्था को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। आधारभूत आवश्यकताओं की श्रेणी को "अभाव आवश्यकताएँ" (डेफिसिएन्सी नीड्स) कहते हैं। इन अभाव आवश्यकताओं को सन्तुष्ट किया जाना आवश्यक होता है। मैस्लो की विचारधारा में प्रथम चार आवश्यकताएँ अभाव 'आवश्यकताएँ' या 'डी' आवश्यकताएँ हैं। जब व्यक्ति की 'डी' आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं तो व्यक्ति जीवन की उच्च स्तरीय आवश्यकताओं की ओर देखता है। इस समय 'आत्म-प्रबोधन' की आवश्यकता का उदय होता है। मैस्लो इसे 'बी' मूल्य (B-values) आवश्यकता कहते हैं। उन्होंने 'बी' मूल्यों को दो भागों में बाँटा है:

1. जानने की आवश्यकता
2. सौन्दर्यात्मक प्रशंसा सम्बन्धी आवश्यकताएँ।

मैस्लो जानने तथा समझने की आवश्यकता तथा सौन्दर्यात्मक आवश्यकताओं का विस्तार से उल्लेख करते हैं। "मोटीवेशन एण्ड पर्सनलिटी" पुस्तक के तीसरे संस्करण के दूसरे अध्याय में इनकी विस्तार से चर्चा की गई है। 'डी' आवश्यकताओं और 'बी' मूल्यों को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है:

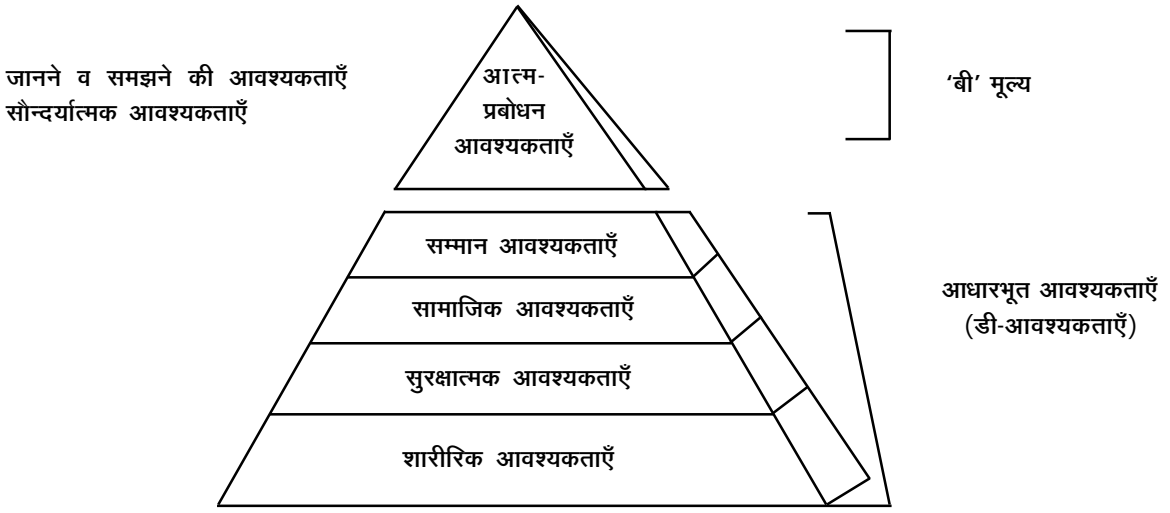

चित्र-7

परन्तु मैस्लो की यह विचारधारा अत्यन्त कठोर नहीं है। स्वयं मैस्लो के शब्दों में-

हम इस बात पर बहुत बोल चुके हैं कि यह क्रमिकता एक निश्चित क्रम (fixed order) में थीं, परन्तु वास्तव में यह इतनी द ढ़ (Rigid) नहीं है जितनी कि हमने इसे लागू किया है। यह सत्य है कि बहुत से लोग जिनके साथ हमने काम किया उनमें ये आधारभूत आवश्यकताएँ उसी क्रम में थीं जिसमें इन्हें दर्शाया गया था। फिर भी इसके बहुत से अपवाद होते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार आवश्यकताओं की क्रमिकता का उल्लेख करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति को अभिप्रेरित करने के लिए सर्वप्रथम उसकी आवश्यकताओं का अनुमान लगाना आवश्यक है। जिस समय व्यक्ति की जो आवश्यकता है उसे पहचान कर उसकी सन्तुष्टि करके व्यक्ति को अभिप्रेरित किया जा सकता है। वह प्रबन्धक अपने कर्मचारियों को बेहतर तरीके से अभिप्रेरित कर सकता है जो उनकी आवश्यकताओं को पहचानने की क्षमता रखता है और उनकी पूर्ति करता है।

मैस्लो स्वयं यह मानते हैं कि उनका यह सिद्धान्त अधिक कठोर (rigid) नहीं है। इसमें विचलन भी पाए जाते हैं। वे यह भी मानते हैं कि मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताओं और इच्छाएँ जिस समाज और संस्कृति में रहते हैं उसके निरपेक्ष होती है। [मैस्लो व हर्जबर्ग की विचारधाराओं की तुलना हेतु पढ़िए अध्याय-17]

आलोचनात्मक मूल्यांकन

मैस्लो का अभिप्रेरणा का आवश्यकता-क्रमिकता सिद्धान्त मानवीय व्यवहार की अति सरल व्याख्या है। न तो व्यक्तियों की आवश्यकताओं को इतनी आसानी से पहचाना जा सकता है और न ही आवश्यकताओं का यही क्रम सदैव रहता है।

आलोचकों के मत में मैस्लो द्वारा प्रतिपादित अवधारणा शोध पर आधारित न होकर केवल मनोवैज्ञानिक तथ्यों का एकत्रीकरण है। आत्म-विश्लेषण पर मैस्लो के विचार अस्पष्ट और अति-सरलीकरण के दोषी माने गए हैं।

बर्नार्ड बास और गैराल्ड बैरेल्ट के मत में मैस्लो का सिद्धान्त सत्य होने के बजाय रुचिकर और लोकप्रिय अधिक है। वाभा और बिरडवैल का मत है कि "ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि मानव आवश्यकताओं को पाँच भिन्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है और ये श्रेणियाँ एक विशिष्ट क्रमिकता में संरचित की जा सकती हैं।" कॉफर और एपली का मत है कि "आत्म-विश्लेषण पर उनका बल, अवधारणा की अस्पष्टता, भाषा के ढीलेपन और प्रमुख मामलों से मिलने वाले सबूतों की अपर्याप्तता से प्रभावित है।" माइकल नैश भी मानते हैं कि मैस्लो का सिद्धान्त रुचिकर अधिक और वैध कम है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद मैस्लो का अभिप्रेरणा का सिद्धान्त इस क्षेत्र में सदैव मार्गदर्शक बना रहेगा। उनकी आवश्यकता क्रमिकता की विचारधारा आधुनिक प्रबन्ध के अभिप्रेरणात्मक द ष्टिकोण पर गजब का प्रभाव रखता है। रोबर्ट फ्रेगर मैस्लो की पुस्तक "मोटीवेशन एण्ड पर्सनलिटी" के तीसरे संस्करण के प्राक्कथन में लिखते हैं-

वह एक अग्रणी, एक द ष्टि रखने वाले, विज्ञान के एक दार्शनिक और एक आशावादी व्यक्ति माने जाते हैं। वह 'मानवतावादी' या 'व तीय बल' मनोविज्ञानों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवक्ताओं में से एक थे और मूल रूप से 1954 ई० में प्रकाशित "मोटीवेशन एण्ड इमोशन" में उनकी मानवीय मनोविज्ञान के प्रारम्भिक खोजें व महत्त्वपूर्ण प्रश्न शामिल हैं। "मोटीवेशन एण्ड पर्सनलिटी" में वर्णित उनके विचारों ने मैस्लो के जीवन-कार्य की आधारशिला रखी। इस पुस्तक का मानवीय प्रव त्ति का सकारात्मक व समग्र द ष्टिकोण की रचना पर जबरदस्त प्रभाव है। यह एक अद्वितीय प्रभाव पैदा करने वाली और प्रभावशाली संसाधन के रूप में आज भी मानी जाती है।

सारांश

अभिप्रेरणा के एक अति महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त "आवश्यकताओं की क्रमिकता/सोपानिकता का सिद्धान्त" का प्रतिपादन प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक अब्राहम मैस्लो ने किया। 1954 ई० में प्रकाशित मैस्लो की पुस्तक "मोटीवेशन एण्ड पर्सनलिटी" प्रबन्ध साहित्य की अमूल्य धरोहर मानी जाती है।

मैस्लो यद्यपि एक मनोवैज्ञानिक थे फिर भी अभिप्रेरणा की उनकी अवधारणा इतनी महत्त्वपूर्ण है कि प्रशासन का हर विद्यार्थी इससे परिचित है। मैस्लो ने मानवीय आवश्यकताओं की पहचान कर उनको एक सोपानिक रूप से व्यवस्थित किया। वे मानव

की पाँच आवश्यकताओं की पहचान करते हैं-शारीरिक, सुरक्षात्मक, सामाजिक, सम्मान तथा आत्म-प्रबोधन। मैस्लो आत्म-प्रबोधन की आवश्यकता को आवश्यकताओं के सोपान में सर्वोच्च स्थान देते हैं। मैस्लो के अनुसार व्यक्ति की सर्वप्रथम आवश्यकताएँ शारीरिक हैं जिनमें भोजन, वस्त्र, आराम आदि शामिल हैं, जब व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताएँ सन्तुष्ट हो जाती हैं तो उसकी सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ आती हैं। इनके भी सन्तुष्ट हो जाने के पश्चात् सामाजिक और फिर सम्मान आवश्यकताएँ आती हैं। सबसे अन्त में आत्म-प्रबोधन की आवश्यकता आती है।

मैस्लो का आग्रह था कि यदि कोई प्रबन्धक अपने अधीनस्थों को अभिप्रेरित करना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे उनकी आवश्यकताओं का पता लगाना होगा और फिर उनकी पूर्ति करके, उसे सन्तुष्टि प्रदान करके उसे अभिप्रेरित किया जा सकता है। मैस्लो की आवश्यकता-क्रमिकता विचारधारा और हर्जबर्ग की द्वि-घटकी विचारधारा में काफी समानता है। हर्जबर्ग के 'आरोग्य घटक' मैस्लो की प्रथम तीन और कुछ भाग चौथी आवश्यकता का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा अभिप्रेरक घटक आत्म-प्रबोधन तथा कुछ हद तक सम्मान की आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि मैस्लो की विचारधारा रोचक और प्रासंगिक है पर इसने मानवीय अभिप्रेरणा की अति-सरलीकृत व्यवस्था प्रस्तुत की है।

थ्योरी-X तथा थ्योरी-Y

अभिप्रेरणा को प्रबन्ध का हृदय कहा गया है। किसी भी संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उसके सदस्यों को इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अभिप्रेरित किया जाए। प्रश्न यह उठता है कि प्रबन्ध अपने कर्मचारियों को किस प्रकार अभिप्रेरित कर सकता है? अथवा प्रबन्धक को क्या करना चाहिए? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर अनेक विचारक अपने-अपने सिद्धान्तों (विचारधाराओं) के जरिए देने का प्रयास करते हैं। इन्हीं विचारधाराओं में एक विचारधारा है-'थ्योरी-X' तथा 'थ्योरी-Y' जिनका प्रतिपादन प्रो० डगलस मैकग्रेगर ने किया था। मैकग्रेगर अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में अब्राहम मास्लो से काफी प्रभावित थे। मैकग्रेगर अपने समय के प्रबन्ध पर आरोप लगाते हुए कहते हैं-

निर्देशन तथा नियन्त्रण द्वारा प्रबन्ध संगठनात्मक उद्देश्यों के लिए प्रभावशाली अभिप्रेरणा को, आज की स्थितियों में, प्रोत्साहित करने में विफल होता है। यह विफल इसलिए होता है क्योंकि निर्देशन और नियन्त्रण उन लोगों को अभिप्रेरित करने का बेकार तरीका है जिनकी शारीरिक और सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ सन्तुष्ट होती हैं तथा सामाजिक, अहम्वादी और आत्म-पूर्ति की आवश्यकताएँ प्रभुत्व में होती हैं।

मैकग्रेगर ने अपनी पुस्तक "दी ह्यूमन साइड ऑफ एन्टरप्राइज" में थ्योरी-X और थ्योरी-Y का प्रतिपादन किया। इससे पूर्व मेयो के होथोर्न प्रयोग किए जा चुके थे। मेयो के कार्यों और विशेषकर 'भीड़ः परिकल्पना' (रेबल हायपोथेसिस) में मैकग्रेगर के सिद्धान्त-X तथा सिद्धान्त-Y के लिए रास्ता तैयार किया। मैकग्रेगर लिखते हैं-

"मानवीय व्यवहार का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है हम अपनी नियन्त्रण करने की क्षमता को सुधार सकते हैं यदि यह पहचान कर लें कि नियन्त्रण मानवीय प्रकृति के चयनित अनुकूलन से बना है बजाय इसके कि मानवीय प्रकृति को हम अपनी इच्छाओं के समान बनाने का प्रयास करें। यदि हमारे नियन्त्रण के प्रयास असफल रहते हैं तो इसका सामान्य कारण अनुपयुक्त साधनों के चयन में निहित है।"

मैकग्रेगर का मत है कि केन्द्रीयकृत निर्णयन, पदसोपानात्मक पिरामिड और कार्य के बाह्य नियन्त्रण वाले परम्परागत संगठन मानवीय प्रकृति और मानवीय व्यवहार की कतिपय मान्यताओं पर आधारित होते हैं। इन मान्यताओं को मैकग्रेगर 'थ्योरी-X' कह कर पुकारते हैं। ये मान्यताएँ काफी कुछ मेयो द्वारा 'रैबल परिकल्पना' से सम्बन्धित मान्यताओं से मेल खाती हैं। इसके विपरीत मैकग्रेगर मानवीय प्रकृति की सकारात्मक प्रव त्तियों को ध्यान में रखते हुए 'थ्योरी-Y' का प्रतिपादन करते हैं।

मैकग्रेगर की 'थ्योरी-X' की मुख्य मान्यताओं को निम्न बिन्दुओं से दर्शाया गया हैः

1. **कार्य की अरुचिः** 'थ्योरी-X' यह मानकर चलती है कि अधिकांश लोगों में कार्य के प्रति अरुचि पाई जाती है। यह लोगों के प्रति नकारात्मक सोच पर आधारित है कि व्यक्ति कार्य नहीं करना चाहता। इसमें यह मानकर चला जाता है कि कार्य के प्रति अन्तर्निहित अरुचि के कारण जहाँ तक हो सकता है व्यक्ति काम से बचने की कोशिश करता है। इसलिए 'थ्योरी-X' इस बात का आग्रह करती है कि व्यक्ति से काम लेने के लिए उसे दण्डित किया जाना चाहिए तथा धमकियों का सहारा लेना चाहिए।

2. **कम महत्त्वाकांक्षा, उत्तरदायित्व लेने की अरुचि और निर्देशन को वरीयता:** 'थ्योरी-X' की एक मान्यता यह है कि अधिकांश व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी नहीं होते हैं तथा वे अपनी वर्तमान स्थिति से ही सन्तुष्ट होते हैं। उनमें उत्तरदायित्व ग्रहण करने की काफी कम इच्छा पाई जाती है तथा वे निर्देशित होना अधिक पसन्द करते हैं।

3. **संगठनात्मक समस्याओं को सुलझाने में रचनात्मक क्षमता की कमी:** यह सिद्धान्त इस मान्यता को भी स्वीकार करता है कि अधिकांश व्यक्तियों में संगठनात्मक समस्याओं का समाधान करने के लिए रचनात्मकता की क्षमता काफी कम होती है। चूँकि संगठन की समस्याओं का समाधान सहयोगी क्रिया द्वारा ही सम्भव है पर इस विचारधारा के अनुसार संगठन के अधिकांश व्यक्तियों में समस्या समाधान की स जनात्मक क्षमता की कमी पाई जाती है।

4. **शारीरिक और सुरक्षात्मक आवश्यकता स्तर पर ही अभिप्रेरणा:** मानव की आवश्यकताओं में सबसे निम्न स्तरीय आवश्यकताएँ शारीरिक और सुरक्षात्मक होती हैं। 'थ्योरी-X' की मान्यता है कि अभिप्रेरणा केवल शारीरिक और सुरक्षात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही उत्पन्न की जा सकती है। व्यक्ति को धन, फ्रिन्ज परिलाभों तथा सुरक्षा प्रदान करके ही अभिप्रेरित किया जा सकता है।

5. **कठोर नियन्त्रण और दण्ड:** चूँकि व्यक्ति संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति में अधिक रुचि नहीं लेता है अतः अधिकांश लोगों को संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उन पर कठोर नियन्त्रण किया जाना चाहिए तथा उन्हें दण्ड भी दिया जाना चाहिए। यह विचारधारा ऐसे लोगों को डराने, धमकाने और प्रताड़ित करने की आवश्यकता पर जोर देती है।

इस प्रकार मैकग्रेगर की 'थ्योरी-X' मानवीय प्रकृति की नकारात्मक और निराशावादी तस्वीर पेश करती है जिसमें व्यक्ति को काम में कम रुचि लेने वाला, कम महत्त्वाकांक्षी, उत्तरदायित्वों से बचने की प्रव त्ति रखने वाला, निर्देशित होने को पसन्द करना, संगठनात्मक समस्याओं के समाधान की रचनात्मकता की कमी, निम्न स्तरीय आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान देने वाला, और अधिक सुरक्षा को चाहने वाले के रूप में परिभाषित किया गया है।

'थ्योरी-X' की विवेचना करने के पश्चात् मैकग्रेगर इस बात का परीक्षण करते हैं कि क्या मानवीय प्रकृति के बारे में ये विचार सही हैं और क्या आज की परिस्थितियों में इस विचारधारा पर आधारित प्रबन्धकीय व्यवहार उपयुक्त हैं? उनका मानना है कि शिक्षा और जीवन स्तर में बढ़ोत्तरी के कारण क्या व्यक्ति अधिक जिम्मेदाराना व्यवहार करने में सक्षम है? मैकग्रेगर ने बाद में यह माना कि मानवीय प्रकृति के बारे में 'थ्योरी-X' की मान्यताएँ सही नहीं हैं और जो संगठन 'थ्योरी-X' मान्यताओं पर आधारित होते हैं वे अपने कर्मचारियों को अभिप्रेरित नहीं कर सकते। उनका मानना है कि निर्देशन और नियन्त्रण द्वारा प्रबन्ध सफल नहीं हो सकता क्योंकि निर्देशन और नियन्त्रण उन लोगों को अभिप्रेरित करने का फालतू तरीका है जिनकी शारीरिक और सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ तो सन्तुष्ट हो चुकी होती हैं और सामाजिक, अहम्वादी और आत्म-विश्लेषण की आवश्यकताएँ प्रभुत्व में होती हैं। मैकग्रेगर ने महसूस किया कि प्रबन्ध को मानवीय प्रकृति और अभिप्रेरणा की अधिक सही समझ रखने वाले व्यवहारों की आवश्यकता है। इसलिए उन्होंने मानवीय व्यवहार की एक वैकल्पिक थ्योरी का विकास किया, जिसे उन्होंने 'थ्योरी-Y' का नाम दिया। यह विचारधारा मानवीय प्रकृति की सकारात्मक और आशावादी विचारधारा है जो यह मानकर चलती है कि प्रकृति से लोग आलसी और अविश्वसनीय नहीं होते हैं। यह सुझाव देती है कि यदि लोगों को ठीक से अभिप्रेरित किया जाए तो वे कार्य करने के लिए अधिक रचनात्मक हो सकते हैं। मैकग्रेगर की 'थ्योरी-Y' निम्न मान्यताओं पर आधारित है:

1. **कार्य उतना ही स्वाभाविक होता है जितना कि खेलना:** "थ्योरी-Y" यह मानकर चलती है कि कार्य करना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि खेलना और आराम करना। जिस प्रकार खेलने और आराम करने से व्यक्ति आनन्दित होता है उसी प्रकार यदि व्यक्ति को अनुकूल कार्य दशाएँ उपलब्ध कराई जाएँ तो वह कार्य करने से भी आनन्द प्राप्त करता है। इस प्रकार 'थ्योरी-Y' सकारात्मक धारणा पर आधारित है कि उपयुक्त कार्य दशाएँ मिलने पर व्यक्ति काम करने की प्रव त्ति रखते हैं।

2. **आत्म-नियन्त्रण:** 'थ्योरी-Y' इस मान्यता पर आधारित है कि संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आत्म-नियन्त्रण अति आवश्यक है। आत्म-नियन्त्रित या स्व-नियन्त्रित व्यक्ति संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने में अधिक अभिप्रेरित होता है।

3. **समस्या समाधान के लिए उच्च स जनात्मकता:** 'थ्योरी-Y' की यह भी मान्यता है कि व्यक्तियों में संगठन की समस्याओं

के समाधान की उच्च स जनात्मकता होती है। यह स जनात्मकता संकुचित न होकर जनसंख्या में विस्त त रूप से वितरित होती है। इस प्रकार यह सकारात्मक धारणा है और लोगों की संगठनात्मक समस्याओं के समाधान में रुचि को प्रदर्शित करती है।

4. **अभिप्रेरणा सभी आवश्यकताओं पर:** जहाँ 'थ्योरी-X' की मान्यता यह है कि अभिप्रेरणा केवल शारीरिक और सुरक्षात्मक स्तर की आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही की जा सकती है जबकि 'थ्योरी-Y' की मान्यता है कि इन निम्न स्तरीय आवश्यकताओं के साथ-साथ उच्चस्तरीय सामाजिक, सम्मान और आत्म-विश्लेषण की आवश्यकताओं की पूर्ति करके भी अभिप्रेरित किया जा सकता है। अर्थात् केवल भौतिक परिलाभों द्वारा ही नहीं बल्कि अनौपचारिक साधनों द्वारा भी व्यक्ति को अभिप्रेरित किया जा सकता है।

5. **स्व-निर्देशन और रचनात्मकता:** 'थ्योरी-Y' की एक मान्यता यह है कि यदि व्यक्ति को ठीक ढंग से अभिप्रेरित किया जाए तो वह स्व-निर्देशित और अधिक रचनात्मक हो सकता है।

6. **उत्तरदायित्व स्वीकार करना:** सामान्यतया व्यक्ति को यदि अच्छी दशाएँ उपलब्ध कराई जाएँ तो वह न केवल उत्तरदायित्व को स्वीकार ही करता है अपितु उसकी खोज भी करता है। अर्थात् व्यक्ति उत्तरदायित्वों से बचता नहीं है और उन्हें स्वेच्छा से स्वीकार करता है। मैकग्रेगर स्वयं लिखते हैं-"थ्योरी-X' हमें स्वाभाविक रूप से नियन्त्रण के तरीकों पर जोर देने की ओर ले जाती है। यह उन प्रविधियों और तकनीकों की ओर ले जाती है जो लोगों को बताती हैं कि क्या करना है, यह निर्धारित करना, यदि वे कार्य कर रहे हैं और पुरस्कारों तथा दण्ड के प्रशासन की ओर ले जाती है। इसका कारण यह उल्लेखनीय मान्यता है कि उद्यम की सफलता के लिए लोगों को क्या करना है। यह बताने के लिए निर्देशन तथा नियन्त्रण की तकनीकों पर सीधा ध्यान देना जरूरी है। इसके विपरीत 'थ्योरी-Y' सम्बन्धों की प्रकृति पर ध्यान देने की ओर ले जाती है। वह ऐसा उस प्रकार का पर्यावरण स जित करके करती है जो संगठनात्मक उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्धता को प्रोत्साहित करता है और जो उन उद्देश्यों की प्राप्ति में पहल, बुद्धि तथा आत्म-निर्देशन के अधिकाधिक व्यवहार में लेने के अवसर प्रदान करता है।" (मैकग्रेगरः द ह्यूमन साइड ऑफ एन्टरप्राइज, प ०-132)

इस प्रकार 'सिद्धान्त-Y' मानवीय प्रकृति के सकारात्मक पक्ष को महत्त्व देता है। संक्षेप में, मैकग्रेगर की 'थ्योरी-X' और 'थ्योरी-Y' की निम्न तालिका द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता हैः

	'थ्योरी-X'		'थ्योरी-Y'
1.	कार्य अधिकांश लोगों के लिए अरुचिकर होता है।	1.	कार्य उतना ही स्वाभाविक है जितना कि खेलना, यदि स्थितियाँ अनुकूल हों तो।
2.	अधिकांश लोग महत्त्वाकांक्षी नहीं होते, उत्तरदायित्व लेने की कम इच्छा होती है तथा निर्देशित होना अधिक पसन्द करते हैं।	2.	संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए स्व-नियन्त्रण आवश्यक होता है।
3.	अधिकांश लोगों में संगठनात्मक समस्याओं के समाधान के लिए रचनात्मक क्षमता की कमी होती है।	3.	संगठनात्मक समस्याओं के समाधान की रचनात्मक क्षमता लोगों में व्यापक रूप से वितरित होती है।
4.	अभिप्रेरणा केवल शारीरिक और सुरक्षात्मक आवश्यकता स्तरों पर ही होती है।	4.	अभिप्रेरणा केवल शारीरिक और सुरक्षात्मक स्तर पर ही नहीं बल्कि सामाजिक, सम्मान व आत्म-विश्लेषण पर भी घटित होती है।
5.	संगठनात्मक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अधिकांश लोगों पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाता है व दण्डात्मक होना पड़ता है।	5.	लोगों को यदि ठीक से अभिप्रेरित किया जाए तो वे स्व-निर्देशित हो सकते हैं और कार्य के लिए अधिक रचनात्मक हो सकते हैं।

अति-संक्षेप में, मैकग्रेगर की 'थ्योरी-X' तथा 'थ्योरी-Y' की विशेषताओं को निकोलस हेनरी के शब्दों में इस प्रकार वर्णित किया जा सकता हैः

"थ्योरी-X' बन्द मॉडल विशेषतया नौकरशाही सिद्धान्त पर लागू होती है। इसका मुख्य विश्वास यह मानना है कि अधिकांश लोग कार्य को पसन्द नहीं करते हैं, अधिकांश लोग बन्द और लगातार पर्यवेक्षण को पसन्द करते हैं, अधिकांश लोग संगठनात्मक समस्याओं को सुलझाने में रचनात्मक योगदान नहीं कर सकते, कार्य का अभिप्रेरण एक व्यक्तिगत मामला होता है और अधिकांश

लोगों को प्रत्यक्ष धमकी और दण्ड को लागू करके अभिप्रेरित किया जा सकता है। थ्योरी-Y, जिसको कि अन्य शीर्षक दिए जा सकते हैं, जैसे प्रणाली-4, आत्म-विश्लेषण, अन्तःअभिप्रेरणा और "यूपशिचियान" प्रबन्ध, अलग विश्वास संरचना वाली होती है। थ्योरी-Y मानती है कि यदि अच्छी दशाएँ प्रदान की जाएँ, तो अधिकांश लोग कार्य को भी खेल के समान मजे से करते हैं, अधिकांश लोग स्व-नियन्त्रण लागू कर सकते हैं और अपना कार्य अपने ही तरीके से करना पसन्द करते हैं, अधिकांश लोग रचनात्मक रूप से संगठनात्मक समस्याओं को सुलझाते हैं, कार्य पर अभिप्रेरणा एक सामूहिक मामला है और अधिकांश लोगों को सामाजिक और अहम् पुरस्कारों द्वारा अभिप्रेरित किया जा सकता है।"

इस प्रकार 'थ्योरी-X' और 'थ्योरी-Y' को जानने के बाद कोई भी यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि जो प्रबन्धक मानवीय प्रकृति की 'थ्योरी-X' मान्यताओं को स्वीकार करते हैं वे लोगों को अधिक निर्देशित, नियन्त्रित और पर्यवेक्षित करते हैं। इसके विपरीत 'थ्योरी-Y' के समर्थक प्रबन्धक सहयोगी और उत्प्रेरक होते हैं। परन्तु पाल हर्सी, ब्लेनकार्ड एव जॉनसन आगाह करते हैं कि यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि 'थ्योरी-X' 'बुरी' हैं और 'थ्योरी-Y' 'अच्छी'। वे कहते हैं कि 'थ्योरी-X' और 'थ्योरी-Y' लोगों की अभिव त्तियों या रुचियों (predispositious) को दर्शाती है। इसलिए एक प्रबन्धक के लिए 'थ्योरी-Y' से सम्बन्धित मान्यताएँ अच्छी हो सकती हैं पर हर समय इन्हीं मान्यताओं के आधार पर कार्य करना उपयुक्त नहीं हो सकता।

मानवीय प्रकृति का मैकग्रेगरवादी सैद्धान्तीकरण संगठनों के संचालन में काफी उपयोगी साबित हुआ है। इसने प्रबन्धकों को 'थ्योरी-Y' की मान्यताओं के आधार पर कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने का आग्रह किया है। मैकग्रेगर द्वारा सुझाई गई रणनीतियाँ जो 'थ्योरी-Y' से सम्बन्धित हैं आज के संगठनों में लाइन-स्टाफ सम्बन्धों के लिए काफी प्रासंगिकता रखती हैं। वे सूत्र प्रबन्धक जो 'थ्योरी-Y' से सम्बन्धित सन्दर्भ में सहयोग खोजते हैं, वे अपने अधीनस्थों, अपने उच्च अधिकारियों तथा अपने सहकर्मियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। मैकग्रेगर के मत में 'थ्योरी-Y' संगठन के प्रत्येक स्तर पर टीम भावना से कार्य करने पर जोर देती है। यह लाइन-स्टाफ सहयोग बढ़ने में भी सहायक होती है। "आज के प्रशासन में 'थ्योरी-Y' की ओर बढ़ने की प्रव त्ति है तथा भविष्य और अधिक लोकतान्त्रिक प्रशासन होगा।" मैकग्रेगर स्वयं मानते हैं कि 'थ्योरी-X' अब व्यापक रूप से अधिक उपयुक्त नहीं हो सकती। "थ्योरी-X मानवीय प्रव त्ति की नकारात्मक भावनाओं की व्याख्या करती है जबकि थ्योरी-Y सकारात्मक भावनाएँ दर्शाती हैं।"

सम्बन्धः डगलस मैकग्रेगर की थ्योरी-X तथा थ्योरी-Y की अक्सर अन्य विचारकों की विचारधाराओं के सम्बन्धों की तुलना की जाती है। मैकग्रेगर की 'थ्योरी-X' व 'थ्योरी-Y', लिकर्ट की प्रबन्ध प्रणाली 1-4 तथा अर्गीरिस की 'परिपक्वता-अपरिपक्वता' विचारधाराओं को सम्मिलित रूप से हर्सी. ब्लेनकार्ड तथा जॉनसन ने इस प्रकार प्रकट किया है।

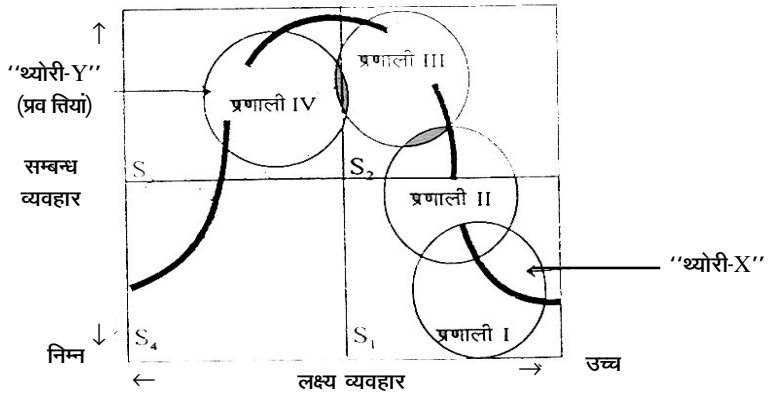

चित्र-1 मैकग्रेगर, लिकर्ट व अर्गीरिस की विचारधाराओं का समबन्ध

[स्रोतः हर्सी, ब्लेनकार्ड एवं जॉनसनः मैनेजमेंट ऑफ ऑर्गेनाइनेशनल विहेवियर, प्रन्टिसहॉल 2001 पष्ठ 561]

रेन्सिस लिकर्ट की प्रणाली-I की 'थ्योरी-X' की मान्यताओं से सम्बन्धित है। इसके अनुसार अधिकांश लोग निर्देशित होनी अधिक पसन्द करते हैं, उत्तरदायित्व लेने में कोई रूचि नहीं रखते और सुरक्षा को ही सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं। इसी प्रकार प्रणाली-4 का सम्बन्ध 'थ्योरी-Y' की मान्यताओं से मेल खाती है।

इसी प्रकार मैकग्रेगर, हर्जबर्ग तथा मैस्लो की विचारधाराओं को नीचे संक्षेप में सम्बन्ध इस प्रकार प्रकट किए जा सकते हैं।

मैस्लो	हर्जबर्ग	मैकग्रेगर
• उच्च स्तरीय जरूरतें -आत्म-विश्लेषण -सम्मान (कुछ हद तक सामाजिक भी)	• अभिप्रेरक -उपलब्धि -प्राप्ति की पहचान -चुनौतीपूर्ण कार्य -बढ़ा हुआ उत्तरदायित्व -संवद्धि और विकास	• 'थ्योरी-Y' -स्व-निर्देशन -स्व-नियन्त्रण -उत्तरदायित्व -अहम् की सन्तुष्टि
• निम्नस्तरीय जरूरतें -सामाजिक -सुरक्षात्मक -शारीरिक	• आरोग्य घटक -नीतियाँ और प्रशासन -पर्यवेक्षण -कार्य-दशाएँ -अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध -धन, प्रस्थिति, सुरक्षा	• 'थ्योरी-Y' -कार्य की अनिच्छा -निर्देशन पसन्द -सुरक्षा को प्राथमिकता -दण्ड व धमकी का उपयोग -कम रचनात्मकता।

मूल्यांकन

'थ्योरी-X' तथा 'थ्योरी-Y' मैकग्रेगर का प्रबन्ध को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है। यद्यपि उनके विचारों की काफी आलोचना की जाती है तथापि उनकी उपयोगिता मानवीय प्रकृति को समझाने में काफी सहायक है। मैकग्रेगर की सर्वप्रथम आलोचना यह की जाती है कि उनका सैद्धान्तीकरण मात्र मान्यताओं पर आधारित है न कि कसी आनुभविक शोध कार्यों पर। मैकग्रेगर के थ्योरी-X तथा थ्योरी-Y मानवीय प्रकृति की सही व्याख्या नहीं कर सकती क्योंकि मानवीय व्यवहार काफी जटिल होता है तथा यह परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। सिद्धान्त-X पूर्णतया नकारात्मक और निराशावादी द ष्टिकोण पर आधारित होने के कारण आज के समय में काफी सीमित महत्त्व रखता है। "यदि कर्मचारी आलसी, तटस्थ, अनिच्छुक, जिम्मेदारी से कतराने वाला, हठी तथा दुराग्रही, अरचनात्मक व असहयोगी प्रकृति वाला है तो थ्योरी-Y के अनुसार इसके कारण संगठन के प्रबन्ध की तकनीक व नियन्त्रण व्यवहारों में खोजे जाने चाहिए।" फिर भी ये सिद्धान्त प्रबन्ध पर आश्चर्यजनक प्रभाव छोड़ते हैं।

सारांश

'थ्योरी-X' तथा 'थ्योरी-Y' के प्रतिपादक डगलस मैकग्रेगर व्यावसायिक प्रबन्धकों के लिए एक सामान्य नाम होने के साथ-साथ प्रबन्ध के हर विद्यार्थी के लिए भी मैकग्रेगर का नाम काफी सामान्य है। "द ह्यूमन साइड ऑफ एन्टरप्राइज" मैकग्रेगर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसका प्रकाशन सन् 1960 में हुआ।

मैकग्रेगर मानवीय प्रकृति के बारे में प्रबन्धकों की मान्यताओं के आधार पर थ्योरी-X तथा थ्योरी-Y का प्रतिपादन करते हैं। थ्योरी-X मानव के नकारात्मक आयामों पर ज्यादा ध्यान देती है तथा यह मानती है कि एक औसत मनुष्य कार्य नहीं करना चाहता और काम से बचने में उसे मजा आता है वह कम महत्त्वाकांक्षी होता है, उत्तरदायित्व से बचना चाहता है तथा निर्देशन को पसन्द करता है। उसमें संगठन की समस्याओं को सुलझाने की रचनात्मक क्षमता की कमी पाई जाती है और वह अपनी निम्नस्तरीय आवश्यकताओं से ही अभिप्रेरित होता है। इस प्रकार की मानसिकता रखने वाले कर्मचारियों से काम लेने के लिए उन्हें डराना, धमकाना तथा दण्ड देना पड़ता है। इस प्रकार थ्योरी-X पूर्णतया निराशावादी दर्शन पर आधारित है।

मैकग्रेगर थ्योरी-X का परीक्षण करते हैं तथा उसे कम प्रासंगिक पाते हैं। इस कारण वे इसकी प्रतिस्थापन थ्योरी-Y का प्रतिपादन करते हैं जो सकारात्मक और आशावादी दर्शन पर आधारित होती है। नई थ्योरी यह मानती है कि कार्य करना व्यक्ति के लिए उतना ही स्वाभाविक है जितना कि खेलना तथा आराम करना। व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण की क्षमता रखता है तथा संगठन

की समस्याओं के समाधान हेतु उसमें रचनात्मक क्षमता भी पाई जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति सभी तरह की आवश्यकताओं से अभिप्रेरित किया जा सकता है ने कि सिर्फ निम्नस्तरीय आवश्यकताओं से। व्यक्ति स्व-निर्देशन की क्षमता रखता है तथा साथ ही उत्तरदायित्वों को भी सहर्ष स्वीकार करता है।

इस प्रकार मैकग्रेगर की अभिप्रेरणा की थ्योरी-X तथा थ्योरी-Y मानवीय प्रकृति की विपरीत मान्यताओं पर आधारित है। आज प्रशासन 'थ्योरी-Y' की ओर बढ़ रहा है। ऐसा होना भी चाहिए।

अभिप्रेरणा का द्वि-कारकी सिद्धान्त

फ्रेडरिक हर्जबर्ग का अभिप्रेरणा का सिद्धान्त "द्वि-कारकी" या "द्वि-घटकी" सिद्धान्त कहलाता है। हर्जबर्ग ने इन घटकों की पहचान क्रमशः आरोग्य घटक (हाइजीन फैक्टर्स) तथा अभिप्रेरणात्मक घटक (मोटिवेशनल फैक्टर्स) के रूप में की है। हर्जबर्ग के अध्ययनों से पूर्व प्रबन्धकों का ज्यादा ध्यान संगठन में आरोग्य घटकों को सुधारने में ही लगता था। जब भी कोई गड़बड़ होती, तो वे वेतन बढ़ाकर या कार्य-दशाएँ सुधार कर समस्या को हल करने का प्रयास करते। परन्तु इस प्रकार के उपायों से वे कर्मचारी को अभिप्रेरित नहीं कर पाते थे। हर्जबर्ग के सिद्धान्त ने न केवल अभिप्रेरणा की समस्या की व्याख्या ही की अपितु प्रबन्धकों को यह भी समझाया कि सिर्फ आरोग्य घटाकों पर ध्यान देने के बजाय अभिप्रेरणात्मक घटकों पर भी ध्यान दिया जाए। हर्जबर्ग कहते हैं-

> **"एक व्यक्ति के लिए; उन वलों का अध्ययन अधिक खुशी और अधिम आत्म-महसूस की भावना लाता है जो उन्नत मनोबल की ओर ले जाते हैं।"**

अपने साथियों के साथ पिट्सबर्ग अध्ययनों में लिए गए साक्षात्कारों में उन्होंने साक्षात्कारदाताओं से पूछा कि किस प्रकार की चीजें उनको कार्य करते समय नाखुश करती हैं या असन्तुष्टि लाती हैं और कौन सी चीजें उनको खुश करती हैं या सन्तुष्टि देती हैं।

अपने साक्षात्कारों से प्राप्त आँकड़ों और सूचनाओं के आधर पर हर्जबर्ग ने निष्कर्ष निकाला कि लोगों की आवश्यकताओं की दो श्रेणियाँ होती हैं-आरोग्य घटक और अभिप्रेरक। ये दोनों श्रेणियाँ एक-दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं और व्यवहार को विभिन्न तरीकों से प्रभावित करती हैं। हर्जबर्ग ने पाया कि जब लोगों को अपने कार्य से असन्तुष्टि होती है, तो उनका ध्यान उस पर्यावरण पर अधिक रहता है, जिसमें कि वे कार्य कर रहे हैं। इसके विपरीत जब लोग अपने काम से अच्छा महसूस करते हैं तो उनका ध्यान केवल कार्य पर ही होता है। हर्जबर्ग आवश्यकताओं की प्रथम श्रेणी को आरोग्य घटक या संधारण घटक कहता है। आरोग्य इसलिए क्योंकि वे लोगों के वातावरण की व्याख्या करते हैं और कार्य-असन्तुष्टि को रोकने का प्राथमिक कार्य करते हैं। इनको संधारण घटक इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये कभी भी पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं होते और उनका सदैव संधारण (maintinance) किया जाता है। हर्जबर्ग आवश्यकताओं की दूसरी श्रेणी को अभिप्रेरक (motivators) कहता है क्योकि ये लोगों को उच्च निष्पादन के लिए अभिप्रेरित करते हैं। निम्न तालिका से अरोग्य और अभिप्रेरक घटकों का संक्षिप्त रूप स्पष्ट है।

तालिका-1 आरोग्य और अभिप्रेरक घटक

आरोग्य घटक (पर्यावरण)	अभिप्रेरक (स्वयं कार्य)
* नीतियाँ और प्रशासन	* उपलब्धि
* पर्यवेक्षण	* प्राप्ति की पहचान
* कार्य दशाएँ	* चुनौतीपूर्ण कार्य
* अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध	* बढ़ा हुआ उत्तरदायित्व
* धन, प्रस्थिति, सुरक्षा	* संव द्धि और विकास

आरोग्य घटक

हर्जबर्ग अपने द्वि-घटकी सिद्धान्त के प्रथम घटकों को आरोग्य घटक या हाइजीन घटक कहते हैं। आरोग्य घटक वे हैं जो व्यक्ति को अभिप्रेरित तो नहीं करते लेकिन कार्य की असन्तुष्टि को रोकने का प्राथमित कार्य करते हैं। ये घटक व्यक्ति के पर्यावरण की व्याख्या करते हैं। हर्जबर्ग ने आरोग्य घटकों में निम्न को शामिल किया है:

1. **नीतियाँ और प्रशासन**: यहाँ कम्पनी की नीतियों और प्रशासन का महत्त्व है। व्यक्ति को कम्पनी की नीतियाँ और प्रशासन प्रभावित करती हैं। यदि कम्पनी की नीतियाँ और प्रशासन अच्छा होता है, तो व्यक्ति अपने कार्य से कम असन्तुष्टि महसूस करता है।
2. **पर्यवेक्षण**: संस्था में प्रत्येक कार्य का पर्यवेक्षण होता है। अच्छा पर्यवेक्षण कम्पनी के कार्मिकों को असन्तुष्ट नहीं होने देता।
3. **कार्य-दशाएँ**: यदि कम्पनी की कार्य-दशाएँ प्रतिकूल हों तो व्यक्ति का असन्तुष्ट होना स्वाभाविक है। अच्छी कार्य-दशाएँ व्यक्ति की असन्तुष्टि को रोकती हैं।
4. **अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध**: संस्था के व्यक्तियों के बीच के सम्बन्ध भी व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। यदि संस्था में अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध अच्छें हों तो व्यक्ति कम असन्तुष्टि महसूस करता है।
5. **धन, प्रस्थिति, सुरक्षा**: व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है। व्यक्ति वेतन के रूप में संस्था से धन प्राप्त करता है। साथ ही व्यक्ति संस्था में अपनी प्रस्थिति से भी प्रभावित होता है। सुरक्षा की आवश्यकता भी इसकी प्राथमिक आवश्यकताओं में है। यदि संस्था से उसे धन, प्रस्थिति और सुरक्षा नहीं मिलती है तो वह अपने कार्य से असन्तुष्टि महसूस करता है।

   इस प्रकार कम्पनी की नीतियाँ और प्रशासन, पर्यवेक्षण, कार्य-दशाएँ, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध, धन, प्रस्थिति और सुरक्षा संधारण घटक होते हैं। ये उन दशाओं से जुड़े होते हैं जिनमें कि व्यक्ति कार्य करता है। हर्जबर्ग के अनुसार, आरोग्य घटकों का महत्त्व इस प्रकार है:-

   "स्वास्थ्य खतरों को रोकने में कार्य करते हैं...ये उपचारात्मक नहीं होते बल्कि बचाव करने वाले होते हैं... इसी प्रकार जब कार्य के सन्दर्भ में नुकसानदायक घटक होते हैं तो वे कमजोर कार्य प्रव त्तियाँ लाते हैं। इन आरोग्य घटकों में उन्नति लाने में कार्य की सकारात्मक प्रव त्तियों के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर किया जा सकता है।"

अभिप्रेरक (मोटीवेटर्स)

आरोग्य घटकों के अलावा दूसरे घटकों को हर्जबर्ग अभिप्रेरक कहते हैं। आरोग्य घटकों के विपरीत अभिप्रेरक व्यक्ति उच्च निष्पादन के लिए अभिप्रेरित करते हैं। अभिप्रेरकों में हर्जबर्ग ने निम्न को शामिल किया है।

1. **उपलब्धि**: उपलब्धि व्यक्ति की समस्याओं को सुलझाने, कार्य लक्ष्य को प्राप्त करने तथा अपने प्रयासों के परिणाम प्राप्त करने पर मिलने वाले सन्तुष्टि है। व्यक्ति अपनी उपलब्धियों से अभिप्रेरित होता है।
2. **प्राप्ति पर पहचान**: जब व्यक्ति कोई प्रयास करता है और उसे कुछ प्राप्त होता है (accomplishment) तो व्यक्ति सन्तुष्ट होता है और वह अधिक कार्य करने को अभिप्रेरित होता है।
3. **चुनौतीपूर्ण कार्य**: कार्य की प्रकृति, उसमें रुचि, उसमें अन्तर्निहित चुनौती भी व्यक्ति को अभिप्रेरित करती है।
4. **बढ़ी हुई जिम्मेदारियाँ**: जब व्यक्ति के दायित्वों में बढ़ोत्तरी कर दी जाती है तो व्यक्ति स्वयं को कुछ समझने लगता है और वह अभिप्रेरित होता है, इन जिम्मेदारियों को निभाने में।
5. **संव द्धि और विकास**: व्यक्ति को जब अपनी संव द्धि और विकास की जानकारी हो जाती है तो वह अपने कार्य के लिए अभिप्रेरित किया जा सकता है।

हर्जबर्ग अभिप्रेरकों को 'अभिप्रेरक' इसलिए कहते हैं क्योंकि ये घटक कार्य सन्तुष्टि पर सकारात्मक प्रभाव डालते हैं और इससे सामान्यतया व्यक्ति की उत्पादन क्षमता बढ़ जाती है।

पॉल हर्सी, ब्लैनकार्ड एवं जॉनसन ने हर्जबर्ग के द्वि-घटकी सिद्धान्त के प्रभुत्वों को प्रकट करने के लिए निम्न दो रेखाचित्र दिए हैं।

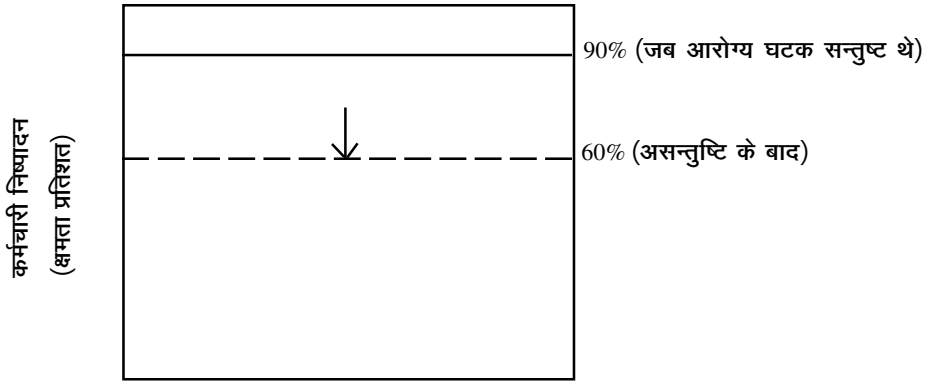

चित्र - अ

इस रेखाचित्र से स्पष्ट है कि जब आरोग्य घटक सन्तुष्ट होते हैं तो कर्मचारी की उत्पादन क्षमता अधिक होती है और इसके विपरीत असन्तुष्टि की स्थिति में यह प्रतिशत गिर जाता है। आरोग्य घटक जब सन्तुष्ट होते हैं तो वे कार्य असन्तुष्टि को कम करते हैं पर वे कर्मचारी को उच्च निष्पादन के लिए बहुत कम अभिप्रेरित कर पाते हैं। चित्र 'अ' असन्तुष्ट आरोग्य घटकों का प्रभाव दर्शाता है।

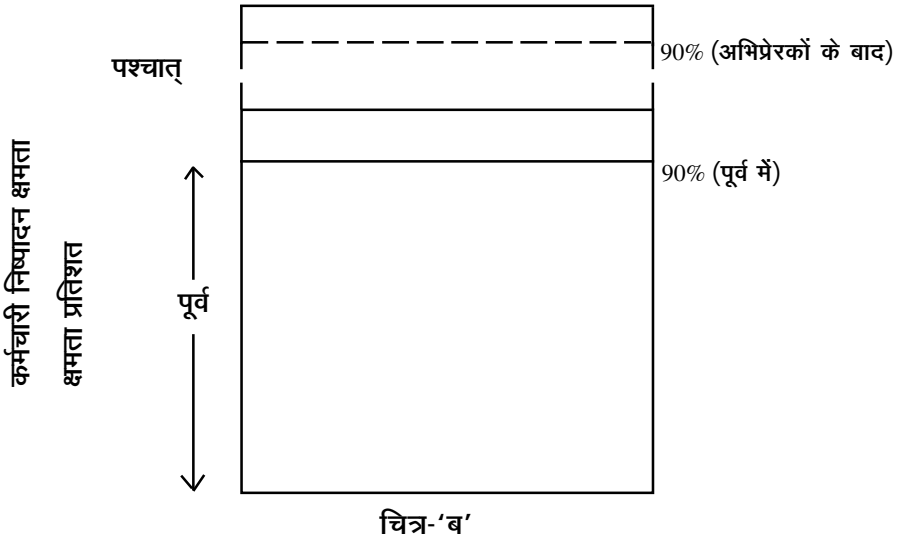

चित्र-'ब'

चित्र' 'ब' स्पष्ट करता है 'सन्तुष्ट अभिप्रेरकों' के प्रभाव को। जब व्यक्ति के अभिप्रेरक घटक सन्तुष्ट होते हैं तो कार्य-निष्पादन बढ़ जाता है।

हर्जबर्ग संगठन में कार्यरत व्यक्तियों को दो समूहों में बाँटते हैं, जिन्हें वे "आरोग्य खोजी" (Hygience Seeker) तथा "अभिप्रेरणा खोजी" (Motivation Seeker) कह पर पुकारते हैं। इन दोनों प्रकार के लोगों की विशेषताओं को निम्न सारणी में प्रदर्शित किया गया है।

आरोग्य-खोजी	अभिप्रेरणा-खोजी
1. पर्यावरण की प्रकृति से अभिप्रेरित होते हैं। 2. कार्य सन्दर्भ के विभिन्न आयामों के साथ कालिक एवं तीव्र असन्तोष प्रकट करते हैं जैसे वेतन, पर्यवेक्षण, कार्य-दशाएँ, प्रस्थिति, कार्य सुरक्षा, कम्पनी नीति और प्रशासन, साथी कार्मिक	कार्य-लक्ष्य से अभिप्रेरित होते हैं। कम आरोग्य घटकों पर तीव्र सहनशीलता

Contd....

3.	आरोग्य धटकों में उन्नति के बारे में अति-प्रतिक्रियावादिता	अरोग्य घटकों में उन्नति पर कम प्रतिक्रिया
4.	कम अवधि की सन्तुष्टि जब आरोग्य घटक उन्नत कर दिए जाते हैं।	इसी के समान
5.	जब आरोग्य घटकों को उन्नत नहीं किया जाता है तो अति-प्रतिक्रिया	जब आरोग्य घटकों में सुधार (उन्नति) आवश्यक हो तो कम असन्तोष
6.	उपलब्धियों (प्राप्तियों) पर कम संतुष्टि महसूस करते हैं।	उपलब्धियों से उच्च सन्तुष्टि महसूस करते हैं।
7.	जिस कार्य को वह करता है उसके प्रकार और किस्म पर कम रुचि दिखाता है।	जो काम वह करता है उसका आनन्द लेने की क्षमता दर्शाता है।
8.	कार्य के सकारात्मक गुणों और जीवन के प्रति कड़वाहट	कार्य और जीवन के प्रति सकारात्मक भावनाएँ रखता है।
9.	अनुभव से पेशेवर लाभ नहीं लेता है।	अनुभव से पेशेवर लाभ होता है।
10.	'सांस्कृतिक' शोर-शराबें के लिए (a) अति-उदारवादी या अतिअनुदारवादी (b) प्रबन्ध दर्शानों के व्याख्यान झाड़ना (c) उच्च प्रबन्ध के समान कार्य करना	विश्वास प्रणालियाँ सच्ची और सुविचारित
11.	प्रतिभा की वजह से कार्य पर सफल हो सकते हैं।	अति-उपलब्धि पाने वाला हो सकता है।

हर्जबर्ग और मैस्लो की अभिप्रेरणा विचारधाराओं में सम्बन्ध

मैस्लो की 'आवश्यकता-क्रमिकता' विचारधारा व्यक्ति की आवश्यकताओं या उद्देश्यों को पहचानने में मदद करती है तथा हर्जबर्ग की विचारधारा हमें उन आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की अन्तर्द ष्टि प्रदान करती है जैसा कि निम्न चित्र में दर्शाया गया है।

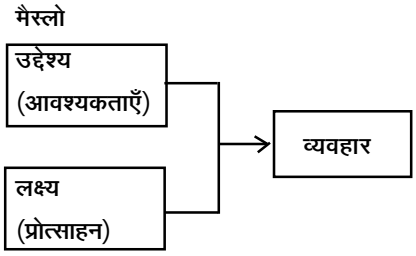

मैस्लों ने जिन आवश्यकताओं को शारीरिक, सुरक्षात्मक, सामाजिक और एक भाग की सम्मान की आवश्यकताएँ माना है उन्हें हर्जबर्ग ने आरोग्य घटकों के रूप में पहचाना है। इसके विपरीत एक भाग की सम्मान आवश्यकताएँ और आत्म-विश्लेषण की आवश्यकताओं को हर्जबर्ग 'अभिप्रेरक' घटक के रूप में पहचानते हैं इसे इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं।

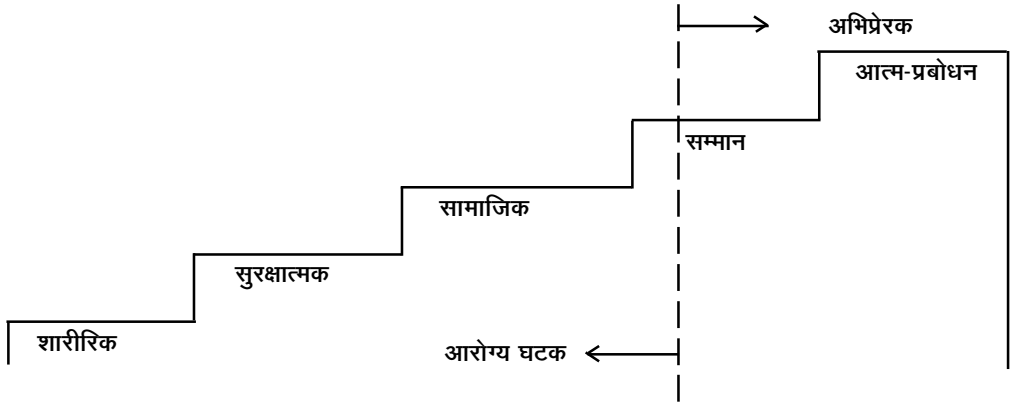

चित्रः मैस्लो व हर्जबर्ग की विचारधारा में सम्बन्ध

मैस्लों, अल्छरफर, हर्जबर्ग और मैक्लीलैण्ड की विचारधाराओं की तुलना

मैस्लों	एल्डरफर	हर्जबर्ग	मैक्लीलैण्ड
आत्म-विश्लेषण	वद्धि	अभिप्रेरक	उपलब्धि की आवश्यकता
सम्मान			
सामाजिक	सम्बन्धता	आरोग्य	सम्बद्धता की आवश्यकता
सुरक्षात्मक	अस्तित्व	घटक	शक्ति की आवश्यकता
शारीरिक			

[स्रोत नोर्थक्राफ्ट एवं नील [हर्सी, ब्लैनकार्ड व जॉनसन की पुस्तक से साभार]

कार्य-सम द्विकरण

(Job Enrichment)

हर्जबर्ग के कार्यों से पूर्व अनेक व्यवहारवादियों का ध्यान कार्मिकों की अभिप्रेरणा पर था। कई वर्षों तक "कार्य व द्विकरण" (जोब एनलाइजमेन्ट) और "कार्य रोटेशन" पर काफी जोर दिया गया। मान्यता यह थी कि कर्मचारियों के कार्य में व द्वि करने से वे अधिक सन्तुष्टि महसूस करेंगे। इस दिशा में हर्जबर्ग ने अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए। उनका मत था कि अच्छा कार्य करने के लिए कार्य-सम द्विकरण या जॉब एनरिचमैन्ट आवश्यक है। कार्य सम द्विकरण का अर्थ है कार्य की जिम्मेदारी, क्षेत्र और चुनौती को जान-बूझकर उच्च करना।

हर्जबर्ग के अनुसार कार्य सम द्विकरण वह तकनीक है जो कम्पनी अपने कर्मचारियों को कार्य के लिए अधिकतम अभिप्रेरित करने के लिए काम में लेती हैं ताकि कार्य सन्तुष्टि बढ़ सके। हर्जबर्ग कहते हैं कि कार्य सम द्विकरण से उन अनके समस्याओं का समाधान किया जा सकता है जिनका कि सामना आज प्रबन्धक कर रहे हैं। जैसे कि कर्मचारियों के व्यवहार में तीव्र परिवर्तन, काम छोड़ने की प्रव त्ति, अनुपस्थितिवाद, ढीलापन, हड़तालें, ऊँचे प्रशिक्षण खर्च, निम्न उत्पादन आदि।

हर्जबर्ग कहते हैं कि अक्सर प्रबन्धक कर्मचारी के व्यक्तिगत योगदान को कम करने में तो सफल हो जाते हैं पर उसका वर्तमान कार्य में संव द्धि करने का अवसर प्रदान नहीं कर पाते हैं। हर्जबर्ग इसे "क्षैजित कार्य-भार लादना" कहते हैं। इसके विपरीत "उर्ध्वाधर कार्य-भार लादने" से अभिप्रेरक घटक प्राप्त होते हैं। "उर्ध्वाधर कार्य-भार लादने" का सिद्धान्त प्रक्रिया-लदान (Process Loading) को एक कार्य बनाना, अतिरिक्त लक्ष्य और उन उत्तरदायित्वों को शामिल करता है जो आरम्भिक कार्य-लक्ष्यों की तुलना में अधिक सन्तोष प्रदान कर सकते हैं। कार्य सम द्विकरण की प्रक्रिया में फीडबैक प्रक्रिया काफी महत्त्वपूर्ण होती है। यह पहचान अभिप्रेरक को प्रभावित करती है। प्रभावी फीडबैक कर्मचारी और कार्य-लक्ष्यों के बीच व्यवहार के बीच होता है न कि कर्मचारी और पर्यवेक्षक के बीच। प्रभावी फीडबैक के निम्न लक्षण होते हैं।

1. यह कार्य-लक्ष्य निष्पादन से जुड़ा होता है न कि व्यक्तिगत लक्षणों से।
2. यह व्यक्तिगत आधार पर होता है न कि सामूहिक आधार पर।
3. यह अल्प-अन्तराल में घटित होता है।
4. यह कर्मचारी को कार्य-लक्ष्य से दिया जाता है न कि पर्यवेक्षक द्वारा।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

अभिप्रेरणा का द्वि-घटकी सिद्धान्त हर्जबर्ग की प्रबन्ध को महत्त्वपूर्ण देन है। फिर भी हर्जबर्ग के सिद्धान्त को औद्योगिक-अभियान्त्रिकी उपागम अपनाने वाला मानकर इसकील आलोचना की जाती है। उनका यह सिद्धान्त संकुचित माना जाता है। साथ ही हर्जबर्ग का दोनों घटकों के बीच इतना स्पष्ट अन्तर सम्भव नहीं हो सकता। एक व्यक्ति के लिए जो आरोग्य घटक हो सकता है वही दूसरे व्यक्ति के लिए अभिप्रेरक हो सकता है।

हर्जबर्ग की मैथ्डोलोजी की भी आलोचना की जाती है। कुछ शोधकर्त्ताओं ने इसी मैथ्डोलोजी का उपयोगी करते हुए अध्ययन किया पर उन्हें वो परिणाम प्राप्त नहीं हुए जो हर्जबर्ग को प्राप्त हुए थे। हाऊस एवं विगडर ने हर्जबर्ग के सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

1. मैथ्डोलॉजी जो हर्जबर्ग ने काम में ली है, गलत है।
2. पक्षपातपूर्ण सिद्धान्त।
3. पिट्सबर्ग अध्ययनों में सन्तुष्टि के मापन का कोई व्यापक पैमाना काम में नहीं लिया गया था।

उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद हर्जबर्ग का शोध काफी महत्त्व रखता है। द्वि-घटक सिद्धान्त को अनेक क्षेत्रों में लागू किया जा सकता है। साथ ही कार्य-सम द्विकरण पर हर्जबर्ग के विचार उनका मौलिक योगदान है।

सारांश

फ्रेडरिक हर्जबर्ग ने अभिप्रेरणा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अभिप्रेरणा के द्वि-घटकीय सिद्धान्त का प्रतिपादन हर्जबर्ग ने किया जो कि मानव के अभिप्रेरणात्मक व्यवहार की व्याख्या करता है। उनका यह सिद्धान्त पिट्सबर्ग में किए गए अध्ययनों को परिणाम है।

हर्जबर्ग के द्वि-घटकी सिद्धान्त में एक घटक वे हैं जो मानव को कार्य के समय होने वाली असन्तुष्टि को कम करते है तथा दूसरे प्रकार के वे घटक हैं जो व्यक्ति को अभिप्रेरित करते हैं। हर्जबर्ग प्रथम प्रकार के घटकों को 'आरोग्य घटक' या 'हाइजीन फैक्टर्स' तथा दूसरे प्रकार के घटकों को 'अभिप्रेरक घटक' कहते हैं।

आरोग्य घटकों मे हर्जबर्ग निम्न कारकों को सम्मिलित करते हैं-कम्पनी की नीतियाँ और प्रशासन, पर्यवेक्षण, कार्य की दशाएँ, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध तथा धन, प्रस्थिति व सुरक्षा। ये घटक व्यक्ति में कार्य की असन्तुष्टि को रोकने में सहायक होते हैं।

अभिप्रेरक घटकों में हर्जबर्ग निम्न घटकों को सम्मिलित करते हैं-उपलब्धि, प्राप्ति की पहचान, चुनौतीकरण कार्य, बढ़ा हुआ उत्तरदायित्व तथा संव द्धि और विकास। हर्जबर्ग का मानना है कि व्यक्ति को अभिप्रेरित करने का कार्य ये अभिप्रेरक घटक ही करते हैं।

हर्जबर्ग संगठन में कार्यरत व्यक्तियों को दो समूहों में बाँटते हैं जिन्हें क्रमशः 'आरोग्य खोजी' तथा 'अभिप्रेरणा खोजी' कहा जाता है। दोनों प्रकार के व्यक्तियों की विशेषताओं की विवेचना हर्जबर्ग करते हैं।

कार्य-संव द्विकरण या जोब एनरिचमेन्ट पर भी हर्जबर्ग के विचार मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। कार्य संव द्विकरण का आशय है कार्य की जिम्मेदारी, क्षेत्र तथा चुनौती को जान-बूझकर उच्च करना। हर्जबर्ग के मत में इससे कार्य सन्तुष्टि बढ़ती है।

UNIT-V

अध्याय-15

प्रशासन पर नियन्त्रण

(Control Over Public Administration)

प्रत्येक लोकतांत्रिक देश में दो प्रकार की कार्यपालिका होती है। प्रथम, अस्थायी कार्यपालिका तथा द्वितीय, स्थाई कार्यपालिका। अस्थायी कार्यपालिका राष्ट्रपति होता है जो जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रुप से एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है तथा उनके (जनता के) प्रति प्रत्यक्ष रुप से उत्तरदायी होता है। राष्ट्रपति अपनी सुविधा अनुसार एक टीम का गठन करता है। इस टीम का प्रत्येक सदस्य किसी-न-किसी विभाग का मुखिया होता है तथा अपने विभाग के प्रशासन के सुचारु संचालन के लिए राष्ट्रपति (न कि संसद और देश की जनता) के प्रति जवाबदेह होता है। दूसरी ओर, संसदीय प्रणाली वाले राज्यों में प्रधानमंत्री तथा उनकी मंत्रिपरिषद अस्थायी कार्यपालिका होती है। इसका गठन जनता के द्वारा अप्रत्यक्ष रुप से एक निश्चित अवधि के लिए होता है। प्रत्येक मंत्री के अधीन एक विभाग होता है जिसका वह राजनैतिक मुखिया होता है। प्रधानमंत्री और उनकी मंत्रिपरिषद् व्यक्तिगत रुप से (उस विभाग के कार्यों के सम्बन्ध में जिसके वो राजनैतिक मुख्य कार्यपालिका हैं) तथा सामूहिक रुप से (पूरे देश के शासन संचालन के लिए संसद के माध्यम से लोगों के प्रति अप्रत्यक्ष रुप से जवाबदेह है।

स्थाई कार्यपालिका उस देश का लोक प्रशासन होता है जिसके अधिकारीगण निर्वाचित न होकर स्थाई (सामान्यतः) तौर पर नियुक्ति किए जाते हैं। इनकी नियुक्ति उन नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए की जाती है जिनका निर्माण व्यवस्थापिका शाखा के द्वारा किया जाता है। इन नीतियों के कार्यान्वयन के लिए प्रशासनिक अधिकारियों को अनेक शक्तियाँ प्रदान की जाती है। इन शक्तियों के प्रयोग के द्वारा ये प्रशासनिक अधिकारी आाम नागरिकों के जीवन को गहरे से प्रभावित करते हैं जबकि ये उनके (जनता के) प्रति अपनी शक्तियों के प्रयोग के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रुप से जवाबदेह नहीं होते हैं। फलतः प्रशासन अतुलित शक्ति से युक्त हो जाता है।

ऐसी स्थिति में प्रशासन की इन शक्तियों को नियन्त्रित करने की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। ह्वाइट के शब्दों में, प्रजातन्त्रीय समाज में शक्ति पर नियन्त्रण की भी उतनी ही अधिक आवश्यकता है। स्पष्ट प्रयोजनों के लिए पर्याप्त अधिकार किस प्रकार निहित किए जाएं, तथा सत्ता को पंगु बनाये बिना किस प्रकार समुचित नियन्त्रण स्थापित किया जाय, यह लोकप्रिय सरकार के समक्ष एक ऐतिहासिक उलझन है। शक्ति प्रदान करते समय यह भय सदैव रहता है कि कहीं शक्ति की उपेक्षा या दुरुपयोग तो नही किया जाएगा। यह केवल सैद्धान्तिक आशंका नहीं है। भारत में आपातकाल (26 जून, 1975 से 23 मार्च, 1977) में लोक प्रशासन द्वारा की गई ज्यादतियाँ इस बात की आवश्यकता पर बल देती है कि इन्हें नियन्त्रित करने के लिए प्रभावकारी प्रणाली का विकास किया जाय।

फलस्वरुप प्रत्येक लोकतांत्रिक देश में प्रशासन की गतिविधियों को नियन्त्रित करने के लिए सामान्यतः तीन प्रमुख विधियाँ अपनाई जाती हैः

A. प्रशासन पर कार्यपालिका का नियन्त्रण
B. प्रशासन पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण
C. प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण

इन तीनों प्रकार के नियन्त्रण की विस्त त व्याख्या नीचे दी गई हैः

A. **प्रशासन पर कार्यपालिका का नियन्त्रण** **(Executive Control over Administrative):** प्रशासन पर कार्यपालिका के

नियन्त्रण से तात्पर्य है अस्थायी कार्यपालिका द्वारा प्रशासन की गतिविधियों को नियन्त्रित एवं निर्देशित करना। यह नियन्त्रण प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में सम्बन्धित मंत्री, जो कि उस विभाग का विभागाध्यक्ष या मुख्य कार्यपालिक कहलाता है, के द्वारा किया जाता है।

लोक सेवा हर देश में परिवर्तन में बाधा डालती है; और वह मुख्य कार्यपालिका द्वारा निर्धारित कार्यक्रमों तथा नवीन योजनाओं के प्रति वांछित निष्ठा का प्रदर्शन भी नहीं करती है। लोक-सेवा द्वारा सामान्यतः परिवर्तन का विरोध किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में 'न्यू डील' कार्यक्रमों के शीघ्र क्रियान्वयन के मार्ग में लोक-सेवा एक बाधा मानी गई थी। ब्रिटेन में भी लोक सेवा ने मजदूर सरकार के समाजवादी कार्यक्रमों में एक प्रकार की बाधा-प्रतिरोध उपस्थित की थी। इतना ही नहीं, प्रशासकीय यंत्र के विभिन्न विभागों में एक-दूसरे से मतभेद होते हैं, वे 'साम्राज्य-निर्माण' में लगे रहते हैं और अधिक से अधिक शक्ति हथियाने के लिए स्पष्टतः व्यग्र रहते हैं।

फैलिक्स ए० निग्रो ने कार्यपालिका नियन्त्रण की आवश्यकता बताते हुए कहा है कि "कार्यपालिका का नियन्त्रण विभागीय कार्यवाही के लिए तथा निर्धारित नीति के माध्यम से कार्य करवाने के लिए अति आवश्यक है।" कार्यपालिका प्रशासन को कई प्रकार से नियन्त्रित करती है। ई० एन० ग्लैसडन ने तीन प्रकार के साधन बताये हैं जिनके द्वारा कार्यपालिका प्रशासन पर नियन्त्रण करती है। प्रथम, मंत्रियों द्वारा नीति-निर्माण करके राजनैतिक निर्देश, द्वितीय, राष्ट्रीय बजट का संचालन, तथा तीसरे, नियुक्ति का अधिकार। अमरेश्वर अवस्थी एवं एस० आर० महेश्वरी ने इनकी संख्या छः बताई हैः नियुक्ति तथा निष्कासन का अधिकार, नियम-निर्माण एवं अध्यादेश आदि का अधिकार, लोक सेवा संहिता, कर्मचारी वर्ग के समुदाय का अभिकरण, बजट, तथा लोकमत से अपील। कार्यपालिका के द्वारा जिन प्रमुख साधनों का प्रयोग प्रशासन पर नियन्त्रण करने के लिए किया जाता है, वे निम्नलिखित हैं-

1. **नीति-निर्माण द्वारा नियन्त्रणः** नीति-निर्माण में कार्यपालिका महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। संसदीय प्रणाली में मंत्रिमण्डल ही मूल रुप से नीतियों का प्रारुप तैयार करता है और सदन में बहुमत होने की वजह से उन नीतियों पर स्वीक ति की मुहर लगवा लेता है। इसके अलावा विभागीय मंत्री मुख्य कार्यपालिका एवं मंत्रिमण्डल से सलाह लेकर स्वयं भी अनेक नीतियों को निर्धारित करता है जो समबन्धित विभागों में लागू की जाती है।

   विभागीय मंत्री के पास निर्देशन (Direction), निरीक्षण (Inspection), पर्यवेक्षण (Supervision) एवं नियन्त्रण (Control) की शक्ति होती है जिसका प्रयोग वह लोक-सेवा से सम्बन्धित विभिन्न विभागों के लिए करता है। प्रत्येक उच्चाधिकारी और कर्मचारी अपने कार्यों के लिए विभागों के मंत्री के प्रति उत्तरदायी होता है। विभागीय मंत्री या मुख्य कार्यपालिका स्वयं भी अनेक विभागों के कार्यकलापों का स्थल पर जाकर 'औचक' (अचानक, बिना किसी पूर्व सूचना के) निरीक्षण करता है और दोषी कर्मचारियों और अधिकारियों पर तत्काल अनुशासनिक कार्यवाही की जाती है। मंत्री विभागीय अधिकारियों को आवश्यक आदेश और निर्देश भी जारी करता है। समस्त विभागीय अधिकारी और कर्मचारी मंत्री के निर्देशन और नियन्त्रण में कार्य करते हैं। मंत्री उच्चाधिकारियों का एक शाखा से दूसरी शाखा में तबादला कर सकता है। मंत्री किसी भी फाइल को माँगकर उससे सम्बन्धित समस्त कार्यवाहियों की जाँच कर सकता है। तात्पर्य है कि मंत्री का विभाग पर पूरा नियन्त्रण रहता है।

2. **संगठन एवं संरचनाओं का गठन व पुनर्गठनः** विभिन्न कानूनों को लागू करने के लिए व्यवस्थापिका को प्रायः विभागों, आयोगों, निगमों, ब्यूरो कार्यालयों आदि का गठन करना पड़ता है। किंतु वास्तव में व्यवस्थापिका तो केवल संगठन की विस्त त रुपरेखा ही निश्चित करती है, संगठन के आंतरिक स्वरुप का निर्धारण करने का कार्य तो कार्यपालिका पर छोड़ दिया जाता है। कार्यपालिका ही संगठनों की विशद् रुपरेखाएँ बनाती है जिनके द्वारा नीति के लक्ष्य पूरे किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका को यह भी अधिकार है कि वह इन विभागों, निगमों व अन्य निकायों का आंतरिक पुनर्गठन कर सकती है।

   साथ ही व्यवस्थापिका सभी प्रशासकीय कार्यों का (विभिन्न विभागों तथा अन्य निकायों का) ढाँचा ही प्रदान करती है जबकि इन कार्यों का विस्त त विवरण तो कार्यपालिका द्वारा ही प्रदान किया जाता है। इस प्रकार प्रशासकीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्यपालिका को यह अधिकार है कि वह आवश्यकतानुसार किसी भी संगठन के आन्तरिक स्वरुप को निश्चित करे अथवा विद्यमान स्वरुप का समयानुसार परिवर्तित करे। विभिन्न प्रशासकीय निकायों के गठन तथा पुनर्गठन और उनके कार्यों के निर्धारण के द्वारा कार्यपालिका प्रशासन के ऊपर नियन्त्रण स्थापित करती है।

3. **नियुक्ति तथा निष्कासन के द्वारा नियन्त्रणः** "नियुक्ति और विमुक्ति" भी प्रशासन पर कार्यपालिका के नियन्त्रण का एक प्रमुख साधन बन जाता है। मंत्री अपने सचित और विभागाध्यक्ष का चयन स्वयं करते हैं ताकि उसके साथ मंत्री सामंजस्यपूर्ण वातावरण में कार्य कर सके। लोक-सेवा के कार्मिकों की भर्ती प्रायः संघ लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission) और राज्यों के लोक सेवा आयोग द्वारा ही की जाती है, परन्तु भर्ती के नियम कार्यपालिका द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। विभिन्न पदों के लिए क्या योग्यता होगी, कितना अनुभव चाहिए, आयु कितनी होनी चाहिए आदि तमाम बातों का निर्धारण कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता है। विभागीय मंत्रियों को कई प्रकार के अधिकारियों और कर्मचारियों करने या बर्खास्त करने का भी अधिकार प्राप्त है। अतः नियुक्ति और निष्कासन के अस्त्र द्वारा मंत्री विभाग पर प्रभावकारी नियन्त्रण रखता है।

4. **बजट प्रणाली द्वारा नियन्त्रणः** प्रत्येक विभाग को अपनी वित्तीय और विभागीय आवश्यकताओं के लिए मंत्री पर निर्भर करना पड़ता है। कार्यपालिका ही बजट तैयार करती है, व्यय को निर्धारित करती है तथा आय के स्त्रोतों की व्याख्या करती है। कार्यपालिका के द्वारा ही विभिन्न विभागों के व्यय निर्धारित किए जाते हैं और वित्त आवंटित किये जाते हैं। कार्यपालिका द्वारा निर्धारित व्यय की सीमा को मान कर ही उच्चाधिकारी अपने कार्यों का संचालन करते हैं अर्थात् धन वित्तीय नियमों के अनुसार ही व्यय किया जाता है, जिसका आय-व्यय का हिसाब रखा जाता है और लेखा-परीक्षण भी होता है। अतः बजट प्रणाली भी प्रशासन पर कार्यपालिका के नियन्त्रण का एक साधन है।

5. **प्रदत्त व्यवस्थापन द्वारा नियन्त्रणः** व्यवस्थापिका अनेक मामलों में कार्यपालिका को विधि-निर्माण की शक्ति सौंप देती है, क्योंकि व्यवस्थापिका के पास न तो पर्याप्त समय होता है और न ही तकनीकी मामलों को समझने के लिए विशेषज्ञ ही। जब कार्यपालिका को विधायिका विधि-निर्माण की शक्ति सौंप देती है तो इसे प्रदत्त विधायन कहा जाता है। विधायिका एक मोटा प्रारुप तैयार कर उससे सम्बन्धित बारीकियों पर विधि-निर्माण का अधिकार कार्यपालिका को दे देती है। कार्यपालिका विधायिका द्वारा प्राप्त ढाँचे के आधार पर अपनी आवश्यकताओं और उपयोगिताओं के अनुसार विधि-निर्माण करती है। इस विधि-निर्माण में बहुत से विभागों के संगठन, अधिकारियों की नियुक्ति और सेवा-शर्तें, अधिकार-क्षेत्र और कर्त्तव्य को भी निर्धारित किया जाता है। भारत और कई अन्य देशों में यह भी प्रावधान है कि विभागीय मंत्री या कार्यपालिका ऐसे समय में जब सदन का सत्र नहीं चल रहा है, अध्यादेश भी जारी कर सकता है लेकिन यह अध्यादेश अस्थायी होता है। अगर अध्यादेश को निर्धारित समय के अंदर विधायिका द्वारा पास नहीं कराया जाता है तो वे अप्रभावी हो जाते हैं। इस प्रकार प्रदत्त विधायन तथा कार्यपालिका द्वारा जारी किया गया अध्यादेश भी प्रशासन पर कार्यपालिका के नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण तरीका बन जाता है।

6. **समन्वय द्वारा नियन्त्रणः** समन्वय संगठन का प्रथम सिद्धान्त है। जब तक कि प्रशासन के द्वारा किए जानेवाले कार्यों का आपस में तालमेल नहीं स्थापित किया जाएगा तब तक संसाधनों के अपव्यय की सम्भावना बनी रहेगी। प्रत्येक विभाग की आन्तरिक क्रियाओं के मध्य समन्वय स्थापित करने का अधिकार विभागाध्यक्ष के पास सुरक्षित होता है जबकि एक से अधिक विभागों की क्रियाओं को समन्वित करने का कार्य मंत्रिपरिषद के द्वारा किया जाता है। प्रशासनिक पदाधिकारियों की विभिन्न गतिविधियों में समन्वय स्थापित करके भी कार्यपालिका प्रशासन के ऊपर प्रभावपूर्ण रुप से नियन्त्रण रखती है तथा उन्हें मनमाने तरीके से कार्य करने से प्रतिबन्धित करती है।

प्रशासन पर कार्यपालिका के नियन्त्रण की समस्याएँ

प्रशासन पर कार्यपालिका का नियन्त्रण सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही रुपों में देखने को मिलता है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या यह नियन्त्रण प्रभावी बन पाता है? क्या मंत्री इतने योग्य होते हैं कि वे दक्ष, अनुभवी व प्रभावशाली प्रशासनिक अधिकारियों को नियन्त्रित कर सकें? क्या कार्यपालिका सदस्यों में वे योग्यताएँ व विशेषताएँ पाई जाती है जिनसे विभागों के तकनीकी पहलुओं को समझ सकें। प्रमुख रुप से कार्यपालिका के प्रशासन पर प्रभावी नियन्त्रण के रास्ते में निम्न समस्याएँ आती हैं:

1. "भारतीय राजनीति का यह एक मनोरंजक तथ्य है कि यहाँ दार्शनिक या पत्रकारों को युद्ध-मंत्री, प्रोफेसर को वाणिज्य मंत्री, राजा को पर्यटन मंत्री, वकील को जहाजरानी मंत्री, अशिक्षित अँगूठा छाप को शिक्षा मंत्री, तथा पेशेवर राजनीतिज्ञ को वित्तमंत्री बना दिया जाता है।" "आँख का अंधा नाम नयनसुख" वाली कहावत अनेक मंत्रियों के साथ चरितार्थ होती है, क्योंकि मंत्रियों का मंत्रिमण्डल में सम्मिलित होना और उनको विभाग मिलना महज एक संयोग होता है। इसके लिए

कोई योग्यता और अनुभव निर्धारित नहीं रहता है। वे राजनीतिक आधार पर नियुक्त होते हैं। मंत्री पद प्राप्त करने के लिए उन्हें तिकड़म और गुटबंदी का सहारा लेना पड़ता है। प्रधानमंत्री की इच्छा पर भी उनका मंत्री होना निर्भर करता है। अतः सामान्यतया योग्यता का अभाव पाया जाता है।

2. मंत्री का विभाग का चार्ज सौंपे जाने से पूर्व या बाद में कोई प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। फलतः ये सम्बन्धित विभागीय मामलों के विशेषज्ञ नहीं होते हैं अर्थात् ये पेशेवर प्रशासक नहीं होते हैं। इनमें तकनीकी ज्ञान का अभाव पाया जाता है जिससे इन्हें अधिकारी-वर्ग द्वारा बताये गए आँकड़ों और तरीकों पर ही निर्भर करना पड़ता है।

3. राजनीतिक चालें, उठापटक, विरोधी दल के साथ दाँवपेंच, चुनाव के लिए मतदाता को पूर्व से ही प्रभावित करने इत्यादि में वे इतने व्यस्त होते हैं कि विभागीय मामलों को समझने के लिए समय नहीं दे पाते हैं और उनके ज्ञान, अनुभव और तकनीक में विकास नहीं हो पाता है।

4. सरकारों का अस्थायित्व (Instability of Governments) तथा मंत्रियों के विभागों में परिवर्तन (Change in the Departments of Ministers) दो ऐसे तथ्य हैं जो कार्यपालिका द्वारा प्रशासन पर नियन्त्रण के मार्ग में बाधा बन जाते हैं। विदेश विभाग का मंत्री दो-चार महीनों में जब तक विदेश-नीति को समझने का प्रयत्न कर ही रहा होता है कि अचानक उसको पेट्रोलियम और रसायन मंत्रालय सौंप दिया जाता है। जब तक पेट्रोलियम और रसायन की समस्याओं को वह समझना प्रारम्भ करता है, तब तक सरकार ही बदल जाती है। इनका कार्यकाल अनिश्चित होता है। जनता पार्टी के शासनकाल में एक ऐसे व्यक्ति को विदेशमंत्री बनाया गया था जो गुट निरपेक्ष आन्दोलन और दक्षिण अफ्रीका सम्बन्धी भारतीय नीति के विपरीत विदेशों में बयान दे बैठे थे, जिससे न सिर्फ विदेश मंत्री की बल्कि पूरे भारत की बदनामी विदेशी पत्रकारों ने की।

5. मंत्रियों के विपरीत लोक प्रशासन के उच्चाधिकारी और कर्मचारी योग्य और कुशल होते हैं। वे अपने मामले के विशेषज्ञ होते हैं और उनमें तकनीकी ज्ञान और अनुभव का भण्डार पाया जाता है लेकिन वे मंत्रियों को ज्यादा जागरुक (Extra Conscious) नहीं बनाना चाहते, क्योंकि उनकी मान्यता है कि अगर मंत्री को ज्यादा जागरुक बना दिया जाएगा तो वे उनके द्वारा बतायी गई तकनीकों के आधार पर उन्हें ही परेशान करेगा और रौब दिखाएगा। इस कारण मंत्री को उच्चाधिकारी इतनी ही जानकारी प्रदान करते हैं ताकि वह बराबर विभाग के अधिकारियों पर आश्रित रहे और उनकी पूछ बनी रहे।

निष्कर्ष

उपर्युक्त सीमाओं और समस्याओं के अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि मंत्रियों का विभाग पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित नहीं हो पाता है। इसलिए कहा भी जाता है कि सरकार राजनीतिज्ञ के द्वारा नहीं नौकरशाह (Bureaucrats) के द्वारा चलती है। इंग्लैण्ड के संदर्भ में **सिडनी लो** (Sidney Low) ने कहा है कि "वित्त मंत्रालय में द्वितीय श्रेणी के क्लर्क का पद प्राप्त करने के लिए एक नौजवान को अंकगणित की प्रतियोगिता परीक्षा में पास होना पड़ता है, किंतु वित्त-मंत्री अधेड़ उम्र का ऐसा सांसारिक व्यक्ति भी हो सकता है जो अंकों के विषय की उस थोड़ी बहुत जानकारी को भी भूल चुका है जो उसने ईटन अथवा ऑक्सफोर्ड में प्राप्त की थी और उन दशमलवों में खजाने का लेखा जब उसके सामने पहली बार रखा जाता है तब वह उन छोटे-छोटे बिन्दुओं का अर्थ जानने के लिए उत्सुक हो जाता है।" लेकिन इन आलोचनाओं के बावजूद भी आज संतोषजनक स्थिति उभर कर सामने आई है। मंत्रिमण्डल के निर्माण में विशेषज्ञों को स्थान दिया जा रहा है। प्राध्यापक को शिक्षा-मंत्री, अर्थशास्त्री को वित्त-मंत्री तथा वैज्ञानिकों को विज्ञान एवं तकनीकी विभाग सौंपे जा रहे हैं, जो विभागीय प्रशासन पर नियन्त्रण करने में सक्षम हैं।

B. **प्रशासन पर विधायी नियन्त्रण (Legislative Control over Administrative):** व्यवस्थापिका का कार्य केवल कानून बनाने तक ही सीमित नहीं है वरन् वह प्रशासन के प्रत्येक पहलू में हस्तक्षेप कर सकती है। लोक प्रशासन जिन नीतियों को क्रियान्वित करती है उनकी रचना भले ही कार्यपालिका द्वारा की जाती है फिर भी संसद की स्वीक ति के बिना वे लोक सेवकों की प्रेरणा नहीं बन सकती। एल.डी. व्हाइट के अनुसार सार्वजनिक नीति के प्रमुख उद्देश्य कानून द्वारा निर्धारित किए जाते हैं और इनको कांग्रेस (संसद) द्वारा इच्छानुसार परिवर्तित एवं अस्वीक त किया जा सकता है। प्रशासकीय अभिकरण अपने लक्ष्यों को स्वयं निर्धारित नहीं करते, वे आत्मनिर्भर या आत्मनिर्देशित नहीं है। वे कार्यकारी

शक्ति, कानूनों एवं सहायक व्यवस्थापन द्वारा प्राप्त करते हैं। यद्यपि एल.डी. व्हाइट का उपरोक्त कथन अमेरिकी प्रशासन के संदर्भ में कहा गया है तथापि यह सभी देशों के लोक प्रशासन पर समान रुप से लागू होता है।

पारस्परिक सम्बन्ध के आधार

संसद द्वारा प्रशासनिक नीति-निर्धारण के अलावा अन्य आधारों पर भी लोक प्रशासन से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इन दो संस्थाओं के मध्य सामान्यतः निम्न आधारों पर सम्बन्ध स्थापित होता हैः-

1. **व्यवस्थापिका या संसद लोक-प्रशासन के व्यवहार पर बहस कर सकती हैः** संसद द्वारा जो कानून एवं नीतियाँ निर्मित की जाती हैं वे किस रुप में क्रियान्वित हुई, यह देखना उसका एक प्रमुख उत्तरदायित्व है। इस दायित्व का निर्वाह करने के लिए वह समय-समय पर लोक-प्रशासकों के व्यवहार को अपने विचार का विषय बना सकती है, क्योंकि तभी वह यह जानने में समर्थ होगी कि उसने कानून बनाते समय या नीतियाँ निर्धारित करते समय जो लक्ष्य अपने सामने रखे थे उसका निर्वाह किया गया है अथवा नहीं। यदि संसद देखती है कि उसकी नीति एवं कानूनों का उचित क्रियान्वयन नहीं किया गया है तो सम्बन्धित लोक-अधिकारी को ऐसा करने के लिए निर्देशित कर सकती है। लोक-प्रशासकों के व्यवहार पर किया जानेवाला विचार-विमर्श संसद को इस योग्य बनाता है कि वह प्रशासन की गतिविधियों से परिचित रहे और जहाँ कहीं भी आवश्यक समझे लोक-अधिकारियों को उचित कार्य करने की चेतावनी दे। अनेक बार प्रशासनिक अधिकारी ऐसे कदम उठा लेते हैं कि उनके व्यक्तिगत स्वार्थ के सम्मुख सार्वजनिक हित गौण बन जाता है अथवा भुला दिया जाता है। ऐसी स्थिति में संसद उस अधिकारी के व्यवहार को उचित दिशा में संचालित करने के लिए आवश्यक कदम उठा सकती है। विलोबी ने लिखा है कि व्यवस्थापिका का कार्य प्रशासन द्वारा किए जानेवाले कार्य को प्रक ति तय करना और उस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अपनाए जानेवाले साधनों को निश्चित करना है। कार्य की सम्पन्नता के लिए यह आवश्यक निर्देश देती है तथा जिस व्यक्ति को कार्य सौंपा जाता है उस पर ऐसा पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण रखती है कि वह कार्य को सही रुप में एवं कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सके।
2. **व्यवस्थापिका या संसद लोक-प्रशासकों से सम्बन्धित कानून बनाती हैः** संसद द्वारा समय-समय पर ऐसे कानून बनाए जाते हैं जो लोक-प्रशासकों के व्यवहार का रुप एवं सीमा निश्चित करते हैं। लोक-सेवकों के क्या कर्त्तव्य हों तथा वे किन अधिकारों का उपयोग करें इसका निश्चय संसदीय कानूनों द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ, पुलिस-विभाग के कार्यकर्ताओं द्वारा संघ बनाने की माँग को ठुकराकर भारतीय संसद ने यह कानून बना दिया कि पुलिस कर्मचारी अपना संघ या संस्था (Union or Association) नहीं बना सकते। इसी प्रकार नागरिक सेवकों से सम्बन्धित अन्य विषयों पर संसद द्वारा बने हुए कानून लोक-सेवाओं के सही रुप का निश्चय करते हैं।
3. **व्यवस्थापिका या संसद वित्तीय शक्ति का स्रोतः** संसद लोक-धन (Public Money) की संरक्षक है। इस द ष्टि से वह बजट पर नियन्त्रण रखती है। प्रशासनिक विभागों द्वारा जो व्यय किया जाता है उस पर संसद की पूरी स्वीक ति आवश्यक होती है। एक ओर तो संसद धन की स्वामी अथवा संरक्षक है तथा दूसरी ओर धन लोक-प्रशासन का एक आवश्यक तत्त्व है। प्रशासनिक क्रियाओं के संचालन के लिए वित्त को ईंधन (Fuel) की संज्ञा दी जाती है। इसका लोक-प्रशासन में उतना ही महत्त्व है जितना एक यंत्र में विद्युत शक्ति का होता है। यदि संसद धन की स्वीक ति न दे अथवा पर्याप्त मात्रा में न दे तो प्रशासनिक अधिक अधिकारी अपने कार्य संतोषजनक रुप से कभी नहीं कर पाएँगे। इस प्रकार वित्त एक ऐसी कड़ी है जो लोक-प्रशासन तथा संसद के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों की रचना करती है। अपनी वित्तीय शक्तियों के आधार पर संसद लोक-अधिकारियों को अपनी नीतियों एवं जनकल्याण के कार्यों की ओर उन्मुख कर सकती है।
4. **व्यवस्थापिका शक्तियों का प्रत्यायोजन करती हैः** संसद के पास कानून बनाने की जो शक्ति है उसका सम्पूर्ण प्रयोग वह स्वयं नहीं कर पाती। उसके पास इतना अधिक कार्य होता है कि वह उन सबका उत्तरदायित्व स्वयं वहन करने में स्वयं को असमर्थ पाती है। परिणामस्वरुप उसे या तो इन कार्यों की अवहेलना करनी पड़ती है अथवा इनके निष्पादन के लिए शक्तियों का प्रत्यायोजन करना होता है। प्रत्यायोजित विधान की व्यवस्था द्वारा व्यवस्थापिका का कार्यभार हल्का हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अनेक विषय तकनीकी प्रक ति के होते हैं जिन पर विचार करने के लिए विशेषज्ञता की आवश्यकता रहती है। इनकी उलझन में पड़ने की अपेक्षा संसद उनको कार्यपालिका को सौंप देती है ताकि वह तत्सम्बन्धी विशेषज्ञों से विचार करने के बाद कोई निर्णय ले। प्रत्यायोजित विधान का एक कारण यह भी है कि उसके

द्वारा विधान में लचीलापन लाया जा सकता है। आवश्यकतानुसार कार्यपालिका जो चाहे और जैसे चाहे विधान को परिवर्तित कर सकती है।

प्रत्यायोजित विधान भी गुण-दोषों का एक समन्वय है। प्रत्यायोजित विधान की संस्था ने संसद को तो कार्य भार से मुक्ति प्रदान की है किंतु कार्यपालिका के उत्तरदायित्व इसके फलस्वरुप कई गुना बढ़ गए हैं। इसके परिणामस्वरुप कार्यपालिका प्रत्यायोजन से प्राप्त अपनी इन शक्तियों का पूरी तरह से प्रयोग नहीं कर पाती। प्रत्यायोजित विधान से सम्बन्धित ये शक्तियाँ कार्यपालिका द्वारा नागरिक सेवकों को सौंप दी जाती हैं। प्रत्यायोजित विधान का अन्तिम प्रभाव जैसा कि लार्ड हीवर्ट आदि विचारकों का कहना है, नागरिक सेवकों (Civil Servants) की तानाशाही के रुप में सामने आता है। लार्ड हीवर्ट प्रत्यायोजित विधान को नवीन निरंकुशता (New Despotism) का नाम देते हैं जिसमें 'नौकरशाही' (Bureaucracy) प्रशासन में स्वेच्छाचारी तथा अनुत्तरदायी बन जाती है।

लोक प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण के साधन

लोकतंत्र में लोक प्रशासन विधायिका के प्रति अनिवार्य रुप से उत्तरदायी होता है। विधायिका के नियन्त्रण को संसदीय नियन्त्रण (Parliamentary Control) की भी संज्ञा दी जाती है क्योंकि शासन की चाहे कोई भी प्रणाली क्यों न हो (संसदात्मक हो या अध्यक्षात्मक), प्रशासन पर संसद का किसी-न-किसी रुप में नियन्त्रण अवश्य रहता है लेकिन जहाँ संसदीय शासन-पद्धति को अपनाया गया है वहाँ यह नियन्त्रण और भी महत्त्वपूर्ण और प्रभावी हो जाता है। संसदीय शासन-प्रणाली वाले देशों में विधायी नियन्त्रण अथवा संसदीय नियन्त्रण के निम्नलिखित साधन अपनाये जाते हैं:

संसदीय व्यवस्था में विधायी नियन्त्रण

(Legislative Control in Parliamentary System)

1. **राज्याध्यक्ष का भाषण (Speech of the Head of the State):** भारत, ब्रिटेन, कनाडा इत्यादि संसदीय प्रणाली वाले देशों में राज्याध्यक्ष के भाषण से संसद का प्रत्येक नया सत्र प्रारम्भ होता है। राज्याध्यक्ष अथवा राष्ट्रपति के इस अभिभाषण में शासन की प्रमुख नीतियों, वर्तमान एवं भावी योजनाओं, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों के प्रति सरकार के द ष्टिकोणों एवं प्रशासनिक कदमों की चर्चा होती है। इस अभिभाषण पर बहस के लिए सदन को तीन-चार दिन का समय दिया जाता है। इस दौरान संसद के सदस्यों द्वारा अभिभाषण में व्यक्त सरकार की प्रशासनिक नीतियों की जमकर आलोचना और प्रत्यालोचना की जाती है और इसके फलस्वरुप जनमत जागरुक होता है और प्रशासन सतर्क होता है।
2. **कानून-निर्माण प्रक्रिया (Law-Making Process):** प्रमुख रुप से विधायिका कानून का निर्माण करती है। विधायिका द्वारा निर्मित कानून के दायरे में रहकर ही प्रशासक उसे कार्यान्वित करते हैं। विधायिका द्वारा अनेक ऐसे कानूनों का भी निर्माण किया जाता है जिसमें प्रशासन के संगठन, कार्यों, नियमों तथा अधिकार-क्षेत्रों का निर्धारण कानून में ही कर दिया जाता है। उसका पालन करना प्रशासकों के लिए आवश्यक हो जाता है। नये कानूनों और नये कार्यों के आधार पर नये विभाग भी खोलने पड़ते हैं। विधायिका प्रशासकीय नीतियों का निर्धारण भी समय-समय पर करती रहती है। कुछ मामलों में प्रदत्त विधायन (Delegated Legislation) के द्वारा विधायिका कानून-निर्माण की शक्ति कार्यपालिका को अवश्य देती है परन्तु कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा प्रदत्त सीमा के अंदर ही नियम बनाती है।
3. **प्रश्न-काल (Question Hour):** संसदीय शासन प्रणाली वाले देशों में मंत्रिमण्डल सामूहिक रुप से संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रत्येक संसद सदस्य को यह अधिकार है कि किसी भी प्रकार की समस्या और अव्यवस्था के संदर्भ में सम्बन्धित मंत्री से प्रश्न पूछे। संसद में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर पाने का अधिकार प्रत्येक संसद सदस्य हो। मंत्री अपने अधीनस्थों की सहायता से पूछे गए प्रश्नों का उत्तर तैयार करता है और सदन में उसका जवाब प्रस्तुत करता है। **रॉब्सन** (Robson) ने कहा है कि "सदन में खुले रुप में मंत्रियों से जो प्रश्न पूछे जाते हैं उनके परिणामस्वरुप सम्पूर्ण असैनिक सेवा को चौकन्ना रहना पड़ता है।" **ह्यू गैट्सकिल** (Hugh Gaitskell) ने लिखा है कि "कोई भी व्यक्ति जिसने किसी भी विभाग में कार्य किया है वह मेरी इस बात से सहमत होगा कि एक मुख्य कारण जिसकी वजह से सेविवर्ग अत्यन्त सतर्कता बरतता है, तथा अपना समस्त विवरण सावधानी से रखता है, वह है संसद में पूछे जानेवाले प्रश्न का उसे भय।" संसद में सदस्य तीन प्रकार के प्रश्न पूछते हैं-मौखिक, पूरक और लिखित प्रश्न। रॉब्सन का यह मानना है कि संसद में प्रश्न पूछना वास्तव में सच्चे प्रजातन्त्र का सर्वोत्तम उदाहरण है। "मंत्रियों को प्रश्न अपनी नीति और प्रशासन के प्रति सार्वजनिक

प्रतिक्रिया को मापने लायक बनाता है। संसद में प्रश्नकाल असैनिक सेवकों को चौकन्ना रखता है। यह उसको सजग रहने के लिए बाध्य करता है और उसे अपने कार्यों में सतर्कता बरतने को प्रेरित करता है तथा प्रायः नौकरशाही से सम्बद्ध तुच्छ अन्यायपूर्ण कार्यों पर भी रोक लगाता है।" संसद की कार्यवाही के प्रत्येक दिन के प्रारम्भ का एक घण्टा प्रश्न पूछने के लिए ही निर्धारित किया जाता है।

4. **बहस एवं विचार-विमर्श (Debate and Discussions):** प्रश्नकाल के अतिरिक्त भी संसद में कई ऐसे अवसर होते हैं जब सरकार की नीतियों एवं लोक प्रशासकों के संदर्भ में बहस, विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद होता है। नये विधेयक के प्रस्तुत होने पर जब उससे सम्बन्धित बहस एवं वाद-विवाद होता है तो उस समय भी लोक प्रशासकों से चर्चाएँ की जा सकती है। प्रशासनिक संगठन की उपयुक्तता, अनुपयुक्तता तथा कार्य-संचालन के ढंग पर आपत्ति उठायी जा सकती है। आधे घण्टे के विचार-विमर्श में भी इस तरह अवसर आते हैं। यदि सम्बन्धित मंत्री प्रश्न काल में पूछे गए प्रश्न का सही ढंग से उत्तर नहीं दे पाता है तो उपयुक्त विषय पर आधे घण्टे की बहस की माँग की जा सकती है। अत्यधिक महत्त्व के विषय पर अल्पकालीन विचार-विमर्श (Short Term Discussion) की भी माँग की जा सकती है। उपर्युक्त वाद-विवाद के सभी अवसरों पर प्रशासन की नीतियों, प्रशासकीय संगठनों तथा प्रशासकीय अधिकारियों के सम्बन्ध में आलोचना, प्रत्यालोचना तथा जाँच की माँग की जा सकती है।

5. **ध्यानाकर्षण प्रस्ताव (Calling Attention Motion):** संसद के सदस्य कुछ महत्त्वपूर्ण मामलों और प्रशासन से सम्बन्धित किसी भी गंभीर समस्या की ओर सरकार का ध्यान आक ष्ट करने के लिए ध्यानाकर्षण प्रस्ताव पेश कर सकते हैं। इसके लिए सदस्य को लिखित रुप से सूचना देनी पड़ती है। लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा ऐसे ध्यानाकर्षण प्रस्ताव स्वीकार कर लेने के बाद सरकार को उस विषय पर तुरन्त उत्तर देना पड़ता है। यदि उत्तर तुरंत सम्भव नहीं है तो सरकार थोड़ा समय माँग सकती है। **रिचार्ड वार्नर** (Richard Warner) का मानना है कि 'इस प्रकार के अवसर विभागीय कार्यों एवं विभागीय क्षमता परीक्षण के लिए उपयुक्त है।'

6. **कार्य-स्थगन प्रस्ताव (Adjournment Motion):** कार्य-स्थगन अथवा 'काम रोको' प्रस्ताव लोक प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इस साधन का प्रयोग सार्वजनिक महत्त्व की किसी भी विशिष्ट समस्या के संदर्भ में किया जाता है। इसके अन्तर्गत संसद के सदस्य किसी भी मामले को अत्यन्त महत्त्वूपर्ण, गंभीर एवं आवश्यक बताते हुए 'काम रोको' प्रस्ताव पेश करते हैं और उसे स्वीकार करने की माँग करते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि सदन की समस्त कार्यवाही रोककर सिर्फ इसी विषय के संदर्भ में चर्चा की जाय। सदन के अध्यक्ष द्वारा प्रस्ताव मंजूर हो जाने पर उस पर तत्काल बहस करायी जाती है। "काम रोको प्रस्ताव" पर बहस होने के बाद मतदान भी होता है लेकिन प्रायः यह देखा जाता है कि सदन का अध्यक्ष शायद ही कभी "काम रोको" प्रस्ताव को मंजूर करता है, क्योंकि आज कल सदस्य छोटे-छोटे मामलों पर भी 'काम रोको' प्रस्ताव मंजूर करने की माँग करने लगे हैं। **फाइनर** (Finer) के शब्दों में, "सरकार के प्रत्येक कार्य पर प्रश्न पूछा जा सकता है, प्रत्येक प्रश्न पर 'काम रोको' प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सकता है और प्रत्येक 'काम रोको' प्रस्ताव एक व्यापक एवं विस्त त बहस को प्रोत्साहन दे सकता है।"

7. **अविश्वास प्रस्ताव (No-Confidence Motion):** अविश्वास प्रस्ताव का तात्पर्य यह है कि संसद के कुछ सदस्य ऐसा मानते हैं कि संसद के प्रति (उसके दूषित और असफल कार्यों की वजह से) अब विश्वास नहीं रहा, अधिकांशतः सदस्य उसके प्रति अविश्वास करने लगे हैं, अतः मतदान के द्वारा यह जाँच करायी जाय कि कितने सदस्य उसके पक्ष में है और कितने विरोध में है। यदि व्यवस्थापिका सरकार के कार्यों और नीतियों से सन्तुष्ट नहीं है तो वह सदन में अविश्वास का प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकती है। अविश्वास प्रस्ताव सदन के अध्यक्ष द्वारा मंजूर हो जाने पर सदन में मतदान कराया जाता है। अगर आवश्यक बहुमत सरकार के पक्ष में नहीं है तो सरकार को त्यागपत्र देना पड़ता है और सरकार गिर जाती है। कार्यपालिका पर संसदीय नियन्त्रण का यह सबसे प्रभावशाली साधन माना जाता है। यह साधन संसदीय प्रणाली में ही सम्भव है क्योंकि अध्यक्षात्मक प्रणाली वाले देशों में कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होती है। प्रारम्भ में इस तरह के प्रस्ताव का प्रयोग बहुत कम किया जाता था लेकिन आजकल अविश्वास प्रस्ताव का सामना प्रायः हर एक-दो साल में सभी सरकारों को संसदीय प्रणाली में करना पड़ता है लेकिन दलीय अनुशासन और सदन में बहुमत के होते शायद ही कोई सरकार अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा पदच्युत होती है।

8. **बजट पर वाद-विवाद (Debate on Budget):** "यह एक मान्य सिद्धान्त है कि वित्त विधेयक के किसी भी विषय पर

वाद-विवाद किया जा सकता है और जनता की किसी भी कठिनाई पर प्रकाश डाला जा सकता है। इसका मूलभूत सिद्धान्त यह है कि किसी भी नागरिक से तब तक कर नहीं लिया जा सकता, जब तक संसद के माध्यम से उसे अपने विचार प्रस्तुत करने तथा असंतोष प्रकट करने का भरपूर अवसर प्राप्त न हो जाय।" बजट पर वाद-विवाद के द्वारा भी संसद शासन पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित रखती है। विधायिका की अनुमति के बिना न तो एक पैसा खर्च किया जा सकता है और न ही कोई नया कर लगाया जा सकता है। प्रशासन के संचालन के लिए वित्त की अनिवार्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। बजट के सम्बन्ध में सदस्य कटौती का प्रस्ताव भी पेश करते हैं। अध्यक्षात्मक प्रणाली वाले देशों में कटौती का प्रस्ताव कई बार स्वीक त भी कर लिया जाता है। बजट प्रस्तुति करने के समय सामान्य वाद-विवाद होता है जो बजट से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर आधारित होता है। इसके बाद अनुदानों पर मतदान के समय भी विधायिका के सदस्यों को आलोचना का अवसर प्राप्त होता है। वित्त विधेयक पर व्यापक बहस की जाती है। वित्त विधेयक और बजट पर होनेवाली आलोचनाओं की वजह से सरकार सजग रहती है लेकिन जब तक सरकार का संसद में स्पष्ट बहुमत है, तब तक उनके द्वारा प्रस्तुत बजट अस्वीक त नहीं हो सकता है।

9. **लेखा-परीक्षण (Audit):** विधायिका ने प्रशासन या सरकार को जो धन खर्च करने की अनुमति दी है, उस धन का उपयोग हुआ या दुरुपयोग, कितना कितना धन किस-किस मद में खर्च हुआ, ये सब बातें जानने का अधिकार सदन का है। नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक (Computer and Auditor General) विभिन्न सरकारी विभागों के लेखों की जाँच करवाकर अनियमितताओं का पता लगाता है तथा इसकी रिपोर्ट सदन को देता है तथा स्वयं राष्ट्रपति को भी सौंपता है। लोक सेवा के उच्चाधिकारी और कर्मचारी हमेशा लेखा परीक्षा (Audit Exam) से भयभीत रहते हैं तथा जनता के धन का दुरुपयोग करने का साहस नहीं कर पाते हैं। बोफोर्स काण्ड (Boforce Scandle) के सम्बन्ध में भारत के भूतपूर्व नियन्त्रण और महालेखा परीक्षक श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी ने साहसिक एवं प्रभावपूर्ण प्रतिवेदन दिया था जिसके आधार पर संसद में भारी शोर-शराबा और हंगामा हुआ था। अतः लेखा-परीक्षण पद्धति प्रशासन पर नियन्त्रण बनाये रखने में काफी सरल रही है।

10. **संसदीय समितियाँ (Parliamentary Committees):** संसदीय समितियों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य ही यह रहा है कि वे प्रशासन की गतिविधियों का विस्त त अध्ययन करें तथा उसकी अनियमितताओं और अधिकार के दुरुपयोग के संदर्भ में प्रतिवेदन दें। **एम.एन. कौल** (M. N. Kaul) का मानना है कि "इन समितियों की रचना से न केवल प्रशासनिक कार्यकुशलता बढ़ी है बल्कि इसने पहले की व्यवस्था में निहित दोषों को भी समाप्त किया है।" संसदीय समितियों में आश्वासन समिति (Committeeor Assurance), अनुमान समिति (Estimates Committee), लोक-लेखा समिति (Public Accounts Committee), अधीनस्थ विधान समिति (Subordinate Legislation Committee) इत्यादि प्रमुख है।

    आश्वासन समिति का मुख्य कार्य यह देखना है कि संसद में मंत्री द्वारा दिए गए आश्वासन पूरे किए गए हैं अथवा नहीं और अगर पूरे किए गए हैं तो किस सीमा तक। आश्वासन को पूरा करने में कितना वक्त लगा है। इन समितियों से मंत्री सावधान रहते हैं और बहुत सोच-समझकर आश्वासन देते हैं। आश्वासन देने के बाद उसे शीघ्रतापूर्वक पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। सार्वजनिक लेखा समिति और सार्वजनिक उद्योग समिति वित्त प्रशासन से सम्बन्धित है। इन समितियों के अतिरिक्त संसद विशेष मामलों की छानबीन करने के लिए विशेष समितियाँ (Special Committees) भी गठित करती है। इन समितियों द्वारा जाँच के बाद जो प्रतिवेदन संसद में रखा जाता है उस पर वाद-विवाद एवं आलोचना होती है। प्रशासन पर नियन्त्रण का यह एक महत्त्वपूर्ण साधन बन जाता है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली में विधायी नियन्त्रण (Legislative Control in Presidential System)

संसदीय शासन-व्यवस्था में शक्तियों के समन्वय (Coordination of Powers) सिद्धान्त को अपनाया गया है। इसलिए यहाँ की कार्यपालिका संसद के प्रति पूरी तरह उत्तरदायी है और संसद अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा सरकार को पदच्युत भी कर सकती है लेकिन अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति वाले देशों में शक्तियों के प थक्करण (Seperation of Powers) के सिद्धान्त को अपनाया गया है। वहाँ की कार्यपालिका विधायिका के प्रति ढंग से उत्तरदायी नहीं है। अतः संसदीय शासन प्रणाली में प्रशासन पर नियन्त्रण के जो साधन अपनाये जाते हैं, वे अध्यक्षात्मक पद्धति में लागू नहीं होते हैं क्योंकि अध्यक्षात्मक प्रणाली में उसका संसद का सदस्य होना तक आवश्यक नहीं है और यह भी आवश्यक नहीं है कि सरकार को संसद में बहुमत प्राप्त हो। वहाँ मंत्रि-परिषद् का निर्माण करनेवाला राष्ट्रपति स्वयं ही देश का संवैधानिक एवं वास्तविक अध्यक्ष होता है और उसका कार्यकाल

विधायिका की इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। अतः संसदीय नियन्त्रण के साधन उनमें प्रभावकारी साबित ही नहीं सकते हैं। फिर भी **डॉ. विष्णु भगवान एवं विद्याभूषण** के अनुसार, अध्यक्षात्मक प्रणाली में विधायिका निम्नलिखित ढंग से प्रशासन पर नियन्त्रण रखती हैः

1. विधायिका प्रशासकीय प्राधिकरणों के संगठन, उनके कार्यों एवं कर्त्तव्यों को निर्धारित करती है।
2. विधायिका प्रशासन की जाँच-पड़ताल के लिए समितियों की स्थापना कर सकती है।
3. विधायिका नीतियों, विधियों एवं क्रियाविधियों का निर्धारण करती है।
4. विधायिका राष्ट्रीय कोष पर नियन्त्रण रखती है, विनियेाग विधेयकों द्वारा व्यय को स्वीक ति प्रदान करती है, व्यय के उद्देश्यों एवं व्यय की राशि को निश्चित करती है, कर विधेयक पारित करती है तथा लेखा-परीक्षा करती है।
5. अध्यक्षीय व्यवस्था में विधायिका राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा सकती है।

उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त कुछ अन्य साधन भी अध्यक्षीय प्रणाली में अपनाये जाते हैं, जो इस प्रकार हैंः

6. प्रायः अधिकांशतः अध्यक्षात्मक प्रणाली वाले देशों में महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियों के सम्बन्ध में विधायिका का अनुमोदन आवश्यक माना जाता है।
7. शासन द्वारा राष्ट्रहित में जो सन्धियाँ व समझौते किये जाते हैं उनका भी अनुमोदन विधायिका द्वारा किया जाना आवश्यक है।
8. विधायिका के प्रति सरकार का उत्तरदायित्व सिद्धान्ततः नहीं होते हुए भी विधायिका के द्वारा व्यक्त वाद-विवादों और आलोचनाओं का असर सरकार को चौकन्ना बनाये रखता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि अध्यक्षात्मक पद्धति वाले देशों में शक्ति-प थक्करण सिद्धान्त के चलते कार्यपालिका पर संसद का नियन्त्रण उतना प्रभावी नहीं हो सकता जितना संसदीय व्यवस्था वाले देशों में। फिर भी अपने सीमित साधनों से अध्यक्षात्मक पद्धति वाले देश में विधायिका प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है।

संसदीय नियन्त्रण की समस्याएँ एवं सीमाएँ

प्रशासन को उत्तरदायी बनाए रखने के लिए कार्यपालिका पर संसदीय नियन्त्रण आवश्यक है, किन्तु इस प्रकार के नियन्त्रण में आनेवाली कुछ समस्याएँ इसकी प्रक्रिया को दुष्कर बना देती है। इसके अतिरिक्त नियन्त्रण की अपनी कुछ सीमाएँ हैं जिनके कारण यह प्रभावी एवं उपयोगी नहीं हो पाता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बाधाओं एवं समस्याओं का उल्लेख किया जा सकता है-

1. **समय का अभावः** लोक प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण की एक प्रमुख समस्या है विधानपालिकाओं के पास समय का अभाव। आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में विधानपालिकाओं के कार्य इतने अधिक बढ़ गए हैं कि वे कार्य के बोझ के नीचे दबी हुई नजर आती हैं। विधायिकाओं के पास समयाभाव का अनुमान एक उदाहरण की सहायता से लगाया जा सकता है।

   10 अगस्त, 1990 को बिहार विधान-सभा के अध्यक्ष श्री गुलाम सरवर ने बताया कि दशम् बिहार विधान-सभा का द्वितीय सत्र जो 9 अगस्त, 1990 को समाप्त हुआ उसमें मात्र 28 बैठकें हुई। इसके लिए 9041 प्रश्नों की सूचना प्राप्त हुई उसमें कुछ 5370 प्रश्न स्वीक त हुए जिसमें 1366 प्रश्नों के उत्तर सदन में मौखिक या लिखित रुप से दिए गए, अन्य प्रश्नों के लिए समय नहीं मिल सका। अतः इन्हें अगले सत्र के लिए टाल दिया गया। विधायिका सरकार से नौ हजार इकतालिस प्रश्नों का उत्तर चाहती थी, मगर सरकार समयाभाव या टालमटोल की वजह से मात्र तेरह सौ छियासठ प्रश्नों का उत्तर दे सकी। उत्तरप्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र की विधान-सभाओं तथा राष्ट्रीय संसद में कार्यों के बोझ की स्थिति इससे भी बदतर है।

2. **विशेषज्ञता का अभावः** संसद के सदस्य विशेषज्ञ न होने के कारण प्रशासनिक जटिलता और बारीकियों को प्रायः नहीं समझते। इसलिए वे लोक-सेवकों की रचनात्मक आलोचना नहीं कर पाते। लोक-सेवक भी स्वेच्छाचारी शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं, जो संसद सदस्यों की पकड़ में नहीं आ पाता। इस प्रकार संसदीय नियन्त्रण का क्षेत्र संकुचित

हो जाता है। भारत जैसे देश में अधिसंख्य सांसद अशिक्षित, अनुभवहीन और मन्दबुद्धि होते हैं। वे संसद में इस प्रकार का व्यवहार करते हैं कि संसदीय नियन्त्रण की उपयोगिता कम हो जाती है। संसदीय बहस के समय बहुत से सदस्य सजग नहीं रहते और बौद्धिक तर्क-वितर्क में उलझे बिना ही दलीय साथियों के समर्थन में हाथ खड़ा कर देते हैं। इन सभी कारणों से संसदीय नियन्त्रण वांछित रुप से प्रभावशाली एवं सार्थक नहीं हो पाता।

3. **आलोचना के लिए आलोचनाः** संसद सदस्यों द्वारा प्रशासन की स्वस्थ आलोचना नहीं की जाती। आलोचना का लक्ष्य प्रशासनिक व्यवस्था को सुधारना अथवा उसकी कार्यकुशलता बढ़ाना उतना नहीं होता जितना दर्शक दीर्घा में बैठे लोगों को प्रभावित करना, समाचारपत्रों में फोटो सहित अपना नाम प्रकाशित कराना तथा जनता में थोथी लोकप्रियता अर्जित करना होता है। कई बार संसद सदस्य अपने पूर्वाग्रहों और व्यक्तिगत मनमुटावों के कारण ही किसी प्रशासनिक अधिकारी की आलोचना करते हैं।

4. **उत्तरदायित्व का प्रश्नः** संसदीय नियन्त्रण के कारण मन्त्रिगण अपने कन्धे से लोकसेवकों के कार्यों का दायित्व उतार देते हैं। भारत जैसे देश में देखा गया है कि जब कभी किसी प्रशासनिक मंत्री में अनियमितता का दोष पाया जाता है तो मंत्री उसे लोक सेवकों की गलती बताकर स्वयं बच निकलता है। संसदीय आलोचना के प्रत्युत्तर में मंत्री प्रायः इसी बात का ढिंढोरा पीटते हैं कि उसकी नीति तो ठीक थी किन्तु सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा उसे सही रुप में क्रियान्वित नहीं किया गया। उदाहरणार्थ, जब गौ-हत्या विरोधी आन्दोलन में घटित अप्रिय घटनाओं के लिए संसद में तात्कालिक ग हमंत्री श्री नन्दा को दोषी ठहराया गया तो उन्होंने सारा दोष ग ह मन्त्रालय के सचिव एल.पी. सिंह पर मढ़ दिया। स्पष्ट है कि मन्त्रियों की यह प्रव त्ति लोक प्रशासन में अनुत्साह, उपेक्षाव त्ति और अकर्त्तव्यपरायणता के भाव जाग्रत करती है।

5. **एकपक्षीय आलोचनाः** संसद में लोकसेवकों की आलोचनाएँ एकपक्षीय होती है। क्योंकि उन्हें अपनी सफाई के रुप में कुछ कहने का अवसर नहीं दिया जाता। संसदीय आलोचना के लोक-सेवक प्रभावशाली सांसदों को खुश करने की नीति अपनाते हैं तथा जनहित और ईमानदारी को ताक में रख देते हैं। उनकी राजनीतिक निष्पक्षता समाप्त हो जाती है। सांसदों का आश्रय एवं सद्भावना प्राप्त करने के लिए वे कोई भी अवैध या अनुचित कार्य करने को तैयार हो जाते हैं।

6. **प्रभावहीनताः** संसदीय नियन्त्रण लोक प्रशासन के क्षेत्र में यह गंभीर समस्या उत्पन्न कर देता है कि प्रशासनिक अधिकारी निष्पक्ष और ईमानदार रहते हुए भी किस प्रकार व्यवहार करें कि उन्हें संसद की आलोचनाओं का शिकार न बनना पड़े। संसदीय आलोचनाएँ प्रशासकों की प्रतिष्ठा पर कुठाराघात करती है, अतः वे इससे बचने के लिए अपनी अन्तरात्मा की आवाज के विरुद्ध भी कदम उठाने को तैयार हो जाते हैं। कई बार संसदीय आलोचनाएँ केवल तिल का ताड़ बनाने के लिए होती हैं जिनका प्रशासन की कार्यकुशलता पर प्रभाव पड़ता है। नियन्त्रण के शिकंजे से सुरक्षा पाने के लिए लोक-प्रशासकों में राजनीतिज्ञों को अनुचित आश्रय ग्रहण करने की प्रव त्ति बढ़ती है। लोक-प्रशासक अपने सम्पूर्ण कार्य इस तरह संचालित करने को बाध्य होते हैं कि वे संसदीय रोष की सामग्री न बने और उनका प्रशासनिक जीवन खतरे में न पड़े।

7. मंत्रियों के अधीनस्थ होने के कारण लोक-सेवकों को बहुमत दल का अंग मान लिया जाता है और जिस प्रकार सत्ताधारी दल की आलोचना करना विरोधी दलों का धर्म होता है उसी प्रकार लोकसेवकों के प्रत्येक कार्य की आलोचना करना उनका कर्त्तव्य मान लिया जाता है। इस दलीय पक्षपात और आलोचना के लिए आलोचना की प्रव त्ति का लोक-सेवकों के चरित्र और व्यवहार पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। संसदीय नियन्त्रण प्रभावशाली तभी बन सकता है, जब प्रशासन की आलोचना निष्पक्ष और रचनात्मक हो। लोक सेवकों को दलीय द ष्टिकोण से अलग करके देखा जाना चाहिए क्योंकि मंत्री चाहे किसी भी दल के हो लोक प्रशासक का कार्य तो निर्देशों का अनुपालन करना होता है।

भारत में संसदीय नियन्त्रण की स्थिति

भारत जैसे संसदीय लोकतान्त्रिक देशों में संविधान के अनुसार विभागीय कार्यों का उत्तरदायित्व मंत्री पर होता है। विभाग में होने वाली प्रत्येक गड़बड़ी, अनियमितता, ज्यादती आदि के लिए मंत्रियों को ही उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए, लोक सेवकों को नहीं। संसदीय बहस के दौरान मंत्रियों के विरुद्ध ही तर्क-वितर्क प्रस्तुत किए जाने चाहिए। लोक-सेवकों पर प्रत्यक्ष रुप से लाँछन नहीं लगाया जाना चाहिए। मुख्य प्रशासनिक नीतियाँ कार्यपालिका द्वारा निश्चित की जाती है, व्यवस्थापिका तो उन्हें केवल स्वीक ति-मात्र देती है। अतः मंत्रियों के माध्यम से प्रशासन पर नियन्त्रण रखने की प्रणाली पर स्वस्थ रुप में बल दिया

जाना चाहिए। संसद सीधे लोक-प्रशासकों को आड़े हाथो ले, यह लोक प्रशासन के क्षेत्र की प्रेरणा-शक्ति को घटाने वाली बात है। यदि मंत्रियों को प्रशासनिक व्यवस्था के लिए पूर्णतः आड़े हाथों लिया जाए तो वे सजग होकर प्रशासन पर ध्यान देंगे और लोक प्रशासक भी चौकन्ने रहेंगे।

प्रशासनिक नीति का निर्धारण करने के अतिरिक्त मंत्रिगण नागरिक अधिकारियों पर और कई प्रकार से नियन्त्रण रख सकते हैं -

1. इन अधिकारियों की नियुक्ति प्रायः मंत्रियों की इच्छानुसार ही की जाती है। प्रशासनिक संगठन में वे ही अधिकारी आ पाते हैं जिन्हें मंत्री चाहता है।
2. मंत्रियों को लोक-सेवकों की नियुक्ति, पदोन्नति, प्रशिक्षण, सेवाकाल आदि के बारे में समय-समय पर नियम बनाने, अध्यादेश जारी करवाने का अधिकार होता है जिनके माध्यम से वे अपने विभाग के किसी भी अधिकारी अथवा अभिकरण की गतिविधियों को नियन्त्रित रख सकते हैं।
3. मंत्री अपने विभाग के अधिकारियों से सम्बन्धित नियम बना सकते हैं और अवहेलना करनेवाले लोक सेवकों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकते हैं।
4. मंत्री अपने विभागीय अधिकारियों पर नियन्त्रण रखने के लिए कर्मचारी वर्ग के अभिकरणों (Staff Agencies) की सहायता ले सकते हैं। इन अभिकरणों के माध्यम से रखा गया नियन्त्रण बड़ा प्रभावशाली होता है और सम्बन्धित अधिकारी उसे मानने के लिए नैतिक एवं सांविधानिक रुप से बाध्य होते हैं।
5. मंत्रियों के हाथ में धन की थैली होती है। यदि प्रशासकीय संगठन के अधिकारी धन की माँग करते हैं तो मंत्री यह कहकर कि वे योजना आयोग से इसकी सिफारिश करेंगे, उन्हें आश्वासन दे सकता है। इन आश्वासनों की पूर्ति तक वे अधिकारियों के कार्यों पर प्रभावशील नियन्त्रण बनाए रख सकते हैं।
6. संघीय लोकसेवा आयोग के माध्यम से भी मंत्री विभागीय अधिकारियों पर नियन्त्रण बनाए रख सकते हैं।
7. बजट मंत्रियों के हाथों में एक ऐसा अस्त्र है जिसके आधार पर वे अधिकारियों को नियन्त्रण में रख सकते हैं। यदि मंत्री अपने विभाग के बजट की प्राथमिकताओं का क्रम बदल दे तो सम्पूर्ण विभाग के व्यवहार पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। विभागों के अतिरिक्त कर्मचारी वर्ग (Surplus Staff) तभी सम्भव होता है जब बजट की प्राथमिकताओं में किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाता है।
8. मंत्री जनता के सीधे सम्पर्क में रहते हैं, अतः वे स्वेच्छाचारी प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध लोकमत तैयार करते हैं। लोक-सेवक भाषण, विज्ञापन आदि के जरिए अपनी निष्पक्षता और कार्यपरायणता का प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते, जबकि मंत्रियों को ये अवसर सदा उपलब्ध रहते हैं।

जब उपर्युक्त सभी साधनों द्वारा मंत्रीगण विभागीय अभिकरणों और अधिकारियों पर प्रभावशाली तथा उपयुक्त नियन्त्रण रख सकते हैं तो संसदीय नियन्त्रण का महत्त्व गौण हो जाता है। लोक प्रशासक नहीं बल्कि मंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अतः संसद को मंत्रियों के माध्यम से अप्रत्यक्ष नियन्त्रण प्रक्रिया अपनानी चाहिए, खुले रुप में लोक प्रशासकों की आलोचना नहीं करनी चाहिए क्योंकि हो सकता है कि लोक-प्रशासक ने तो मंत्री के आदेशों का पालन ही किया हो। इसके अतिरिक्त संसद के हस्तक्षेप में नियन्त्रण कार्य अवरुद्ध हो जाता है और आदेश की एकता की समस्या पैदा हो जाती है। यदि संसद मंत्रियों पर समुचित अंकुश रखे तो एक ओर तो वे स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर सकेंगे तथा दूसरी ओर मंत्रीगण भी अपने विभागों पर नियन्त्रण रखने में वास्तविक रुचि लेंगे।

C. **प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण (Judicial Control over Administrative):** प्रजातांत्रिक देशों में न्यायपालिका नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की रक्षक होती है। न्यायपालिका इस बात पर भी नजर रखती है कि प्रशासकीय अधिकारी अपनी सीमाओं में रहकर कार्य करें। अगर प्रशासकीय अधिकारी और प्रशासन किसी नागरिक पर अत्याचार करते हैं तो उसकी फरियाद को न्यायालय सुनता है और निर्णय देता है। अमेरिका की तरह भारत में भी न्यायिक क्षेत्र में न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्राप्त है। न सिर्फ न्यायपालिका भारत में सर्वोच्च है, बल्कि मौलिक अधिकार और संविधान की रक्षक भी है। **अर्नेस्ट फ्रायड** (Ernest Freud) ने भी कहा है कि "बढ़ती हुई प्रशासकीय

शक्तियाँ यह माँग करती है कि उनकी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था जरुरी है जिसमें उनका दुरुपयोग नहीं किया जा सके। जब तक सरकारी कर्मचारियों में पक्षपात करने, भूल करने या अति-उत्साह प्रदर्शित करने की सम्भावना है, तब तक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना उतना ही आवश्यक है जितना किसी सरकारी नीति का प्रभावशाली होना। आधुनिक प्रशासकीय राज्य (Administrative State) और जनकल्याण की भावना ने राज्य के कार्यों और अधिकारों का क्षेत्र व्यापक बना दिया है। जिस अनुपात से उनके कार्यों में व द्धि हुई है उसी अनुपात से राज्य की शक्तियाँ बढ़ी है। अगर उनकी शक्तियों पर नियन्त्रण न रखा गया हो तो प्रशासन निरंकुश और तानाशाह बन जाएगा। लोक प्रशासन पर इस नियन्त्रण की धारणा को सबसे अच्छे ढंग से न्यायपालिका का नियन्त्रण पूरा करता है। **ब्राइस** (Bryce) की भी यह मान्यता है कि "किसी सरकार की कार्यकुशलता को जानने का सर्वश्रेष्ठ मापदण्ड न्यायिक व्यवस्था की कार्यकुशलता ही है।

प्रशासकीय कार्यों पर न्यायिक नियन्त्रण की धारणा 'विधि के शासन' के सिद्धान्त से उद्‌भूत हुई है, जिसकी ए०वी० डायसी ने अत्युत्तम व्याख्या की है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए डायसी ने लिखा है कि :

"कोई भी मनुष्य तब तक दण्डित या विधिवत् शारीरिक या साम्पत्तिक रुप से पीड़ित नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि उसने उस देश के साधारण न्यायालयों की द ष्टि में साधारण विधि रुप में मान्य किसी कानून को स्पष्टतः भंग न किया हो....., कोई भी मनुष्य विधि से ऊपर नहीं, किंतु..... प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी श्रेणी अथवा स्थिति का हो, अपने देश की साधारण विधि के अधीन है, और साधारण न्यायाधिकरणों के अधिकार-क्षेत्र में उस पर विधि के अनुसार कार्यवाही की जा सकती है। प्रधानमंत्री से लेकर एक सिपाही या कर वसूल करनेवाला प्रत्येक अधिकारी तक अपने प्रत्येक गैर-कानूनी कार्य के लिए उतना ही उत्तरदायी है जितना कोई भी अन्य नागरिक। .....हमारे यहाँ संविधान के सामान्य सिद्धान्त..... न्यायालयों में प्रस्तुत विशेष मामलों में जनता के अधिकारों को निश्चित करने वालेन्यायिक निर्णयों के परिणाम हैं।

प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में यह बात स्मरणीय है कि न्यायालय स्वतः किसी भी प्रशासनिक अधिकारी के कार्यों से हस्तक्षेप नहीं करते। न्यायपालिका केवल उन्हीं परिस्थितियों में हस्तक्षेप करती है जब सम्बन्धित या पीड़ित व्यक्ति, व्यक्ति-समूह या संस्था न्यायालय में आवेदन देकर अपने अधिकारों की रक्षा करवाने हेतु प्रार्थना करे।

न्यायिक नियन्त्रण के अवसर

एल० डी० व्हाइट ने ऐसे पाँच अवसरों की ओर संकेत किया है कि जिनमें न्यायपालिका हस्तक्षेप कर सकती है। ये अवसर निम्नांकित हैं:

1. **अधिकार क्षेत्र का अभाव (Lack of Jurisdiction):** जब लोक-सेवा के अधिकारी ऐसा कोई कार्य करते हैं जो उनके अधिकार-क्षेत्र से बाहर हो और उससे किसी नागरिक को कोई हानि पहुँचती है, तो नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय की शरण ले सकता है। प्रभावित नागरिक जब न्यायालय में आवेदन-पत्र देकर यह इंगित करता है कि अमुक अधिकारी द्वारा किया गया कार्य उसके अधिकार-क्षेत्र या भौगोलिक क्षेत्र में नहीं आते और तथ्यों की जाँच के आधार पर क्षेत्र का दुरुपयोग प्रमाणित हो जाता है तो न्यायालय उप कार्यों को अवैधानिक घोषित कर देती है। इसे न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) का अधिकार कहा जाता है। अमेरिका और भारत में यह अधिकार न्यायालयों को प्राप्त है।

2. **सत्ता का दुरुपयोग (Abuse of Authority):** जब लोक-सेवा के अधिकारी अपनी सत्ता और पद (Authority and Post) का प्रयोग अपने विरोधी को जान-बूझकर हानि पहुँचाने या किसी के प्रति बदले की भावना से करें तो प्रभावित व्यक्ति न्यायालय की शरण ले सकता है।

3. **वैधानिक त्रुटि (Error of Law):** इस बात की पूरी सम्भावना रहती है कि सरकारी अधिकारी कानून की गलत व्याख्या करें और नागरिकों को कानून का गलत ढंग से प्रयोग कर हानि पहुँचायें। ऐसी स्थिति में प्रभावित व्यक्ति न्यायालय में जाकर अपने अधिकारों की रक्षा हेतु उन कार्यवाहियों की जाँच की माँग कर सकता है जो वैधानिक द ष्टि से गलत हों। जाँचोपरान्त अगर न्यायालय ऐसा समझती है कि अधिकारी ने कानून की गलत व्याख्या की है तो उन कार्यों को न्यायालय असंवैधानिक घोषित कर सकती है।

4. **तथ्य की प्राप्ति में त्रुटि (Error of Fact-finding):** लोक-सेवा में अधिकारी कभी-कभी किसी मामले की जाँच करने

में या तथ्यों का पता लगाने में त्रुटि कर सकते हैं या सकारात्मक तथ्यों की अवहेलना करके नकारात्मक तथ्यों को जरुरत से ज्यादा महत्त्व देकर मनचाहा निष्कर्ष निकालते हैं। तो भी वे प्रभावित व्यक्ति को न्यायालय की शरण लेने के लिए एक आधार प्रदान करते हैं। प्रभावित व्यक्ति उस अधिकारी के निष्कर्षों को न्यायालय में चुनौती दे सकता है।

5. **प्रक्रिया की गलती (Error of Procedure):** लोक-सेवा के प्रायः सभी विभागों में कार्य-संचालन के लिए विधि द्वारा प्रक्रिया का निर्धारण कर दिया जाता है। उन निर्धारित प्रक्रियाओं के अन्दर रहकर ही सभी विभाग और उसके अधिकारी कार्य करते हैं लेकिन जब अधिकारी या विभाग कोई ऐसा कार्य करते हैं जिसमें निर्धारित प्रक्रिया का पालन नहीं किया गया है, तो प्रभावित नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय की शरण ले सकता है, जैसे-अगर किसी कर्मचारी पर भ्रष्टाचार के आरोप हों और बर्खास्त कर दिया गया हो, तो सबसे पहले उसे 'कारण बताओ' सूचना दी जाती है। अगर किसी अधिकारी ने बिना 'कारण बताओ' सूचना दिए सीधे ही बर्खास्त कर दिया हो तो इसे प्रक्रिया की गलती कहेंगे, तथा प्रभावित व्यक्ति न्यायालय की शरण ले सकता है।

न्यायिक नियन्त्रण के रुप एवं साधन

प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण कई रुपों में स्थापित किया जाता है क्योंकि न्यायपालिका को प्रशासन पर नियन्त्रण का अधिकार कई स्त्रोतों से प्राप्त होता है। सामान्य कानून तो उन्हें यह अधिकार प्रदान करते ही हैं, संविधान और संसद द्वारा निर्मित अधिनियम भी उनके नियन्त्रण के अधिकार को शक्ति प्रदान करते हैं। प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए न्यायपालिका के पास उपलब्ध साधनों को हम दो भागों में वर्गीक त कर सकते हैंः

1. सामान्य साधन या उपचार, और
2. असाधारण न्यायिक उपचार।

1. **सामान्य उपचारः** न्यायपालिका के द्वारा प्रशासन पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में सामान्यतः निम्नलिखित सामान्य या साधारण उपचारों का उपयोग किया जाता हैः-

   i. **सरकार के विरुद्ध अभियोग** (Suit Against the Government): भारतीय संविधान के अनुच्छेद 300 में स्पष्ट कहा गया है कि "भारत सरकार के विरुद्ध या उसके द्वारा भारतीय संघ के नाम से अभियोग प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किसी राज्य की सरकार के विरुद्ध या उसके द्वारा उस राज्य के नाम से भी अभियोग प्रस्तुत किए जा सकते हैं" अर्थात् सिर्फ केन्द्र सरकार और राज्य सरकार द्वारा ही मुकदमा दायर नहीं किया जाता है बल्कि केन्द्र सरकार और राज्य सरकार के विरुद्ध भी मुकदमा दायर किया जाता है और सरकार को एक विरोधी पक्ष के रुप में न्यायालय में ले जाया जा सकता है। भारत में सरकार के विरुद्ध संविदा (Contract) और अपकारक त्य (Tort) सम्बन्धी मुकदमे दायर किये जाते हैं लेकिन प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा किए गए पदों के दुरुपयोग के मामले या अन्य भ्रष्टाचार सम्बन्धी मामले में अधिकारी के विरुद्ध व्यक्तिगत रुप से मुकदमा चलता है। सरकार के कर्मचारी होने के नाते सरकार उसमें पार्टी नहीं रहती है। इंग्लैण्ड में तो यह कहावत प्रचलित है कि "सम्राट कोई भूल नहीं करता।" अतः 1947 के पहले सम्राट पर कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है। 1947 के "क्राउन कार्यवाही अधिनियम" (Crown Proceeding Act) द्वारा ब्रिटेन में राज्य को प्राप्त उन्मुक्ति को समाप्त कर दिया गया है। अमेरिका में भी कुछ परिस्थितियों में सरकार के विरुद्ध मुकदमा किया जा सकता है।

   ii. **सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध अभियोग** (Suit Against Public Officials): न सिर्फ सरकार के ऊपर बल्कि सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध भी अभियोग प्रस्तुत किया जा सकता है या उस पर मुकदमा चलाया जा सकता है। जब किसी नागरिक को यह आभास हो कि किसी सरकारी अधिकारी ने अपनी सत्ता का दुरुपयोग किया है, किसी तथ्य का पता लगाने में पक्षपात किया है या उसके द्वारा किया गया कार्य न तो निर्धारित प्रक्रिया के अनुरुप है और न ही उसमें कानून का पालन किया गया है, तो उपर्युक्त परिस्थितियों में उस सरकारी अधिकारी के विरुद्ध मुकदमा चलाया जा सकता है अर्थात् प्रभावित व्यक्ति न्यायालय के माध्यम से उस पर कानूनी कार्यवाही कर सकता है। इस स्थिति में सरकारी अधिकारी पर उसी तरह मुकदमा चलाया जाता है, जैसे एक सामान्य व्यक्ति पर। **डायसी** (Dicey) के अनुसार, "इंग्लैण्ड में कोई भी अधिकारी चाहे प्रधानमंत्री हो, टैक्स कलेक्टर हो या सिपाही हो, अपने कार्यों के लिए सामान्य कानून के समक्ष अन्य नागरिकों की भाँति ही उत्तरदायी है। लेकिन उपर्युक्त

अधिकारी के प्रयोग पर कुछ सीमाएँ हैं। भारत में संविधान द्वारा राष्ट्रपति और राज्यपालों को किसी भी प्रकार की न्यायिक कार्यवाही से मुक्त कर दिया गया है। राष्ट्रपति और राज्यपाल को न तो बंदी बनाया जा सकता है और न ही कोई कानूनी कार्यवाही उस पर की जा सकती है। ब्रिटेन में भी सम्राट को किसी भी अपराध का अपराधी नहीं माना जा सकता। भारत, अमेरिका और ब्रिटेन में न्यायाधीशों को भी कानूनी कार्यवाही से मुक्त रखा जाता है।

न्यायिक पदाधिकारी रक्षा अधिनियम (Judicial Officers Protection Act, 1850) में यह व्यवस्था की गयी है कि न्यायिक कार्य करनेवाले किसी भी न्यायाधीश, दण्डाधिकारी, शान्ति न्यायालय, कलक्टर या अन्य कर्मचारी के विरुद्ध असैनिक न्यायालय (Civil Court) में अभियोग नहीं चलाया जा सकता है।

iii. **प्रशासनिक कार्यों तथा निर्णयों का न्यायिक पुनरावलोकन** (Judicial Review of Administrative Actions and Decisions): भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायपालिका को यह अधिकार प्राप्त है कि वह समय-समय पर प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करती रहे और अगर कोई प्रशासकीय निर्णय संविधान के विरुद्ध है तो उसको पुनरीक्षित कर असंवैधानिक घोषित करे लेकिन न्यायालय ऐसा तभी कर सकते हैं जब कोई प्रभावित व्यक्ति न्यायालय का दरवाजा खटखटाये। ब्रिटेन में हालाँकि न्यायिक पुनरावलोकन ज्यादा प्रभावी नहीं हो सका है और संसदीय कानून ने अनेक प्रशासकीय कार्यों को न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र से बाहर रखा है, लेकिन अमरीका में किसी भी प्रशासकीय कार्य और निर्णय को न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र से बाहर नहीं रखा गया है।

iv. **कानूनी अपील** (Statutory Appeals): प्रशासकीय आज्ञाओं और निर्णयों के विरुद्ध न्यायालयों में कानूनी अपील की जा सकती है और न्यायालय उस प्रशासकीय निर्णय की वैधता और अवैधता की जाँच कर सकता है लेकिन यह अपील उसी परिस्थिति में की जा सकती है जब प्रशासकीय कानून में प्रभावित पक्ष को न्यायालय में अपील करने की व्यवस्था हो। इसके अतिरिक्त अगर प्रत्याशित विधान द्वारा प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करके कार्यपालिका कोई ऐसा कानून बनाये जो असंवैधानिक हो तो उसकी भी न्यायालय जाँच कर सकता है।

2. **असाधारण न्यायिक उपचारः** प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए उपर्युक्त सामान्य अधिकारों के अतिरिक्त प्रायः सभी लोकतांत्रिक देशों में कुछ विशिष्ट साधन भी प्राप्त हैं। इन विशिष्ट साधनों को ही असाधारण उपचार कहा गया है। भारत में तो इन असाधारण उपचारों का प्रावधान संविधान में ही किया गया है। भारतीय संविधान की धारा 32 में सर्वोच्च न्यायालय को और धारा 326 के अंतर्गत उच्च न्यायालयों को कुछ विशिष्ट प्रकार के लेख या आदेश जारी करने का अधिकार प्रदान किया गया है। ये लेख या आदेश प्रशासन पर प्रभावी नियन्त्रण के साधन हैं। इन लेखों का वर्णन नीचे दिया गया है।

i. **बन्दी प्रत्यक्षीकरण** (Habeus Corpus): बन्दी प्रत्यक्षीकरण का शाब्दिक अर्थ है "शरीर रुप में उपस्थित करना।" इसके अन्तर्गत बन्दी बनाये गए व्यक्ति को अविलम्ब न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है और उन कारणों की वैधानिकता की जाँच की जाती है जिनके द्वारा उस व्यक्ति को बन्दी बनाया गया है। अगर उस व्यक्ति को बन्दी बनाये जाने के पर्याप्त कारण उपलब्ध न हों तो बन्दी बनाये गए व्यक्ति को न्यायालय मुक्त भी कर सकता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा की भावना तो इसके अन्तर्गत काम करती ही है, साथ ही इसका उद्देश्य यह भी है कि बिना पर्याप्त कारण के मनमाने ढंग से किसी भी व्यक्ति को बन्दी नहीं बनाया जाय परन्तु मीसा (MISA), डी. आई.आर. (D.I.R.) तथा राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (National Security Act) ने न्यायालय के बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिकार पर प्रहार किया है। **एल.डी. ह्वाइट** (L.D. White) का भी यह मानना है कि "इस लेख का प्रभाव हर हालत में यह होता है कि बन्दी बनाये गए व्यक्ति को उसके बन्दी बनाये जाने की वैधानिकता की जाँच करने के लिए न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।" इस अधिकार पर सबसे बड़ी बाधा तब आती है जब संसद या राज्य विधानमण्डल कानून पास करके ऐसा व्यवधान कर दे कि किसी भी व्यक्ति को बिना कोई कारण बताये अमुक एक्ट के अनुसार नजरबन्द किया जा सकता है। वास्तव में इस प्रकार के कानून नागरिकों की स्वतन्त्रता और मौलिक अधिकारों पर घातक हमले हैं।

ii. **परामर्श** (Mandamus): लेटिन शब्द "मैनडेमस" (Mandamus) का शाब्दिक अर्थ है समादेश अथवा किसी को आज्ञा देना। **प्रो. ह्वाइट** (White) ने कहा है कि "यह लेख न्यायालय द्वारा सामान्य रुप से किसी व्यक्ति की याचिका पर

जारी किया जाता है जिससे सम्बद्ध अधिकारी अपने कर्त्तव्यों का पालन करें।" इस यह आदेश न्यायालय द्वारा उन व्यक्तियों अथवा निकायों को दिया जाता है जो अपने कर्त्तव्यों का नियमानुसार पालन नहीं करते। यह एक ऐसा समादेश है जिसे राज्य या सार्वभौम सत्ता के नाम से समुचित अधिकार क्षेत्र रखनेवाली कोई भी सामान्य कानूनी अदालत निकाल सकती है और जो किसी निगम अधिकारी, निम्न न्यायालय के नाम किसी विशेष कर्त्तव्य के पालन के लिए, जो उसमें निर्दिष्ट है, निकाला जाता है। यह कर्त्तव्य कानून की संक्रिया से पैदा हुआ होता है जिसके लिए वह लेख निर्देशित है। यह उसी दशा में प्रसारित किया जाता है जब न्यायालय अन्य किसी युक्ति को असुविधाजनक तथा प्रभावहीन समझता है।

iii. **निषेध-आज्ञा** (Prohibition): का अर्थ है, 'रोकना'। यह उच्च श्रेणी न्यायालय द्वारा निम्न श्रेणी के न्यायालय को दिया जाता है एवं इसका उद्देश्य निम्न न्यायालय को अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर अतिक्रमण करने से रोकना है। यह केवल न्यायिक या अर्द्धन्यायिक न्यायाधिकरणों के विरुद्ध निकाला जाता है। परमादेश जहाँ किसी को कार्य करने के लिए आदेश है वहाँ निषेधाज्ञा एक प्रतिबंध है।

iv. **उत्प्रेषण आदेश** (Certiorari): इस शब्द का अर्थ है "प्रमाणित होना।" बावीरा के विधि कोश के अनुसार उत्प्रेषण एक प्रकार का लेख है जो कोई उच्च न्यायालय किसी निम्न अभिलेख न्यायालय या न्यायिक कार्य करनेवाले किसी अन्य अभिकरण या अधिकारी के प्रति जारी करता है। इस लेख द्वारा उस समय विचाराधीन चल रही किसी कार्यवाही या कुछ समय पहले समाप्त हुए किसी वाद-विवाद के सम्बन्ध में अभिलेख तथा कार्यवाहियों के प्रमाणन और वापसी की माँग की जाती है। यह माँग उन मामलों के सम्बन्ध में की जाती है जहाँ प्रक्रिया सामान्य विधि के अनुसार नहीं चल रही होती। उत्प्रेषण आदेश का महत्त्व प्रशासकीय अधिकारियों तथा न्यायाधिकरणों के अर्द्ध न्यायिक कार्यों के सम्बन्ध में काफी है। निषेआज्ञा तथा उत्प्रेषण लेख में मूल अन्तर यह है कि उत्प्रेषण लेख तो निषेधात्मक तथा स्वीकारात्मक दोनों है किन्तु निषेधाज्ञा केवल निवारक ही होती है।

v. **अधिकार प च्छा** (Quo Warranto): सरकारी अधिकारी पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखने की इस विधि का अर्थ है "स्पेलिंग के अनुसार"। अधिकार प च्छा वह उपचार या प्रक्रिया है जिसके द्वारा राज्य उस दावे की वैधता में पूछताछ करता है, जिसे कोई पक्ष किसी पद या विशेषाधिकार के विरुद्ध करता है। यदि यह दावा सही नहीं है तो राज्य दावेदार को पद के लाभ से वंचित कर सकता है, या एक बार उचित प्रकार से प्राप्त करने तथा उसका उपयोग करने पर भी उसका दुरुपयोग किये जाने या प्रयोग न किये जाने के कारण यदि वह उस पक्ष के लिए हत बन चुका है तो राज्य उसे द त घोषित करके पुनः प्राप्त कर सकता है। किसी भी कार्य की वैधानिकता जाँचने के लिए इस प्रकार का लेख निम्नांकित परिस्थितियों में प्रसारित किया जा सकता है-

   a. जिसके सम्बन्ध में यह लेख प्रसारित किया जा रहा है वह सरकारी होना चाहिए। यह किसी व्यक्तिगत या गैर-सरकारी कार्यालय के विरुद्ध प्रसारित नहीं किया जा सकता।
   b. उस निकाय के कार्य सार्वजनिक प्रक ति के होने चाहिए।
   c. उस निकाय का कार्यकाल स्थायी होना चाहिए और नियुक्तिकर्ता की इच्छा पर निर्भर नहीं होना चाहिए।
   d. जिस व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही की जावे वह शक्तियों का वास्तविक प्रयोग कर्ता होना चाहिए।

न्यायिक नियन्त्रण की सीमाएँ

न्यायिक नियन्त्रण की उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता है लेकिन प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण की कई सीमाएँ और समस्याएँ हैं जिनसे न्यायिक नियन्त्रण के मार्ग में अवरोध आ जाता है। **हेरिड तथा वार्ड** (Harris and Ward) का मत है कि "पूर्ण न्यायिक नियन्त्रण शासन की नियामकता एवं कुशल संचालन को रोक सकता है।" व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए न्यायपालिका बेशक आवश्यक है परंतु प्रशासकीय क्षेत्र में इसका अत्यधिक प्रयोग करने से प्रशासन अपंग (Handicapped) हो जाता है, जो इसका प्रथम दोष है।

द्वितीय, प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण न्यायपालिका स्वयं नहीं करती है, नियन्त्रण के लिए इसके पास आरंभिक शक्ति नहीं है। यह तभी हस्तक्षेप कर सकती है जब कोई व्यक्ति आवेदन देकर इससे अनुरोध करता है। अतः अनेक ऐसे असंवैधानिक

और अधिकार-क्षेत्र के दुरुपयोग के मामले हैं जो न्यायपालिका की आँखों के सामने हो रहे होते हैं और किसी व्यक्ति द्वारा निवेदन न करने की वजह से न्यायपालिका कुछ नहीं कर पाती है।

त तीय, न्यायिक प्रक्रिया अत्यन्त ही जटिल एवं उलझी हुई प्रक्रिया है। इसमें नियमों, कानूनों, तथ्यों, प्रमाणों और गवाहों इत्यादि की कार्यवाहियों की इतनी उलझनें हैं कि प्रशासकीय अन्याय का शिकार व्यक्ति न्यायालय में जाने की अपेक्षा चुप रहना ज्यादा बेहतर समझता है।

चतुर्थ, न्यायिक प्रक्रिया अत्यन्त ही विलम्बकारी प्रक्रिया (Time-taking Process) होती है। कई बार निर्णय में इतना अधिक विलम्ब हो जाता है कि उस समय तक नागरिक को बहुत अधिक मात्रा में ऐसी हानि पहुँच चुकी होती है जिसकी भरपाई असम्भव होती है। गलत आरोप में बर्खास्त कर्मचारी को न्यायालय द्वारा अपने को निर्दोष साबित कराने में आठ-दस वर्ष तक लग जाते हैं। इस दौरान वेतन न मिलने के कारण उसे जिस आर्थिक संकट और भूखों मरने की स्थिति से गुजरना पड़ता है, क्या उसकी भरपाई सम्भव है?

पंचम, न्यायिक प्रक्रिया न सिर्फ सुस्त और जटिल है बल्कि यह प्रक्रिया बहुत अधिक महँगी भी पड़ती है। न्यायिक कार्यवाही करने और अदालत में मुकदमा चलाने के लिए अत्यधिक व्यय करना पड़ता है। स्टाम्प फीस, वकीलों की फीस, गवाहों के खर्चे, दौड़धूप तथा न्यायिक कार्यालयों के नाजायज खर्चे, कुल मिलाकर इतने अधिक हो जाते हैं कि इन्हें लम्बे समय तक लगातार बर्दाश्त करना सामान्य व्यक्ति और निर्धन लोगों के लिए सम्भव नहीं हो पाता है। अतः यह सब के लिए सुलभ नहीं है।

षष्ठम्, अनेक प्रशासकीय कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें न्यायपालिका के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाता है। ऐसे प्रशासकीय कार्यों का न्यायिक पुनरावलोकन या न्यायिक समीक्षा नहीं की जाती है।

सप्तम, सामान्यतः न्यायालयों के न्यायाधीश विशेष तकनीकी योग्यता के अभाव में समुचित निर्णय देने की स्थिति में नहीं होते हैं। आजकल प्रशासन का कार्य अत्यधिक तकनीकपूर्ण तथा विशेषीक त (Technical and Specialised) होता जा रहा है। इसलिए न्यायाधीश तकनीकी ढंग के मामलों में प्रार्थियों के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाते।

अष्टम्, न्यायिक नियन्त्रण घटना के बाद की प्रक्रिया होती है। जब कोई घटना घट जाती है तब उसे न्यायालय के सम्मुख लाया जाता है और उसके बाद न्यायिक प्रक्रिया आरम्भ होती है। न्यायिक नियन्त्रण में इस तरह का कोई प्रावधान नहीं है जिसके लागू होने से सम्भावित अव्यवस्था और घटना पर नियन्त्रण रखा जा सके।

उपर्युक्त सीमाओं और समस्याओं ने प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण के समक्ष अवश्य ही प्रश्न चिह्न खड़े कर दिए हैं और इसकी उपयोगिता को कुछ कम कर दिया है लेकिन इन बाधाओं और सीमाओं के बाद भी प्रजातांत्रिक, संसदात्मक, अध्यक्षात्मक तथा विश्व की समस्त शासन प्रणालियों में कमोबेश न्यायपालिका के नियन्त्रण को अनिवार्य माना है। भारत के संदर्भ में, तो निश्चय ही सर्वोच्च न्यायालय नागरिक स्वतंत्रता और मौलिक अधिकारों का रक्षक और संरक्षक दोनों ही है। अतः स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका सफल और कुशल प्रजातंत्र की पहली पहचान है।

अध्याय-16
प्रत्यायोजित विधान
(Delegated Legislation)

आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों में कानून निर्माण की शक्ति विधायिका या व्यवस्थापिका के पास होती है इसीलिए इसे 'विधानपालिका' (Legislature) कहा जाता है। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित इन कानूनों को लागू करना कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र में आता है जबकि इन कानूनों की व्याख्या करने का अधिकार न्यायपालिका के पास सुरक्षित है। इस प्रकार सरकार के तीनों अंगों को अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रखने का प्रयास किया गया है। जहाँ अमेरिका में अध्यक्षीय शासन प्रणाली के अधीन शक्ति-प थक्कीकरण (Seperation of Powers) का यह सिद्धान्त कठोरता से लागू किया गया है। वहीं भारत तथा ब्रिटेन जैसे संसदीय प्रणाली वाले देशों में शक्तियों के विभाजन में असंतुलन पाया जाता है। इन देशों में निःसंदेह कार्यपालिका का कार्यक्षेत्र और अधिकार क्षेत्र दोनों ही विस्त त है। कार्यपालिका शाखा के अधिकार क्षेत्र को विस्त त एवं प्रभावी बनाने में प्रत्यायोजित विधान की प्रमुख एवं अहम भूमिका है। प्रत्यायोजित विधान के अन्तर्गत विधि निर्माण का कार्य व्यवस्थापिका के बजाय कार्यपालिका या लोक-सेवाओं के द्वारा किया जाता है। यद्यपि प्रत्यायोजित विधान की यह प्रणाली बीसवीं सदी की देन बताई जाती है किन्तु डी०एल० हेविट के अनुसार, प्रत्यायोजित विधान की यह परम्परा 16वीं सदी से चली आ रही है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'द कन्ट्रोल ऑफ डेलिगेटेड लेजिसलेशन', में सन् 1800 ई० से भी पूर्व के लगभग 30 उदाहरण ऐसे दिए हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटेन में यह प्रथा 16वीं सदी से प्रचलन में आ चुकी थी।

अर्थ

संसद द्वारा कार्यपालिका को विधि निर्माण करने के अधिकार प्रदान किए गए हैं। उसी को प्रदत्त विधि-निर्माण की संज्ञा दी जाती है। इसी कारण यह 'कार्यपालिका विधि-निर्माण' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार के विधि-निर्माण का अधिकार दूसरों से प्राप्त किया जाता है, और अपना निजी स्वत्वाधिकार नहीं है, अतः इसे अधीनस्थ विधि-निर्माण (subordinate legislation) भी कहते हैं, अर्थात् जिस अधिनियम के अन्तर्गत इसका प्रयोग किया गया है, यह उसके ही अधीन होते हैं। यदि यह अपने मूल अधिनियम का अतिक्रमण करता है या उस अधिनियम के अन्तर्गत प्रदान किए गए अधिकारों का उल्लंघन करता है तो यह अवैध होता है। मंत्रियों के अधिकारों से सम्बन्धित समिति ने इसे **डोनोमोर समिति** (Donoughmore Committee) भी कहते हैं क्योंकि अर्ल ऑफ डोनोमोर इसके सभापति थे। प्रदत्त विधान की परिभाषा इस प्रकार की है: 'विधि निर्माण' शब्द के व्याकरण में दो अर्थ हैं-विधान बनाने या प्रवर्तन सम्बन्धी कार्य और उसके फलस्वरूप निर्मित विधि। अतः 'प्रदत्त विधि-निर्माण' का अर्थ किसी अधीनस्थ अधिकारी, जैसे मंत्री द्वारा (जिसे संसद प्रदत्त विधायी शक्ति के प्रयोग का अधिकार देता है) निर्मित कानूनों से है, या उसका अर्थ उन सहायक कानूनों से होता है जो मंत्रियों द्वारा विभागीय विनियमों के रूप में तथा अन्य संविधिक नियमों तथा आदेशों के रूप में पारित किए जाते हैं।

विकास के कारण या आवश्यकता (Causes of Evolution)

प्रत्यायोजित विधान एक सर्वव्यापी तथा अपरिहार्य अवधारणा है। अमेरिका जैसे अध्यक्षीय शासन प्रणाली वाले देशों में भी जहाँ शक्ति प थक्करण का सिद्धान्त कड़ाई से लागू होता है, में प्रत्यायोजित विधान को अपनाना पड़ा है। अमेरिकी संविधान का अनुच्छेद-1, समस्त विधायी शक्तियाँ कांग्रेस में तथा अनुच्छेद-2, कार्यपालिका की शक्तियाँ, राष्ट्रपति में निहित करता है, लेकिन अमेरिकी उच्चतम न्यायालय द्वारा 1928 में हेम्पटन बनाम संयुक्त राज्य मामले तथा अन्य अवसरों पर दिए गए निर्णयों के अनुसार प्रत्यायोजित विधान का समर्थन करते हुए माना है कि यदि राजकीय कार्यों का निष्पादन करना कार्यपालिका का कार्य

है तो उसे विधायिका द्वारा बनाए गए कानून के अन्तर्गत कुछ आवश्यक निर्णय लेने का भी अधिकार है। **आर्थर मैकमेहन** के अनुसार, कानूनों के निष्पादन का कार्य करनेवाली कार्यपालिका को बहुधा ऐसे विनियमों के निर्माण की आवश्यकता पड़ती है, जो विधायिका द्वारा बनाए गए कानून मे वर्णित नहीं होते हैं, लेकिन कानून के प्रवर्तन हेतु उन विनियमों की तत्काल जरूरत होती है; अतः कार्यपालिका से सम्बद्ध अधिकारियों सके पास प्रत्यायोजित विधान की शक्तियाँ होनी चाहिए। वैसे भी अमेरिका में विगत दो सदियों में अनेक ऐसी संविधानेत्तर परम्पराएँ विकसित हो चुकी है जो प्रत्यायोजित विधान का विस्तार स्पष्ट करती है। जहाँ तक ब्रिटेन तथा अन्य संसदीय शासन व्यवस्थाओं वाले देशों का प्रश्न है, वहाँ प्रत्यायोजित विधान की परम्परा अधिक विस्तार लिए हुए दिखाई देती है। ब्रिटेन में संसद के द्वारा पारित अधिनियमों में राजा द्वारा प्रवर्तन हेतु संशोधन करने से सम्बन्धी प्रावधान को हेनरी अष्टम धारा (Henry VIII Clause) कहा जाता है। इस धारा का नामकरण ट्यूडर वंश के निरंकुश राजा हेनरी अष्टम पर हुआ है। इस धारा का ब्रिटेन में कभी प्रयोग नहीं किया गया है। डोनोमोर समिति ने इस धारा को समाप्त करने की या सीमित करने की अनुशंसा की थी। ब्रिटेन में लिखित संविधान नहीं है बल्कि संसदीय अधिनियम, परम्पराएँ तथा कार्यपालिका द्वारा जारी आदेश एवं संविधिक संलेखों (Statutory Instruments) इत्यादि से शासन कार्य संचालित होता है।

विश्वभर में प्रत्यायोजित विधान के उदय के कारणों तथा इसकी आवश्यकता को इस प्रकार वर्णित किया जाता है-

1. **विधायिका की व्यस्तताः** विधायिका या व्यवस्थापिका के पास समय की कमी है। किसी भी देश या राज्य में न तो प्रत्येक समय विधायिका का सत्र आहुत रहता है और न ही राजनीतिज्ञों के पास इतना समय होता है कि प्रत्येक कानून के निर्माण के दौरान व अधिकाधिक रुचि दिखा सके। आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के प्रसार के उपरान्त सरकार के कार्यों तथा दायित्वों में व्यापक व द्धि हुई है। अतः इस सम्बन्ध में आवश्यक कानूनों का निर्माण भी विधायिका को करना पड़ रहा है। वाद-विवाद, स्वार्थ, संकीर्णता तथा राजनीतिक विचारधाराओं एवं प्रतिबद्धताओं से त्रस्त राजनेता, कानून-निर्माण में रुचि भी कम ही ले पाते हैं। भारत, ब्रिटेन तथा अन्य कई देशों के आँकड़े गवाह हैं कि 20वीं सदी में विधायिका का कार्यभार बढ़ा है, अतः तुलनात्मक रूप से समय में कमी प्रतीत हुई है। स्वतंत्रता से पूर्व भारत में संसद द्वारा प्रतिवर्ष औसतन 25-30 अधिनियम पारित किए जाते थे जबकि 21वीं सदी में प्रवेश करते समय यही आँकड़ा 40-70 तक जा पहुँचा है। इसी प्रकार स्वतंत्रता से पूर्व भारतीय संसद वर्ष में 68 दिन (औसतन) बैठकें करती थी। अब यही अवधि 6 माह से अधिक हो चुकी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक प्रशासकीय राज्यों में बढ़ते कार्यों ने सरकार के सभी अंगों का कार्यभार बढ़ाया है, अतः समय की कमी भी अनुभव हुई है। कम समय में विधायिका के पास एक ही रास्ता है कि वह किसी कानून की स्थूल रचना को स्वीक ति दे दे अथवा उपविधि के निर्माण का कार्य कार्यपालिका करे।
2. **तकनीकी जटिलताएँः** आधुनिक विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी के युग में केवल वैज्ञानिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में विशेषज्ञतायुक्त या तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होती है। विधायिका तथा राजनेता साधारण ज्ञान से युक्त है जबकि शासन के कार्यों में तकनीकी हस्तक्षेप अपरिहार्य है। परमाणु, चिकित्सा, क षि, उद्योग, रक्षा, खनन तथा वित्त इत्यादि ऐसे विषय हैं, जिनके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्षों से विधायिका के सदस्य अनभिज्ञ रहते हैं। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि तकनीकी या विशेषज्ञता प्राप्त क्षेत्रों के कानूनों की व्याख्या सम्बन्धित क्षेत्र के विशेषज्ञ ही करें। यह विशेषज्ञ कार्यपालिका में कार्यरत रहते हैं। इसलिए विधायिका केवल सामान्य सिद्धान्त या आधारभूत तथ्यों का अनुमोदन करके विस्तारपूर्वक व्याख्या के लिए उस कानून को, विशेषज्ञों के लिए छोड़ देती है।
3. **सामाजिक-आर्थिक विकासः** द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् उदित हुए विकासशील राष्ट्रों तथा अन्य सम द्ध देशों में शासन की मुख्य चिन्ता राष्ट्रीय सुरक्षा तथा सामाजिक-आर्थिक विकास है। प्रशासन के माध्यम से प्रत्येक नागरिक का कल्याण, सुरक्षा तथा विकास सुनिश्चित करने के लिए "आर्थिक नियोजन" तथा विकास प्रशासन की अवधारणाओं का प्रसार एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। चूँकि समाज के समग्र विकास का दायित्व मुख्यतः कार्यपालिका वहन करती है, अतः कल्याणकारी योजना, कार्यक्रम या नीति के क्रियान्वयन के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कार्यपालिका के पास तत्सम्बन्धी कानून बनाने के अधिकार भी हों। प्रत्यायोजित विधान के द्वारा कार्यपालिका सामाजिक-आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को बेहतर स्वरूप एवं सफल संचालन प्रदान कर सकती है। वस्तुतः करारोपण ने भी प्रत्यायोजित विधान को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाया है, क्योंकि बिना वित्त, शासकीय मशीनरी का संचालन असम्भव है।
4. **आपातकालीन परिस्थितियाँः** किसी भी समाज या राष्ट्र को कभी भी आपातकालीन परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है। युद्ध, भूकम्प, बाढ़, सूखा, अकाल, महामारी जैसी आपदाओं, आन्तरिक विद्रोह, क्रांति, जातीय संघर्ष तथा

विघटनकारी गतिविधियों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए कार्यपालिका के पास ऐसी शक्तियाँ होना आवश्यक है। विश्व भर में बढ़ रहा **प्रायोजित आतंकवाद** का खतरा भी प्रत्यायोजित विधान को ही बढ़ावा देगा। **सर सिसिल कार** ने कहा है कि, "विश्वव्यापी युद्धों के कारण ही कार्यपालिका के आदेश अधिक हस्तक्षेप करनेवाले हो जाते हैं। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि अप्रिय स्थितियों तथा अद श्य संकटों का सामना परिस्थिति के अनुसार ही करना पड़ता है। इसलिए विधायिका को चाहिए कि वह प्रत्यायोजित विधान में व द्धि करे।"

5. **लचीलापन:** प्रत्यायोजित विधान में स्वाभाविक रूप से अधिक लचीलापन पाया जाता है अर्थात् कार्यपालिका या लोक सेवकों द्वारा निर्मित कानूनों में सरलता से परिवर्तित किया जा सकता है जबकि विधायिका में कानून के निर्माण संशोधन तथा समाप्ति की प्रक्रियाएँ अत्यन्त जटिल तथा अधिक समय लेनेवाली होती है। **डोनोमोर समिति** ने भी स्वीकारा था कि बहुत से कानून मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन (जैसे महामारी नियन्त्रण, परिवार कल्याण) को व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं, अतः इन कानूनों में स्थानीय संस्क ति या परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित या संशोधित भी करना होता है। इसलिए प्रत्यायोजित विधान के द्वारा यह शक्ति स्थानीय अधिकारियों को मिलनी ही चाहिए। समिति ने आगे कहा है कि-"सच्चाई तो यह है कि यदि संसद विधि निर्माण की शक्ति के प्रत्यायोजन के लिए तैयार नहीं होती है, तो वह स्वयं (संसद) आधुनिक लोकमत की आवश्यकता के अनुरूप कानून पारित करने के योग्य नहीं रह सकती।"

6. **भविष्य से अनुकूलता:** जब भी कोई कानून विधायिका द्वारा निर्मित होता है, तब यह आभास विधायिका के सदस्यों को नहीं रहता है कि उस कानून के पक्ष या विपक्ष में कैसा जनमत होगा अथवा उस कानून की सफलता की दर क्या रहेगी। इसलिए प्रत्यायोजित विधान के द्वारा कार्यपालिका न केवल वर्तमान परिस्थितियों जैसा कानून बनाती है बल्कि पर्यावरणीय सन्दर्भों में बन रहे परिवर्तनों के अनुरूप भविष्य की अनुकूलता भी धारण कर लेती है। कार्यपालिका चूँकि कानूनों से प्रभावित होनेवाले व्यक्तियों के निकट सम्पर्क में रहती है, अतः उस कानून को प्रभावशीलता का परीक्षण भी सहजता से कर लेती है।

यद्यपि प्रत्यायोजित विधान द्वारा कार्यपालिका को कानून बनाने की शक्तियाँ प्रदान की जाती है, क्योंकि यह एक आवश्यक शासकीय क्रिया है तथापि अभी यह नहीं कहा जा सकता है कि कार्यपालिका की शक्तियाँ अधिक बढ़ रही है या विधायिका का प्रभाव कम हो रहा है। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में **लॉर्ड ब्राइस** द्वारा लिखित पुस्तक Modern Democracies में यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या विधायिका का पराभव हो रहा है? ब्राइस ने इस पुस्तक में Decline of Legislatures तथा Pathology of Legislatures नामक अध्यायों के द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अब विधायिका या संसद का युग नहीं रहा है बल्कि राजनीतिक तथा प्रशासनिक (नौकरशाही) कार्यपालिका का वर्चस्व शासन पर दिखाई देता है। **के.सी. व्हीयर** ने भी अपनी पुस्तक Legislatures में यह स्पष्ट संकेत दिया है कि तुलनात्मक रूप से विधायिका की शक्तियाँ कम ही हुई हैं। विधायिका की शक्तियों के पतन के कारणों में निस्संदेह प्रत्यायोजित विधान भी एक है, लेकिन दूसरी ओर यह भी कटु सत्य है कि बिना प्रत्यायोजित विधान के शासन के कार्यों की सफल क्रियान्विति की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

सर सिसिल कार ने टिप्पणी की है कि-"ब्रिटेन में यदि हम सब सहमत हों कि हमें वे सभी विधियाँ प्राप्त होने वाली हैं, जिनकी माँग नागरिकों द्वारा किए जाने की सम्भावना है, तो हमारी संसदीय व्यवस्था उन्हें प्रत्यक्ष तथा स्वयंपूर्ण संविधियों के रूप में केवल प्रदान नहीं कर सकेगी। अतः यही ठीक होगा कि संसद, संविधियों के रूप में सिद्धान्त के लागू करने तक सीमित रहे तथा संचालनात्मक स्तर का सारा कार्य विभागों पर छोड़ दे। संसद को चाहिए कि वह प्रत्यायोजित विधान को बढ़ावा देकर सम्बन्धित अधिकारियों के क त्यों पर नजर रखे ताकि प्रत्यायोजित विधान की शक्तियों का दुरुपयोग न हो सके। इस सम्बन्ध में संसद कोई एक ऐसा अभिकरण बना सकती है जो कार्यपालिका द्वारा निर्मित कानूनों की जाँच पड़ताल करे तथा अवैध क त्यों पर रोक लगाने का प्रयास करें।

प्रदत्त विधि-निर्माण के लाभ

कार्यपालिका को नियम बनाने की शक्ति देने के कई लाभ हैं। संक्षेप में वे निम्नवत् हैं:

1. प्रदत्त विधि-निर्माण द्वारा संसद के समग्र उत्तरदायित्व को किसी प्रकार कम किए बिना ही उसके समय की बचत की जाती है। चूँकि संसद को छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती, अतः वह सिद्धान्त तथा नीति सम्बन्धी बड़े मामलों पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकती है।

2. प्रदत्त विधि-निर्माण नमनीयता में सहायक होते हैं। विवरणों को पूर्ण करने सम्बन्धी दायित्व कार्यपालिका पर छोड़ दिया जाता है। अतः शीघ्र परिवर्तित परिस्थितियों के प्रत्युत्तर में विधियों को सरलता से बदला जा सकता है; और अधिनियम में किसी औपचारिक संशोधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप द्रुतगति से होने वाले परिवर्तन के क्षेत्रों में लचीलेपन की विशेष आवश्यकता होती है।
3. प्रदत्त विधि-निर्माण से विशेष ज्ञान का उपयोग किया जा सकता है। संसद साधारण व्यक्तियों का एक समूह है। सामान्य सिद्धान्त तथा उद्देश्य निर्धारित करने के लिए यह एक कुशल निकाय है, किंतु सूक्ष्म विवरणों के निर्धारण में यह उतना कुशल नहीं होता। विषय-वस्तु सम्बन्धी विवरण निर्धारित करने के लिए उसके सूक्ष्म तथा दक्ष ज्ञान की आवश्यकता होती है। अधिकारियों को ही केवल इस प्रकार का ज्ञान होता है क्योंकि उन्हें इसका अनुभव होता है, और साथ ही ऐसी समस्याओं से वे हमेशा जूझते रहते हैं।
4. संसद कोई सर्वव्यापक एवं सर्वदर्शी निकाय नहीं है। इसे सभी आकस्मिकताओं या घटनाओं का, जो योजना विशेष के परिपालन के दौरान उत्पन्न होती है, पहले से ही ज्ञान नहीं होता और न यह उनका पूर्वानुमान ही लगा सकती है। अतः यह आवश्यक है कि अधिकारियों को नियम तथा विनियम द्वारा स्थिति से निपटने में स्वविवेक के प्रयोग की अनुज्ञा दी जानी चाहिए।
5. अधिकारी चूँकि उन स्थितियों में ही काम करते हैं जिनका कानून से सम्बन्ध होता है, अतः वे ही संविधिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सबसे उपयुक्त विवरण प्रदान करने में योग्य होते हैं।
6. कार्यपालिका को नियम बनाने की शक्ति प्रदान करके उन लोगों से परामर्श किया जा सकता है जिनके हित उससे प्रभावित होते हैं। फलस्वरूप, जनसाधारण की इच्छानुकूल नीति क्रियान्वयन या निष्पादन में परिवर्तन करना सम्भव होता है।
7. **डोनोमोर समिति** के अनुसार प्रदत्त विधि-निर्माण की प्रणाली "प्रयोग करने की अनुज्ञा देती है, और इस प्रकार एक अवसर प्रदान करती है। यदि ऐसा न हो तो ऐसे अवसर प्राप्त ही नहीं होंगे। इससे अनुभव से प्राप्त ज्ञान व शिक्षा का उपयोग किया जाना भी सम्भव हो जाता है। इसका लाभ नगर योजना जैसे मामलों में सुस्पष्ट है, और उस पर अधिक बल देने की आवश्यकता भी नहीं है।"
8. संसद के सत्र सदैव नहीं होते हैं। आपातस्थितियाँ असम्भाव्य नहीं हैं, उनके सम्बन्ध में तुरंत कार्रवाई की आवश्यकता होती है। अतः यह तर्कसंगत है कि कार्यपालिका को युद्ध, बाढ़, भूचाल इत्यादि जैसी आपातस्थितियों का सामना करने के लिए समुचित शक्ति प्रदान की जानी चाहिए।
9. नियम-निर्माण के अधिकारी का प्रयोग यथार्थ स्थिति के संदर्भ में ही किया जाता है, अतः इससे नियमों तथा विनियमों के समुचित प्रारूप बनाने में सहायता मिलती है।

प्रदत्त विधि-निर्माण की हानियाँ

प्रदत्त विधि-निर्माण की बहुत आलोचना हुई है एवं आलोचकों ने इसकी तीव्र भर्त्सना की है। कुछ विचारक तो यह भी कहते हैं कि इसे अपनाने का अर्थ प्रजातन्त्र का परित्याग है। उदाहरण के लिए, **सर जॉन मेरियट** (Sir John Marriott) ने 1923 में लिखा था कि-

"मेरा यह द ढ़ विश्वास है कि ब्रिटिश संसद की कार्यपालिका को अर्द्ध-न्यायिक और अर्द्ध-विधायी कार्य सौंपने की प्रचलित एवं बढ़ती हुई मनोव त्ति पूर्णतः शरारतपूर्ण है। इसको तो रोका ही जाना चाहिए। **डनिंग** (Dunning) के प्रसिद्ध वाक्य में यह कहा गया है कि 'क्राउन की शक्ति बढ़ गयी है, बढ़ रही है, और उसे घटाना चाहिए।' यदि ऐसा प्रस्ताव आज कॉमन सभा पारित करे या वहाँ उसे केवल पेश ही किया जाए तो हममें से बहुत-से चौंक पड़ेंगे। तथापि 'क्राउन' शब्द के स्थान पर यदि 'कार्यपालिका' शब्द लिख दिया जाए तो कम-से-कम आज उस प्रस्ताव को प्रस्तुत करने के लिए उतना ही पर्याप्त कारण है जितना जॉर्ज त तीय के शासन की तीसरी शताब्दी में था।"

प्रदत्त विधि-निर्माण पद्धति के मुख्य आलोचक इंग्लैण्ड के महामुख्य न्यायाधिपति **लॉर्ड हेवार्ट** (Lord Hewart, The Lord Chief Justice of England) थे। उन्होंने प्रदत्त विधि-निर्माण तथा प्रशासकीय अधिनिर्णयन (adjudication) को 'नवीन निरंकुशता' की संज्ञा दी। संक्षेप में उनका कथन निम्नांकित है:

"संविधान सम्बन्धी लेखकों ने बहुत समय से हमें यह बताया है कि 'संसद की प्रभुता' (Sovereignty of Parliament) तथा विधि का शासन (Rule of Law) ही उसके दो प्रमुख लक्षण हैं। इन दोनों में से किसी एक में भी हस्तक्षेप करना एक गंभीर कार्य है। किंतु प्रभावशाली तथा साहसी विचारों के लिए एक की सहायता से दूसरे को हराना, और फिर दोनों के भग्नावेषों पर स्वेच्छाचारिता की स्थापना करना कितना आकर्षक है। इन दो बातें के मध्य, कि हमारे कम-से-कम बुद्धिमान राज्यों के जमाने में क्या किया जाता था और आज क्या किया जा रहा है, एक सामान्य तुलना करना सरल है। उन दिनों की रीति संसद को चुनौती देने की थी-और वह असफल रही.....। पराजित पुरानी निरंकुशता ने संसद को चुनौती दी और नवीन निरंकुशता, जिसने अभी तक हार नहीं मानी है, संसद को निश्चेष्ट करने का प्रयास कर रही है। लक्ष्य दोनों का एक ही है, किंतु दोनों के साधन भिन्न-भिन्न हैं। नवीन निरंकुशता के उपाय संसद को अधीन बनाना, न्यायालयों की उपेक्षा करना और कार्यपालिका के इरादे या सनक को असीमित तथा सर्वोपरि बनाना है।"

लॉर्ड हेवार्ट प्रदत्त विधि-निर्माण की आवश्यकता से पूर्ण इन्कार नहीं करते थे। उनका कहना था कि "यह स्पष्ट है कि संसद विधायी शक्तियों के प्रदत्तीकरण की प्रणाली कुछ सीमाओं के भीतर कम-से-कम विवरण सम्बन्धी मामलों में तो आवश्यक है ही, क्योंकि केवल समय के अभाव के कारण ही संसद के लिए सभी ऐसे मामलों को, जिनके लिए विधान की आवश्यकता है या होना सम्भव है, विस्तारपूर्वक तथा समुचित रीति से देखना असम्भव हो जाता है।" यह प्रदत्त विधि-निर्माण के दुरुपयोग के कारण उसे दोषी मानते हैं: "इस प्रणाली का दुरुपयोग होता है इसीलिए इसकी आलोचना आवश्यक है; और इसका सबसे बड़ा दोष है निरंकुश विधान (legislation) का पास होना जिसके द्वारा न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप होता है।" इस प्रणाली की मुख्य आलोचनाएँ निम्नवत् हैं:

1. सरकारी अधिकारी "कार्यों को पूरा करने" की धुन में जनता की सुविधा तथा इच्छा की अवहेलना करने की सोचने लगते हैं। इस प्रकार कार्यपालिका के हाथों में नियम बनानेवाली शक्ति के फलस्वरूप व्यक्ति के अधिकार तथा स्वतंत्रता कम हो जाती है, और अन्याय तथा निरंकुशता का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। सरकारी कर्मचारी अनेक गलतियाँ तो दक्षता के हित में ही करते हैं। "सरकारी अधिकारी भले ही सर्वोत्तम अभिप्रायों के अनुसार कार्य करें परन्तु इस सम्पूर्ण जगत के अन्य बहुत-से लोगों की भाँति उन पर अत्यन्त सावधानी से निगरानी रखना आवश्यक है।"
2. कभी-कभी अति महत्त्वपूर्ण मामले, जिनमें नीति सम्बन्धी प्रश्न सम्मिलित होते हैं, कार्यपालिका को प्रदान कर दिए जाते हैं। ऐसा किया जाना आपत्तिजनक है, क्योंकि नीति-निर्माण तो संसद का ही कार्य है।
3. कभी-कभी प्रदत्त विधि-निर्माण द्वारा कर लगाने की शक्ति भी प्रदान कर दी जाती है। कर का प्रदत्तीकरण प्रजातंत्र के सिद्धान्त 'प्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं' के विपरीत है। सम्पदा शुल्क (नियन्त्रित कम्पनियाँ) नियम, 1953 [Estate Duty (Controlled Companies) Rules, 1953] के नियम 2 (2), 2 (7) 5, 7, 9, 11 तथा 15 ने कार्यपालिका को कर लगाने या उसमें परिवर्तन करने के अधिकार दिए थे। पर ये नियम भारतीय संसद के अधीनस्थ विधान (Subordinate Legislation) सम्बन्धी समिति द्वारा रद्द किए जाने पर वापस ले लिए गए।
4. यह दलील थोथी है कि प्रशासन ऐसे व्यक्तियों तथा हितों से परामर्श करता है जो अधीनस्थ विधान द्वारा प्रत्यक्षतः प्रभावित होते हैं। प्रशासकों के पास ऐसे साधन ही नहीं होते हैं कि वे सामान्य जनता की इच्छाओं तथा आवश्यकताओं से परिचित हो सके, जबकि अनेक मामलों में यह अधीनस्थ विधान सामान्य जनता को अत्यधिक प्रभावित करता है।
5. प्रदत्त अधिनियमों में कभी-कभी शक्ति प्रदान करनेवाली धाराएँ ऐसी होती है जो कार्यपालिका को बहुत अधिक छूट प्रदान कर देती है। ऐसा कदापि नहीं होना चाहिए। "जब अभिलेख (charter) में इतनी अनिश्चितता हो तो न्यायालय द्वारा नियन्त्रण सम्भव नहीं है, और संसद उसे रद्द करके ही नियन्त्रण कर सकती है। किंतु ऐसी परिस्थितियों में, जो बहुधा सामने आती रहती है, उत्तरदायित्व संसद का ही होता है; और कार्यपालिका को और अधिक शक्तियाँ प्रदान नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि ऐसी अवस्था में उस पर बहुत अधिक बोझ पड़ जाता है।" स्मरणीय है कि भारतीय संसद की अधीनस्थ विधान की समिति (Committee on Subordinate Legislation) ने ऐसे नियमों के प्रति, जिनमें निश्चितता तथा विशिष्टता की कमी होती है, बहुत आक्रोश प्रकट किया है।
6. प्रायः प्रदत्त विधि-निर्माण द्वारा न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार यह नागरिकों को न्यायिक रक्षा से वंचित कर देता है। बहुधा ऐसे अधिनियमों में यह व्यवस्था होती है कि इनके अन्तर्गत बने

नियमों पर किसी भी कानूनी न्यायालय में आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। यह आपत्तिजनक व्यवस्था है।

7. न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र को जब औपचारिक रूप से सीमित न भी किया जाता हो, उस समय भी मुकदमों में राज्य की विशेषाधिकारपूर्ण स्थिति के कारण नागरिकों को न्याय मिलना कठिन हो जाता है।

8. कभी-कभी निर्मित उपकानूनों को पीछे की तिथियों से (retrospective effect) लागू किया जाता है। यह बहुत ही अनुचित है। संविधिक सलेखों की, ब्रिटिश प्रवर समिति (The British Select Committee on Statutory Instruments) का मत है कि नियम तथा विनियम "पूर्व तिथि से लागू होनेवाले नहीं होने चाहिए जब तक कि संसद द्वारा तत्सम्बन्धी स्पष्ट व्यवस्था न की गई हो।"

9. यदि संसद द्वारा नियमों तथा विनियमों की समुचित परिनिरीक्षा नहीं की जाती है तो प्रदत्त विधि-निर्माण निरंकुशता का प्रतिरूप हो जाता है। संसद का एक महत्त्वपूर्ण कार्य कार्यपालिका पर नियन्त्रण करना है। फिर भी प्रदत्त विधि-निर्माण की संसद द्वारा परिनिरीक्षा समुचित रूप से आलोचनात्मक नहीं है। फलस्वरूप, कार्यपालिका को निश्चित मार्ग पर बनाये रखने में यह असफल रही है। अतः "इस बात का भय हो जाता है कि कहीं सेवक स्वामी न बन जाए।"

प्रदत्त विधि-निर्माण एक अनिवार्य बुराई है। यह अनिवार्य इसलिए है कि संसद के पास समय (तथा क्षमता) का अभाव है। वह उन समस्त विषयों पर, जिन पर कानून बनाना आवश्यक है, सारी बारीकियों में विधि-निर्माण नहीं कर पाती। यह बुराई इसलिए है कि **प्रथम,** यह शासक को वह सत्ता प्रदान कर देता है जो मूलतः शासक की नहीं है; और **द्वितीय,** समुचित देखरेख तथा सतर्कता के अभाव में प्रदत्त शक्ति का दुरुपयोग होने लगता है। **डोनोमोर समिति** ने ठीक ही कहा है कि "प्रदत्त विधि-निर्माण की प्रणाली उद्देश्यों के लिए, कुछ सीमाओं तथा अधिरक्षणों के अन्तर्गत, वैध तथा संवैधानिक द ष्टि से वांछनीय है।" भारत में प्रदत्त विधि-निर्माण का क्षेत्र, आकार तथा प्रक ति निरन्तर बढ़ रही है। इन कारणों को समझना कठिन नहीं है। जिस प्रकार विकास की विशाल परियोजनाएँ चल रही है, प्रशासन पर भारी बोझ स्वाभाविक है। फलस्वरूप, विधि-निर्माण का बहुत कुछ कार्य प्रशासन द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

प्रत्यायोजित विधान के रक्षोपाय (Safeguard of Delegated Legislation)

विशेषज्ञों तथा प्रशासनिक विद्वानों का मानना है कि प्रत्यायोजित विधान एक अनिवार्य बुराई है, जिसे आधुनिक प्रशासकीय राज्यों में लोकतांत्रिक मूल्यों के विरुद्ध होते हुए भी मजबूरन ढोना पड़ रहा है। लोक प्रशासन के कार्य क्षेत्र तथा महत्त्व में हो रहे विस्तार के साथ ही प्रत्यायोजित विधान का प्रसार भी सुनिश्चित है, अतः यह सुझाव दिया जाता है कि प्रत्यायोजित विधान के सम्बन्ध में कतिपय रक्षोपायों या **बचाव-नियमों** को अपनाना चाहिए ताकि प्रत्यायोजित विधान से सम्बन्धित हानियों या दोषों में कमी लायी जा सके।

1. **सुनिश्चित सीमाएँ:** प्रत्यायोजित विधान के सम्बन्ध में प्रमुख रक्षोपाय इसकी सीमाओं के निर्धारण का है। सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही द ष्टियों से यह आवश्यक माना जाता है कि विधायिका को चाहिए कि वह कार्यपालिका को विधान निर्माण के अधिकार निर्माण के अधिकार प्रदान करते समय कार्यपालिका को उसकी सीमा या मर्यादा स्पष्टतः बता दे। निश्चित, स्पष्ट तथा नियन्त्रित सीमा के अभाव में कार्यपालिका, निरंकुश शासक-सा व्यवहार कर सकती है। यह भी कहा जाता है कि विधान निर्माण की यह सीमा अत्यन्त व्यापक तथा विस्त त नहीं होनी चाहिए और साथ में इतनी सीमित भी न होनी चाहिए कि कार्यपालिका कुछ कर ही न सके। इसी प्रकार प्रत्यायोजित विधानों की **संख्या भी सीमित** होनी चाहिए। भारत में तो लोक प्रशासन की जटिलताएँ अधीनस्थ कानून की भरमार के कारण ही है।

2. **समुचित नियन्त्रण:** यदि किसी को अधिकार प्रदान किए जाएँ तथा उन अधिकारों की तुलना में उत्तरदायित्व निश्चित न किए जाएँ अथवा नियन्त्रण प्रणाली शिथिल हो तो स्वाभाविक रूप से अधिकारों का दुरुपयोग होता है। अतः जब विधायिका, कानून निर्माण की शक्तियाँ कार्यपालिका को दे, तब स्वयं विधायिका तथा न्यायपालिका नियन्त्रण का कार्य करें। न्यायिक पुनरावलोकन के माध्यम से अनेक देशों में प्रत्यायोजित विधान पर नियन्त्रण स्थापित किया गया है। इसी प्रकार विधायिका की या संसदीय जाँच समितियाँ भी प्रत्यायोजित विधान के संचालन पर निगरानी रखती है तथा अपनी रिपोर्ट सदन में प्रस्तुत करती है। **हरमन फाइनर** तथा **जॉन ई. करसैल** की मान्यता है कि "प्रत्यायोजित विधान का समुचित पर्यवेक्षण संसद ही कर सकती है।"

3. **उचित पात्रता:** प्रत्यायोजित विधान की बुराइयों से बचने के लिए एक सुझाव यह दिया जाता है कि इसे उत्तरदायी एवं उच्च स्तरीय प्राधिकारियों तक ही प्रत्यायोजित किया जाना चाहिए। संसदीय लोकतंत्र में जहाँ मंत्री ही अपने विभाग के क त्यों के लिए उत्तरदायी होता है, उस तक प्रत्यायोजित विधान का विस्तार होना चाहिए। प्रत्यायोजित विधान का यह सामान्य सिद्धान्त है कि यह बहुत नीचे तक प्रत्यायोजित नहीं होना चाहिए अर्थात् प्रत्यायोजित अपने प्रत्यायोजन का पुनः प्रत्यायोजन नहीं करे। यद्यपि इस सिद्धान्त का पालन बहुत कम होता है। इसीलिए समस्याएँ अधिक आती हैं, क्योंकि स्तर-दर-स्तर प्रत्यायोजन होने से उत्तरदायित्व घटता जाता है।

4. **स्वतंत्र एवं सशक्त न्यायपालिका:** कानूनों के निर्माण तथा क्रियान्वयन को मानवाधिकारों तथा न्याय की कसौटी पर खरा उतारने के लिए यह आवश्यक है कि स्वतंत्र, निष्पक्ष तथा व्यापक अधिकार क्षेत्र से युक्त न्यायपालिका हो। प्रत्यायोजित विधान के सम्बन्ध में डोनोमोर समिति ने सुझाया था कि न्यायलयों का अधिकार क्षेत्र इससे सीमित नहीं होना चाहिए अन्यथा आम आदमी को असंख्य कष्टों का सामना करना पड़ सकता है। संसदीय शासन व्यवस्थाओं वाले देशों में जहाँ विधायिका में से ही कार्यपालिका बनती है, में यदि विधायिका में किसी एक दल का प्रचंड बहुमत आ जाए तो वह प्रत्यायोजित विधान का खुलकर दुरुपयोग भी कर सकता है। ऐसे में स्वतंत्र न्यायपालिका द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार ही रक्षा कर सकता है।

5. **प्रचार एवं परामर्श:** प्रत्यायोजित विधान को अन्तिम रूप देने से पूर्व यदि उसका पर्याप्त प्रचार किया जाए तथा सम्बन्धित क्षेत्र के व्यक्तियों या प्रभावित होनेवाले लोगों से सलाह ली जाए तो कई प्रकार की विषमताओं से बचा जा सकता है। अमेरिका में सामान्यतः विधि को अन्तिम रूप देने से पूर्व यह प्रयास किए जाते हैं-
   - सम्बन्धित उद्योगों या व्यापार के नियमों की प्रतियाँ भेजकर लोगों के विचार या सम्मति जानना,
   - प्रभावित होनेवाले संगठनों के हितों के बारे में अनौपचारिक बातचीत करना,
   - रुचि लेनेवाले किसी भी व्यक्ति या समूह की गवाही या परामर्श लेना,
   - गंभीर तथा विवादास्पद मामलों में सभी पक्षों की औपचारिक गवाही तथा तर्क प्राप्त करना, जैसा कि न्यायालयों में सुनवाई होती है।

6. **प्रकाशन:** प्रचार तथा पूर्व परामर्श के पश्चात् संशोधित एवं परिष्क त रूप में निर्मित हुए अधीनस्थ कानून का प्रकाशन किया जाना चाहिए। इस प्रकाशन में सभी सम्बन्धित विवरणों तथा तथ्यों को समाहित करना चाहिए तथा सभी सम्बन्धित एवं इच्छुक व्यक्तियों का यह कानून या नियम मिलने चाहिए। बहुधा (भारत में) ऐसा होता है कि अधीनस्थ या प्रत्यायोजित कानूनों की विस्त त जानकारी आम जनता तो क्या सरकारी संगठनों तक में नहीं होती है।

निस्संदेह प्रत्यायोजित या अधीनस्थ विधान के रक्षोपायों में संसदीय नियन्त्रण सर्वोच्च है, क्योंकि विधान बनाने की शक्ति का प्रत्यायोजन भी संसद ही करती है। भारत तथा ब्रिटेन में संसद की समितियाँ प्रत्यायोजित विधान पर नियन्त्रण रखती है। ब्रिटेन में लॉर्ड सभा ने 1926 में "विशेष आदेश समिति" तथा हाउस ऑफ कॉमन्स ने 1944 में "संविधिक संलेख प्रवर समिति" (Select Committee on Statutory Instruments) की स्थापना की है, जो प्रत्यायोजित विधान पर निगरानी रखती है एवं जाँच करके संसद को सूचित करती है। डोनोमोर समिति ने ही इस प्रकार की समितियाँ की स्थापना का सुझाव दिया था। **भारत में भी संविधान के अनुच्छेद-118(1)** के अन्तर्गत संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्मित नियमों की धाराओं के अनुसरण में अधीनस्थ विधान समिति होती है, जो इस बात की जाँच करती है कि क्या संविधान द्वारा प्रदत्त नियमों, उपनियमों तथा कानून निर्माण सम्बन्धी शक्तियों का अधिकारीगण उचित प्रयोग करते हैं या नहीं तथा इसकी सूचना समितियाँ सदन को देती है। इसी प्रकार राज्य विधान मण्डलों में भी अधीनस्थ विधान समितियाँ होती है। भारतीय संसद में 1953 से यह समिति कार्यरत है; इसमें 15 सदस्य हैं। अधीनस्थ विधान समिति यह देखती है कि क्या संविधान के सामान्य उद्देश्यों की अनुपालना हो रही है? क्या कर लगाने का कोई प्रस्ताव है? क्या इससे न्यायालय पर प्रभाव पड़ रहा है? क्या असाधारण रूप से प्रत्यायोजन हो रहा है? क्या संसद को नियमित तथा समय पर सूचना दी जा रही है? तथा अन्य कोई स्पष्टीकरण तो आवश्यक नहीं है? निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्यायोजित विधान दोषपूर्ण होते हुए भी आवश्यक है, अतः सावधानीपूर्वक कदम उठाने की आवश्यकता है। **ग्रिफिथ** तथा **स्ट्रीट** की मान्यता है कि संसद को नीति तथा सिद्धान्त निर्माण का कार्य करना चाहिए तथा विस्तार एवं व्याख्या का कार्य कार्यपालिका के पास रहे। इसी प्रकार कानूनों से प्रभावित होनेवाले व्यक्तियों से परामर्श करना भी आवश्यक है।

अध्याय-17
प्रशासनिक अधिनिर्णयन (न्यायाधिकरण)
(Administrative Adjudication)

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि आधुनिक युग में कार्यपालिका शाखा प्रत्यायोजित विधान के सहारे व्यवस्थापिका के विधि-निर्माण के कार्य में सेंध लगा चुकी है। इसी कारण कार्यपालिका के अधिकार-क्षेत्र और कार्य-क्षेत्र दोनों में काफी व द्धि हुई है। प्रस्तुत अध्याय में हम कार्यपालिका शाखा के अधिकारों में बढ़ोत्तरी के लिए उत्तरदायी एक अन्य कारक 'प्रशासनिक अधिनिर्णयन' (Administrative Adjudication) के बारे में पढ़ेगें। जहाँ प्रत्यायोजित विधान के द्वारा कार्यपालिका ने व्यवस्थापिका की शक्तियों को परिसीमित किया है वहीं प्रशासनिक अधिनिर्णयन के द्वारा इसने न्यायपालिका शाखा की शक्तियों को कम किया है। हमें ज्ञात है कि सामान्यतः वादों या मुकदमों की सुनवाई तथा निस्तारण का कार्य न्यायपालिका करती है, किन्तु वर्तमान में कार्यपालिका से सम्बन्धित कुछ अभिकरण भी यह कार्य करने लग गए हैं और इसे ही हम प्रशासनिक अधिनिर्णयन के नाम से जानते हैं। विगत कुछ दशकों से भारत सहित अधिकांश देशों में प्रशासनिक न्याय-निर्णय या अधिनिर्णयन की प्रव त्ति को बढ़ावा मिला है। रॉबसन के अनुसार, ब्रिटिश संविधान में गत आधी शताब्दी के दौरान जो आश्चर्यजनक विकास हुआ है उनमें से एक यह है कि राज्य के बड़े विभागों तथा न्यायालयों के बाहर अन्य अनेक निकायों तथा व्यक्तियों ने न्यायिक शक्ति प्राप्त कर ली है।" यह कथन भारत सहित अन्य लगभग सभी लोकतान्त्रिक देशों पर भी समान रूप से लागू होता है।

प्रशासनिक अधिनिर्णयन एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत नागरिकों और प्रशासनिक अधिकारियों या प्रशासन के मध्य उपजे वादों और शिकायतों की सुनवाई एवं निपटारा करने के लिए प्रशासनिक न्यायालय गठित किए जाते हैं। इन्हें हम प्रशासनिक न्यायाधिकरण या अभिकरण के नाम से भी जानते हैं। अतः प्रस्तुत अध्याय में हम प्रशासनिक अधिनिर्णयन और प्रशासनिक न्यायाधिकरणों को प्रर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग करेगें।

अर्थ

प्रशासकीय न्यायाधिकरण अथवा न्यायालय विशिष्ट अधिनियमों द्वारा निर्मित ऐसे अभिकरण हैं जिन्हें विभिन्न कानूनों की कार्यान्विती की प्रक्रिया में उदित विवादों के सम्बन्ध में अधिनिर्णय देने का दायित्व सौंपा जाता है। ब्लैकली तथा ओटमैन ने इन्हें "प्रशासनिक न्यायालय" नाम देते हुए कहा है कि "ये सामान्य न्यायिक प्रणाली से बाहर स्थित ऐसी सत्ता हैं, जो उन कानूनों की व्याख्या करते हैं और उन्हें लागू करते हैं, जब लोक प्रशासन के कार्यों पर, औपचारिक मुकदमों या अन्य निर्धारित रीतियों द्वारा आक्रमण होता है।"

भारत में न्यायपालिका द्वारा न्यायाधिकरण की दी गई परिभाषा (भारत बैंक बनाम भारत बैंक-कार्मिक, 1950) के अनुसार "न्यायाधिकरण के अन्तर्गत वे सभी निकाय सम्मिलित हैं, जिनमें न्यायिक शक्तियाँ निहित हैं और जिनके दिए हुए निर्णय नागरिकों को प्रभावित करते हैं।"

अब प्रश्न उठता है कि प्रशासनिक अधिनिर्णय और न्यायिक प्रक्रिया या प्रशासनिक न्यायालयों और सामान्य न्यायालयों में क्या अन्तर है। इन दोनों के मध्य अन्तर को नीचे दी गई तालिका की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता हैः

न्यायिक प्रक्रिया तथा प्रशासनिक अधिनिर्णय में अन्तर

	न्यायिक प्रक्रिया		प्रशासनिक अधिनिर्णय (न्याय-निर्णय)
1.	यह न्यायपालिका द्वारा किया जाने वाला न्याय या अपनायी जाने वाली प्रक्रिया है।	1.	यह कार्यपालिका द्वारा किये जाने वाला अर्द्ध न्यायिक प्रकृति का कार्य या प्रक्रिया है।
2.	यह सामान्य कानून तथा न्यायपालिका के सिद्धान्तों पर आधारित होती है।	2.	इसमें निश्चित सिद्धान्त नहीं बल्कि "लोक हित" या सार्वजनिक आवश्यकता या "सुविधा" को आधार बनाया जाता है।
3.	इसमें न्याय का प्रबन्ध पूर्ण स्वतंत्र न्यायाधीशों द्वारा किया जाता है, जो कानूनी उत्तरदायित्व से मुक्त होते हैं।	3.	इसमें न्याय-निर्णय प्रशासनिक अधिकारी करता है, जो प्रायः स्वतंत्र नहीं होता तथा पद-सम्बन्धी कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है।
4.	न्यायाधीश प्रायः निष्पक्ष, तटस्थ तथा विरोध रहित द ष्टि से युक्त माने जाते हैं।	4.	प्रशासनिक अधिकारी प्रायः लोक नीति या कार्यपालिका के प्रति प्रतिबद्ध तथा किसी पक्ष या विरोध से युक्त होते हैं।
5.	न्यायिक प्रक्रिया में निर्णय, न्यायाधीश का व्यक्तिगत निर्णय होता है, जिसे सभी जानते हैं।	5.	प्रशासनिक अधिनिर्णय में निर्णयकर्त्ता जो दिखता है वह कई बार होता नहीं है अर्थात् मंत्री द्वारा लिया गया निर्णय वास्तव में नौकरशाही का निर्णय होता है।
6.	न्यायाधीश अपने न्यायिक कार्यों का प्रत्यायोजन नहीं कर सकता है।	6.	प्रशासनिक अधिकारी प्रायः अपनी निर्णय-शक्ति का प्रत्यायोजन कर देते हैं।
7.	न्यायालय या न्यायाधीश अपने निर्णय के पीछे छिपे तर्क बताते हैं।	7.	प्रशासनिक अधिकारी या न्यायाधिकरण प्रायः अपने फैसले की घोषणा ही करते हैं, वे तर्क नहीं बताते हैं, जिनके आधार पर निर्णय हुआ।
8.	न्यायिक प्रक्रिया में वाद या मुकदमे में दो पक्ष होते हैं। एक पक्ष न्यायालय जाता है, तो दूसरा विरोध में तर्क देता है।	8.	प्रशासनिक अधिनिर्णय में दो पक्षों का झगड़ा भी हो सकता है अथवा न्यायकर्त्ता अधिकारी स्वयं जाँच-पड़ताल या नियंत्रण का कार्य भी कर सकता है।
9.	न्यायपालिका तभी कार्यवाही शुरू करती है, जब कोई न्याय माँगने आए। अर्थात् न्यायपालिका स्वयं की पहल से कार्यवाही नहीं कर सकती है।	9.	प्रशासनिक अधिनिर्णय में वादी तथा न्यायाधीश दोनों एक ही अभिकरण में समाहित हो जाते हैं अर्थात् प्रशासन स्वयं ही वाद दायर कर सकता है, स्वयं ही निर्णय करता है।
10.	वाद-प्रतिवाद, बहस, प्रमाण, गवाह, खुले में कार्यवाही संचालन तथा कानूनी सहायता इत्यादि न्यायिक प्रक्रिया में होते हैं।	10.	प्रशासनिक अधिनिर्णय में कई बार बिना प्रतिवाद सुने या वकील की सहायता दिए बिना या गवाह को जाने बिना भी निर्णय दिए जाते हैं।
11.	न्यायिक प्रक्रिया बहुत जटिल तथा सुस्थापित परम्परागत नियमों पर आधारित होती है।	11.	प्रशासनिक अधिनिर्णय के नियम प्रायः शिथिल तथा लचीले होते हैं।
12.	न्यायिक प्रक्रिया सामान्य कानून तथा सामान्य मामलों से सम्बन्धित होती है।	12.	प्रशासनिक अधिनिर्णय सरकार के किसी विशेष कार्य या गतिविधि के सम्बन्ध में होते हैं।
13.	यह पूर्ण न्यायिक प्रकृति है।	13.	यह अर्द्ध न्यायिक प्रकृति का कार्य है।

यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उपरोक्त वर्णित अन्तर केवल प्रतीकात्मक हैं; वस्तुतः इन दोनों में स्पष्ट, सूक्ष्म तथा विशिष्ट विभाजन बहुत सरल नहीं है।

प्रशासनिक न्यायाधिकरण लगभग सभी लोकतान्त्रिक देशों में अपना स्थान बना चुके हैं। फ्रांस में कौंसिल डी एटा (राज्य परिषद्) और अमेरिका के स्वतन्त्र नियामक आयोग इसी श्रेणी में आते हैं। ब्रिटेन में भी बहुत से प्रशासनिक न्यायाधिकरण स्थापित किए गए हैं। भारतीय संविधान की धाराओं 32, 136, 227 तथा 323 (क) और (ख) के द्वारा प्रशासनिक न्यायाधिकरणों को किसी न किसी रूप में स्वीकृति दी गई है। भारत में सन् 1976 में 42 वें संविधान संशोधन के द्वारा स्थापित अनुच्छेद 323 (क) में यह प्रावधान किया गया है कि संसद विधि द्वारा संघ एवं राज्य सरकार के लोक सेवकों की सेवा की शर्तों से सम्बन्धित विवादों के निपटारे के लिए प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना कर सकती है। इसी अनुच्छेद के अन्तर्गत सन् 1985 में 'केन्द्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण अधिनियम' पारित किया गया और केन्द्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण की स्थापना की गई।

अनुच्छेद-323 ख के द्वारा यह प्रावधान किया गया है कि विधानमंडल निम्नांकित विषयों से सम्बन्धित विवादों के निस्तारण के लिए न्यायाधिकरणों की स्थापना कर सकते हैं:-

1. कर सम्बन्धी विवाद
2. विदेशी मुद्रा और आयात-निर्यात
3. औद्योगिक एवं श्रम विवाद
4. भूमि-सुधार विधियाँ
5. नगर सम्पत्ति-अधिकतम सीमा
6. संसद एवं राज्य विधानमंडलों के सदस्यों के निर्वाचन सम्बन्धी विवाद
7. आवश्यक खाद्य वस्तुओं के उत्पादन, प्राप्ति, वितरण तथा अन्य सम्बन्धित विवाद
8. अन्य मामले।

ऐसा नहीं है कि 42वें संविधान संशोधन से पूर्व भारत में कोई प्रशासनिक न्यायाधिकरण था ही नहीं बल्कि 1976 से पूर्व भारत में केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा स्थापित लगभग 100 न्यायाधिकरण विभिन्न क्षेत्रों में कार्य कर रहे थे।

प्रशासकीय अधिनिर्णयन/न्यायाधिकरणों के प्रकार

वर्तमान समय में प्रशासनिक न्यायाधिकरण विश्व के लगभग सभी लोकतान्त्रिक देशों में स्थापित हो चुके हैं। लेकिन इन सभी देशों में स्थापित इन निकायों को हम दो भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं-

1. एंग्लो-सैक्सन प्रतिमान और
2. महाद्वीपीय प्रतिमान

इन दोनों प्रकारों या प्रतिमानों की विशेषताओं का उल्लेख नीचे किया गया है।

1. **एंग्लो-सैक्सन प्रतिमान (Anglo-Saxon Model):** इसे ब्रिटिश मॉडल भी कह सकते हैं। वस्तुतः इंग्लैण्ड में नॉरमन साम्राज्य से पूर्व पाँचवी सदी में जर्मन आदिवासियों (एंगल्स, सैक्संश, ज्यूट्स) द्वारा प्रसारित की गई भाषा (Old English) ही अंग्रेजी का आधार बनी। एंग्लो-सैक्सन आदिवासियों ने ही इंग्लैण्ड को उसका नाम दिया, अतः प्राचीन इंग्लैण्ड को "एंग्लो-सैक्सन" कहा जाता है।

   एंग्लो-सैक्सन मॉडल पर बने प्रशासनिक न्यायाधिकरणों का प्रचलन ब्रिटेन, भारत तथा ब्रिटिश उपनिवेशवाद के शिकार रहे देशों में पाया जाता है। इस मॉडल की यह विशेषताएँ हैं-

   (i) इसमें प्रशासनिक न्यायाधिकरण, किसी निश्चित प्रणाली या तरीके से गठित नहीं किए जाते हैं;

   (ii) प्रशासनिक न्याय, या अधिनिर्णयन का कार्य सरकार के विभाग ही सम्पन्न करते हैं;

   (iii) नियामकीय, प्रशासकीय तथा न्यायिक कार्य प्रायः एक ही अभिकरण में समाहित रहते हैं;

   (iv) इन न्यायाधिकरणों में योग्य न्यायाधीशों के स्थान पर प्रायः प्रशासनिक अधिकारी कार्य करते हैं, जिन्हें न्यायिक कार्य का अनुभव न के बराबर होता है;

   (v) इनमें न्याय-प्रक्रिया की प्रणाली का अभाव होता है;

   (vi) अपील के लिए कोई निश्चित पदसोपान नहीं होता है;

   (vii) अपीलें प्रायः सामान्य न्यायालयों में होती हैं।

2. **महाद्वीपीय प्रतिमान (Continental Model):** विश्व में महाद्वीप तो कई हैं, किन्तु कोन्टीनेन्टल शब्द प्रायः यूरोप के लिए प्रयुक्त होने लगा है, अतः महाद्वीपीय प्रतिमान को हम यूरोपीय प्रतिमान भी कह सकते हैं। फ्रांस, इटली, स्पेन तथा स्विट्जरलैण्ड में महाद्वीपीय मॉडल के प्रशासनिक न्यायाधिकरण कार्यरत हैं। सामान्यतः इन देशों में सामान्य कानून तथा प्रशासनिक कानून प थक्-प थक् होते हैं तथा प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित होती हैं-

(i) इस प्रतिमान में प्रशासनिक न्यायाधिकरण एक निश्चित प्रणाली से गठित होते हैं;

(ii) प्रशासनिक न्यायाधिकरण, नियमित प्रशासनिक व्यवस्था से अंशतः या पूर्णतः प थक् होते हैं। कम से कम उच्च स्तरों पर तो यह व्यवस्था प थक् दिखती ही है;

(iii) न्यायाधिकरण एक सुनिर्धारित प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं;

(iv) इनमें प्रशिक्षित एवं योग्य न्यायाधीश नियुक्त किए जाते हैं तथा उनका कार्यकाल निश्चित होता है;

(v) अपील के सम्बन्ध में एक सुनिर्धारित पद सोपान होता है;

(vi) यह सामान्य न्यायालयों के नियंत्रण से मुक्त होते हैं तथा उच्चतम प्रशासनिक न्यायाधिकरण (जैसे फ्रांस में (Counseil d' Etat) का निर्णय अंतिम होता है।

एक ओर जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन दो प्रकार के प्रशासनिक न्यायाधिकरणों का ही प्रचलन है वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय स्तर पर हम सुविधा की द ष्टि से प्रशासनिक न्यायाधिकरणों को कई वर्गों में बाँट सकते हैं; जैसे 'कर सम्बन्धी न्यायाधिकरण', 'दर सम्बन्धी न्यायाधिकरण', 'क्षतिपूर्ति दावा सम्बन्धी न्यायाधिकरण', 'लोक सेवा सम्बन्धी न्यायाधिकरण', 'श्रम एवं औद्योगिक विवाद सम्बन्धी न्यायाधिकरण' आदि। अमेरिका में इन्हें चार प्रकारों में बाँटा गया है- स्वतन्त्र प्रशासनिक न्यायालय, विशेष प्रशासनिक न्यायालय, नियामकीय संगठन तथा लाइसेंस प्रदत्त अधिकारी या संगठन।

प्रशासकीय न्यायाधिकरणों को बढ़ावा देने वाले तत्व या कारक

प्रशासकीय न्यायाधिकरणों की व द्धि उनकी बढ़ती हुई आवश्यकता एवं लोकप्रियता का प्रमाण है। सामान्यतः हम कह सकते हैं कि औद्योगिकरण, नगरीकरण, संचार क्रान्ति, लोक कल्याणकारी एवं प्रशासकीय राज्य की अवधारणा आदि ने प्रशासकीय न्यायाधिकरणों की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। नीचे उन तत्वों या कारकों की व्याख्या की जा रही है जो इनके विकास के लिए उत्तरदायी हैं:

1. राज्य तथा लोक प्रशासन के फैलते कार्यक्षेत्र एवं बढ़ते दायित्वों ने अधिनिर्णय को भी विस्तारित किया है। सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए नित्य नये कानून, कार्यक्रम, नीतियाँ तथा आदेश जारी करने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार के निर्णयों के विरुद्ध मुकदमे भी खूब होते हैं। इन विशिष्ट तथा तकनीकी प्रकृति के मुकदमों का निस्तारण प्रशासनिक न्यायालय ही कर सकते हैं। साथ में यह न्यायालय सम्बन्धित 'नीति' की भावना को भी परखने तथा लागू करने का प्रयास करते हैं।
2. जिस प्रकार विधायिका की सहायता के लिए प्रत्यायोजित विधान के द्वारा कार्यपालिका अर्द्ध विधायी कार्य करती है, उसी प्रकार न्यायपालिका की सहायता के लिए प्रशासन अर्द्ध न्यायिक कार्य करता है। चूँकि कार्यपालिका का कार्यक्षेत्र तथा दायित्व बड़े हैं, अतः वह न्यायाधिकरणों के माध्यम से विचारों का समाधान कर सकती है।
3. तकनीकी या विशेषज्ञता से परिपूर्ण कार्यों जैसे करारोपण, कर एकत्रण, शिक्षा-प्रसार, उचित लगान, लोक सेवा, दुर्घटना क्षतिपूर्ति, श्रम सम्बन्धी विवाद इत्यादि का निस्तारण प्रशासनिक अधिकारी एवं विशेषज्ञ अधिक बेहतर ढंग से कर सकते हैं। सामान्य न्यायालयों के न्यायाधीश एक प्रकार के सामान्यज्ञ अधिकारी ही होते हैं, अतः वे प्रत्येक विभाग की तकनीकी जटिलताओं को नहीं समझ पाते हैं।
4. सामान्य न्यायालयों में कार्यभार अत्यधिक रहता है तथा न्याय मिलने में बहुत देरी होती है। इसलिए प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के द्वारा शीघ्र एवं स्पष्ट न्याय सम्भव हो जाता है। भारत के सामान्य न्यायालयों में लगभग 2 करोड़ मुकदमे लम्बित हैं जबकि अकेले केन्द्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण (कैट) में सन् 1998-99 में 60 हजार से भी अधिक मामले विचाराधीन थे। यदि प्रशासनिक न्यायाधिकरण न हों तो सामान्य न्यायालयों का कार्यबोझ और बढ़ जाएगा।
5. राज्य की सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ स्पष्टतः "लोक हित" में बनती हैं। जहाँ सामान्य न्यायालय में आम व्यक्ति न्याय माँगने से कतराता है या बचना चाहता है, वहीं प्रशासनिक न्यायाधिकरणों को कई बार सम्बन्धित अधिनियम के द्वारा यह शक्ति दे दी जाती है कि वह कानून के क्रियान्वयन सहित स्वयं की पहल पर विवादों तथा उल्लंघन के मामले की जाँच करें। **डब्ल्यू० ए० रॉब्सन** के अनुसार-"ब्रिटिश संविधान में गत आधी शताब्दी के दौरान जो विकास हुआ है उनमें से एक

यह है कि राज्य के बड़े विभागों तथा न्यायालयों के बाहर अन्य कई निकायों तथा व्यक्तियों ने न्यायिक शक्ति प्राप्त कर ली है।"

6. राज्य के कल्याणकारी स्वरूप ने कई प्रकार के कानूनों को जन्म दिया है और अधिक कानून तथा नियम हमेशा मुकदमों में व द्धि करते हैं तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। प्रत्येक विकासपरक, सुरक्षा उन्मुख तथा कल्याणकारी या नियामकीय अधिनियम की क्रियान्विति करते समय स्वतः ही प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। यह न्यायाधिकरण व्यक्ति तथा लोकहित के मध्य सामंजस्य का कार्य करने में उपयोगी माने जाते हैं।

7. कतिपय विशिष्ट, अल्पकालिक तथा लोक महत्त्व के प्रश्नों पर शीघ्र विचार करने हेतु प्रशासनिक न्यायाधिकरण स्थापित किए जाते हैं। एक प्रकार के सभी मामलों को एक साथ सुनवाई करने की प्रव त्ति भी न्यायाधिकरणों के पक्ष में है। शीघ्र, सस्ती, सरल तथा व्यावहारिक न्यायिक प्रक्रिया भी इन्हीं न्यायाधिकरणों में ही सम्भव है।

प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की व द्धि या विकास के लिए उत्तरदायी कारकों के विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इन निकायों के विकास के लिए लगभग वही कारण उत्तरदायी हैं जो कि प्रत्योजित विधान के विकास के कारण हैं।

प्रशासकीय न्यायाधिकरणों से लाभ

प्रशासकीय न्यायाधिकरणों से ऐसे कई लाभ हैं जो साधारण विधि न्यायालयों से प्राप्त नहीं हैं। **फ्रैंक्स समिति** के सामने साक्ष्य देते हुए **बर्नार्ड श्वार्टज** (Bernard Schwartz) ने कहा थाः "कुछ लोग यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि जिन कारणों से अदालतों के बजाय विभिन्न न्यायाधिकरणों के हाथों में अधिनिर्णय के प्राधिकार सौंपे गये थे, वे कारण अब विद्यमान नहीं हैं और इसलिए स्पष्टतः अब यही श्रेयष्कर है कि अब तक बने इन न्यायाधिकरणों का उन्मूलन कर देना चाहिए और उनके अधिकार-क्षेत्र उपयुक्त न्यायालयों को स्थानान्तरित कर देना चाहिए। किन्तु यह समाधान भ्रम के कारण सरल भले ही दीख पड़े, राजनीतिक या व्यावहारिक रूप से पूर्णतः अव्यवहार्य है, और यदि किसी प्रकार ऐसा किया भी जा सका तो यह कदापि वांछनीय नहीं होगा कि घड़ी की सुई पुनः उस स्थिति तक पीछे लौटा दी जाये जहाँ आधुनिक प्रशासकीय न्यायाधिकरण के उद्भव से पूर्व थी। यह मार्ग इस तथ्य की अवहेलना करता प्रतीत होगा कि प्रशासकीय विधि के विकास से आंग्ल-अमेरिकी विधि प्रणाली को निश्चित लाभ और हानि हुई है। अतः आज मुख्य समस्या यह है कि इनके दोषों का परित्याग करते हुए इनके लाभों को बनाये रखा जाये। विधि से प्रशासकीय न्याय की पूर्ण समाप्ति से दोनों का ही अन्त हो जाएगा।" न्यायाधिकरणों के मुख्य लाभ निम्नांकित हैंः-

1. प्रशासकीय न्याय अधिक सस्ता है, बहुत-से प्रशासकीय मामलों में वकील नहीं किये जाते, और न फीस देना ही जरूरी होता है। इसी प्रकार बहुत-से प्रशासकीय न्यायाधिकरणों में किसी प्रकार का कोई व्यय नहीं होता। सामान्य विधि न्यायालयों में न्याय बहुत खर्चीला होता है।

2. प्रशासकीय न्यायाधिकरण अपने कार्य अधिक नमनीयता या लचीलेपन से सम्पन्न करते हैं। वे अपने पिछले निर्णयों या अन्य प्राधिकारियों के निर्णयों से बँधे नहीं होते और न उनके कार्यों में न्यायिक द ष्टान्त तथा 'विधि के शासन' की धारणा ही बाधक होती है। साक्ष्य के बहुत कुछ तकनीकी नियम ढीले कर दिये जाते हैं, ताकि सभी अपेक्षित तथ्य प्राप्त हो सकें; यहाँ तक कि न्यायाधिकरण के सदस्य भी साक्ष्य ढूँढ़ने में सक्रिय भाग लेते हैं।

3. प्रक्रियाओं की मुख्य विशेषताओं में एक बात यह भी है कि उनमें अनौपचारिकता तथा सादगी बरती जाती है। किस प्रकार की अनौपचारिकता तथा सादगी प्रयोग की जानी चाहिए, इस सम्बन्ध में **फ्रैंक्स समिति** के सामने **सर ऐरिक बॉयर** (Sir Eric Bowyer) ने साक्ष्य देते हुए कहा था कि "अध्यक्ष तथा न्यायाधिकरण के दो सदस्य एक मेज पर एक तरफ बैठे हुए थे। वादी तथा वादी का मित्र, जो कदाचित किसी ट्रेड यूनियन का सदस्य था, उनके सामने बैठे हुए थे। इसी तरफ बीमा अधिकारी भी था। वे सब बिल्कुल पास-पास बैठे थे। अध्यक्ष या सदस्य जो प्रश्न करते थे, बिल्कुल आपस की बातचीत के रूप में होते थे। कार्यवाही पर वस्तुतः अध्यक्ष का नियन्त्रण था। मुझे यह बिल्कुल स्पष्ट था कि अध्यक्ष, जो एक महिला थी, पूछे गये प्रश्नों द्वारा वादी के मामले की सहायता के लिए बार-बार प्रयास कर रही थी.....सामान्यतः यह पूर्णरूपेण अनौपचारिक प्रतीत हो रहा था। यहाँ पर जनता नहीं थी।"

4. प्रशासकीय न्यायाधिकरण सामान्य न्यायालयों की अपेक्षा जल्दी कार्य करते हैं, क्योंकि जिस प्रक्रिया का वे अनुगमन करते

हैं वह कम जटिल तथा कम कष्टकारक होती है।

5. न्यायाधिकरणों के समक्ष बहुधा संविधि (कानून) द्वारा निर्धारित न्यूनतम स्तर मुख्य समस्या होती है। ऐसे मामलों को सामान्य न्यायालयों की अपेक्षा किसी न्यायाधिकरण द्वारा अधिक अच्छी तरह से निपटाया जा सकता है, क्योंकि उसमें विशेष अनुभव तथा प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति होते हैं।

6. प्रशासकीय अधिनिर्णय के अन्य गुण भी हैं, जैसे इसमें लचीलापन होता है तथा परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालने की क्षमता होती है, एवं शिकायतों की सुनवाई शीघ्रतापूर्वक की जाती है; विधि न्यायालय का द ष्टिकोण रूढ़िवादी एवं अनमनीय होता है। परिणामस्वरूप, तेजी से बदलती हुई सामाजिक व्यवस्था की द ष्टि एवं अनुरूपता से सामान्य न्यायालय लाभकारी नहीं है। प्रशासकीय अधिनिर्णय प्रक्रिया नियमों, साक्ष्य के प्रनियमों तथा मौलिक कानून के स्थापित सिद्धान्तों के झंझटों में नहीं पड़ती। अतः प्रशासकीय न्यायाधिकरण की व्यवस्था सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के बदलते हुए स्वरूप के साथ स्वर मिलाकर चल सकती है।

7. प्रशासकीय अधिनिर्णय का अन्य लाभ इसकी संक्षिप्त प्रक्रिया है। यह प्रतिक्रिया सम्बन्धी द्वन्द्व की शिकार नहीं है जो अदालतों में सर्वत्र दिखायी पड़ता है।

8. इसे हर क्षेत्र में प्रयोग करना सम्भव है, जबकि न्यायिक मुकदमों में ऐसे प्रयोग के लिए गुंजाइश नहीं है। किसी सत्ता के कार्यों से प्राप्त व्यावहारिक अनुभव का नियमों, विनियमों तथा विधियों के संशोधन द्वारा अधिक सरलता से उपयोग किया जा सकता है। न्यायालयों से सम्बन्धित कानून का संशोधन अत्यधिक श्रम-साध्य होता है।

9. कभी-कभी आपाकालीन अधिकार (powers) प्रशासकीय प्राधिकारियों को किसी अधिसूचना या कार्यपालिका आदेश द्वारा दिये जा सकते हैं, या उसके द्वारा वापस भी लिये जा सकते हैं।

10. न्यायाधिकरणों का अन्य गुण यह है कि वे साधारण न्यायालयों के कार्यभार को कम करते हैं। **लॉर्ड चान्सलर** (Lord Chancellor) के स्थायी सचिव ने फ्रेंकस समिति के सम्मुख साक्ष्य देते हुए कहा था कि "मैं यह समझता हूँ कि वे सभी मामले जो इस समय प्रशासकीय न्यायाधिकरणों द्वारा तय किये जाते हैं, यदि सामान्य न्यायालयों को स्थानान्तरित कर दिये जायें तो इस प्रकार के स्थानान्तरण से निश्चय ही बड़ी संख्या में अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति करना आवश्यक हो जायेगा। बहुत से मामलों के लिए तो, मेरी द ष्टि में, उच्च वेतन वाले न्यायाधीशों की सेवाओं की आवश्यकता भी नहीं है मेरा विश्वास है कि न्याय के प्रशासन के लिए यह आवश्यक है कि यदि बैंच श्रेष्ठतम है तो उसके समक्ष श्रेष्ठ मामले ही आने चाहिए। ये कुछ कारण हैं जिनकी वजह से मैं भी अन्य व्यक्तियों के साथ यह विश्वास करने लगा हूँ कि प्रशासकीय न्यायाधिकरणों की प्रणाली ने, जिसका इस देश में विकास हुआ है, हमारी सामान्य न्यायिक प्रणाली के परिरक्षण में निश्चित रूप से योगदान है।"

अतः प्रशासकीय न्यायाधिकरणों के मुख्य गुण सस्तापन, गम्यता, तकनीक से मुक्ति, शीघ्रता तथा विशेष विषयों का विशिष्ट ज्ञान है। **रॉब्सन** के शब्दों में, "प्रशासकीय न्यायाधिकरणों के लाभ हैं-कम व्यय तथा उनके कार्य करने की गति, तकनीकी ज्ञान तथा अनुभव जिसे वे विशिष्ट क्षेत्रों के न्यायिक कार्यों के संचालन में उपलब्ध करते हैं; लोक प्रशासन के कुशल संचालन में उनके द्वारा प्रदत्त सहायता तथा नये स्तर निर्धारित करने तथा सामाजिक सुधार की किसी नीति के उद्भव सम्बन्धी योग्यता।" **फ्रेडरिक एफ० ब्लेक्ली** तथा **मिरियम ई० ओटमन** (Frederick F. Blachly and Miriam E. Oatman) का भी मत इसी से साम्य रखता है। उनके अनुसार, "प्रशासकीय न्यायालय साधारण न्यायालयों को कार्य सम्बन्धी एक बड़े बोझ से केवल मुक्ति ही नहीं दिलाते बल्कि ऐसे कार्य भी करते हैं जो सामान्य न्यायालयों के लिए बिल्कुल नये होते हैं। इनमें से एक कार्य हैः विधि के अनुसार मामलों का निर्णय-ऐसे विशेष प्रकार के मूल्यों के माध्यम से निर्णय देना जिसमें लोकहित पर अधिक बल दिया गया हो, और वैध सम्बन्धों की पुराने व्यक्तिवादी सामान्य विधि की अवधारणा की अपेक्षा की गयी हो। साथ ही व्यक्ति के अधिकारों की इसलिए रक्षा की जाती है कि प्रशासन कानून के अन्तर्गत कार्य करने के लिए बाध्य होता है। बहुत-से प्रशासकीय न्यायालयों के समक्ष अनौपचारिक तथा व्ययहीन प्रक्रिया और प थक न्यायालयों में या मण्डलों में विशिष्टीकरण की सम्भावना को सामान्यतः वांछनीय समझा जाता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि प्रशासकीय न्यायालयों में सम्बन्धित अभिकरणों के माध्यम से किसी मामले से सम्बद्ध सूचना प्राप्त की जा सकती है, और इस प्रकार एकपक्षीय साक्ष्य से जितनी सूचना प्राप्त होना सम्भव है उससे अधिक एवं पूर्ण सूचना

के आधार पर प्रशासकीय न्यायाधिकरणों में निर्णय होता है। महाद्वीपीय प्रणाली में चूँकि अवैध प्रशासकीय कार्यों तथा आदेशों को रद्द किये जाने की सम्भावना है, अतः उनकी बार-बार उपेक्षा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। उपेक्षा की भावना इसलिए उत्पन्न होती है कि प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा यदि अनुशासन सम्बन्धी मुकदमा दायर किया जाये तो उससे रक्षा की जा सके-यह एक ऐसी स्थिति है जो कानून के प्रति निरादर तथा सरकार के प्रति चुनौती की भावना को जन्म देती है। महाद्वीपीय प्रशासकीय न्यायालय, जिनके पास सामान्य न्यायालयों के नियन्त्रण से प थक अपने पुनर्विचार (अपीलीय) मामले होते हैं, प्रशासकीय तथा न्यायिक शक्तियों से प थक होते हैं। यद्यपि महाद्वीपीय देशों में सामान्य न्यायालय प्रशासन पर वैसा नियन्त्रण रखने में असमर्थ रहते हैं, जैसा संयुक्त राज्य तथा इंग्लैण्ड में सम्भव है, फिर भी वैध प्रशासकीय कार्यवाही की अनिवार्य व्यवस्था होती है और किसी उपयुक्त न्यायाधिकरण के समक्ष मामला दायर करके व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा की जाती है। विशेषज्ञों के बहुमत के अनुसार महाद्वीपीय प्रणाली प थक प्रशासकीय न्यायालयों की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक है, क्योंकि प्रशासकीय न्यायालय कुछ अर्थों में, सदैव ही न्यायिक न्यायालयों के अधीन होते हैं जो इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में पाये जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रशासकीय न्यायालय आधुनिक सरकारी तन्त्र के आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण अंग हैं।"

प्रशासकीय न्यायाधिकरणों से हानियाँ

इन लाभों के होते हुए भी प्रशासकीय अधिनिर्णय की तीव्र आलोचना की जाती है। **लॉर्ड हेवार्ट** ने तो इसे 'संगठित अराजकता' तक कह डाला है। हमारे अपने देश में भी यह काफी आलोचना का विषय रहा है। **'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया'** ने अपने सम्पादकीय लेख में लिखा था कि "हमारे विचार में किसी भी दशा में प्रशासकीय विधि, अपनी सन्तान प्रशासकीय न्यायाधिकरण के साथ, फौजी कानून (martial law) की भाँति है-जो कानून का निषेध है।" **के० एम० मुंशी** की आलोचना में अपेक्षाकृत अधिक सावधानी प्रदर्शित होती है। उनका कथन है कि किसी आधुनिक कल्याणकारी राज्य में प्रशासकीय न्यायाधिकरणों के अनिवार्य होने पर भी समस्या यह है कि एक प्रजातन्त्रीय राज्य में "न्यायाधिकरणों द्वारा दिये गये न्याय का किस प्रकार निष्पक्षता, निश्चितता तथा द ढ़ता के साथ सम्पादन किया जाये।" वे आगे कहते हैं कि "प्रशासकीय विधि के विद्यार्थी होने के नाते हमें यह मानना पड़ेगा कि न्यायाधिकरण तथा प्रशासकीय प्रक्रियाएँ आधुनिक भारत के लिए आवश्यक हैं। साथ ही, मेरी राय में, यदि अधिनिर्णय की प्रशासकीय रीतियों को सामान्य विधि न्यायालयों के विकल्प के रूप में स्वीकार कर लिया गया तो प्रजातन्त्र के ढाँचे की जड़ें ही कट जायेंगी।" यह ध्यान देने योग्य है कि **फ्रैंक्स समिति** इन न्यायाधिकरणों की अविवेकपूर्ण स्थापना के पक्ष में नहीं है: "हम **डोनोमोर समिति** से इस बात से सहमत हैं कि न्यायाधिकरणों की कुछ विशेषताएँ हैं जो उन्हें बहुधा न्यायालयों से अधिक लाभप्रद बना देती हैं। निसन्देह यही कारण है कि संसद एक बार जब यह निश्चय कर लेती है कि कुछ निश्चित निर्णय सामान्य निष्पादकीय या विभागीय प्रक्रियाओं द्वारा नहीं किये जा सकते हैं तो वह प्रायः उन्हें साधारण न्यायालयों को भेजने की अपेक्षा न्यायाधिकरणों को सौंप देती है। किन्तु सामान्य सिद्धान्त के रूप में हमारा यह निश्चित मत है कि यदि किसी मामले को न्यायाधिकरण के निर्णय के लिए सौंपे जाने के कोई ठोस कारण नहीं हैं तो निर्णय न्यायाधिकरण की अपेक्षा न्यायालय को ही सौंपा जाना चाहिए।" प्रशासकीय अधिनिर्णय की व्यवस्था दोषरहित नहीं है।

आलोचना के मुख्य मुद्दे निम्नलिखित हैं:-

1. यह विधि के शासन का उल्लंघन करता है। विधि के शासन के तीन अर्थ होते हैं: सरकार की निरंकुशता; विशेषाधिकार या विस्त त स्वविवेकीय अधिकार के विरुद्ध कानून की सर्वोच्चता; कानून के सम्मुख समानता या साधारण विधि न्यायालयों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले साधारण कानून के सम्मुख सभी वर्गों को समान अधिकार। अन्त में, संविधान व्यक्ति के अधिकारों का स्रोत नहीं है, अपितु व्यक्ति के अधिकारों का परिणाम है जो न्यायालयों द्वारा निर्धारित है। प्रशासकीय न्यायाधिकरण की व्यवस्था 'विधि के शासन' की अवधारणा से पूर्णतः मेल नहीं खाती है। 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया' की पूर्वोल्लिखित आलोचना को हमें इसी सन्दर्भ में देखना चाहिए।
2. प्रशासकीय अधिनिर्णय की व्यवस्था प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों का भी उल्लंघन करती है। ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं: कोई भी मनुष्य अपने ही मामले में निर्णायक नहीं होना चाहिए; किसी भी पक्ष को बिना सुने दण्ड नहीं देना चाहिए (और यदि वास्तव में किसी पक्ष को सुने जाने का अधिकार देना है तो उसे अपने विरुद्ध मामले की सूचना काफी पहले मिलनी चाहिए); और प्रत्येक पक्ष को निर्णय के कारण जानने का अधिकार होना चाहिए। बहुत-से न्यायाधिकरण उस विभाग

द्वारा स्थापित किये जाते हैं जो नीति के निष्पादन के लिए उत्तरदायी होता है। इससे पहले सिद्धान्त का उल्लंघन हो जाता है। बहुधा किन्हीं निर्णयों के कारण बताये ही नहीं जाते, और तथ्यों सम्बन्धी अनुसन्धान के जो प्रमाण दिये जाते हैं वे अत्यधिक लचर होते हैं।

3. प्रचार (publicity) का पर्याप्त अभाव रहता है। "प्रचार के बिना भावी निर्णयों की प्रव त्ति के सम्बन्ध में पहले से बताना असम्भव होता है और उन्हें गोपनीय रखा जाता है, जो साधारणतः अनावश्यक है। अतः नौकरशाही की स्वेच्छाचारिता के लिए वातावरण उत्पन्न हो जाता है। इन दोषों को प्रशासकीय न्याय से संलग्न करने का कोई अन्तर्निहित कारण नहीं है। न्यायिक कार्य सम्पन्न करने वाले प्रशासकीय अभिकरणों को अपने निष्कर्षों के समर्थन में तर्क देते हुए नियमित अन्तरालों पर अपने निर्णयों की रिपोर्ट प्रकाशित करना आवश्यक है, तो जनसाधारण को मामले की सुनवाई के समय उपस्थित होने की अनुज्ञा देने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसा होने से न्यायाधिकरणों के कार्य की समालोचना सम्भव हो सकेगी। इसका लाभकारी प्रभाव न केवल इनके अधिकार क्षेत्र में आने वाली जनता पर बल्कि स्वयं न्यायाधिकरणों पर भी पड़ेगा।"

4. प्रशासकीय न्यायाधिकरणों में न्यायिक प्रशिक्षण तथा अनुभव प्राप्त व्यक्ति न्यायाधीश नहीं होते, अतः वे न्यायपूर्वक कार्य नहीं कर पाते। इसलिए न्यायाधिकरणों का द ष्टिकोण अलगाववयुक्त तथा निष्पक्ष नहीं होता। वे केवल कार्यपालिका के अंग हैं और इसकी नीतियों को सजाने-सँवारने में लगे रहते हैं। अतः इनके निर्णय सदैव कार्यपालिका के पक्ष में होते हैं। इनकी पदोन्नति कार्यपालिका को खुश रखने पर ही निर्भर करती है।

5. कभी-कभी प्रशासकीय न्यायाधिकरणों के निर्णयों के विरुद्ध सामान्य न्यायालयों में अपील की अनुज्ञा नहीं दी जाती। न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र का इस प्रकार हनन अनुचित है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 136 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को किसी भी न्यायाधिकरण के फैसले पर निर्णय देने का अधिकार प्राप्त है। इस विषय में आगे चर्चा की जायेगी।

6. प्रशासकीय न्यायाधिकरण एकसी प्रक्रियाओं का पालन नहीं करते। फलस्वरूप, निरंकुश तथा असंगत निर्णयों के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है। आचरण के निश्चित मापदण्ड न होने के कारण न्याय में अस्थिरता आ जाती है जो वास्तव में न्याय का निषेध ही है। **लॉर्ड हर्बर्ट** ने संक्षेप में बताया है कि "न्याय केवल किया ही नहीं जाना चाहिए अपितु स्पष्ट रूप से यह प्रतीत भी होना चाहिए कि न्याय किया गया है।" सम्भवतः संयुक्त राज्य ही एकमात्र देश है जिसने प्रशासकीय प्रक्रिया अधिनियम, 1946 (Administrative Procedure Act, 1946) के अन्तर्गत नियम तथा प्रक्रिया सम्बन्धी आवश्यकताएँ निर्धारित की हैं। **बर्नार्ड श्वार्ट्ज** (Bernard Schwartz) के शब्दों में, "प्रशासकीय प्रक्रिया अधिनियम सामान्य विधि-जगत में ऐसा प थक विधायी प्रयास है जो उचित प्रशासकीय प्रक्रिया के आवश्यक सिद्धान्तों का उल्लेख करता है। कांग्रेस ने 1946 का कानून बनाकर प्रशासकीय प्रक्रिया से असन्तुष्ट लोगों की उस भावना को प्रतिबिम्बित किया है जो संयुक्त राज्य में प्रशासकीय सत्ता के मातहत काम करने वालों में विद्यमान होती है। किन्तु, जैसा कि अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने ठीक ही कहा है, कांग्रेस ने अपनी मनोभावना को केवल भाषण द्वारा ही नहीं अपितु विधान द्वारा भी प्रकट कर दिया है।"

प्रशासनिक न्यायाधिकरणों को प्रभावी बनाने के लिए उपाय

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की बहुत-सी कमियाँ तथा दोष हैं। किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि प्रदत्त व्यवस्थापन की भाँति प्रशासनिक न्यायाधिकरण भी आधुनिक जटिल समाज की आवश्यकता बन चुके हैं। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि इन्हें सुद ढ़ तथा प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाए जाएं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं:

1. सामान्यतः प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के अध्यक्ष एवं सदस्यों के पद लम्बे समय तक रिक्त पड़े रहते हैं, अतः इन अधिकरणों का कार्यकरण प्रभावित होता है। वाद निस्तारण हेतु पदों को शीघ्र भरा जाना चाहिए।

2. इन न्यायाधिकरणों में सामान्यज्ञ अधिकारियों (जैसे आई० ए० एस०) का वर्चस्व पाया जाता है, जबकि इनकी कार्य प्रकृति किंचित् जटिल, तकनीकी तथा न्यायिक है, अतः इन संगठनों में योग्य, अनुभवी तथा प्रतिबद्ध अधिकारी ही पदस्थापित किए जाएँ।

3. प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की कार्यप्रणाली को सुनिश्चित करने वाली व्यापक नियमावली तथा संहिता का अभी तक निर्माण नहीं हुआ है। इस दिशा में तत्काल सार्थक प्रयास किए जाने आवश्यक हैं।
4. सामान्यतः यह माना जाता है कि प्रशासनिक न्यायाधिकरणों को न्यायालय की अवमानना (Contempt of Court) के आदेश देने का अधिकार नहीं है, लेकिन भारत के सर्वोच्च न्यायालय की एक खंडपीठ ने दिसम्बर, 2000 में दिए गए निर्णय में यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रशासनिक न्यायाधिकरण भी कानून की गरिमा बनाए रखने का कार्य करते हैं, अतः इन्हें भी किसी व्यक्ति को न्यायालय की अवमानना सम्बन्धी सजा देने का अधिकार है। इस अधिकार का उपयोग करके ही प्रशासनिक न्यायाधिकरण प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं।
5. प्रशासनिक न्यायाधिकरणों का कार्य क्षेत्र अर्द्ध न्यायिक प्रकृति का है। कई बार यह प्रश्न उठ जाता है कि "अमुक कार्य प्रशासनिक प्रकृति का है या न्यायिक प्रकृति का?" इस प्रकार के विवादों के निस्तारण हेतु यह आवश्यक है कि प्रत्येक कार्य का विभाजन तथा वर्गीकरण सुस्पष्ट किया जाए।
6. कतिपय विद्वानों का यह भी मानना है कि प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के संगठनात्मक, कार्यात्मक, अपीलात्मक तथा प्रक्रियात्मक पक्षों पर गहन विचार-विमर्श किया जाना चाहिए। स्पष्ट रूप में इन अधिकरणों के उच्चाधिकारियों को प थक् से प्रशिक्षण देना चाहिए तथा बार-बार स्थानान्तरण नहीं होना चाहिए।

प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के कार्यकरण में सुधार हेतु यह सुझाव दिया जाता है कि इनमें योग्य तथा प्रशिक्षित व्यक्तियों को पदस्थापित करना चाहिए तथा अमेरिका की भाँति स्पष्ट प्रक्रिया नियमावली बनायी जानी चाहिए। निर्णय देते समय न्यायाधिकरण विस्तारपूर्वक कारण भी बतायें तो व्यावहारिकता को बल मिलेगा। **जेरेम बेंथम** का कहना है-"अच्छे कानून वे हैं, जिनके लिए अच्छे कारण दिए जा सकें।" बहुत से विद्वानों का यह भी मानना है कि बिना सोचे-समझे प्रशासनिक न्यायाधिकरणों का सहारा नहीं लेना चाहिए। तमाम प्रकार की विसंगतियों तथा बाधाओं के बावजूद यह कटु सत्य है कि प्रशासनिक न्यायाधिकरण आज की आवश्यकता है। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश **एस० आर० दास** के अनुसार-"हमें न्यायाधिकरणों का विचार घ णास्पद प्रतीत होता है, क्योंकि हम सार्वजनिक कानूनों की एंग्लो-सैक्सन परम्परा में पले हैं और विधि के शासन की बुनियाद पर हमारा पोषण हुआ है, किन्तु हमें आधुनिक समय की आवश्यकताओं के साथ कदम मिलाकर चलना होगा।" निस्संदेह यह आवश्यकता प्रशासनिक न्यायाधिकरणों को मजबूत आधार तथा उत्तरदायी स्वरूप प्रदान करने की है।